# अखण्ड ज्योति

## अवतार मेहेरबाबा

# अखण्ड ज्योति

## अवतार मेहेरबाबा

* प्रथम संस्करण
10 जुलाई 1950

* द्वितीय संस्करण
26 जनवरी 2003

* तृतीय संस्करण
26 जनवरी 2013




* प्रकाशक
डॉ. ए. एस. भल्ला
अध्यक्ष
विश्व आध्यात्मिक संस्थान
द्वारा सहारा हॉस्पिटल, वसंत विहार
ग्वालियर (म.प्र.)

* मुद्रक
भार्गव प्रेस
दौलतगंज, लश्कर, ग्वालियर

* मूल्य : **200/-** रुपये

Note : This volume is a reprint of the revised and enlarged second edition, first printed in 1950. The substantive content of the book remains unchanged. Design and layout have been modernized. The format has been slightly altered for grammatical and stylistic consistency.

# प्रस्तावना

## (द्वितीय संशोधित संस्करण)

भारत वर्ष की बहुत बड़ी आबादी हिंदी भाषी है। हमारे प्रियतम अवतार मेहेरबाबा द्वारा समस्त मानव जाति के आध्यात्मिक उत्थान के लिये शुरू किये गये विश्वव्यापी कार्यक्रम के संदेशो को उन तक पहुंचाना एक आवश्यक ईश्वरीय कार्य है। अतः, इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस ग्रन्थ के लगभग 50 वर्षो पूर्व सन् 1950 में प्रथम प्रकाशन के पश्चात इसकी उपलब्धता की कमी तीव्र रूप से महसूस की जा रही थी।

इस ग्रन्थ, **'अवतार मेहेरबाबा की अखण्ड ज्योति'**, जो कि प्रियतम बाबा के अंग्रेजी में उपलब्ध Discourses का श्री पं. कुंजबिहारी चौबे जी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है, के द्वितीय संशोधित संस्करण के प्रकाशन की स्वीकृति प्रियतम बाबा की इच्छानुसार आदरणीय भाऊ साहब कलचुरी जी, अध्यक्ष, अवतार मेहेरबाबा पी.पी.सी. ट्रस्ट, अहमदनगर द्वारा **'विश्व आध्यात्मिक संस्थान'**, शिवपुरी, ग्वालियर (म.प्र.) को प्रदान की गयी है। जिसके लिये हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं और हृदय से आभारी है। **विश्व आध्यात्मिक सन्स्थान** की स्थापना मूलतः प्रियतम बाबा की दिव्य प्रेरणा से उनके द्वारा दिये प्रेम के सन्देश को प्रसारित करने तथा प्रियतम बाबा द्वारा, समस्त मानवता के आध्यात्मिक उत्थान के उनके ईश्वरीय कार्य में सहयोग देने के लिये उनके द्वारा किये गये आव्हान का ही फल है, और यह संस्थान इस कार्य हेतु पूर्णतः समर्पित है। प्रियतम बाबा के ईश्वरीय कार्य में हाथ बंटाने हेतु विश्व आध्यात्मिक संस्थान द्वारा कई कार्यक्रम हाथ में लिये गये हैं, जिनके अन्तर्गत आध्यात्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन भी सम्मिलित है। आशा है, प्रियतम बाबा की दिव्य कृपा से यह कार्य और वृहद् रूप धारण कर सकेगा।

आज आवश्यकता है, सामान्य मनुष्य को आध्यात्मिकता के मौलिक सिद्धान्तों के द्वारा इस जीवन और मानव सभ्यता के अन्तिम उद्देश्य, **ईश्वरानुभूति** के प्रति जागरूक बनाना। आम मनुष्य को न तो इनकी सही समझ है और इस कारण न ही इन पर पूर्ण विश्वास है। आज के युग में तथाकथित धर्मगुरूओं द्वारा इस विषय को और भी भ्रामक तथा संक्लिष्ट बना दिया गया है। इस ग्रन्थ **'अखण्ड ज्योति'** में संकलित प्रियतम बाबा द्वारा दिये गये वचनों को पढ़कर आम मनुष्य के अंदर आध्यात्मिकता और धर्म को लेकर जो भ्रांतिया है, वे दूर होंगी, तथा इस कारण उत्पन्न जागरूकता व उत्सुकता उसे जीवन के अंतिम लक्ष्य की ओर मुड़ने में सहायता करेगी। प्रियतम बाबा के द्वारा दिये गये मन्त्र सूत्र, **प्रेम** के पालन से कोई भी मनुष्य सहज रूप से तथा शीघ्र ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति द्वारा जीवन के अन्तिम लक्ष्य **ईश्वरानुभूति** को प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रंथ में मानव जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं की जानकारी उपलब्ध है। पाठक जीवन से सम्बन्धित किसी भी समस्या का हल इसमें ढूंढ सकता है। इसका पठन, पाठक को सहज ही ऐसे ज्ञान की ओर ले जायेगा जो अन्यत्र दुर्लभ है, और जिसके पाने से उसे सर्वत्र सुख, शान्ति और उन्नति का अनुभव होगा। जीवन तथा सृष्टि के क्रिया कलापों और सिद्वांतों का इससे सरल तथा पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुतीकरण कही और मिलना असंभव है।

मैं कृतज्ञ हूँ, विश्व आध्यात्मिक सन्स्थान के संस्थापक न्यासी आदरणीय गुरुजी श्री डॉ. रघुवीर सिंह गौर जी का, जिन्होंने प्रियतम बाबा से मेरा प्रथम परिचय कराया और इस ईश्वरीय कार्य को करने हेतु मेरा सहयोग लिया।

मेरा आभार है इस पुस्तक के मुद्रक श्री संजय भार्गव, भार्गव प्रेस, ग्वालियर के प्रति, जिन्होंने त्रुटिहीन मुद्रण तथा ग्रन्थ के सुन्दर स्वरूप को आपके सामने लाने में हृदय से सहयोग किया तथा मेहनत की। इस कार्य के संपादन में सहारा हॉस्पिटल, ग्वालियर के कर्मचारियों का सहयोग भी अमूल्य रहा।

पूर्व में, प्रथम संस्करण के समय यह ग्रन्थ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संशोधित संस्करण में, पाठकों की सुविधा की दृष्टि से , इन तीन भागों को एक ही पुस्तक में सम्मिलित कर दिया गया है। इस कारण इस ग्रन्थ को केवल सजिल्द ही प्रकाशित किया है, ताकि पाठक के पास यह आजीवन सुरक्षित उपलब्ध रह सके।

अन्त में इस ग्रन्थ को त्रुटिहीन बनाने के हर संभव प्रयास किये गये हैं, परन्तु फिर भी उपस्थित किसी भी त्रुटि के लिये हम ईश्वर से तथा पाठकों से क्षमायाचना करते हैं। साथ ही, पाठकों से अनुरोध हैं कि ऐसी किसी भी त्रुटि को हमारी जानकारी में लाने की कृपा करें ताकि आगामी प्रकाशनों में उन्हें दूर किया जा सके। कोई अन्य सुझाव भी हृदय से आमंत्रित है।

प्रियतम बाबा के चरणों में,

ग्वालियर, दिनांक 26 जनवरी 2013

**डॉ. अमरजीत सिंह भल्ला**
M.B.B.S, M.S., PhD., F.I.A.M.S., L.L.B., PGDSMM
अध्यक्ष, विश्व आध्यात्मिक संस्थान,

पता : **सहारा हॉस्पिटल बिल्डिंग**
19–ए, वंसत विहार, ग्वालियर (म.प्र.)–474007
फोन : 0751–2636352, 2636290
फैक्स : 0751–2636353
ईमेल : worldspritualfoundation1@rediff.com

# वक्तव्य

**(प्रथम संस्करण)**

श्री मेहेरबाबा के जो आध्यात्मिक लेख और सन्देश समय–समय पर 'Mehar Baba' मासिक में प्रकाशित हुए हैं उनका यह अनुवाद "श्री मेहेरबाबा की अखण्ड ज्योति" (तीन भाग) के रूप में जनता जनार्दन को समर्पित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

पं. कुन्जबिहारी चौबेजी के प्रति हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होनें मूल अंग्रेजी लेखों का हिंदी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद को यथोचित सुधारकर पं. बलदेव प्रसाद मिश्रजी ने भी हमें उपकृत किया है।

इसी प्रकार प्रेस कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ शुद्धीकरण और प्रकाशन की योजना और संचालन में जिन सज्जनों ने हाथ बटाकर इस कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहायता पहुंचायी उन, श्री.जे.डी. केरावाला, डॉ. च. ध. देशमुख, श्री ब. प्र. उपाध्याय, श्री प्रे. ना. भट्ट और श्री अंबिकाचरण जी शुक्ल इत्यादि सज्जनों के भी हम अत्यन्त आभारी हैं।

वैसे ही पुस्तकों को इस रूप में मुद्रित कराने के लिये हम मुद्रक महाशयों को भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

**आदि के. इरानी**
मेहेर पब्लिकेशन्स

अहमदनगर
10 जुलाई 1950

# अवतार मेहेर बाबा का जीवन परिचय

अवतार मेहेर बाबा का जन्म 25 फरवरी, 1894 को हुआ था। वे पुणे के निवासी दम्पत्ति श्री शेरयार मुन्देगर ईरानी और श्रीमती शीरीन बानो शेरयार ईरानी के 8 बच्चों में दूसरे थे। इनका नाम मेरवान शेरयार ईरानी रखा गया था। सेंट विन्सेट हाई स्कूल, पुणे में प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हें 17 वर्ष की अवस्था में उच्च शिक्षा के लिये पुणे के डेकेन कालेज में भर्ती कराया गया। उनके पिता पारसी संप्रदाय के अनुयायी थे।

मेरवान को क्रिकेट और हॉकी के खेलों का बहुत शौक था और वह अपनी पढ़ाई मनोयोग से करते थे। साहित्य में उनकी गहरी रूचि थी, विशेषतः काव्य में। कवियों में उन्हें महान् फारसी रहस्यवादी कवि हफीस की रचनाएं बहुत प्रिय थीं। मेरवान स्वयं मराठी, फारसी और अंग्रेजी में काव्य रचना करने लगे। उनकी कविताएं समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी।

वे संगीत प्रेमी भी थे और उनका मधुर कंठ था। दर्शनिक रहस्यवाद में उनकी रूचि तेजी से बढ़ती जा रही थी और उन्होनें रहस्यवादी कहानियाँ लिखनी शुरू कर दीं थीं। कॉलेज में उन्होनें कास्मोपॉलिटन क्लब की स्थापना की, जिसमें प्रवेश सब के लिये खुला था, भले ही वह किसी भी जाति अथवा धर्म के हों।

## आत्म–साक्षात्कार

मई 1913 में जब मेरवान की आयु केवल 19 वर्ष की थी। एक दिन मेरवान अपनी बाईसाईकिल पर डेकेन कॉलेज से लौट रहे थे। जैसे ही वह रास्ते में पड़ने वाले एक विशाल नीम के वृक्ष के पास पहुँचे उस वृक्ष के नीचे रहने वाली एक वृद्ध महिला मेरवान की ओर आई। मेरवान ने उस महिला को अपनी ओर आते देख लिया तथा उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये वह बाई साईकिल से उतर गये। अब दोनों एक दूसरे के सामने थे और एक दूसरे की आँखों में झाँक रहे थे। यह वृद्धा और कोई नहीं, महान रहस्यवादी और पूर्ण–गुरु हजरत बाबाजान थी। बाबाजान ने मेरवान को अपनी भुजाओं में भर लिया। और दोनों आँखों के बीच उनके मस्तक को चूम लिया। दोनों ने एक दूसरे से कहा कुछ भी नहीं। इसके बाद बाबाजान अपने स्थान पर लौट आई और मेरवान अपने घर चले गये।

सामान्य दृष्टि से यह एक साधारण घटना थी, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं था। बाबाजान के उस चुम्बन ने मेरवान का चेतना के स्तर पर रूपान्तरण कर डाला और मेरवान का हृदय आनंद से भर उठा। यह कोई साधारण आनंद नहीं था, पराजागतिक और दिव्य आनंद था। और वह तीन दिन तक जगत की और से अचेत बने रहे। चौथे

दिन उनकी चेतना आंशिक रूप में लौटी। मेरवान के माता–पिता को कुछ नहीं सूझ रहा था की वे अपने बच्चे को पूरी तरह होश में लाने के लिये क्या करें किंतु हजरत बाबाजान प्रसन्न थीं और उन्होनें घोषणा कर दी कि ''मेरा यह बच्चा संसार में महान् हलचल पैदा करेगा और मानव जाति का इससे बहुत हित होगा।'' एक अन्य अवसर पर बाबाजान ने कहा कि ''मेरवान अपनी दिव्य शक्ति से समूचे विश्व को जगा देगा।''

मेरवान के माता–पिता ने मेरवान का हर प्रकार से ईलाज कराने की कोशिश की, लेकिन कोई भी ईलाज उनकी चेतना पूरी तरह से लौटाने में सफल नहीं हुआ। कुछ समय बाद ही मेरवान के मन में शिरडी के सांई बाबा के दर्शनों को तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई। सन् 1915 में वह शिरडी गये और उन्होनें श्री सांई बाबा के दर्शन किये। सांई बाबा शौच आदि से निपट कर मस्जिद की ओर लौट रहे थे। सांई बाबा की दृष्टि जैसे ही मेरवान पर पड़ी, वे कह उठे, ''हे परवरदिगार।'' परवरदिगार का अर्थ है– ईश्वर– पालन और संरक्षण करने वाली सत्ता। मेरवान ने सांई बाबा के सामने साष्टांग प्रणाम किया। उन्होनें मेरवान को एक अन्य गुरु उपासनी महाराज के पास भेज दिया।

मेरवान जब उपासनी महाराज के पास पहुँचे, मेरवान को देखते ही उपसनी महाराज ने अपने हाथ में एक पत्थर उठाया और मेरवान की ओर फेंका। वह पत्थर उनके माथे पर ठीक उस जगह लगा, जहाँ हजरत बाबाजान ने उन्हें चूमा था। पत्थर लगते ही मेरवान की सामान्य चेतना लौटने लगी और धीरे–धीरे वह पूरी तरह लौट आई। एक दिन उपसनी महाराज ने मेरवान से कहा कि ''आप अवतार हैं।'' उन्होनें अपने शिष्यों के सामने यह घोषणा भी कि ''मेरे पास जो कुछ भी आध्यात्मिक सम्पदा थी, वह सब मैनें मेरवान को दे डाली है इसके बाद से तुम सबको मेरवान की आज्ञा का पालन करना चाहिए।''

इसके पश्चात् मेरवान ने दो अन्य सद्गुरूओं टेडगांव के नारायण स्वामी महाराज व नागपुर के ताजुद्दीन बाबा से भी आध्यात्मिक संपर्क कर इस कार्य को सम्पूर्ण किया।

## प्रेम का देवता

सन् 1951 के अंत में हमीरपुर उत्तर प्रदेश में उन्होनें अपने अवतार होने की घोषणा की। अब वे मेरवान से मेहेरबाबा अर्थात् प्रेम और करूणा के पिता बन गये। सन् 1922 में उन्होनें अपने आध्यात्मिक मिशन की नींव डाली, जिसके बारे में कहते हैं, ''मैं शिक्षा देने नहीं, जगाने आया हूँ, मैं सब को एक ही दीक्षा देता हूँ वह है– ईश्वर प्रेम। हम सब के भीतर एक ही परमात्मा का निवास है और हम सब

प्रेम द्वारा उस तक पहुँच सकते हैं। मैं अवतार लेने के बाद बार–बार एक ही बात दोहराये जा रहा हूँ कि "ईश्वर से प्रेम करो"।

सन् 1924 में मेहेर बाबा ने अहमदनगद रेलवे स्टेशन से काई छः मील की दूरी पर अरण–गांव में अपना मुख्यालय स्थापित किया, जो मेहराबाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 10 जुलाई, 1924 को उन्होनें पूर्ण मौन धारण कर लिया, जिसे उन्होनें जीवन में कभी नहीं तोड़ा, 31 जनवरी, 1969 को शरीर छोड़ते समय भी नहीं। मेहराबाद में उन्होनें अपनी समाधि का स्थल अपने जीवनकाल में ही चुन लिया था। आज उनकी समाधि के दर्शन हेतु सारे विश्व से अनेकों लोग आते हैं। मौन धारण करने के एक वर्ष तक वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को लिखते चले गये और जनवरी, 1927 तक वे अपने प्रेमियों के नाम अपने संदेश लिखकर देते रहे, परंतु उसके बाद से उन्होनें लिखना भी बंद कर दिया।

जनवरी, 1927 से 7 अक्टूबर, 1954 तक मेहेर बाबा अंग्रेजी वर्णमाला की एक तख्ती पर अपनी उंगली से संकेत करके वार्तालाप करते रहे। उसके बाद उन्होनें वह तख्ती भी त्याग दी। अब उनके पास संवाद का एक ही माध्यम बचा–मुख मुद्राएं और हाथों के संकेत, जिनका अर्थ उनके निकट अनुयायी उनके श्रोताओं को समझा देते थे। वे कहते थे, "ईश्वर सनातन काल से मौन रहकर ही कार्य करता चला आ रहा है। न उसे कोई देख पाता है, न सुन पाता है, फिर भी जिन लोगों ने उनके अनंत मौन की अनुभूति ली है, उन्होनें उसको स्वीकार किया है।"

मेहेर बाबा ने भारत और विदेशों में बहुत व्यापक यात्राएं कीं। वे पहली बार सन् 1931 में इंग्लैंड गये और सन् 1932 में दूसरी बार। उसके बाद तो सन् 1958 तक उन्होनें कई बार विदेश यात्राएं की – छः बार युरोप और अमेरिका की यात्रा तथा 10 बार अन्य देशों की यात्रा। इंग्लैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, स्विट्जरलैंण्ड, मैक्सिको, लेबनान, न्यूजीलैंड, यूनान, मिस्त्र, जापान, मलाया, फ्रांस, ईरान की यात्रायें करके अपने विश्वव्यापी कार्य को स्वरूप दिया।

वे समय–समय पर एकांतवास और लंबे तथा कष्टदायी उपवास किया करते थे। उनकी वेश–भूषा साधारण मनुष्यों जैसी थी और वे आम लोगों से खुलकर मिलते थे। उन्होनें कभी यह दावा नहीं किया कि वे गुरु या शिक्षक हैं। वे अपने पास आने वाले लोगों के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, न ही किसी को दीक्षा देते थे। वे कहा करते थे, "मैं तुम्हें यह सिखाउंगा कि दुनिया में सामान्य ढंग से काम करते हुए भी मुझ अनंत भगवान के साथ तुम किस प्रकार संवाद बनाये रख सकते हो।"

## मैं कौन हूँ ?

उन्होनें घोषणा की, "मैं साकार भगवान हूँ, मैं वहीं सनातन पुरूष हूँ। तुम में से जिन लोगों को मेरी प्रेममय उपस्थिति में रहने का अवसर मिला है, वे भाग्यवान हैं। मैं राम था, मैं ही कृष्ण था, मैं ही ईसा व बुद्ध था। अब मैं मेहेरबाबा हूँ। मैं वही सनातन सत्य हूँ, जिसक़ी सदा से पूजा होती रही है और उपेक्षा भी, जिसे सदा याद किया जाता है, और भुला भी दिया जाता है। मुझ पर विश्वास करो, मैं ही एकमात्र सनातन सत्य हूँ।"

वे अपने प्रेमियों से कहा करते थे कि भौतिक शरीर देखकर भ्रम में मत पड़ो। "मैं इस शरीर में सीमित नहीं हूँ, इस शरीर को तो तुम्हारे सामने प्रकट होने तथा तुम्हारे साथ संवाद करने के लिए वस्त्र की भांति धारण करता हूँ। तुम जिस शरीर को देख रहे हो, मैं वह नहीं हूँ, यह तो एक आवरण है, जिसे मैं तुमसे मिलने के लिए आते समय पहन लेता हूँ।"

1 नवंबर 1953 को उन्होनें देहरादूर में एक दिव्य संदेश दिया, जिसमें उन्होनें कहा, "मानव जाति को आज आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है और इसके लिए उसे अनिवार्यतः पूर्ण गुरुओं तथा अवतारों की ओर मुड़ना होगा। .... कष्टों का कारण अज्ञान अथवा मिथ्या जगत के प्रति आसक्ति है। अधिकांश लोग मिथ्या जगत के साथ इस प्रकार खेलते हैं, जिस प्रकार बच्चे खिलौने से खेलते हैं। यदि तुम इस जगत के क्षणभंगुर पदार्थों में उलझ जाओ और मिथ्या मूल्यों से चिपके रहो, तब दुःख अनिवार्य है।"

"युग–युग से आत्मा अपनी ही परछाइयों को देखती आ रही है और रूप के इस मिथ्या जगत में उलझती जा रही है। जब यह आत्मा अपने भीतर की ओर मुड़ जाये और उसमें आत्म–ज्ञान प्राप्त करने की अभीप्सा उत्पन्न हो जाये, जब यह मानना होगा कि उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हो गयी है।"

चमत्कारों के प्रति आकृष्ट न होने के सम्बन्ध में, वे कहते हैं, "तुम्हें सच्चे मोक्ष की प्राप्ति चमत्कारों के द्वारा नहीं, सही समझ के द्वारा होगी।"

मेहेर बाबा अपने पास आने वाले लोगों से दो टूक बात करते थे। उन्होनें स्पष्ट शब्दों में कहा, "न तो मैं महात्मा हूँ, न महापुरुष हूँ, न साधू, न संत, न योगी, न वली।

जो लोग मेरे पास यह इच्छा लेकर आते हैं कि उन्हें मेरे आर्शीवाद से धन प्राप्त हो जायेगा या उनकी दौलत उनके पास बनी रहेगी, उन्हें दुःखों और कष्टों से छुटकारा मिल जायेगा अथवा उनकी विभिन्न इच्छाएं पूर्ण और संतुष्ट हो जायेंगी, मैं उनसे एक बार फिर कहना चाहता हूँ कि मेरे द्वारा इन इच्छाओं की पूर्ति के मामले में आपको घोर निराशा ही मिलेगी।"

मेहेर बाबा इस बात पर बल देते थे कि उनके प्रेमी अपना सर्वस्व, तन, मन, और धन चुपचाप और बिना प्रदर्शन किये ही उन्हें समर्पित कर दें। वे संपूर्ण समर्पण की मांग करते थे और कहा करते थे कि कोरे बुद्धिवादी उन्हें कभी नहीं समझ सकते। वे कहते हैं, "जो लोग सिद्ध गुरु की संगति खोजते हैं, और पूर्ण समर्पण तथा आस्थापूर्वक उसके आदेशों का पालन करते हैं, वे उन लोगों की तरह हैं, जो किसी ऐसी विशेष गाड़ी में बैठे हों, जो उन्हें कम से कम समय में उनके गंतव्य तक पहुंचा सके और बीच में कही भी न रूकें।"

## जगत में रहते रहो!

मेहेरबाबा कहते हैं कि ईश्वर को प्रेम करने के दो मार्ग हैं – त्याग, पूर्ण त्याग का मार्ग, और दूसरा इस जगत में रहते हुए ईश्वर को प्यार करने का मार्ग। उनकी दृष्टि में, "दूसरा मार्ग वास्तव में महान है। इस मार्ग पर चलते समय आपको कुछ भी नहीं छोड़ना पड़ेगा। आप गृहस्थ में रहें, जगत में रहें, अपना कामकाज और व्यापार– धंधा करें, नौकरी, सिनेमाघरों और पार्टियों में जाये, सब कुछ करते रहें परंतु एक काम हमेशा करें– दूसरों को सुख पहुँचाने के बारे में हमेशा चिंतन करें, हमेशा कोशिश करें, अपने सुख का बलिदान करके भी। तब मैं तुम्हारे ह्रदय में प्रेम का बीज बो दूंगा।"

वे कहा करते थे कि "जीवन एक बहुत बड़ा मजाक है। आम तौर। पर लोग जीवन को गंभीरता से लेते हैं और ईश्वर को सरसरी तौर पर होना यह चाहिये कि हम ईश्वर को गंभीरता से लें और जीवन को हल्के पन से। शाश्वत् सत्य के प्रति आस्था के द्वारा जीवन सार्थक हो जाता है और समूचा कार्य–कलाप प्रयोजन–शीलता ग्रहण कर लेता है। परिवर्तन के बीच शाश्वत् सत्य की खोज जीवन का सबसे महान रोमांच है। दैनिक जीवन में आध्यात्मिक उंचाई को प्राप्त करने के लिये उन्होनें दो गुंणों, प्रेम और ईमानदारी, को जीवन में उतारने पर बल दिया।

मेहेरबाबा कहा करते थे, "मैं कभी नहीं मरूंगा।" यह बात इस अर्थ में सही थी कि मरता केवल शरीर है, आत्मा अमर और शाश्वत है। जहां तक भौतिक शरीर का संबंध है, जन्म लेने वाले हर प्राणी को एक न एक दिन यह शरीर छोड़ना ही पड़ता है। मेहेर बाबा ने अपने भौतिक कलेवर को समेटने के लिए शुक्रवार, 31 जनवरी, 1969 का दिन चुना। जिसे अमर तिथी के रूप में मेहराबाद में प्रार्थनाओं एवं मौन श्रद्धाँजलि से सम्पन्न किया जाता है।

समुचे विश्व में मेहेर बाबा के असंख्या भक्त हैं। संसार भर में उनकी स्मृति में अनेक केन्द्रों की स्थापना हुई है, जो उनका यह संदेश फैलाते हैं, "जीवन का लक्ष्य ईश्वर के प्रति प्रेम है, जीवन का सर्वोच्च ध्येय ईश्वर के साथ एकाकार हो जाना है।"

---

# विषय सूची

## भाग 2

## भाग 3

अवतार मेहेरबाबा

# अवतार

सचेतन अथवा अचेतनतः प्रत्येक जीवित प्राणी केवल एक वस्तु की खोज करता है। निम्नतर श्रेणी के जीवों में तथा कम विकसित मनुष्यों में यह खोज अचेतन रूप से होती है। विकसित मनुष्यों में सचेतन रूप से खोज की वस्तु अनेक नामों से संबोधित होती है, – जैसे सुख, शांति, स्वतंत्रता, सत्य, प्रेम, पूर्णता, आत्मदर्शन, ईश्वर–प्राप्ति, ब्रह्म–साक्षात्कार इत्यादि। खोज मूलतः इन सभी के लिए होती है; किन्तु खोज की विधि में एक विशेषता होती है। सभी को सुख के क्षण प्राप्त होते हैं; सत्य की झलक दिखाई देती है; और ईश्वरसाक्षात्कार के क्षणिक अनुभव होते हैं; वे इन्हें स्थायी बनाना चाहते हैं। वे निरंतर परिवर्तन के बीच एक नित्य सत्य की स्थापना करना चाहते हैं।

यह एक स्वाभाविक इच्छा है। ईश्वर से प्राणी की जो तात्विक एकता है, उसी की स्मृति पर यह इच्छा आश्रित है। व्यक्ति के विकास की निम्नता या उच्चता के अनुसार, उसकी स्मृति भी अस्पष्ट या स्पष्ट हुआ करती है। यह इच्छा स्वाभाविक इसलिए है कि प्रत्येक जीव ईश्वर की ही आंशिक अभिव्यक्ति है जो अपने स्वंय के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के अभाव के कारण बद्ध हो गया है। **सारा विकास (Evolution) यथार्थ में अज्ञात ईश्वरत्व (Unconscious Divinity) से ज्ञात ईश्वरत्व (Conscious Divinity) की ओर अग्रसर होनेवाला विकास है** जिसमें तत्वतः एक ही नित्य एवं अनश्वर ईश्वर स्वयमेव रूपों की अनन्त विभिन्नता धारण करके नाना प्रकार के अनुभव का आस्वादन करता है तथा सीमाओं की अनन्त विभिन्नता का अतिक्रमण करता है। सृष्टा के दृष्टिकोण से विकास एक दिव्य लीला

है जिसमें असीम तथा स्वयंभू आत्मा, सीमाओं के बीच में, अपने असीम ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द की असीमता को प्रस्थापित करता है। किन्तु सृष्टि के दृष्टिकोण से, उसके सीमित ज्ञान, सीमित शक्ति तथा आनन्द अनुभव करने की सीमित योग्यता के कारण, विकास के इतिहास में, क्रमबद्ध विश्राम एवं संघर्ष, सुख एवं दुःख, और प्रेम एवं घृणा एक दूसरे के बाद आते हैं। अंततोगत्वा पूर्ण मनुष्य में, ईश्वर द्वन्दों को समतोल करके द्वैत का आक्रमण करता है, जिससे सृष्टि और सृष्टा अपनी एकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं; अनित्यता के बीच में नित्यता स्थापित हो जाती है; काल के बीच में अनन्त की अनुभूति होती है। ईश्वर अपने को ईश्वर जानने लगता है; उसे अपनी नित्यता का बोध होता है; व्यक्त रूपों में अपनी अनन्तता का ज्ञान होता है; अपने द्वारा अपना निरंतर नवीन परिचय प्राप्त करके वह आत्मज्ञान के सर्वोत्कृष्ट आनन्द का स्थायी रूप से अनुभव करता है। जीवन के मध्य में ही यह ज्ञान प्रकट होना चाहिए; और होता भी है। क्योंकि **जीवन के मध्य में ही, सीमा का अनुभव किया जा सकता है: और उसका उल्लंघन भी किया जा सकता है; और फलतः सीमातीत स्थिति या मुक्ति का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।** इस प्रकार की मुक्ति तीन रूप धारण करती है।

अधिकाँश ईश्वर–प्राप्त पुरूष तुरंत एवं सदा के लिये शरीर त्याग देते हैं; और ईश्वर के अनन्त स्वरूप में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उन्हें केवल मिलन के आनन्द का ज्ञान रहता है। उनके लिए सृष्टि का अस्तित्व नहीं रह जाता; तथा उन्हें जन्म और मरण के अविश्रांत चक्कर से छुटकारा मिला जाता है। यह मुक्ति कहलाती है।

कोई ईश्वर–प्राप्त पुरूष कुछ समय के लिए शरीर धारण किये रहते हैं; किन्तु उनकी चेतना ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में, पूर्णतः निमग्न हो जाती है; अतएव न तो उन्हें अपने शरीर का ज्ञान रहता है, और न सृष्टि का ही। वे ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द एवं अनन्त शक्ति का निरंतर अनुभव करते हैं; किन्तु ज्ञानपूर्वक इनका उपयोग सृष्टि में नहीं कर सकते और न मुक्ति–प्राप्ति में दूसरों की वे सहायता ही कर सकते हैं। तथापि संसार में उनकी उपस्थिति ईश्वर के अनन्त ज्ञान, शक्ति एवं अनन्त आनन्द के एकत्रीकरण तथा प्रसार के लिए, एक केन्द्र बिन्दु के भाँति है। और जो उनके निकट जाते हैं, उनकी सेवा करते हैं, और उनकी पूजा करते हैं, उनका इस संपर्क के द्वारा आध्यात्मिक कल्याण होता है। ऐसे आत्मा 'मझजुब' कहे जाते हैं, और उनकी यह विशेष प्रकार की मुक्ति विदेह–मुक्ति या देह से मुक्ति कहलाती है।

कुछ ईश्वर–प्राप्त पुरुष शरीर को बनाये रखते हैं; तो भी ईश्वर के व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों स्वरूपों में, उन्हें अपने ईश्वरत्व का ज्ञान रहता है। वे जानते हैं, कि वे नित्य दैवी तत्व भी हैं, तथा अनन्त विभिन्न रूप भी हैं। वे अपने को सृष्टि से पृथक्, ईश्वर अनुभव करते हैं– ऐसा ईश्वर जो समस्त सृष्टि का सृष्टा, पालक तथा संहारक है; साथ ही साथ वे अपने को ऐसा ईश्वर भी अनुभव करते हैं, जिसने सृष्टि की सीमाओं को स्वीकार किया है, तथा उनसे परे है। वे ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शांति, एवं अनन्त शक्ति का निरंतर अनुभव करते हैं। वे सृष्टि की दिव्य लीला का पूर्ण आनन्द लाभ करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु में अपने को ईश्वर अनुभव करते हैं, अतः मुक्त, मझजुब या सद्‌गुरू की हैसियत से, वे प्रत्येक वस्तु की आध्यात्मिक सहायता कर सकते हैं; और अन्य आत्माओं को ईश्वर–दर्शन करा सकते हैं।

संसार में हर समय छप्पन सद्‌गुरू मौजूद रहते हैं। ज्ञान में वे सब एक होते हैं। कार्य में वे सदैव भिन्न होते हैं। अधिकांश भाग में वे जन साधारण लोगों से अलग और अज्ञात रहकर कार्य करते हैं, किन्तु पाँच, जो एक प्रकार से, एक संचालक संघ की भाँति काम करते हैं, सदैव सर्व साधारण लोगों के बीच में काम करते हैं, तथा लौकिक महत्ता एवं प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। अवतारिक कालों में, अवतार सर्वश्रेष्ठ सद्‌गुरू की हैसियत से, इस संघ तथा समस्त आध्यात्मिक परम्परा के अध्यक्ष के रूप में अपना स्थान ग्रहण करता है।

अवतारिक काल सृष्टि के बसन्त ऋतु की भाँति हुआ करते हैं। वे शक्ति का नवीन प्रवाह, चेतना की नूतन जागृति, तथा जीवन का नया अनुभव लाते हैं। केवल कुछ लोगों के लिए नहीं, किन्तु सभी लोगों के लिए। ज्ञान एवं शक्ति के जिन गुणों का उपयोग तथा रसास्वादन केवल कतिपय उन्नत आत्मा करते आये थे, वे समस्त मानवता के लिए सुलभ कर दिये जाते हैं। समग्र जीवन चेतना की उच्चतर सतह में पदार्पण करता है; और उसमें नवीनतर स्फूर्ति का संचार हो जाता है। मानवता का इंद्रिय–जनित अनुभव से बुद्धि में अवस्थान्तर ऐसा ही एक परिवर्तन था, जो हो चुका है; तर्क से अंतःप्रज्ञा में अवस्थान्तर यह परिवर्तन होने को है।

रचनात्मक शक्ति की यह नूतन धारा एक दिव्य व्यक्तित्व के द्वारा प्रवाहित की जाती है, जिसे एक विशिष्ट अर्थ में ईश्वर का **अवतार** कहते है। यह अवतार सर्व प्रथम व्यक्ति था, जो विकास के क्रम से निवृत्त हुआ था; और वह एक ही अवतार पहले प्रगट हुआ है अथवा होगा। उसके द्वारा ईश्वर ने सबसे पहले अचेतन दिव्यत्व से सचेतन दिव्यत्व में अपनी यात्रा समाप्त की। उसके द्वारा ईश्वर अचेतन भाव से मनुष्य बना,

ताकि वह सचेतन भाव से ईश्वर बन सके। उसके द्वारा ईश्वर मानव जाति के उद्धार के लिए सचेतन भाव से मनुष्य बनता है।

अवतार भिन्न रूपों में, भिन्न नामों से, भिन्न समयों पर, विश्व के भिन्न भागों में, प्रकट होता है। उसका अभ्युदय, तथा मनुष्य का आध्यात्मिक जन्म साथ ही साथ होता है अतः उसकी अभिव्यक्ति का निकट पूर्ववर्ती समय सदैव ऐसा होता है, जिसमें मानवता आगामी जन्म की प्रसववेदना से पीड़ित होती है। मनुष्य हमेशा से अधिक इच्छा का दास हो जाता है, हमेशा से अधिक लोभ–ग्रस्त, भयत्रस्त तथा क्रोध–दग्ध हो जाता है। बलवान दुर्बल पर शासन करते हैं, धनवान निर्धन पर अत्याचार करते हैं; विशाल जनसमुदाय का शोषण उन थोड़े से लोगों के लाभ के लिए किया जाता है, जिनके हाथ में सत्ता रहती है। कहीं भी शांति या विश्राम न पा कर, व्यक्ति उत्तेजना एवं विलास में डूब कर अपने आपको भूल जाने का यत्न करता है। दुराचार बढ़ता है; अपराधों की वृद्धि होती है; तथा धर्म का परिहास किया जाता है। समाजव्यवस्था में भ्रष्टता बढती है। श्रेणियों एवं राष्ट्रों के बीच घृणा जागृत तथा उत्तेजित की जाती है। युद्ध छिड़ जाते हैं। मानवता किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। संहार के वेग को शिथिल करने का कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसे समय में अवतार प्रकट होता है। मानवीय रूप में ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के सबब, वह एक मापदंड के तुल्य होता है, जिसके विरुद्ध मनुष्य माप कर सकता है। मानवीय उत्कृष्टताओं के आदर्श को वह दिव्य जीवन के दृष्टान्त द्वारा यथार्थ कर दिखलाता है।

प्रत्येक वस्तु में उसकी रूचि होती है; किन्तु किसी वस्तु से उसका लगाव नहीं होता। अत्यन्त छोटी दुर्घटना उसकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। महान से महान शोक भी उसे विचलित नहीं कर सकता। दुःख और सुख, इच्छा और संतोष, विश्राम और संघर्ष, जीवन और मृत्यु के द्वन्द्वों से, वह परे रहता है। उसके लिये ये सब ऐसे भ्रम हैं, जिनसे वह मुक्त हो चुका है किन्तु जिनसे अन्य लोग बद्ध हैं, और जिनसे उन्हें मुक्त करने के लिये वह आया है। वह प्रत्येक परिस्थिति का उपयोग उन लोगों को आत्म–ज्ञान की ओर बढाने के साधन के रूप में करता है।

वह जानता है कि मृत्यु से मनुष्यों के अस्तित्व का अन्त नहीं होता अतः मृत्यु से उसे कोई मतलब नहीं रहता। वह जानता है कि सृजन के पूर्व संहार होता है; यंत्रणा के गर्भ से शांति और आनन्द का जन्म होता है, प्रयत्न के ही द्वारा कर्म के बंधनों से छुटकारा मिलता है। मतलब की बातों से ही उसे मतलब हुआ करता है।

जो उसके संपर्क में आते हैं उनमें वह ऐसा प्रेम जागृत करता है जो उनकी तमाम स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को, उसकी सेवा करने की इच्छा की अग्निशिखा में भस्म कर देता है। जो उसको अपने जीवन अर्पित करते हैं वे क्रमशः ज्ञान में उसी के समान हो जाते हैं। क्रमानुसार उनकी मनुष्यता उसके दिव्यत्व में लीन होती जाती है और वे मुक्त हो जाते हैं।

जो उसके अत्यन्त निकट होते हैं वे उसका वृत्त (Circle) कहलाते हैं। प्रत्येक सद्गुरु का बारह शिष्यों का एक वृत्त होता है। सद्गुरु इन शिष्यों को ज्ञान में अपने ही समान बनाता है यद्यपि उनके कार्य और अधिकार भिन्न होते हैं। अवतारिक कालों में अवतार का वृत्त एक सौ बीस शिष्यों का होता है जो सब आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरों की मुक्ति के लिए कार्य करते हैं।

उनका कार्य सिर्फ तत्कालीन मानवता ही के लिए नहीं होता; किन्तु भावी मानव–सन्तान के लिए भी होता है। अवतारिक कालचक्र के लिए आवश्यक जीवन एवं चेतना का जो उद्घाटन निर्मायक विश्व में अवतार के आकार धारण करने के पहले ही तय रहता है, उसका रूपात्मक एवं भौतिक संसारों में अनुमोदन तथा आयोजन पृथ्वी पर अवतार के जीवन काल में संपादित होता है।

अवतार समकालीन मानव जाति को जागृत कर, उसके सच्चे आध्यात्मिक स्वभाव का ज्ञान कराता है; उन लोगों को मुक्ति देता है, जो उसके लिए तैयार रहते हैं और अपने समय में जीव के जीवन को द्रुत गति प्रदान करता है। भावी मानव–संसार के लिए वह अपना आदर्श छोड़ जाता है। उसके दिव्य मानवीय दृष्टान्त की उत्साह–वर्धक शक्ति, उसका पवित्र एवं महान जीवन, उसका इच्छा–विहीन निर्मल प्रेम, उसकी केवल परोपकार में ही लगायी गयी शक्ति, उसकी आकांक्षा–रहित शांति, उसका भ्रमविमुक्त ज्ञान– ये सब उसके तिरोहित होने पर मानवता का पथ प्रदर्शन करते हैं।

पृथ्वी पर स्वर्गीय अर्थात् दिव्य जीव सभी मनुष्यों के लिए सम्भव है, यह अपने जीवन के उदाहरण के द्वारा उसने सिद्ध कर दिया है। इच्छा उत्पन्न होने पर साहसी और सच्चे मनुष्य उसके अनुयायी होंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से जो जागृत हैं, उन्हें विदित है, कि अवतारिक अभिव्यक्ति का पूर्ववर्ती समय जैसा हमेशा हुआ करता है वैसे ही समय से आजकल संसार गुजर रहा है। अजागृत स्त्री–पुरुष भी अब इस बात को जानने लगे हैं। अपने अंधकार से वे प्रकाश के लिए आगे बढ़ रहे हैं, अपने दुःख में, वे आराम के लिए लालायित हैं, कलह

के भँवर में, अपने आप को ग्रस्त देख कर, वे शांति और उद्धार के लिए प्रार्थना रहे हैं।

कुछ समय के लिए उन्हें धैर्य धारण करना चाहिए। संहार की लहर को अधिक ऊँची उठनी चाहिए, और अधिक आगे बढ़ना चाहिए। किंतु जब मनुष्य अ हृदय की गहराई से, धन की अपेक्षा किसी अधिक स्थायी वस्तु की इच्छा करे भौतिक शक्ति की अपेक्षा किसी अधिक सत्य वस्तु की चाह करेगा, तब यह लहर पी हटेगी। फिर शांति का आगमन होगा, आनन्द का आगमन होगा, प्रकाश का आगम होगा।

मेरा मौन तोड़ना – जो जनसमाज के समक्ष मेरी अभिव्यक्ति का संकेत होगा बहुत दूर नहीं है। मैं सर्वोत्तम निधि लाता हूँ, जिसे मनुष्य के लिए लेना सम्भव है– य निधि ऐसी है, सभी निधियां जिसके अंतर्गत हैं, जो अक्षय है, दूसरों को देने से जो औ भी बढ़ती है। इसे लेने के लिए तैयार होओ।

7

# स्वार्थ

**स्वार्थपरता का विश्लेषण**

इच्छाओं की, कार्य तथा अनुभव में, अपनी तृप्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण स्वार्थपरता अस्तित्व में आती है। व्यक्ति के सच्चे स्वाभाव की मौलिक अभिज्ञता से उसका जन्म होता है। चेतना के लंबे विकासक्रम के द्वारा संचित, विभिन्न प्रकार के संस्कारों के समुच्चय से, मानवीय चेतना तिनिराच्छादित हो जाती है। ये संस्कार इच्छाओं के रूप में प्रकट होते हैं; और इन इच्छाओं के द्वारा चेतना का कार्यक्षेत्र कठोरतापूर्वक सीमित हो जाता है। चेतना का सम्भवक्षेत्र चारों ओर से संस्कारों के द्वारा घिर जाता है। संस्कारों का घेरा वह सीमित क्षेत्र है, केवल जिसमें ही वैयक्तिक चेतना एकत्रीभूत की जा सकती है। कुछ इच्छाओं की कार्य–रूप में परिणत होने की केवल संभावना हुआ करती है, किंतु अन्य इच्छाएं तो वस्तुतः अपने को कार्य में परिणत करती है। इच्छा की आचरण में अपने को व्यक्त कर सकने की योग्यता उसकी तीव्रता तथा उससे सम्बद्ध संस्कारों की मात्रा पर निर्भर है। यदि रेखागणित के रूपक का उपयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि जब कोई इच्छा कार्य–रूप में परिणत होती है तब वह इतनी दूरी तय करती है जो उस वृत्त की त्रिज्या के बराबर होती है जो उस इच्छा से सम्बद्ध संस्कारों की परिधि खींचता है। पर्याप्त शक्तिसंचय के कर लेने के बाद पूर्ण होने के लिये इच्छा अपने को कार्य में परिवर्तित करती है।

स्वार्थपरता का घेरा इच्छाओं के घेरे के बराबर है। विविध इच्छाओं के अवरोध के सबब अपने यथार्थ स्वरूप की पूर्ण एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति, आत्मा के लिए असम्भव

हो जाती है। एवं जीवन स्व–केंद्रित, तथा सीमित हो जाता है। वैयक्तिक अहम् का समस्त जीवन चाह की मुट्ठी में निरंतर बंधा रहता है। परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा इच्छाओं की तृप्ति खोजने का नाम चाह है। किंतु, **नाशवान वस्तुओं के द्वारा वास्तविक तृप्ति की प्राप्ति असम्भव है।** जीवन की चंचल वस्तुओं से प्राप्त संतोष स्थायी नहीं होता; और मनुष्य की चाहें अतृप्त बनी रहती है। इस प्रकार असंतोष का एक सामान्य भाव सदैव मौजूद रहता है जिसके साथ साथ सभी प्रकार की चिंताओं का आगमन होता है।

**चाह का परिणाम असन्तोष है।**

निष्फल अहंकार जिन तीन मुख्य रूपों में व्यक्त होता है, वे हैं, काम, लोभ, क्रोध। कई दृष्टियों से काम बहुत कुछ लोभ के ही समान है। केवल तृप्त होने की इसकी विधि भिन्न है जिसका सीधा संबंध स्थूल क्षेत्र से रहता है। काम स्थूल शरीर के माध्यम के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तथा स्थूल क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता (Entanglement) का वह द्योतक है। लोभ हृदय की विश्राम–हीनता की एक अवस्था है। और वह अधिकार और सत्ताप्राप्ति की लिप्सा से उत्पन्न होता है। इच्छाओं की तृप्ति के लिये अधिकार और शक्ति की खोज की जाती है। इच्छाओं को तृप्त करने के अपने प्रयत्न में मनुष्य केवल आंशिक रूप से संतुष्ट होता है और यह आंशिक संतोष, इसकी इच्छा की अग्नि को, शान्त करने के बदले, और भी प्रज्वलित कर देता है। अतः लोभ के लिये, अपने असीम क्षेत्र पर विजय पाना असम्भव होता है, और यह मनुष्य को अंत में अत्यंत असंतुष्ट बना देता है। लोभ की प्रधान अभिव्यक्तियां मनुष्य की भावनात्मक पहलू से सम्बन्ध रखती हैं। लोभ सूक्ष्म क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता का द्योतक है। क्रोध उत्तेजित मन का उफान है। इच्छाओं के खण्डित होने से वह उत्पन्न होता है। वह सीमित अहंभाव को भोजन देता है। आक्रमण एवं प्रभुत्व के लिये उसका उपयोग होता है। उसका लक्ष्य है, इच्छाओं के तृप्त होने की मार्ग की बाधाओं को दूर करना। क्रोध का उन्माद अहंकार और अभिमान का पोषण करता है; और वह सीमित अहंभाव का सर्वश्रेष्ठ हितैषी है। क्रोध का स्थान मन में है; और वह अधिकांश में, मन की क्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है। क्रोध एक प्रकार से मानसिक बद्धता का द्योतक है। काम, लोभ और क्रोध की अभिव्यक्ति के साधन क्रमशः शरीर, हृदय और मन हैं।

**काम, लोभ तथा क्रोध।**

मनुष्य काम, लोभ और क्रोध के द्वारा, निराशा का अनुभव करता है। और निष्फल अहम् उसकी तरफ से काम, लोभ और क्रोध के ही द्वारा, अधिक तृप्ति की खोज करता है। **इस प्रकार चेतना असीम निराशा के दुष्ट चक्कर में फंस जाती है।** काम, लोभ या क्रोध की अभिव्यक्ति के अवरुद्ध होने

**दुष्ट चक्कर**

हो जाती है। एवं जीवन स्व–केंद्रित, तथा सीमित हो जाता है। वैयक्तिक अहम् का समस्त जीवन चाह की मुट्ठी में निरंतर बंधा रहता है। परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा इच्छाओं की तृप्ति खोजने का नाम चाह है। किंतु, **नाशवान वस्तुओं के द्वारा वास्तविक तृप्ति की प्राप्ति असम्भव है।** जीवन की चंचल वस्तुओं से प्राप्त संतोष स्थायी नहीं होता; और मनुष्य की चाहें अतृप्त बनी रहती है। इस प्रकार असंतोष का एक सामान्य भाव सदैव मौजूद रहता है जिसके साथ साथ सभी प्रकार की चिंताओं का आगमन होता है।

**चाह का परिणाम असन्तोष है।**

निष्फल अहंकार जिन तीन मुख्य रूपों में व्यक्त होता है, वे हैं, काम, लोभ, क्रोध। कई दृष्टियों से काम बहुत कुछ लोभ के ही समान है। केवल तृप्त होने की इसकी विधि भिन्न है जिसका सीधा संबंध स्थूल क्षेत्र से रहता है। काम स्थूल शरीर के माध्यम के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तथा स्थूल क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता (Entanglement) का वह द्योतक है। लोभ हृदय की विश्राम–हीनता की एक अवस्था है। और वह अधिकार और सत्ताप्राप्ति की लिप्सा से उत्पन्न होता है। इच्छाओं की तृप्ति के लिये अधिकार और शक्ति की खोज की जाती है। इच्छाओं को तृप्त करने के अपने प्रयत्न में मनुष्य केवल आंशिक रूप से संतुष्ट होता है और यह आंशिक संतोष, इसकी इच्छा की अग्नि को, शान्त करने के बदले, और भी प्रज्वलित कर देता है। अतः लोभ के लिये, अपने असीम क्षेत्र पर विजय पाना असम्भव होता है, और यह मनुष्य को अंत में अत्यंत असंतुष्ट बना देता है। लोभ की प्रधान अभिव्यक्तियां मनुष्य की भावनात्मक पहलू से सम्बन्ध रखती हैं। लोभ सूक्ष्म क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता का द्योतक है। क्रोध उत्तेजित मन का उफ़ान है। इच्छाओं के खण्डित होने से वह उत्पन्न होता है। वह सीमित अहंभाव को भोजन देता है। आक्रमण एवं प्रभुत्व के लिये उसका उपयोग होता है। उसका लक्ष्य है, इच्छाओं के तृप्त होने की मार्ग की बाधाओं को दूर करना। क्रोध का उन्माद अहंकार और अभिमान का पोषण करता है; और वह सीमित अहंभाव का सर्वश्रेष्ठ हितैषी है। क्रोध का स्थान मन में है; और वह अधिकांश में, मन की क्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है। क्रोध एक प्रकार से **मानसिक** बद्धता का द्योतक है। काम, लोभ और क्रोध की अभिव्यक्ति के साधन क्रमशः शरीर, हृदय और मन हैं।

**काम, लोभ तथा क्रोध।**

मनुष्य काम, लोभ और क्रोध के द्वारा, निराशा का अनुभव करता है। और निष्फल अहम् उसकी तरफ से काम, लोभ और क्रोध के ही द्वारा, अधिक तृप्ति की खोज करता है। **इस प्रकार चेतना असीम निराशा के दुष्ट चक्कर में फंस जाती है।** काम, लोभ या क्रोध की अभिव्यक्ति के अवरुद्ध होने

**दुष्ट चक्कर**

से निराशा उत्पन्न होती है। अतएव स्थूल, सूक्ष्म एवं मानसिक बद्धता की निराशा एक सामान्य प्रतिक्रिया (reaction) है। वह एक उदासीनता है, जो काम, लोभ और क्रोध का विस्तार स्वार्थपरता के साथ ही साथ होता है। इन तीनो अन्योन्याश्रित दुर्गुणों की आधारशिला स्वार्थपरता है। अतः स्वार्थपरता ही निराशा एवं चिंताओं का आदि कारण है। वह अपने आप को ही पराजित करती है। वह इच्छाओं के द्वारा अपनी तृप्ति की खोज करती है किंतु असीम असंतोष प्राप्त करने में ही सफल होती है।

स्वार्थपरता का अनिवार्य परिणाम असंतोष और निराशा है, क्योंकि इच्छाओं का कोई अंत नहीं है। अतः सुख की समस्या का दूसरा नाम इच्छा त्याग की समस्या है। तथापि यांत्रिक दमन के द्वारा इच्छाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। वे केवल ज्ञान के ही द्वारा छिन्नमूल की जा सकती है। यदि तुम विचारों की गहराई में डूबो और कुछ क्षणों के लिए गंभीरतापूर्वक सोचो तो तुम्हें इच्छाओं का खोखलापन मालूम हो जायगा। सोचो कि इतने वर्षों तक तुम्हें कितना सुख मिला तथा तुम्हें कितना दुःख मिला। जीवन में तुमने जो भोग किया वह आज शून्य के बराबर है; और जीवन में तुम्हें जो कष्ट मिला वह भी कुछ नहीं के समान है। सब भ्रमात्मक था। सुखी होने का तुम्हें अधिकार है। लेकिन तोभी तुम स्वयं वस्तुओं की चाह करके, अपना दुःख पैदा करते हो। चाह सतत अशांति का उद्गम स्थान है। जिस वस्तु की तुमने चाह की, यदि वह तुम्हें नहीं मिली तुम निराश होते हो। यदि वह तुम्हें मिली तो तुम उसे अधिकाधिक चाहते हो और दुःखी होते हो। कहो "मुझे कुछ भी नहीं चाहिये"; और सुखी होओ। चाहों की असारता की निरंतर अनुभूति अंत में ज्ञान प्रदान करेगी। यह आत्मज्ञान चाहों से तुम्हें मुक्त करेगा और इस प्रकार, स्थायी सुख का पथ तुम्हें मिल जायगा।

**सुख का पथ**

चाहों (Wants) और आवश्यकताओं (Needs) का भेद भली भांति समझ लेना चाहिये। अभिमान और क्रोध, वासना और लोभ, ये सब चाह के भिन्न रूप हैं। तुम कदाचित कहोगे, "मुझे जिन वस्तुओं की चाह है, उन सब की मुझे आवश्यकता है"। किंतु यह एक भूल है। यदि तुम मरुस्थल में प्यासे हो, तो तुम को स्वच्छ जल की आवश्यकता है, न कि शर्बत की। जब तक मनुष्य का शरीर है तब तक कुछ आवश्यकताएं रहेंगी और ऐसी आवश्यकताएं पूरी करना जरूरी है। किंतु चाहें मूढ कल्पना का परिणाम है। यदि सुख पाना है तो सावधानी पूर्वक हमें उनका वध करना चाहिए। **इच्छाओं से ही स्वार्थपरता की सृष्टि होती है; अतः चाहों का त्याग मृत्यु की एक विधि है।** सामान्यतः मरना का अर्थ शरीर त्याग करना है। किंतु निम्न विषयेच्छाओं को त्यागना असली मरना है।

**इच्छाओं का त्याग।**

पुरोहित लोग स्वर्ग और नरक के दुःखपूर्ण चित्र खींच कर झुठी मृत्यु के लिये मनुष्यों को तैयार करते हैं। किंतु यह मृत्यु भ्रमात्मक है क्योंकि जीवन एक अनवरत प्रवाह है। इच्छाओं की समाप्ति ही सच्ची मृत्यु है और यह धीरे–धीरे आती है।

**प्रेम और सेवा।**

प्रेम के उदय से स्वार्थपरता का नाश सरल हो जाता है। सच्चे अस्तित्व का नाम है प्रेम करके मरना। यदि तुम एक दूसरे को प्रेम नहीं कर सकते हो तो तुम उन्हें कैसे प्रेम कर सकते हो जो तुम्हें यंत्रणा देते हैं ? स्वार्थपरता की सीमाएं अज्ञान के द्वारा निर्मित होती है। जब मनुष्य जानने लगता है, कि उसकी रुचियों और कार्यों के विस्तृत होने से उसे अधिक गौरवपूर्ण संतोष की प्राप्ति होगी तब वह सेवा–मय जीवन की ओर अग्रसर होता है। इस स्थिति में सदिच्छाओं को अपने मन में स्थान देता है। वह परदुःख निवारण तथा परोपकार द्वारा दूसरों को सुखी करना चाहता है। यद्यपि ऐसी अच्छी इच्छाओं में भी स्वार्थ का अप्रत्यक्ष एवं लुप्त सम्बन्ध रहता है तथापि उसके सत्कार्य पर संकुचित स्वार्थपरता का अधिकार नहीं रहता। अच्छी इच्छाएं भी एक अर्थ में स्वार्थपरता का ही व्यापक एवं प्रशस्त रूप है, क्योंकि बुरी इच्छाओं की भाँति वे भी द्वैत के राज्य के भीतर कार्य करते हैं। किंतु अच्छी इच्छाओं के रूप में स्वार्थपरता एक ऐसे विशालतर विचार को आलिंगन कर रही है जो निदान उसी का मूलोच्छेदन करता है। केवल यशस्वी, आकर्षक तथा संग्रह–शील बनने का प्रयत्न करने के बदले मनुष्य अब दूसरों के लिये उपयोगी बनना सीखता है।

**स्वार्थपरता का जन्म**

व्यक्तिगत अहम् की रचना में जो इच्छाएं प्रविष्ट होती हैं, वे या तो अच्छी होती हैं, या बुरी। बुरी इच्छाएं सामान्यतः स्वार्थपरता के नाम से सम्बोधित होती हैं। और इच्छाएं निःस्वार्थता के नाम से पुकारी जाती हैं। किंतु स्वार्थपरता और निःस्वार्थपरता के बीच में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। द्वैत के ही क्षेत्र में दोनों कार्य करती हैं। और अच्छाई और बुराई के द्वन्द्व से परे सर्वोपरि दृष्टि में, स्वार्थपरता और निःस्वार्थपरता का भेद मुख्यतः विस्तार का भेद है। स्वार्थपरता तथा निःस्वार्थता वैयक्तिक अहंकार के जीवन की दो अवस्थाएं है; और दोनों अवस्थाओं में पारस्परिक संबंध है। स्वार्थपरता का जन्म तब होता है, जब सारी इच्छाएं संकुचित व्यक्तित्व के चारों ओर केन्द्रीभूत कर दी जाती हैं। जब निःस्वार्थता का उदय होता है, तब इच्छाओं की ऐसी लचर व्यवस्था भंग होती है; और इच्छाओं का सामान्यतः विस्तार होता है। इच्छाओं के विस्तार का यह परिणाम होता है, कि ये विशालतर क्षेत्र को घेरती हैं। एक सीमित क्षेत्र तक रुचियों का संकुचित होना स्वार्थपरता है; एक विशाल क्षेत्र में रूचियों का विस्तार निःस्वार्थता है। स्वार्थपरता

निःस्वार्थता का मर्यादित रूप है और निःस्वार्थता स्वार्थपरता का एक विस्तृत कार्य क्षेत्र में प्रसार है। यह बात असत्य सी प्रतीत होने पर भी वस्तुतः सच है।

**द्वैत की दुनिया से पूर्णतः ऊपर उठने के पूर्व स्वार्थ का निःस्वार्थता में परिणत होना नितान्त आवश्यक है।** दृढ आग्रह के साथ तथा निरंतर सत्कार्यों को करते रहने से स्वार्थ क्षीण हो जाता है। स्वार्थ का जब विस्तार बढता है और वह सत्कार्यों में अभिव्यक्त होता है तब वह स्वयं अपने नाश का साधन बन जाता है। **अच्छाई उन्नतिशील स्वार्थ तथा मरणासन्न स्वार्थ के बीच प्रधान कड़ी है।** जो स्वार्थ आरम्भ में कुप्रवृत्तियों का जनक होता है वही अच्छे कार्यों के द्वारा अपना ही नाश करनेवाला वीर सिद्ध होता है। और जब कुप्रवृत्तियों के स्थान में सत्प्रवृत्तियाँ पूर्णतया आरूढ़ हो जाती हैं, तब स्वार्थ निःस्वार्थता में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थ अपने को जागतिक हित में लीन कर देता है। और यद्यपि वह निःस्वार्थ तथा परहितपरायण जीवन भी द्वन्द्वों से बद्ध होता है तथापि अच्छाई द्वन्द्व–मुक्ति के लिए आवश्यक क़दम है। अच्छाई वह साधन है जिसके द्वारा, आत्मा अपने अज्ञान का उन्मूलन कर सकता है।

**स्वार्थ की निःस्वार्थता में परिणति**

**अच्छाई को पार करके आत्मा परमात्मा में पहुँचता है।** निःस्वार्थता सर्वात्मभाव (Universal Selfhood) अर्थात् सर्वोपरि परमार्थ में लय हो जाती है। सर्वात्मभाव सत् और असत्, सदगुण और दुर्गुण, तथा माया के अन्य द्वैतमय स्वरूपों से परे है। निःस्वार्थता की सर्वोच्चता सर्वभूत के प्रति एकता की अनुभूति का आरम्भ है। मुक्ति की अवस्था में स्वार्थपरता तथा निःस्वार्थता का अस्तित्व सामान्य अर्थ में नहीं रह जाता, किंतु सभी के प्रति आत्मीयता की अनुभूति में इन दोनों का लय हो जाता है। समस्त जीवन की एकता के ज्ञान से परम शांति एवं अथाह आनन्द की उपलब्धि होती है। यह ज्ञान आध्यात्मिक गति–शून्यता नहीं है, और इसके द्वारा सापेक्षिक मूल्यों (Relative values) का नाश भी नहीं होता। **सभी के प्रति आत्मीयता की अनुभूति से ऐसी स्थायी समता की प्राप्ति होती है जिसमें विवेक की विद्यमानता रहती है तथा ऐसी शांति की उपलब्धि होती है जो संसार के प्रति उदासीनता अथवा उपेक्षा का बर्ताव नहीं करती।** 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' का यह भाव केवल वैयक्तिक दृष्टिकोण से समन्वय (synthesis) करने का परिणाम नहीं है। यह अंतिम सत्य से, (जिसके अंतर्गत सब कुछ है) एकता की वास्तविक प्राप्ति का परिणाम है।

**सर्वात्मभाव अर्थात् सर्वोपरि परमार्थ।**

सभी इच्छाओं को निर्मूल करके अपना हृदय खोलो और उसमें केवल एक ही लालसा को स्थान दो– अर्थात् अंतिम सत्य से एकता प्राप्त करने की लालसा। उस अंतिम सत्य की खोज बहिर्जगत की परिवर्तनशील वस्तुओं में नहीं की जानी चाहिए। उसकी खोज अपने ही भीतर करनी चाहिए।

**अंतिम सत्य से एकता।**

प्रत्येक बार जब तुम्हारी आत्मा तुम्हारे मानवीय हृदय में प्रवेश करना चाहती है, तब वह बाहर तो ताला जकड़ा हुआ पाती है, तथा भीतर इच्छाओं की बड़ी भीड़ लगी रहती है। सर्वत्र स्थायी आनन्द का उद्‌गम स्थान मौजूद है; किंतु तो भी समस्त प्राणी अज्ञानजनित इच्छाओं के कारण, दुखी हैं। स्थायी सुख का लक्ष्य पूर्णतः तभी चमकता है, जब सीमित अहंकार अपनी समस्त इच्छाओं के सहित अपने पूर्ण एवं अंतिम नाश को प्राप्त होता है।

इच्छाओं के त्याग का अर्थ संसार को त्याग देना या जीवन के प्रति निरा निषेधात्मक रूख धारण करना नहीं है। जीवन का ऐसा किसी भी प्रकार का निषेध मनुष्य को मनुष्यत्वशून्य बनाता है। **ईश्वरत्व मनुष्यत्व के रहित नहीं है।** आध्यात्मिकता का परमावश्यक कर्तव्य मनुष्य को अधिक मनुष्यत्व–युक्त बनाना है। मनुष्य में जो सौंदर्य है, महानता तथा सात्विकता है, उन्हें मुक्त तथा व्यक्त करने के कार्य का नाम आध्यात्मिकता है। बहिर्जगत में जो कुछ भी भव्य तथा सुंदर है उसे भी वह विकसित करती है।

**आध्यात्मिकता जीवन के प्रति विधायक रुख है।**

सांसारिक कार्यों के बाह्यत्याग तथा कर्तव्य और उत्तरदायित्व की उपेक्षा को वह आवश्यक नहीं मानती। वह केवल उतना ही आवश्यक समझती है कि व्यक्ति के विशेष स्थान और पद से जो कार्य और उत्तरदायित्व उत्पन्न होते हैं, उनका संपादन करते समय, उसकी आत्मा इच्छाओं के बोझ से मुक्त रहे। द्वैत के बंधनों से मुक्त रहना ही पूर्णता है। बंधनों से इस प्रकार की मुक्ति अवरोध–रहित विधायकता (Creativity) के लिए नितान्त आवश्यक है। बंधनों के भय से जीवन से दूर भागने से, यह मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा करना जीवन का निराकरण है। प्रकृति की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति से भयभीत हो कर पीछे हटने से, पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। बंधन से बचने के प्रयत्न का अर्थ है जीवन से भयभीत होना। किंतु आध्यात्मिकता का अर्थ है, परस्परविरोधों (opposites) से अभिभूत हुए बिना जीवन का ठीक और पूर्ण ढंग से सामना करना। उसे सभी प्रकार के आकर्षक एवं शक्तिशाली भ्रमों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए। ऐसी आध्यात्मिकता का पालन करनेवाला मनुष्य जीवन के विभिन्न रूपों से अपना सम्पर्क बनाये रख कर भी, प्रचण्ड क्रियाशीलता के बीच, आसक्ति से संपूर्णतः रहित हो कर, आचरण करता है।

# मुझे पाने के बारह उपाय

1. **आकांक्षाः** – सहारा की प्रचण्ड धूप में कई दिनों से पड़ा हुआ व्यक्ति, जिस प्रकार पानी के लिए व्याकुल तथा लालायित हो जाता है, यदि मुझसे मिलने की तुम्हारी भी आकाँक्षा इसी प्रकार की है, तो तुम मुझे प्राप्त करोगे।

2. **चित्त–शांति** – हिमाच्छादित झील की शांति यदि तुम में है तो तुम मुझे प्राप्त करोगे।

3. **नम्रता** – यदि उस मृत्तिका की नम्रता तुम में है जो किसी भी आकार में परिवर्तित की जा सकती है तो तुम मुझे जानोगे।

4. **विह्लता** – यदि ऐसी विह्लता का अनुभव होता है जिससे विवश हो कर मनुष्य आत्महत्या कर लेता है और तुम्हें महसूस होता है कि तुम मुझे देखे बिना नहीं रह सकते तो तुम मुझे देखोगे।

5. **विश्वास** – गुरू के कथन पर विश्वास करके, कल्याण ने जिस प्रकार दिन को रात मान लिया, यदि तुम्हारा भी विश्वास इस प्रकार पूर्ण है, तो तुम मुझे जानोगे।

6. **प्रेम के द्वारा संयम** – यदि मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम तुम्हारी इंद्रिय विषयक वासना को निकाल बाहर कर सकेगा, तो तुम मुझे पाओगे।

7. **निष्ठा** – जैसी जीवन के अंत तक साँस तुम्हारा साथ देती है, यद्यपि हमेशा तुम्हें उसका अनुभव नहीं होता (तथा सुख और दुःख दोनों में वह तुम्हारे साथ रहती

है और कभी तुम्हारे विरुद्ध नहीं होती) यदि वैसी ही तुम्हारी भी निष्ठा है तो तुम मुझे जानोगे।

8. **निःस्वार्थ सेवा** – समस्त सृष्टि पर –खेत की घास पर, उड़ते हुए पक्षियों पर, वन के पशुओं पर, तथा दुर्जन सज्जन एवं धनी–निर्धन पूर्ण मानव जाति पर– उअपने प्रति इन सब के बर्ताव से अविचलित रह कर, जिस प्रकार सूर्य चमकता है, और परिणाम पर ध्यान दिये बिना समभाव से सब की सेवा करता है यदि तुम में इसी तरह की निःस्वार्थ सेवा का गुण है, तो तुम को विजय में मैं मिलूंगा।

9. **त्याग** – यदि तुम मेरे लिये शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक अर्थात् अपने सर्वस्व का त्याग कर दोगे, तो तुम मुझे प्राप्त करोगे।

10. **आज्ञा कारिता** – आँख के प्रति प्रकाश की भाँति, तथा नासा के प्रति सुगंध के भाँति, सहज, स्वाभाविक तथा पूर्ण यदि तुम्हारी आज्ञाकारिता है, तब तुम मेरे निकट आवोगे।

11. **आत्म समर्पण** – जिस प्रकार उन्निद्र रोग से ग्रस्त मनुष्य, खो जाने के भय के बिना, आकस्मिक निद्रा के हाथ में अपने को सौंप देता है, यदि इसी प्रकार पूर्ण हृदय से मेरे हाथ में, तुम अपना आत्मसमर्पण करते हो, तो तुम मुझे प्राप्त करते हो।

12. **प्रेम** – ईसामसीह (Jesus) के लिये सेंट फ्रांसिस (St. Francis) का जैसा प्रेम था, मेरे लिये यदि वैसा ही तुम्हारा भी प्रेम है, तो तुम मेरा ज्ञान ही प्राप्त नहीं करोगे, किंतु मुझे प्रसन्न भी करोगे।

# ईश्वर तथा व्यक्ति

ईश्वर अनंत है। अच्छे और बुरे, ठीक और ग़लत, सद्गुण और दुर्गुण, जन्म और मृत्यु, आनंद और पीड़ा इन परस्पर विरोधों से वह परे है। ईश्वर द्वन्द्वातीत है। यदि हम ईश्वर को एक पृथक सत्ता मानते हैं तो वह सापेक्षिक अस्तित्व की एक वस्तु बन जाती है। जिस प्रकार अच्छा बुरा के विरुद्ध है, उसी प्रकार ईश्वर अ–ईश्वर के विरुद्ध एवं अनंत सान्त के विरुद्ध समझा जाता है। जब हम अनंत और सान्त की बात करते हैं तो हम उन्हें दो वस्तु समझते हैं; और अनन्त द्वैत का दूसरा भाग बन जाता है। किन्तु अनंत तो जहाँ द्वैत नहीं है वहाँ की वस्तु है। यदि हम अनंत को सान्त के विरुद्ध समझें, तो वह अनंत नहीं रह जाता, किन्तु सान्त का ही एक भेद हो जाता है, क्योंकि वह सान्त के विरुद्ध प्रतिष्ठित होता है, और इस भाँति वह सीमित हो जाता है। और **चूंकि अनंत सान्त का द्वितीय भाग नहीं हो सकता, इसलिये सान्त का दृश्य अस्तित्व मिथ्या है।** केवल अनंत का अस्तित्व है। ईश्वर द्वैत के सीमाक्षेत्र में नहीं लाया जा सकता । केवल एक ही वस्तु का अस्तित्व है; और वह है सर्वभूतान्तरात्मा (Universal Soul) सान्त या सीमित का अस्तित्व केवल दिखाई देनेवाला या काल्पनिक है।

**ईश्वर ही केवल सत्य है।**

तुम अनंत हो। तुम वस्तुतः सर्व–व्यापक हो। किंतु तुम सोचते हो, कि तुम शरीर हो, और अपने को सीमित समझते हो। यदि तुम सोचते हो, कि तुम वह शरीर हो, जो बैठा है, तो तुम अपना सच्चा स्वरूप नहीं जानते।

यदि तुम अंतर्मुख हो कर, अपने आत्मा को उसके सच्चे स्वभाव में अनुभव करो तो तुम्हें अनुभूति होगी कि तुम अनंत हो, और समूचे सृष्टिप्रपंच से परे हो। किंतु तुम शरीर से अपने आप का समीकरण करते हो और इस मिथ्या समीकरण का कारण है अज्ञान जो मन के माध्यम के द्वारा अपने को प्रभावपूर्ण बनाता है। आध्यात्मिकता में उन्नत मनुष्य सोचता है, कि वह सूक्ष्म शरीर है। संत सोचता है, वह मन है। किंतु इस प्रकार सोचने की सभी विधियों में आत्मा अपना स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं कर रही है। इस प्रकार से सोचना, भ्रमरहित तथा अमिश्रित सोचना नहीं है। आत्म स्वतः के सच्चे स्वरूप में अनंत है – मन तथा शरीर से पृथक् है। किंतु अज्ञान के कारण आत्मा मन के वश में आ कर, 'सोचने वाली' बन जाती है। कभी वह अपने को शरीर मानती है; और कभी अपने को मन समझती है और माया बद्ध मनुष्य के संकुचित दृष्टिकोण से विश्व में व्यक्तियों का अस्तित्व है। ऐसा दिखाई देता है कि जितने मन और शरीर हैं उतने ही व्यक्ति हैं। वास्तव में केवल सर्वव्यापक आत्मा एक ही है; किंतु व्यक्ति सोचता है, कि वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न है। एक एवं अद्वितीय आत्मा ही, विभिन्न दिखाई देने वाले व्यक्तियों के मनों के पीछे मौजूद है। और इन व्यक्तियों के द्वारा, वह द्वैत के विभिन्न अनुभव प्राप्त करता है। **अनेक में जो एक है, वह अनेक एक बन कर, अपना अनुभव करता है।** इसका कारण है कल्पना या मिथ्या विचार।

**सान्त का भासमान अस्तित्व।**

चेतना के विकासक्रम के समय जो संस्कार संचित होते जाते हैं, उन्हीं के हस्तक्षेप के कारण, विचार मिथ्या हो जाता है। इच्छाओं के रूप में अपने को व्यक्त करने वाले संस्कारों के प्रभाव से चेतना की क्रिया विकृत हो जाती है। अनेक जन्म के द्वारा चेतना पर अनुभव के पश्चात–परिणामों (after effects) का भार निरंतर बढ़ता जाता है। और इन पश्चात–परिणामों से आत्मा का ज्ञान सीमित होता जाता है। आत्मा का विचार, संस्कारों के द्वारा निर्मित सीमा को लाँघ नहीं सकता है; और **चेतना अपने ही मिथ्या से बने हुए भ्रमों के जाल में एक असहाय बन्दी की भाँति फँस जाती है।** और विचार का यह मिथ्यात्व केवल आशिंक रूप से विकसित चेतना में ही विद्यमान नहीं रहता, किंतु मनुष्यों में भी मौजूद रहता है, जो पूर्णतः विकसित है।

**मिथ्या का विचार का कारण।**

चेतना का उन्नतिशील विकास (evolution) पाषाण की अवस्था से प्रारम्भ होकर, मनुष्य में पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। विकास का इतिहास चेतना के उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। और विकास का फल है पूर्ण चेतना (Full Consciousness) जो

मनुष्य में चरितार्थ होती है। किंतु यह पूर्ण चेतना भी धूल से ढँके हुए आइने के समान होती है। संस्कारों के प्रभाव के कारण पूर्ण चेतना को भी आत्मा के स्वभाव का सच्चा एवं स्पष्ट ज्ञान नहीं मिलता। यद्यपि चेतना पूर्ण विकसित हो जाती है तथापि सत्यबोध के बजाय; वह काल्पनिक सृष्टि का ही बोध कराती है क्योंकि उसकी स्वतंत्र क्रिया संस्कारों के भार से अवरुद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त, अपनी इच्छाओं के द्वारा वह जो पिंजड़ा बना लेती है, उसके बाहर वह नहीं निकल सकती। अतः उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है; और उसका कार्यक्षेत्र भी मर्यादित बनता है।

**पूर्ण चेतना का क्षेत्र।**

संस्कार चेतना की सीमा निर्धारित करते हैं; और इच्छाएं उसके कार्य का संचालन करती हैं। किंतु चूंकि इच्छाएं आत्म–तुष्टि चाहती हैं, अतः समस्त चेतना स्व–केन्द्रित तथा वैयक्तिकृत हो जाती है। **चेतना का वैयक्तीकरण (Individualisation) एक प्रकार से इच्छाओं के जाल का परिणाम है।** और आत्मा इन इच्छाओं के द्वारा निर्मित परिधि बद्ध व्यक्तित्व के बाहर नहीं निकल सकता। इन बंधनों की वह कल्पना करता है और **स्व–निमंत्रित भ्रम निद्रा** में सोता है। वह वैयक्तिक अस्तित्व की दलदल में फँस जाता है; और मन तथा शरीर से युक्त अनेक व्यक्तियों से पूर्ण तथा अनेकानेक विभिन्नमय संस्कार की कल्पना करता है।

**चेतना का वैयक्तिकरण।**

जब सूर्य की किरणों को एक रंगविभाजक काँच (Prism) के द्वारा प्रतिबिंबित कराया जाता है, तो वे बक्री भाव के कारण बिखर जाती हैं। यदि प्रत्येक किरण में चेतना होती तो वह अपने को अन्य किरणों से पृथक् समझती। वह यह भूल जाती है, कि उसके उद्‌गम स्थान में तथा उसकी दूसरी ओर उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है। इसी भाँति, एकही महान सत्ता माया के राज्य में उतरकर नानात्व धारण कर लेती है जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है। व्यक्तियों की पृथक्ता का अस्तित्व केवल कल्पना में है सत्य में नहीं। एक सर्वव्यापक आत्मा अपने आप में पृथक्ता की कल्पना करता है। इस पृथकता से, 'तुम' और 'तुम्हारा के विरूद्ध 'मैं' और 'मेरा' का विचार उत्पन्न होता है। यद्यपि आत्मा वस्तुतः अविभक्त, स्वतंत्र तथा एक है, वह अपनी ही कल्पना क्रिया के कारण, अनेक तथा विभक्त दृष्टिगोचर होती है। कल्पना सत्य नहीं है अपनी उच्चतम उड़ान में भी वह सत्य से दूर रहती है। वह सत्य नहीं है फिर चाहे वह जो कुछ भी हो। वैयक्तिक अहंकार के रूप में आत्मा जो अनुभव बटोरती है वह सब कल्पना है।

**पृथकता का अस्तित्व केवल कल्पना में है।**

वह आत्मा का भ्रम है। सर्वव्यापक आत्मा की कल्पना से अनेक व्यक्त्यिों की उत्पत्ति होती है। यह माया या अज्ञान है।

**दृश्य जगत्**

पृथक् तथा सीमित व्यक्तियों के जन्म के साथ ही साथ दृश्य जगत् भी अस्तित्व में आता है। जिस प्रकार सीमित व्यक्तित्व का पृथक् अस्तित्व केवल काल्पनिक होता है यथार्थ नहीं उसी प्रकार दृश्य जगत् का भी कोई स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व नहीं होता। गुणों के रूप में विभिन्नतापूर्वक उद्‌भासित होना उसी एक सर्वव्यापक सत्ता की अभिव्यक्ति है। जब आत्मा माया के राज्य में अवतीर्ण होता है तब वह अपने ऊपर अनेक अस्तित्व की मर्यादाएं आरोपित कर लेता है। आत्मा का यह अपने को मर्यादित करना (Selflimitation) चेतना की वेदी पर उसका आत्म बलिदान है। यद्यपि वह हमेशा वही एक केवल तथा अनन्त बना रहता है, तथापि समय, विविधता तथा विकास के जगत् में अपने भासमान अवरोहण के कारण वह एक प्रकार के समय रहित संकोच (Timeless contraction) का अनुभव करता है। तथापि विकास आत्मा का नहीं होता। विकास तो उस चेतना का होता है, जो अपनी मर्यादाओं के कारण सीमिति व्यक्तित्व की जननी है।

**बंधनत्रय तथा द्वैत**

सीमित व्यक्तित्व का इतिहास उसके बंधनत्रय के विकास का इतिहास है यथा मन में उसका बँधना, प्राण (शक्ति) से उसका बँधना तथा शरीर से उसका बँधना, इन तीनों बंधनक्षेत्रों में द्वैत की प्रधानता रहती है; और आत्मा मूलतः द्वैतातीत होने पर भी, द्वैतबद्ध हो जाती है। द्वैत का अर्थ है उन द्वन्द्वों का अस्तित्व, जो परस्पर विरोध के द्वारा एक दूसरे को सीमित तथा समतोल करते है। भला और बुरा सद्‌गुण और दुर्गुण, इन द्वन्द्वों के उदाहरण हैं। द्वैत–बद्ध अज्ञानाच्छादित आत्मा भले और बुरे दोनों के चंगुल में फँसी रहती है। अच्छे और बुरे का द्वंद्व अज्ञान से उत्पन्न होता है। किंतु एक बार इसके पाश में बँधते ही, आत्मा इसी के वश में हो जाती है। शरीर, प्राण तथा मन से त्रिविध बँधन के विकास काल में अज्ञानावृत आत्मा निरतंर चाह के चंगुल में रहती है। वह स्थूल जगत के भले और बुरे की चाह करता है। वह सूक्ष्म जगत के भले और बुरे की चाह करता है। और वह **मानसिक जगत** के भले और बुरे की चाह करता है। और भले और बुरे के भेद के कारण, स्वयं चाह भी भली और बुरी हो जाती है। द्वन्द्वों के अविश्रान्त संवर्धन के द्वारा चाहक्रिया भी अनिवार्य रूप से मर्यादित हो जाती है। इससे वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में सदैव डाँवाडोल होती रहती है वह उस अपरिच्छिन्न अवस्था में नहीं पहुंच पाती जो जीवन के अंनत एवं परिर्वतन रहित पार्श्व में प्राप्तव्य है। द्वैत के सीमाक्षेत्र के

परे अनंत की खोज करनी चाहिये। यह तभी संभव है जब चेतना संस्कारों के अवरोध की छिन्न–भिन्न करके सीमित व्यक्तित्व से बाहर निकल सके।

हमने देख लिया है कि चेतना का क्षेत्र संस्कारों के द्वारा सीमा–बद्ध हो गया है। यह सीमा–बद्धता मनुष्य के मानस को दो भागों में विभक्त करती है। एक भाग चेतना के क्षेत्र के अंतर्गत है, और दूसरा उससे परे है। यह अचेतन भाग अपने पूरे विस्तार सहित, वही शक्ति है, जो पदार्थ में अंतर्हित है। उसे परम्परागत धर्म ईश्वर के नाम से सम्बोधित करते हैं। **अंतिम सत्य जो लाक्षणिक ढंग से, इस प्रकार सम्बोधित होता है अपने वास्तविक रूप में अचेतन को चेतना में लाने पर जाना जा सकता है।** चेतना को विस्तृत करने का अर्थ है, उसकी चेतना प्राप्त करना जो पहले अचेतन में था। चेतना के क्रमिक विजय का अंत उस पूर्ण तथा अनावृत चेतना की प्राप्ति में होता है, जिसका क्षेत्र असीम तथा कार्य अवरोध रहित है। चेतना की इस सर्वोच्च अवस्था तथा मनुष्य की औसत सीमित, यद्यपि पूर्ण, चेतना के बीच में प्रकाशित चेतना (Illumined consciouness) के बीच लगभग 49 अंश हैं। ये वृद्धिशील आत्म–जागृति की प्रधान अवस्थाएं हैं।

**चेतना तथा अचेतना के बीच की खाई**

सामान्य मनुष्यों की तिमिराच्छन्न चेतना तथा पूर्ण सद्गुरु की पूर्णतः जागृत चेतना के बीच की खाई, संस्कारों के द्वारा उत्पन्न होती है। अहंकार की उत्पत्ति भी संस्कारों से ही है। संस्कारों का नाश पूर्ण चारित्र्य, भक्ति तथा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा सम्भव है। किंतु इस दिशा में सर्वोत्तम सफलतायें पूर्ण सद्गुरु की सहायता से ही मिल सकती है। आध्यात्मिक उन्नति चेतना के और अधिक विकास (Development) में सन्नाहित नहीं हैं (क्योंकि मनुष्य में वह पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी रहती है); किंतु संस्कारों की श्रृँखला से चेतना के विमोचन (Emancipation) में सन्निहित है। यद्यपि अस्तित्व की समस्त भिन्न अवस्थों मे चेतना मूलरूप से वही रहती है, तथापि परिपूर्ण कदापि नहीं हो सकती, यदि वह अज्ञान से बिल्कुल मुक्त होकर, अनन्तता के ज्ञान को अपने आप में प्रतिबन्धित न करे, अथवा यदि वह अस्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों को प्रकाशित करती हुई, समस्त विश्व में व्यापक न हो।

**आध्यात्मिक उन्नति**

प्रत्येक बार, जब तुम सो जाते हो, तुम अज्ञात रूप से (Unconsciously) अनन्त सत्य से युक्त होते हो। इस एकता में, चेतना पर अचेतना का विस्तार होता है। यह एकता परस्पर पृथक् चेतन तथा अचेतन के बीच संबंध स्थापित करती है किंतु इस

एकता से अनभिज्ञ रहने के कारण, तुम इससे कोई सचतेन (Consciously) लाभ प्राप्त नहीं करते। यही वजह है, कि जब गाढ़ी नींद से जागते हो, तो तुम्हें अपने प्राचीन तथा नीरस व्यक्तित्व का ज्ञान होता है, और तुम उसी प्रकार कार्य तथा अनुभव करने लगते हो जिस प्रकार सोने से पहले करते थे। यदि अनन्त सत्य से तुम्हारी एकता सचेतन हुई होती तो जागने पर, तुम्हें पूर्णतः नूतन तथा अनन्ततः सम्पन्न जीवन का अनुभव प्राप्त हुआ होता।

**प्रगाढ़ निद्रा**

प्रगाढ़ निद्रा में लीन मनुष्य में चेतना तथा अचेतना का संयोग चेतन पर अचेतन के विस्तार से होता है; किंतु पूर्ण सद्‌गुरु में यह संयोग अचेतन पर चेतन के विस्तार से होता है। चेतना की वृद्धिहास क्रिया सीमित व्यक्तित्व पर लागू है। पूर्ण सद्‌गुरु चेतन के द्वारा अचेतन पर जो विजय प्राप्त करता है, वह अंतिम एवं स्थायी होती है। अतः उसकी आत्मज्ञान की अवस्था अविराम तथा अटूट होती है, तथा सदा सर्वदा एक–सी ह्रासरहित होती है। इससे तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्ण सद्‌गुरु, सामान्य अर्थ में कभी भी नहीं सोता। जब वह अपने शरीर को विश्राम देता है तब अपनी चेतना में, उसे किसी प्रकार के अंतर की अनुभूति नहीं होती।

**सत्य से सज्ञान एकता।**

ज्ञान के मार्ग में जो विघ्न–बाधाएं हैं, उनका लोप हो जाने से पूर्णत्व की अवस्था में चेतना परिपूर्ण हो जाती है। चेतन के द्वारा अचेतन पर विजय प्राप्ति पूर्ण हो जाती है। और मनुष्य ज्ञान की पूर्ण ज्योति में निरंतर स्थित रहता है, या ज्ञान से एकरूप हो जाता है। वह स्वयं ज्ञान हो जाता है। जब तक मनुष्य द्वैत के आधिपत्य में रहता है, और अनेकत्व की अनुभूति को सत्य एवं अंतिम समझता है, तबतक उसने अज्ञान के राज्य को पार नहीं किया है। बोध की अंतिम अवस्था में मनुष्य को ज्ञात होता है कि केवल एक एवं अद्वितीय अनंत ही सत्य है। अनंत सर्वव्यापक है; सब कुछ उसके अंतर्गत है; तथा वह प्रतिद्वन्द्वीरहित है। ऐसे ज्ञान से संपन्न मनुष्य ने चेतना की चरम अवस्था प्राप्त कर ली है। इस अवस्था को पूर्ण चेतना , जो विकास के फल के रूप में प्राप्त होती है, अक्षुण्ण बनी रहती है; किंतु संस्कारों एवं इच्छाओं की सीमाओं का पूर्णतः अतिक्रमण हो गया रहता है। **अज्ञान जनित सीमित व्यक्तित्व सीमा रहित ईश्वरीय व्यक्तित्व में बदल जाता है।** किसी प्रकार के भ्रम का सृजन किये बिना सर्वव्यापक आत्मा की सीमातीत चेतना, व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत हो जाती है। मनुष्य स्वकेन्द्रित, स्वार्थयुक्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है; और वह दिव्यता व्यक्त करने वाली सर्वोपरि एवं सार्वभौम देवी इच्छा के

**पूर्णत्व की अवस्था।**

सहज प्रवाह का माध्यम बन जाता है। अज्ञान के अंतर्हित हो जाने से व्यक्तित्व अपरिच्छिन्न हो जाता है। माया के पार्थक्य से अधिकृत तथा उसके द्वैत से वियुक्त होने के कारण वह उस मोक्षावस्था का आस्वाद करता है जहाँ द्रष्ट–दृश्य रहित ज्ञान, शुद्ध, सत् तथा निर्मल आनंद विद्यमान रहते हैं। ऐसे मनुष्य के पास वे भ्रम नहीं फटकने पाते जो मनुष्य को उद्विग्न तथा उद्भ्रान्त करते हैं। ऐसा मनुष्य एक अर्थ में मृत कहा जा सकता है। उसका व्यक्तिगत अहंभाव जो पृथकता का जन्म देने वाला है सदैव के लिये निर्जीव हो गया रहता है। किंतु दूसरे अर्थ में वह अधिकाधिक एवं सदा सर्वदा जीवित कहा जा सकता है क्योंकि उसका प्रेम अजेय तथा उसका आनंद अपरिमित रहता है। उसकी शक्ति तथा उसका ज्ञान अनादि एवं अनंत रहता है; और मानव जाति को पूर्ण करने के इसके आध्यात्मिक कार्य के लिये अखिल संसार इसके लिये एक क्षेत्र बनता है।

**व्यक्ति तथा उसके परिस्थिति के काल्पनिक भेद से विकास– वान द्वैत का उदय होता है।**

# सृष्टि का आदि और अन्त

जब तक मानव मन अंतिम सत्य का उसके यथार्थ स्वरूप में स्पष्टतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक सृष्टि के मूल कारण तथा अभिप्राय के स्पष्टीकरण के प्रत्येक प्रयत्न में वह उद्भ्रान्त होता रहता है। उसे भूत गूढ़ रहस्य से आच्छादित प्रतीत होता है, तथा भविष्य मुहर लगी हुई पुस्तक की भाँति मालूम होता है। माया की मोहिनी में फँसे रहने के कारण, मानव मन अधिक से अधिक सृष्टि के भूत और भविष्य के सम्बन्ध में, बड़ी बड़ी अटकलें लगा सकता है। किंतु उन विषयों का न तो वह अंतिम ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और न उसके अज्ञान से ही वह संतुष्ट बना रह सकता। 'कहाँ से' और कहाँ तक ? ये दो ऐसे स्थायी तीक्ष्ण प्रश्न हैं, जो मानव मन को दिव्य व्यग्रता (Divinely restless) देते रहते हैं।

**कहाँ से ? और कहाँ तक**

मानव मन न तो विश्व आदिकारण के अनुसंधान की अनंत असफलता से ही संतुष्ट रह सकता, और न ऐसे अनन्त परिवर्तन से ही संतुष्ट रह सकता है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं है। विकास अगम्य है, यदि उसका कोई आदिकारण नहीं है। और अर्थ तथा प्रयोजन से शून्य है, यदि उसकी कहीं समाप्ति नहीं है। 'कहाँ से ?' और 'कहाँ तक ?' ये प्रश्न ही विकासशील सृष्टि के आदि और अंत की पूर्व कल्पना से उत्पन्न होते हैं। **विकास के आदि का अर्थ है, समय का आदि; तथा विकास के अंत का अर्थ है, समय का अंत।** विकास का आदि भी है, और अंत भी, क्योंकि समय का भी आदि है, और अंत है।

**आदि और अंत**

इस परिवर्तनशील संसार के आदि और अन्त के बीच में अनेक चक्र (Cycles) विद्यमान हैं, किन्तु इन चक्रों में तथा इन चक्रों के द्वारा ही सृष्टि के विकास की निरन्तरता है। विकासक्रम का वास्तविक अन्त **महाप्रलय** अर्थात् संसार का अन्तिम संसार कहलाता है। इस अवस्था में, संसार वैसा ही हो जाता है; जैसा वह पहले था; अर्थात् संसार के महाप्रलय की मनुष्य की निद्रा से तुलना की जाती है। जिस प्रकार मनुष्य की प्रगाढ निद्रा की अवस्था में विभिन्न अनुभवयुक्त संसार का पूर्ण अंतर्ध्यान हो जाता है उसी प्रकार महाप्रलय के समय, मायाविरचित अखिल दृश्य सृष्टि–प्रपंच, शून्यत्व में विलुप्त हो जाता है। मानों संसार का कभी अस्तित्व ही नहीं था।

**शून्य**

विकासकाल में भी, सृष्टि स्वयमेव कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वस्तुतः केवल एक अविभक्त एवं कालातीत सत्य सत्ता का ही अस्तित्व है, और उसका न आदि है और न अन्त है। वह काल से परे है। कालातीत सत्य की दृष्टि में सारा कालक्रम पूर्णतः काल्पनिक है; तथा विगत अरबों वर्ष और आगामी अरबों वर्षों का एक क्षण के भी बराबर मूल्य नहीं है। ये मानो कभी अस्तित्व में आये ही न हों। अतएव अनेकतामय विकासशील संसार को इस एक सत्य का सच्चा परिणाम नहीं कह सकते। यदि संसार इस एक सत्य का परिणाम होता तो सत्य या तो एक सापेक्षिक वस्तु होता अथवा एक मिश्रित पदार्थ किंतु वह वैसा नहीं है। सत्य एकमेव तथा केवल है।

**सत्य कालातीत तथा स्वतंत्र है।**

एक सत्य अपने आप में अखिल अस्तित्व को धारण किये हुये है। वह सब कुछ है; किंतु असत् या शून्य उसकी छाया है। सर्वसमावेशक (All inclusive) अस्तित्व का अर्थ यह है कि उसके अस्तित्व के बाहर अन्य कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं है। सत् के भाव जब तुम विशलेषण करते हो तो तुम अर्थ बोध के लिये असत् के भाव में पहुंचते हो। असत् या शून्य (Nothing) के भाव से सत् या अस्तित्व के भाव की स्पष्ट व्याख्या करने में सहायता मिलती है। **सत् का परिपूरक भाग असत् या शून्य है।** किंतु यह नहीं कहा जा सकता, कि असत् या शून्य की अपनी स्वयं की पृथक् और स्वाधीन सत्ता है। वह स्वयंमेव कुछ भी नहीं है; और न स्वयं अपने आप वह किसी अन्य वस्तु का कारण है। अनेकतामय तथा विकासशील संसार शून्य अथवा असत् का स्वतंत्र परिणाम नहीं हो सकता और तुम्हें विदित हो चुका है कि वह एक सत्य का भी परिणाम नहीं हो सकता। तो फिर यह अनेकतामय विकासशील संसार उत्पन्न कैसे होता है ?

**सत्य तथा शून्य**

अनेकतामय विकासशील संसार, एकमेव सत् तथा असत् के मिश्रण से उत्पन्न होता है। वह असत् से उत्पन्न होता है, जब इस असत् या शून्य को हम एकमेव सत् की पार्श्वभूमि में देखते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संसार अंशतः एकमेव सत् का परिणाम है, या उसमें सत्य का भी अंश समावेशित है। वह केवल 'असत्' का परिणाम है; और वह असत् या शून्यरूप है। वह सत्य न होते हुए भी, सत्य –सा प्रतीत होता है। उसके प्रतीत होनेवाले अस्तित्व का कारण है, एकमेव सद्वस्तु जो मानो असत् का आधार है। जब सत्य में असत् का योग होता है तब अनेकतामय एवं विकासवान संसार का उदय होता है।

**सद्वस्तु और संसार**

किंतु इस योग से, अनन्त तथा स्वतन्त्र एकमेव सत्य में, किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होता। स्वतंत्र होने के कारण किसी योग या ऋण से वह किंचित भी प्रभावित नहीं होता। एक सत्य जैसा था वैसा ही बना रहता है; अर्थात् वह असत् से उत्पन्न संसार–प्रपंच से अलिप्त तथा असंबद्ध रहता है। वह स्वंयपूर्ण तथा स्वयं–स्वतंत्र रहता है। असत् की तुलना गणित के शून्य के मूल्य से की जा सकती है। उसका खुद का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं होता; किंतु अन्य संख्या से उसका योग होने पर वह अनेक को जन्म देता है। उसी प्रकार, अनेकतामय तथा विकासवान संसार तब उत्पन्न होता है, जब असत् का सत् से योग होता है।

समस्त विकासक्रम द्वैत के सीमाक्षेत्र के अंतर्गत है। जब सत्य का एक सागर कल्पना में आंदोलित हुआ है दिखाई देता है तब चेतना के नाना केन्द्रों से युक्त एवं अनेकतापूर्ण संसार का जन्म होता है। इससे जीवन अहम् (self) तथा 'अनहम्' (not-self) अर्थात् बाह्य परिस्थिति (Environment) में विभक्त हो जाता है। इस सीमाबद्ध व्यष्टि (जो वस्तुतः एक अविभाज्य समष्टि का केवल एक कल्पित भाग है) के मिथ्यात्व तथा अपूर्णत्व के कारण, चेतना उससे सदैव के लिए आत्मीयता स्थापित किये संतुष्ट नहीं रह सकती। इस प्रकार, चेतना निरंतर व्याकुल रहती है; और वह 'अनहम्' से नाता जोड़ने का प्रयत्न करने के लिए बाध्य होती है। अनात्म या 'अनहम्' का वह भाग अर्थात् वह बाह्य वातावरण या वस्तु जगत, जिससे आत्मीयता स्थापित करने में चेतना सफल होती है, 'अहम्' से 'मेरा' के रूप में सम्बद्ध होता है। और अनात्म या 'अनहम्' का वह भाग, जिससे आत्मीयता स्थापित करने में चेतना सफल नही होती, वह अपरिहार्य वातावरण बन जाता है, जो अनिवार्यतः 'अहम्' के लिये विरोध तथा सीमा की सृष्टि करता है।

चेतना, इस प्रकार, उसे सीमित करनेवाले द्वैत के अंत के निकट नहीं होती; किंतु उसमें रूपांतर करती है। विकृत कल्पना की क्रिया से, चेतना जब तक संचालित है, तब तक वह सफलतापूर्वक इस द्वैत का अंत नहीं कर सकती। अनात्म (अर्थात् अनहम् के परिस्थितिरूप वातावरण) को ग्रहण करने के जितने भी विविध प्रयत्न वह करती है उसका परिणाम केवल यह होता है कि आरम्भिक द्वैत की स्थानपूर्ति उसी द्वैत के असंख्य नूतन रूप करने लगते हैं। परिस्थिति के कतिपय भागों को स्वीकार करना और अस्वीकार करना, 'चाहना' और 'नहीं चाहना' के रूप में क्रमशः प्रकट होते हैं, जिससे सुख और दुःख भला और बुरा इत्यादि के द्वन्द्वों का जन्म होता है। किंतु न स्वीकार करने से द्वैत से छुटकारा मिला सकता है और न अस्वीकार करने से ही। अतः चेतना ग्रहण तथा त्याग के द्वंद्व में पड़कर लगातार डाँवाडोल होती रहती है। व्यक्ति के विकास का समस्त क्रम ही उसके द्वन्द्वों के बीच कभी इधर तो कभी उधर डाँवाडोल होते रहता है।

**संस्कारों का पूर्ण निर्णायकत्व**

सीमित–व्यक्ति (Limited) का विकास उसके युग–युग संचित संस्कारों के द्वारा पूर्णतः निर्णित होता है। संस्कारों का वह निर्णायकत्व, कल्पना–जनित होते हुए भी पूर्ण एवं नैसर्गिक है। प्रत्येक कार्य और अनुभव, चाहे वे कितने भी क्षणस्थायी हों, मानसिक शरीर (Mental Body) में, एक चिन्ह (impression) अंकित कर जाते हैं। यह चिन्ह मानसिक शरीर का वास्तविक बदल (Objective Modification) करता है। चूँकि मानसिक शरीर अनेक जन्मों से जैसा का वैसा रहता है, व्यक्ति द्वारा संचित संस्कार–चिन्ह भी अनेक जन्मों तक बने रहते हैं। इस प्रकार के संग्रहीत संस्कार मानसिक शरीर में, प्रसुप्तावस्था में पड़े रहने के बजाय, जब अपने को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे इच्छाओं के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। संस्कारों की दो अवस्थाएं हैं। पहली सुप्ति की निष्क्रिय अवस्था है; तथा दूसरी अभिव्यक्ति की सक्रिय अवस्था है।

सक्रिय अवस्था के द्वारा संचित संस्कार सीमित व्यक्तित्व के अनुभव और कार्य निश्चित करते हैं। जिस प्रकार सिनेमा में परदे पर का एक छोटा सा कार्य कई फीट लम्बी फिल्म में प्रदर्शित होता है, उसी प्रकार सीमित व्यक्तित्व का एक छोटा सा कार्य अनेक संस्कारों के द्वारा व्यक्त होता है। अनुभव में इस प्रकार व्यक्त और तृप्त होकर संस्कार व्ययीभूत हो जाते हैं। दुर्बल संस्कार मनोदेह में ही अपने को व्ययीभूत करते हैं। प्रबलतर संस्कार सूक्ष्मदेह में वासनाएँ तथा काल्पनिक अनुभव में अपने आपको व्ययीभूत करते हैं। और प्रबलतम संस्कार स्थूल देह के शारीरिक कार्यों में व्यक्त होकर अपने आपको व्ययीभूत करते हैं।

किन्तु संस्कारों का निरन्तर व्यय होते रहने पर भी संस्कारों से छुटकारा नहीं मिल जाता क्योंकि न केवल नवीन कार्यों के ही द्वारा, किन्तु संस्कारों के व्ययीभूत होने के क्रम के भी द्वारा नवीन संस्कारों की अनिवार्यतः सृष्टि होती जाती है। अतः संस्कारों का ढेर बढता चला जाता है; और व्यक्ति इस भार से मुक्त होने में अपने आपको असमर्थ पाता है।

**परस्पर–विरोधी द्वन्द्व के द्वारा समतुल्यता प्राप्त करना।**

विशेष कार्यों और अनुभवों से जो संस्कार संचित होते हैं वे मन को वैसे ही कार्यों और अनुभवों के प्रति ग्रहणशील बना देते हैं; किन्तु एक किसी सीमा तक पहुंचने के बाद एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के द्वारा इस ग्रहणशील प्रवृत्ति का निरोध तथा विरोध किया जाता है। विशेष संस्कारों से प्रेरित होकर मनुष्य एक विशेष दिशा में कार्य करता रहता है। फिर प्रतिक्रिया होती है जिसके परिणाम स्वरूप वह विरुद्ध दिशा की ओर मुड़ जाता है। जिन विशेष कार्यों और अनुभवों को करने में व्यक्ति अब तक संलग्न था, अब ठीक उनके विपरीत कार्यों और अनुभवों की ओर उसकी प्रवृत्ति बदल जाती है। इस प्रतिक्रिया प्रेरित आमूल परिवर्तन से विरुद्ध संस्कारों को कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

बहुधा दो परस्पर विरोधी द्वन्द्व कल्पना की एक ही श्रृँखला में गुँथे हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य, जीवन के प्रथम भाग में, यह अनुभव करता है, कि वह यश, सम्पत्ति, पत्नी तथा जीवन की समस्त प्रिय वस्तुओं से संपन्न एक लब्ध–प्रतिष्ठ लेखक है और उसी जीवन के शेष भाग में ठीक इससे विपरीत यह अनुभव करता है, कि वह धन, कीर्ति, पत्नी तथा अपनी अन्य प्रिय सामग्रियों से हाथ धो बैठा है। कभी–कभी ऐसा दिखाई देता है कि कल्पना की एक ही श्रृँखला में दोनों परस्पर विरोध (Opposites) एक साथ गुँथे नहीं रहते। उदारहणार्थ, एक मनुष्य जीवनपर्यन्त यह अनुभव करता है कि वह युद्धों में सदैव विजयी होनेवाला एक शक्तिशाली राजा है। ऐसा होने पर, इस राजा को अपने ऐसे अनुभव को दूसरे जन्म में पराजय या ऐसे ही अन्य अनुभव के द्वारा समतोल (Balance) करना होगा। इस प्रकार, अपनी कल्पना की श्रृँखला को पूर्ण करने के लिए उसे एक जीवन (जन्म) और धारण करना पड़ेगा। इस भाँति संस्कारों की शुद्ध मनोमय बाध्यता (Psychological Compulsion) आत्मा की अर्थपूर्णता संबंधी (Teleological) गंभीरतर आवश्यकता से नियंत्रित है।

कल्पना करो, कि एक मनुष्य ने इस जीवन में किसी मनुष्य की हत्या कर डाली। इस कार्य ने उसके मानसिक शरीर में हत्या संस्कारों को संचित किया। यदि हम मान

लें कि इन संस्कारों के द्वारा निर्मित केवल इस प्रारम्भिक प्रवृत्ति के ही द्वारा चेतना पूर्णरूपेण निर्णित या निश्चित होती है तो वह मनुष्य अनन्त काल तक पुनः पुनः अन्य मनुष्यों की हत्या करता चला जायगा। एक ही प्रकार का कार्य करने से उसे प्रत्येक बार उसी कार्य को दोहराने के लिए अधिकाधिक प्रेरणा मिलती जायगी। परिणाम यह होगा कि एक ही प्रकार के संस्कारों के क्रमबद्ध निर्णायकत्व की अधीनता से उसे कभी छुटकारा ही नहीं मिलेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं। अनुभव का नियम संस्कारों के इस एकांगी निर्णायकत्व के मार्ग में आवश्यक अवरोध पैदा कर देता है। मनुष्य को केवल एक विरोध पक्ष (One opposite) के अनुभव की अपूर्णता तुरन्त महसूस होती है; और अपनी खोयी हुई समतुल्यता की प्राप्ति के लिए वह अचेतनतः (Unconsiciously) दूसरे विरोध पक्ष का आश्रय लेता है। तदनुसार मारने के अनुभव के पश्चात, वह हत्यारा मनुष्य, मारे जाने के अनुभव के प्रति ग्रहणशील होगा; अर्थात् मारे जाने की मानसिक आवश्यकता तथा प्रवृत्ति महसूस करेगा। दूसरे मनुष्य की हत्या करने में, उसे हत्या की सम्पूर्ण परिस्थिति (जिसमें वह भागीदार है) के केवल एक पूर्वार्ध भाग का अनुभव लाभ हुआ है अर्थात् मारने के भाग का। इस सम्पूर्ण परिस्थिति का पूरक उत्तरार्ध भाग है, मारा जाना, जो उस मनुष्य के अनुभव में अतिथि की भाँति प्रविष्ट हो गया है। उसे मारे जाने का अनुभव एक अपरिचित तथा अज्ञात अनुभव है। इस अनुभव की अनुभूति अभी उसके लिये बाक़ी है। जिस **एक अनुभव की व्यक्तिगत अनुभूति व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है उसके विरुद्ध अनुभव को वह अपनी ओर आकर्षित करती है। इस प्रकार एकांगी अनुभव की परिपूर्ति की आवश्यकता उत्पन्न होती है।** और चेतना अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, इन नवीन एवं प्रबल आवश्यकता को पूर्ण करती है। मारने का अनुभव प्राप्त कर चुकनेवाले जिस हत्यारे मनुष्य का ऊपर उल्लेख किया गया है वह मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र की सम्पूर्ण परिस्थिति का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त करने के लिए, मारे जाने की प्रवृत्ति अपने भीतर उत्पन्न करेगा।

**उदाहरण।**

यहां यह प्रश्न उठता है, ''दूसरे जीवन में इस मनुष्य को मारने के लिये कौन पैदा होगा?'' वही मनुष्य हो सकता है जो इसके द्वारा पूर्व जन्म में मारा गया, या उसी के समान संस्कार रखने वाला, कोई अन्य मनुष्य भी हो सकता है। मनुष्यों के बीच में उनकी क्रिया प्रतिक्रिया का जो पारस्परिक आदान–प्रदान हुआ करता है, उसके परिणाम स्वरूप सांस्कारिक सम्बन्धों या बंधनों की सृष्टि होती है और जब वह नया शरीर धारण करता है तब वह उन्हीं मनुष्यों के बीच में जन्म लेता है जिनसे उसका पूर्व जन्म का सांस्कारिक सम्बन्ध है या जिनसे उसका सांस्कारिक संबंध है, उन मनुष्यों

के संस्कारों के समान संस्कारवाले अन्य मनुष्यों के बीच में उसका जन्म होता है। किन्तु जीवन की व्यवस्था ऐसी होती है, जिससे विकासशील द्वैत की अवरोध शून्य क्रीड़ा सम्भव हो।

जुलाहे के करघे की डरकी की भांति, मानव मन दो अतिरेकों के भीतर विचरण करता हुआ जीवनपट के ताने और बाने की रचना करता है। रेखागणित के रूपक का उपयोग करें तो यों कह सकते हैं, कि **मानसिक जीवन का विकास, सीधी रेखा में नहीं होता किन्तु टेढ़े मेढ़े (Zig-Zag) पथ में होता है।** जल प्रवाह के लिये दो तटों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता परस्पर विरोधों की जीवन प्रवाह के लिए है। यदि दो तट न हों तो नदी की जल राशि मार्ग में बाजुओं की ओर बिखर जाय और गन्तव्य स्थान में पहुंचना उसके लिये अशक्य हो जाय। इसी प्रकार जीवनशक्ति यदि दो परस्पर विरोधों के द्वारा सीमाबद्ध नहीं की जाती तो उसका अनन्त तथा असंख्य तरीकों से अपव्यय हो जाता है। किंतु जीवन नदी के दो तटों को दो समानान्तर रेखाएं नहीं समझना चाहिए। उन्हें मुक्ति के बिंदु में मिलनेवाली दो रेखाएं समझना ठीक होगा। ज्यों ज्यों मनुष्य लक्ष्य की ओर बढ़ता है त्यों त्यों उसका इधर उधर डाँवाडोल होना बंद हो जाता है। यह डाँवाडोल होना उस गुड़िया के डाँवाडोल होने के तुल्य है जिसका गुरुत्वाकर्षण (Centre of Gravity) तले में रहता है; और जो परिणामतः बैठने की अवस्था में क्रमशः पहुंचते पहुंचते स्थिर हो जाती है। यदि वह हिला दी जाती है, तो वह कुछ समय तक एक ओर से दूसरी और झूलती रहती है किंतु उसके झूलने का विस्तार उत्तरोत्तर कम होता जाता है अंत में गुड़िया बिलकुल स्थिर हो जाती है। सृष्टि के विकास में परस्पर विरोधों के बीच क्रमिक डाँवाडोल होने की क्रिया का पूर्ण लय होना **महाप्रलय** है और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में वह **मुक्ति** है।

**जीवन परस्पर विरोधों के बीच से अग्रसर होता हुआ, परस्पर विरोधों से परे की अवस्था में पहुंचता है।**

द्वैत से अद्वैत में पदार्पण केवल अंश भेद का विषय नहीं है। चूंकि दोनों गुणतः भिन्न हैं दोनों का भेद अनन्त है। द्वैतावस्था अईश्वर की अवस्था है, तथा अद्वैतावस्था ईश्वर की अवस्था है। **द्वैतावस्था तथा अद्वैत** के बीच में अनन्त भेद की जो अथाह खाई है वही खाई चेतना की छटवीं तथा सातवीं भूमिकाओं के बीच में विद्यमान है। चेतना की इन दो भूमिकाओं के अतिरिक्त अन्य सभी निम्नतर भूमिकाएं मानो एक दूसरे से एक प्रकार की घाटी के द्वारा अलग कर दी गई हैं। किंतु यद्यपि इन भूमिकाओं का भी पारस्परिक भेद कुछ कम

**चेतना की भूमिकाएं**

नहीं है, तथापि वह भेद अनन्त नहीं है, क्योंकि इन सभी भूमिकाओं में चेतना परस्पर विरोधों के बीच क्रमिक डाँवाडोल होनेवाले सीमित अनुभव से समानतः बद्ध रहती है। पहली और दूसरी भूमिका का भेद दूसरी और तीसरी भूमिका का भेद इस प्रकार, छटवीं भूमिका तक का भेद बहुत बड़ा भेद होने पर भी अनन्त भेद नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि चेतना की छः भूमिकाओं में से एक भी भूमिका दूसरी भूमिकाओं की अपेक्षा सातवीं भूमिका के निकटतर नहीं है। छहों भूमिकाओं में से प्रत्येक भूमिका तथा सातवीं भूमिका के बीच का अन्तर उसी प्रकार अनन्त है जिस प्रकार छठवीं और सातवीं भूमिकाओं के बीच का अन्तर अनन्त है। छः भूमिकाओं के बीच उन्नति करना कल्पना में उन्नति करना है। किंतु सातवीं भूमिका की प्राप्ति **कल्पना की परिसमाप्ति है;** और अतः व्यक्ति की सच्चेतना (Truth consciousness) में जागृति है।

तथापि छः भूमिकाओं के बीच से जो भ्रममय उन्नति होती है, उसका पूर्णतः निवारण नहीं किया जा सकता। कल्पना का सम्यक् क्षय हो जाने पर ही, सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। शिष्य को जब सद्‌गुरु मिलता है, तब उसे तमाम छः भूमिकाएं पार करनी पडती है। गुरू जब शिष्य को इन भूमिकाओं के बीच से निकालता है, तब वह या तो उसकी आँखे खुली रहने देता है या उनपर आवरण डालकर शिष्य को भूमिकाएं पार कराता है; और शिष्य जब आँखे आवृत रहने से उन भूमिकाओं से अनभिज्ञ रहता है जिन्हें वह पार कर रहा है तब छठवीं भूमिका तक इच्छाएं बनी रहती हैं। किन्तु यदि उसकी आंखें खुली रहने दी जाती हैं, और उन भूमिकाओं का उसे ज्ञान रहता है जिन्हें वह पार करता है तब पांचवीं भूमिका के बाद एक भी इच्छा नहीं रह जाती। जब गुरु कार्य के लिए आता है तब वह बहुधा अपने शिष्यों को आवरण से ढांक कर ले जाना अधिक पसन्द करता है; क्योंकि उनकी आंखों को खुली रख कर ले जाने की अपेक्षा उन्हें ढाँककर शिष्य को ले जाने से, वह गुरु के कार्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

**भूमिकाओं के बीच से उन्नति।**

भूमिकाओं को पार करने का अर्थ है, संस्कारों का उधेड़ना – उनका उन्मोदन करना – संस्कारों को उधेड़ने (Unwinding) की क्रिया तथा उनके व्यय (Spending up) होने की क्रिया में जो अन्तर है, उसे सावधानी –पूर्वक समझ लेना चाहिए। व्यय होने की क्रिया में संस्कार गति–शक्ति–युक्त होकर कार्य और अनुभव के रूप में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होते हैं। इससे संस्कारों से अन्तिम मुक्ति नहीं मिलती; क्योंकि उनके व्यय होने से जिन नूतन संस्कारों का अनवरत संचय होता है वे व्ययीभूत

संस्कारों के रिक्त स्थान की पूर्ति कर देते हैं; और **संस्कारों का व्यय होना ही और संस्कारों के संग्रह के लिए उत्तरदायी है।** परन्तु संस्कारों को उधेडने की क्रिया में संस्कार दुर्बल होते जाते हैं और अनन्त के लिए उत्कण्ठा की अग्निशिखा में भस्मसात् होते जाते हैं।

अनन्त के लिए लालसा से मनुष्य को बड़ी आध्यात्मिक वेदना का अनुभव होता है। भूमिकाओं को पार करते समय होनेवाली आध्यात्मिक पीड़ा की मर्मवेधी तीक्ष्णता तथा सामान्य पीड़ा की तीक्ष्णता की तुलना नहीं हो सकती। सामान्य रूप से होने वाली पीड़ा संस्कारों का परिणाम है किन्तु आध्यात्मिक पीड़ा संस्कारों के उधेड़ने से (उन्मोचन से) होती है। शारीरिक पीड़ा जब अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, तो मनुष्य बेहोश हो जाता है; और इस भाँति वह पीड़ा से छुटकारा पा जाता है। किन्तु आध्यात्मिक पीड़ा से ऐसा नैसर्गिक छुटक ारा नहीं मिलता। तथापि आध्यात्मिक वेदना भार–पूर्ण या नीरस नहीं होती, क्योंकि उसमें एक प्रकार का आनन्द भी मिश्रित रहता है।

अनन्त के लिए उत्कण्ठा अधिकाधिक तीव्र तथा प्रबल होती जाती है। जब वह उत्कण्ठा अपनी चरम सीमा को पहुंचती है, तब फिर वह क्रमशः शांत होती जाती है। किंतु उसके शांत होते समय, चेतना अनन्त के लिए उत्कण्ठा को एकदम त्याग नहीं देती, किन्तु अनन्त की प्राप्ति के लक्ष्य का दृढतापूर्वक आलिंगन किये रहती है। शान्त किन्तु प्रसुप्त उत्कण्ठा की यह अवस्था अनन्त प्राप्ति की प्रवेशिका है। इस अवस्था में उत्कण्ठा अन्य समस्त इच्छाओं को छिन्नमूल करने का साधन बन जाती है; और वह स्वयं अनन्त की अगाध गंभीरता से अपनी तृप्ति करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

अनन्त के लिये उत्कण्ठा की अनन्त–प्राप्ति द्वारा तृप्ति होने से, पूर्व चेतना की छठवीं भूमिका पार करके सातवीं भूमिका में प्रवेश करना पड़ता है। उसे द्वैत से अद्वैत में पदार्पण करना पड़ता है। कल्पना में भ्रमण करने के बजाय अब वह कल्पनातीत अवस्था में पहुंचती है। सद्गुरु जानता है, कि एक सत्य ही केवल सत्य है, और असत् एवं शून्य सिर्फ उसकी छाया है। उसके लिए काल अनन्तता में समा गया है। चूँकि उसे सत्य की कालातीत अवस्था का ज्ञान रहता है वह काल से परे रहता है; और **वह अपने आप में काल के आदि तथा अंत दोनों को धारण किये रहता है।** अनेक के बीच कार्य कारण–युक्त जो ऐहिक क्रिया है उससे वह अविचलित रहता है। सामान्य मनुष्य न तो सृष्टि के आदि को जानता है और न उसके अन्त को। घटनाओं के गतिक्रम को न तो वह समझ ही पाता है और न उस

**शाँति प्राप्ति।**

पर वह शासन ही कर सकता है। अतः वह उसके द्वारा अभिभूत हो जाता है। ये घटनाएं, मेघों के समान उसके मानस में छा जाती हैं। उनके स्पष्ट दर्शन न कर सकने के कारण वह उनका ठीक ठीक मूल्य नहीं आँक सकता। वह काल के जाल में फँस जाता है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी संस्काररंजित दृष्टि से देखता है। जिन वस्तुओं से उसके निजी संस्कारों की पूर्ति की उसे सम्भावना दिखाई देती है उनको ग्रहण तथा अन्य वस्तुओं के त्याग की वृत्ति से कार्य करने के लिए वह लाचार हो जाता है। अतः वह, इस संसार की घटनाओं के घात–प्रतिघात से अत्यन्त उद्विग्न रहता है। सारा दृश्य विश्व एक अवाँछनीय ससीमता के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित होता है, जिसे या तो पार करना चाहिए, या सहन करना चाहिए।

इसके विपरीत सद्‌गुरू द्वैत से तथा द्वैत पर संस्कारों से मुक्त होता है। अतः वह समस्त असीमता से मुक्त होता है। संसार की आँधी और तूफानों से वह प्रभावित नहीं होता। रचनात्मक तथा ध्वँसात्मक क्रियाओं से आलोड़ित विश्व–कोलाहल का उसके लिये कोई विशेष महत्व नहीं है। क्योंकि **वह सत्य की उस पावन तीर्थ–भूमि में प्रवेश कर चुका है, जो अनन्त महत्व का निवास स्थान है और जिसका महत्व साँसारिक माया जाल के क्षणभंगुर सार में बहुत हुआ तो केवल आंशिक झलक में प्रतिबिम्बित होता है।** अखिल अस्तित्व उसके स्वरूप में समाविष्ट रहता है, और अभिव्यक्त सृष्टि की समस्त क्रीड़ा उसके लिए केवल एक कौतुक है।

# संस्कारों का स्वरूप, निर्मित एवं कार्य

मानवीय अनुभव के दो पहलू हैं – द्रष्टात्मक (Subjective) तथा दृश्यात्मक (Objective) एक ओर तो मानवीय अनुभव के मौलिक अंग प्रत्यंगों से निर्मित मानसिक क्रियाएं हैं और दूसरी ओर इनसे सम्बद्ध वस्तु और पदार्थ हैं। मानसिक क्रियाएं कुछ अंशों में तो तत्काल उत्पन्न दृश्यात्मक परिस्थिति पर निर्भर है और कुछ अंशों में संचित अथवा पूर्वानुभूत संस्कारों के कार्य पर अवलम्बित हैं। इस प्रकार, मनुष्य का मन अपने को एक ऐसे सागर के बीच में पाता है जो एक ओर पूर्व जन्मार्जित संस्कारों से घिरा रहता है, और दूसरी ओर विस्तृत दृश्यात्मक संसार से।

**मानवीय अनुभव का विशलेषण।**

मानस शास्त्र के दृष्टि–कोण, से पूर्वानुभव द्वारा मन में संचित चिन्हों (Impressions) या संस्कारों की क्रिया मनुष्य के कार्यों की नींव मानी जाती है। प्रत्येक विचार प्रत्येक भाव और प्रत्येक कार्य ऐसी चिन्हराशियों की आधारशिला पर प्रतिष्ठित हैं। इन अनुभव चिन्ह–पुञ्जों का यदि दृश्यात्मक (objective) विवेचन करें तो ज्ञात होगा, कि वे मनुष्य के मानस पदार्थ (Mind-stuff) के विकार हैं। ये अनुभवचिन्ह अथवा संस्कार पूर्व अनुभव के द्वारा संग्रहीत होते हैं और वर्तमान तथा भावी अनुभव की रूप रेखा निश्चित करने में इनका महत्वपूर्ण हाथ रहता है। मन अपने अनुभवकाल में, निरन्तर

**संस्कार अनुभव से उत्पन्न होते हैं, और वे भावी अनुभव के उत्पादक हैं।**

ऐसे चिन्हों या संस्कारों की सृष्टि और संचय करता जाता है। जब मन इस संसार की बाह्य वस्तुओं (जैसे शरीर, प्रकृति तथा चारों ओर के नाना पदार्थ) से घिरा रहता है तब वह एक प्रकार से बहिर्मुख हो जाता है और स्थूल चिन्हों या संस्कारों का सृजन करता है। और जब वह अपनी खुद की मानसिक क्रियाओं (ये मानसिक क्रियाएं उसके भूतपूर्व संस्कारों की अभिव्यक्तियाँ होती हैं) से उलझा रहता है, तब वह सूक्ष्म तथा मानसिक चिन्हों या संस्कारों की रचना करता है। ''संस्कार पहले पैदा होते हैं, कि अनुभव पहले पैदा होते हैं?'', यह प्रश्न ''मुर्गी पहले पैदा होती है, या अंडा?'' के समान है। दोनों एक दूसरे की शर्तें है; और साथ ही साथ वर्धमान होते हैं। अतएव, **मानवीय अनुभव की महत्ता को समझने की समस्या संस्कारों के स्वरूप निर्मित तथा कार्य को समझने की समस्या के चारों ओर चक्कर लगाती है।**

**प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संस्कार।**

संस्कार अस्तित्व में आने की विधि के अनुसार दो प्रकार के होते हैं प्राकृतिक (Natural) अप्राकृतिक (Non-natural)। जीवात्मा चेतना के क्रमिक विकासकाल में जो संस्कार संचित करता है वे प्राकृतिक संस्कार हैं। जब जीवात्मा विभिन्न उपमानवीय (Subhuman) रूपों को एक के बाद धारण करता तथा त्यागता है तब ये संस्कार अस्तित्व में आते हैं तथा जीवात्मा के चारों ओर पुंजीभूत हो जाते हैं। यह तब तक की बात है जब जीवात्मा क्रमशः निर्जीव दिखाई देने वाले पाषाण तथा धातु की अवस्थाओं से गुजरता हुआ मानवीय अवस्था में पहुंचता है। मानवीय अवस्था में चेतना का पूर्ण विकास हो जाता है। मनुष्य शरीर धारण करने के पूर्व जो संस्कार जीवात्मा के चारों ओर एकत्रीभूत हो जाते हैं, वे प्राकृतिक विकास का परिणाम हैं। अतः उन्हें प्राकृतिक संस्कार कहना अत्यन्त उत्तम होगा। मानवीय अवस्था में, चेतना को नैतिक स्वतंत्रता रहती है। साथ ही साथ अच्छे बुरे सद्‌गुण तथा दुर्गुण के बीच चुनाव करने का उत्तरदायित्व भी उसे प्राप्त हो जाता है। अतः इस स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व से युक्त होकर, जीवात्मा जो संस्कार संचित करता है उन्हें अप्राकृतिक संस्कार कहना सर्वोत्तम होगा। क्योंकि यद्यपि ये पश्चात् मानवीय (Post-human) संस्कार सीधे प्राकृतिक संस्कारों पर आश्रित हैं तथापि उनका सृजन जीवन की मूलतः भिन्न अवस्थाओं में हुआ है और उनकी उत्पत्ति प्राकृतिक संस्कारों की उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है। प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संस्कारों के बीच में अवधि तथा परिस्थिति का उपर्युक्त भेद, उनके दृढ़ता भेद के लिए उत्तरदायी है। प्राचीन तथा स्वतंत्रता–वंचित होने के कारण प्राकृतिक संस्कार अप्राकृतिक संस्कारों की अपेक्षा दृढ़तर होते हैं। अप्राकृतिक संस्कारों का मूलोच्छेदन उतना कठिन नहीं है जितना प्राकृतिक संस्कारों का क्योंकि प्राकृतिक

संस्कारों की विरासत–पुरातन होती है अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दृढमूल होते हैं। जब तक शिष्य के जीवन में सद्‌गुरु का आगमन नहीं होता तथा जब तक शिष्य सद्‌गुरु का अनुग्रह प्राप्त नहीं करता तब तक प्राकृतिक संस्कारों का उन्मूलन प्रायः अशक्य होता है।

**केवल तथा अव्यक्त तत्व की स्वयं ज्ञान स्पृहा से अभिव्यक्तीभूत जीवन का उदय होता है।**

ऊपर जैसा समझाया जा चुका है अप्राकृतिक संस्कार प्राकृतिक संस्कारों के अधीन रहते हैं; और प्राकृतिक संस्कार विकास–क्रम का परिणाम है। दूसरा महत्व का प्रश्न यह उठता है, "अनन्त तथा केवल सत्य से अभिव्यक्तिभूत जीवन, विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न क्यों होता है?" स्वतंत्र सत्ता में, अपने आपको जानने की प्रेरणा से अभिव्यक्तिभूत जीवन की आवश्यकता उत्पन्न हुई। **विकास द्वारा जीवन की बुद्धिशील अभिव्यक्ति अंततोगत्वा अनन्त की अन्तर्निहित स्वयं ज्ञान–स्पृहा (Will to be conscious) से उद्‌गत हुई।** विचार के द्वारा सृष्टि को समझने के लिए सृष्टि रचना के पहले इस स्वयं ज्ञान–स्पृहा को अनन्त में, प्रसुप्तावस्था में स्थापित करना (Posit) आवश्यक है।

**अनन्त की आंतरिक लहर की तुलना सागर के अन्तर्गत तरंग से की जा सकती है।**

किन्तु यद्यपि सृष्टि के बौद्धिक स्पष्टीकरण के अभिप्राय से अनन्त में विद्यमान प्रेरणा को स्वंय–ज्ञान–स्पृहा मान सकते हैं किन्तु उसे एक प्रकार की अंतर्भूत इच्छा के रूप में वर्णित करना, उसके सच्चे स्वभाव को मिथ्या करना है। उसे एक लहर या स्फुरणा के रूप में वर्णित करना अधिक युक्ति–संगत है। **लहर या स्फुरणा इतनी अनिर्वचनीय सहज तथा आकस्मिक रहती है, कि उसे यह या वह कहना उसकी वास्तविकता को नष्ट करना है।** चूंकि सृष्टि के रहस्य को समझने में सभी प्रकार की बौद्धिक कल्पनाएं आवश्यक रूप से अपर्याप्त सिद्ध होती हैं अतः उसके स्वरूपबोध का अत्यन्त सुगम साधन दृष्टान्त है न कि बौद्धिक तर्क रचना। जिस प्रशांत समुद्र की सतह पर एक ओर से दूसरी ओर अग्रसर होने वाली तरंग असंख्य बुदबुदों की विक्षुब्ध हलचल उत्पन्न करती है उसी प्रकार, लहर परमात्मा की अविच्छिन्न अनन्तता से, कोटि–कोटि जीवात्माओं को जन्म देती है। किन्तु सर्वव्यापक अनन्त समस्त जीवात्माओं का आधार बना रहता है। जीवात्माएं एक आकस्मिक एवं सहज स्फुरणा की सृष्टियाँ हैं; अतः सृष्टि के आरम्भिक प्रकम्पन के अन्तिम लोप तक अथवा सृष्टि चक्र की अवधि की समाप्ति तक, उनके अस्तित्व की निरन्तरता के निश्चित विधान का उन्हें पूर्व ज्ञान नहीं रहता। अनन्त की अखण्डित सत्ता से एक

रहस्यात्मक केन्द्र की उत्पत्ति होती है, जिसके अन्तर से सृष्टि के वैभिन्य–मय अनेकत्व का आविर्भाव होता है। एक क्षणांश पूर्व जो विशाल समुद्र हिम–सदृश शांत था, वह अगण्य फेनिल जीवों के जीवन से आन्दोलित हो उठता है। समुद्र की फेन–पूर्ण सतह के भीतर ये जीव आत्म ससीमता (Self-limitaion) के द्वारा निश्चित आकार तथा रूप धारण करके पृथकत्व की प्राप्ति करते हैं।

**अनन्त सत्ता अभिव्यक्ति के भास से अप्रभावित रहती है।**

किन्तु यह सब केवल एक दृष्टान्त है। यह सोचना भूल है कि जब अन्तर्लीन स्वंय–ज्ञान स्पृहा की लहर अभिव्यक्तिमय जगत् (The World of Maniifestation) का अस्तित्व उत्पन्न करके अपने को प्रभावशाली बनाती है तब अनन्त में कोई वास्तविक परिवर्तन पैदा होता है। अनन्त की स्वतंत्र सत्ता में, संकोच या विकास क्रिया नहीं हो सकती; और अनन्त से किसी सत्य का आविर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी यथार्थ परिवर्तन का उत्पन्न होना अनन्त का निराकरण है। अभिव्यक्तिभूत जगत् की सृष्टि से जिस परिवर्तन का बोध होता है वह अनन्त सत्य के सत्तास्वरूप अथवा अस्तित्व का परिवर्तन नहीं है किन्तु केवल दृश्यमान अथवा दिखाई देनेवाला परिवर्तन है। एक अर्थ में अभिव्यक्ति क्रिया को अनन्त की अपरिमेय सत्ता का एक तरह का प्रसार (Expansion) मानना आवश्यक है क्योंकि इस क्रिया का अवलम्बन करके अनन्त जो चेतना से रहित है अपनी चेतना प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु, चूंकि सत्य का यह प्रसार जीवन के विभिन्न रूपों से उसकी आत्म–सीमा–बद्धता (Selflimitization) के द्वारा कार्य में परिणत होता है अतः अभिव्यक्ति क्रिया को समयशून्य संकोच (Timeless Contraction) मानना भी युक्तिसंगत है। किन्तु अभिव्यक्ति क्रिया चाहे सत्य का एक तरह का प्रसार मानी जाय अथवा उसका समय–शून्य संकोच मानी जाय एक आरंभिक स्फुरण या गतिशीलता का उदय उसके पूर्व ही होता है, जिसे बौद्धिक भाषा में **अन्तर्निहित या अन्तर्लीन आत्म जिज्ञासा मान सकते हैं।** सृष्टि का अनेकत्व तथा वैयक्तिक आत्माओं का पार्थक्य केवल कल्पना में ही मौजूद है। अभिव्यक्ति–मय संसार या सृष्टि प्रपंच का अस्तित्व तो भास या भ्रम पर आश्रित है ताकि असंख्य वैयक्तिक आत्माओं की अभिव्यक्ति के बावजूद परमात्मा विस्तार या संकोच अथवा वृद्धि या ह्यास के विकार से अलिप्त रहता है और ज्यों का त्यों बना रहता है। किन्तु यद्यपि भास या भ्रम के कारण परमात्मा में कोई विकार परिवर्तन या संशोधन नहीं होता तथापि अनेक वैयक्तिक आत्माओं के रूप में उसकी दिखाई देनेवाली विभिन्नता अस्तित्व में आती है।

आदिमतम भास या भ्रम जिसमें परमात्मा भूमित होता है तथा सर्व प्रथम अनुभव चिन्ह या संस्कार दोनों एक ही समय में प्रकट होते हैं। यहीं से संस्कारों की निर्मिति का आरम्भ होता है। **संस्कारों की निर्मिति अत्यन्त सीमिति बिन्दु में आरम्भ होती है और यह बिन्दु आत्मा के व्यक्तित्व के प्रादुर्भवन के लिये, सर्वप्रथम केन्द्र बनता है।** निष्क्रिय तथा त्रिविध परिमित (Tridimentional) पाषाण जिसमें अत्यन्त अपरिपक्व तथा आंशिक चेतना होती है इस अभिव्यक्ति केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है। चेतना का यह अनिश्चित तथा अविकसित प्रकार अपने निजी रूप तथा आकार को भी यथार्थतः उद्दीपित करने के लिये अपर्याप्त सिद्ध होता है। और परमात्मा का अपने आपको जानने का जो सृष्टि प्रयोजन है उसे पूर्ण करने में तो नितान्त असमर्थ ठहरता ही है। चेतना की प्रकाशन की जो कुछ भी थोड़ी सी योग्यता पाषाण की अवस्था में होती है वह पाषाण के शरीर से प्राप्त नहीं की जाती, किन्तु अंततोगत्वा परमात्मा से प्राप्त की जाती है। किन्तु पाषाण की शरीर से असम्बद्ध होकर चेतना अपने क्षेत्र को विस्तृत नहीं कर सकती क्योंकि परमात्मा पहले चेतना से एकाकार होता है और उसके जरिये बाद में पाषाण के रूप में। और चूंकि पाषाण के शरीर तथा उसकी मन्दता की वजह, चेतना की अधिकतर उन्नति रुँध जाती है, इसलिये अभिव्यक्ति के उच्चतर रूपों एवं साधनों का विकास अनिवार्य हो जाता है। चेतना का विकास तथा उसे सीमाबद्ध करने वाले शरीर का विकास दोनों साथ ही साथ होते हैं। अतः परमात्मा की व्यापकता में **अन्तर्निहित स्वयं–ज्ञान स्पृहा दिव्य संकल्प के द्वारा अभिव्यक्ति के साधनों के वृद्धिशील विकास में प्रवृत्त होती है।**

**आदिमतम भास पाषण की अवस्था में प्रगट होता है।**

इस भांति परमात्मा अपने वास्ते अभिव्यक्ति के एक नवीन साधनों की रचना करता है। यह साधन है धातु रूप जिसमें वह कुछ अधिक तीव्रता को प्राप्त होता है। किन्तु इस अवस्था में भी वह बहुत अपरिपक्व रहता है। अतएव यह वनस्पतियों तथा वृक्षों के अधिक उच्चतर रूपों में स्थानान्तरित होता है। वृद्धि, ह्रास तथा पुनरुत्पत्ति की जीवन क्रियाओं की मौजूदगी के कारण, वनस्पतियों तथा वृक्षों में चेतना विकास में काफी उन्नति हो चुकती है। चेतना का इससे अधिक उन्नत रूप का आविर्भाव तब होता है जब परमात्मा उन सहज ज्ञानशील, कीड़ों, पक्षियों तथा पशुओं के जीवन के द्वारा अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है और अपने बाह्य वातावरण का पूरा ज्ञान होता है जिनमें आत्म–रक्षण का भाव पैदा हो चुकता है और अपने बाह्य जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करने की ओर

**चेतना तथा रूपों का वृद्धिशील विकास।**

जिनका लक्ष्य रहता है। उच्च श्रेणी के पशुओं में कुछ हद तक बुद्धि या तर्क शक्ति भी पैदा हो जाती है किन्तु उसकी क्रिया उनके आत्मरक्षण तथा अपने बच्चों के पालन और रक्षण इत्यादि उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों (Natural Instincts) से पूर्णतः सीमित रहती है। अतः पशुओं में भी चेतना अपनी संपूर्ण उन्नति को प्राप्त नहीं हो पायी जिसका परिणाम यह हुआ कि वह परमात्मा के आत्म–ज्ञान प्राप्त करने के आरम्भिक प्रयोजन की पूर्ति करने में असमर्थ रही।

**मानवीय चेतना**

आखिर परमात्मा मानवीय रूप धारण करता है। इस रूप में चेतना अपनी पूर्णतम उन्नति को प्राप्त होती है और उसे 'अहम्' (self) तथा बाह्य जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में तर्क करने के सामर्थ्य को विशालतम क्रिया क्षेत्र प्राप्त होता तथा असीम अवसर मिल जाता है। किन्तु चूंकि परमात्मा अपनी चेतना के द्वारा स्थूल शरीर से अपने को युक्त कर लेता है चेतना परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने का प्रयोजन सिद्ध करने में असफल रहती है। तो भी चूंकि मानवीय रूपों में चेतना अपनी पूर्णतम उन्नति कर चुकती है, अतः उसमें आत्म–ज्ञान की सुप्त संम्भाव्यता रहती है। और जिस स्वयं–ज्ञान–स्पृहा से विकास का सूत्रपात हुआ वह सद्गुरुओं या मनुष्येश्वरों (Man Gods) में फलीभूत होती है। ये सद्गुरु अर्थात मनुष्य के रूप में ईश्वर, मानवता के शुभ्र प्रसून है।

**संस्कारों का लपेटा जाना**

मानवता की सामान्य चेतना के द्वारा परमात्मा आत्म–ज्ञान नहीं प्राप्त करत सकता क्योंकि वह संस्कारसमूह अर्थात अनुभव–चिन्ह समुदाय से ढँका रहता है। जब चेतना पाषाण या धातु की दृश्यतः निष्प्राण अवस्था को पार करती है, तदनन्तर वृक्षों के वानस्पतिक जीवन में पहुँचती है, तत्पश्चात् कीड़ों, पक्षियों तथा पशुओं के निसर्ग ज्ञानशील (Instinctive) अवस्था में प्रवेश करती है और अन्त में मानवीय पूर्णतः चेतन अवस्था को प्राप्त होती है वह लगातार नये संस्कारों का सृजन करती है और उनसे आवृत्त होती जाती है। ये प्राकृतिक (Natural) संस्कार मानवीय अवस्था की उपलब्धि के बाद भी अनेक अनुभवों एवं नाना कार्यों द्वारा उत्पन्न अप्राकृतिक (Non-natural) संस्कारों केयोग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **अवस्था में अर्थात् विकासक्रम के काल में और फिर पश्चात् मानवीय इस भांति पूर्व मानवीय क्रियाओं के समयों में भी संस्कारों का संचय अनवरत रूप से जारी रहता है।** जिस प्रकार एक लकड़ी पर धागा लपेटा जाता है, उसी प्रकार वैयक्तिक आत्मा के मन पर संस्कार लपेटे जाते हैं। यह लपेटा जाना सृष्टि के आदि से शुरू होकर विकास की सभी अवस्थओं में एवं मानवीय अवस्था में भी, जारी

रहता है। यथार्थतः संचित समस्त प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संस्कार लपेटे गये धागे के तुल्य हैं।

**संस्कारों की क्षमता के कुछ दृष्टान्त।**

चेतना के सम्मुख जो वस्तु तथा विकार उपस्थित होते हैं उन्हीं के सबब मानव जीवन में निरन्तर नवीन संस्कारों का निर्माण होता है, और इन संस्कारों की वजह, चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। सुन्दर वस्तुएं, जिन संस्कारों को उत्पन्न करती हैं वे चेतना में सौंदर्य के गुणानुभव तथा आनन्दास्वादन की स्वाभाविक योग्यता जागृत करने की क्षमता रखती हैं। जब मनुष्य श्रुति मधुर गीत सुनता है, या नयनाभिराम दृश्य देखता है तब ऐसे श्रवण या दर्शन से प्राप्त संस्कार उसे भावोत्कर्ष प्रदान करते हैं। इसी प्रकार जब कोई विचारक के व्यक्तित्व से सम्पर्क स्थापित करता है तब वह नवीन विचारधाराओं में दिलचस्पी लेने लगता है और उसे ऐसी उत्साह–स्फूर्ति की अनुभूति होती है जिससे वह विचारक के सम्पर्क में आने से पहले बिल्कुल अपरिचित था। न केवल वस्तुओं या मनुष्यों द्वारा अंकित चिन्ह (Impression) या संस्कार किन्तु विचारों तथा अन्ध–विश्वासों के द्वारा अंकित चिन्ह भी चेतना की अवस्थाओं का निरूपण करने में महान क्षमता रखते हैं।

**अन्ध–विश्वास के चिन्ह एवं संस्कार।**

अन्ध–विश्वासों के चिन्हों की शक्ति एक पिशाच–कथा के जरिये स्पष्टतः समझ में आ जायगी। विभिन्न मानवीय विचार क्षेत्रों में पिशाच से संबंध रखनेवाला विचारक्षेत्र अन्ध–विश्वासों से सबसे अधिक भरा हुआ है। प्रचलित विचारधारा के अनुसार ये पिशाच अनेक अद्‌भुत उपायों से अपने शिकार को सताते हैं तथा तंग करते हैं। एक समय की बात है, कि भारतवर्ष में मुगलों के राज्यकाल में भूत–प्रेतों की कहानियों के प्रति नितान्त संशयशील एक उच्च शिक्षा संपन्न मनुष्य ने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा उसकी सच्चाई की जाँच करने का संकल्प किया। उसे चेतावनी दी गई थी कि वह अमावस्या की रात को अमुक श्मशान में कभी न जाय क्योंकि वह एक ऐसे भयानक पिशाच का निवास स्थान था, जो श्मशान की सीमा के अन्दर, जमीन में हथौड़ी से एक लोहे की कील ठोकने से निश्चय ही प्रकट होता है। एक हाथ में हथौड़ी तथा दूसरे हाथ में लोहे की कील रखकर वह अमावस्या की रात को सीधे श्मशान पहुंचा। वहाँ पहुँचकर उसने कील ठोकने के लिये एक ऐसा स्थल चुना जहाँ घास नहीं थी। स्थान अन्धकार पूर्ण था, और वह जो कपड़ा पहने था वह भी अत्यन्त काला था; और ढीला होने के सबब लटक रहा था। जब वह जमीन पर बैठकर हथौड़ी से कील ठोकने का यत्न करने लगा इसी बीच

में उसके अनजान में उसके कपड़े का एक छोर जमीन और कील के बीच में आ गया और कील से दब गया। उसका कील ठोकना समाप्त हुआ; और उसे प्रतीत हुआ कि उसका प्रयोग सफल हुआ है क्योंकि पिशाच से उसकी मुठभेड़ नहीं हुई। उस स्थल से लौटने के लिये वह ज्योंही उठने लगा, त्यों ही उसे जमीन की तरफ एक जोर के खिचांव का अनुभव हुआ और वह भयभीत हो गया। पूर्व संचित संस्कारों की क्रिया के कारण वह पिशाच के अतिरिक्त और किसी वस्तु का विचार न कर सका और उसने सोचा कि पिशाच ने आखिर उसे पकड़ लिया है। इस विचार का धक्का ऐसे जोर का था कि वह ग़रीब हृदय की धड़कन बन्द हो जाने से मर गया। अन्ध–विश्वासजनित चिन्हों एवं संस्कारों में कभी कभी कितनी भयानक शक्ति हुआ करती है यह इस कथा से स्पष्टतया प्रकट है।

**संस्कारों से मुक्त हुए बिना निर्द्वन्द्व अनुभव असंभव है।**

अनुभवचिन्हों की शक्ति और प्रभाव का आवश्यकता से अधिक मूल्य नहीं आँका जा सकता। अनुभव चिन्ह घनीभूत शक्ति है। उसकी गतिशून्यता (inertia) उसे अचल तथा चिरस्थायी बना देती है। मन पर उसकी ऐसी गहरी छाप पड़ जाती है, कि मनुष्य की उसे छिन्नमूल करने के लिये हार्दिक इच्छा और कोशिश के बावजूद वह अपने समय में ही नष्ट होता है। और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने को कार्य में परिणत करने का उसका खुद का एक तरीका है। मनुष्य का मन परस्पर विरोधी संस्कारों का घर है। चेतना में व्यक्त होने के प्रयत्न में बहुधा उनमें परस्पर मुठभेड़ हुआ करती है। संस्कारों की यह पारस्परिक टक्कर तथा घातप्रतिघात चेतना में मानसिक संघर्ष के रूप में अनुभूत होता है जब तक संस्कारों और कुसंस्कारों दोनों से चेतना पाशमुक्त नहीं हो जाती तब तक मानवीय अनुभव का अस्तव्यस्त अज्ञान, विषम, समस्यापूर्ण, विमिश्रित, द्वन्द्व–ग्रस्त तथा उलझनपूर्ण होना अवश्यम्भावी है। **अनुभव वास्तव में सम तथा निर्द्वन्द्व तभी हो सकता है जब चेतना को संस्कारों के बंधन से मुक्त किया जाय।**

जिन अलग अलग कार्यक्षेत्रों से संस्कारों का सम्बन्ध रहता है, उनके मौलिक स्वभाव–भेद के अनुसार, संस्कारों की श्रेणियाँ की जा सकती हैं। अस्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध होने के कारण उनकी तीन श्रेणियां है :–

**तीन प्रकार के संस्कारों से चेतना की तीन विभिन्न अवस्थायें उत्पन्न होती हैं।**

**(1) स्थूल संस्कार** – जो आत्मा को स्थूल माध्यम के द्वारा स्थूल जगत का अनुभव कराते हैं, और शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिये उसे बाध्य करते हैं।

**(2) सूक्ष्म संस्कार** – जो आत्मा के सूक्ष्म माध्यम के द्वारा सूक्ष्म जगत् का अनुभव कराते हैं और उसे सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिये विवश करते हैं।

**(3) मानसिक संस्कार** – जो आत्मा को मानसिक माध्यम के द्वारा मानसिक जगत् का अनुभव कराते हैं और जो उसे मानसिक शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिये मजबूर करते हैं। चेतना जिन संस्कारों से भाराक्रान्त है उनका प्रकार भेद वैयक्तिक आत्माओं के बीच अवस्था के भेद के लिये पूर्णतः उत्तरदायी है। इस प्रकार, स्थूल चेतन आत्मा केवल स्थूल जगत् का अनुभव करते है; सूक्ष्मचेतन आत्मा केवल सूक्ष्मजगत का अनुभव करते हैं, और मानसिक चेतन आत्मा केवल मानसिक जगत् का अनुभव करते हैं। इन तीन प्रकार के आत्माओं के अनुभवों के गुण भेद का कारण उनके संस्कारों का स्वभाव भेद है।

**आत्म–ज्ञानी आत्मा संस्कारों से मुक्त है।**

**आत्म–ज्ञानी आत्मा अन्य समस्त आत्माओं से मूलतः भिन्न हैं, क्योंकि वे आत्मा के माध्यम के द्वारा परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करते हैं जिसके विपरीत अन्य आत्मा केवल अपने शरीर और तत्सम्बन्ध संस्कार का अनुभव करते हैं।** स्वंय ज्ञानी (Selfconscious) आत्माओं तथा अन्य आत्माओं की चेतनाओं में मौलिक भेद होता है; उसका कारण यह है कि अन्य आत्माओं की चेतना संस्कारबद्ध होती है और स्वयंज्ञानी आत्माओं की चेतना संस्कारों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। संस्कारों से चेतना के अबद्ध तथा असंकीर्ण होने पर ही प्रारम्भिक स्वयं–ज्ञान–स्पृहा अंतिम तथा यथार्थ रूप में फलीभूत होती है और अनन्त की अनन्तता तथा अभेद्य एकता की चेतना–पूर्वक अनुभूति होती है। अतः संस्कारों का नाश करके मन को बन्धन मुक्त करने की समस्या अत्यन्त महत्वूपर्ण है।

# संस्कारों को दूर करने के उपाय

## [प्रथम भाग]

### संस्कारों को रोकनाः उनको जीर्ण करना और उधेड़ना (उन्मोचन करना)

चेतना संस्कारों अर्थात भूतकाल में संचित अनुभव चिन्ह राशि से आच्छन्न हो जाती है इसी कारण, मनुष्यों को आत्म–ज्ञान नहीं होता। जिस स्वयं–ज्ञान–स्पृहा को लेकर विकास शुरू होता है, वह उनमें चेतना की सृष्टि करने में सफल होती है। वैयक्तिक आत्मा **संस्कारों** को अनुभव करने में, चेतना का उपयोग करने के लिये प्रेरित होती है। वह चेतना के द्वारा परमात्मा के रूप में अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव नहीं होती। फलतः स्वयं–ज्ञान–स्पृहा पूर्ण नहीं हो पाती और आत्मा को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। संस्कारों को अनुभव करने से उसे एक ससीम देह होने का भ्रम हो जाता है। देहात्मभाव के कारण वह मनुष्यों एवं वस्तुओं के संसार में अपनी सम्बन्ध व्यवस्था करने का यत्न करने लगता है।

**संस्कारों के कारण आत्मज्ञान असम्भव हो जाता है।**

वैयक्तिक आत्मा समुद्र में बूँदों के सदृश है। जिस प्रकर समुद्र स्थित प्रत्येक बूँद समुद्र से युक्त है उसी प्रकार भास या भ्रम के कारण व्यष्टीभूत (Individualised)

प्रत्येक आत्मा वास्तव में परमात्मा से युक्त ही है या परमात्मा ही है। परमात्मा से वह वस्तुतः पृथक् होता ही नहीं। इस पर भी उसकी चेतना संस्कारों से ढँक जाती है; और संस्कारों का यह आचरण उसे आत्म–ज्ञान नहीं होने देता; तथा उसे नामरूपात्मक द्वैत अर्थात माया की सीमा में बद्ध कर देता है। आत्मा की परमात्मा के साथ एकता प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि चेतना का विकास करने में जो संस्कार सहायक रहे हैं, चेतना तो बनी रहे, किन्तु संस्कार बिलकुल दूर कर दिये जांय। वे ही परमात्मा के स्वरूप प्रकाशन में चेतना के लिये बाधक बन जाते है, स्वयं–ज्ञान–स्पृहा के सम्मुख अब चेतना को संस्कारों से मुक्त करने की समस्या उपस्थित है न कि चेतना को विकसित करने की।

**संस्कारों से छुटकारा पाने की समस्या।**

**संस्कारों से छुटकारा पाने के निम्नलिखित पाँच उपाय हैं–**

**(1) नये संस्कारों को रोक देना।**

नित्य नवीन संस्कारों के सृजन की अनवरत क्रिया का अन्त करने से नये संस्कार रोके जा सकते हैं। लकड़ी पर धागे को लपेटने की क्रिया से यदि संस्कारों के संबंध की क्रिया की तुलना की जाय तो नये संस्कारों को रोक देने का मतलब है और अधिक धागा लपेटने की क्रिया बन्द कर देना।

**संस्कारों से छुटकारा पाने के पांच उपाय।**

**(2) पुराने संस्कारों को जीर्ण करना।**

कार्य और अनुभव में व्यस्त होने से यदि संस्कार रोक दिये जाते हैं तो वे क्रमशः जीर्ण या जर्जर होते जाते हैं। धागेवाली तुलना के अनुसार जिस जगह धागा मौजूद है उसी जगह उसके जीर्ण होने की क्रिया से, इस क्रिया की तुलना की जा सकती है।

**(3) पूर्व संस्कारों को उधेड़ना।**

जिस क्रम से संस्कारों का संचय होता है उस क्रम को मन ही मन उलटने से संस्कारों का नाश होता है। धागेवाली तुलना के अनुसार यह क्रिया लकड़ी पर लपेटे हुए धागे को निकालने या उधेड़ने के समान है।

**(4) कुछ संस्कारों को बिखेरना और क्षीण करना।**

सस्कारों से सन्निहित मानसिक शक्ति का यदि उन्नयन (Sublimation) कर दिया जाये और दूसरी दिशाओं की ओर मोड़ दिया जाये तो वे संस्कार चारों ओर बिखर जाते हैं तथा इधर उधर वितरित हो जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः वे लुप्त होते जाते हैं।

### (5) संस्कारों को छिन्नमूल करना।

यह संस्कारों को जड़ सहित उखाड़ने के समान है। धागेवाली तुलना के अनुसार यह क्रिया धागे को कैंची से काटने के सदृश है। संस्कारों का अंतिम मूलोच्छेदन सद्गुरु के अनुग्रह के ही द्वारा सम्भव है।

यह बात सावधानीपूर्वक समझ ली जानी चाहिये कि संस्कारों के उन्मूलन के अनेक उपयोगी उपाय, एक से अधिक तरीकों में, प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। और उपर्युक्त पाँच उपाय, एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने से श्रेणीबद्ध नहीं किये गये हैं। ये उपाय संस्कारों को दूर करते समय होने वाले मानसिक व्यापारों के विशिष्ट तत्वों के द्योतक हैं, सुविधा के लिये, इस लेख में, हम केवल उन्हीं उपायों की चर्चा करेंगे, जो प्रथम तीन तत्वों को अत्यन्त उत्तमता के साथ स्पष्ट करते हैं यथा– (1) नये संस्कारों को रोकना (2) पुराने संस्कारों को जीर्ण करना तथा (3) पूर्ण संस्कारों को उधेड़ना। अंतिम दो तत्वों [(4) संस्कारों को बिखेरना तथा उन्हें समुन्नत (Sublimate) करना और (5) संस्कारों को छिन्नमूल करना] पर दूसरे लेख में प्रकाश डाला जायेगा।

नित्य संचित होने वाले संस्कारों के पाश से मन को मुक्त करने के लिये, नये संस्कारों की रचना का अंत करना आवश्यक है। त्याग आंतरिक हो सकता है या बाह्य।

**त्याग।**

ब्राह्य अथवा शारीरिक त्याग में, उन सभी वस्तुओं को छोड़ना शामिल है, जिन पर मन आसक्त है जैसे घर, मां–बाप, स्त्री, बच्चे, मित्र, धन, आराम के साधन तथा भोग की स्थूल सामग्रियाँ। आंतरिक अथवा मानसिक त्याग में समस्त इच्छाओं को छोड़ना भी सम्मिलित है, विशेषकर इन्द्रियों के भोगपदार्थों की वासना। यद्यपि बाह्य त्याग करने से आंतरिक त्याग भी नहीं हो जाता तो भी बाह्य त्याग करने से, आंतरिक त्याग का साधन है। आध्यात्मिक स्वतत्रंता आंतरिक त्याग से प्राप्त होती है, न कि बाह्य त्याग से; किंतु बाह्य त्याग आंतरिक त्याग का सहायक है। जो मनुष्य अपने अधिकार की वस्तुओं को त्यागता है, वह उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद करता है। इसका मतलब है कि वे वस्तुएं उसके लिये नवीन संस्कारों की सृष्टि नहीं करती। इस भांति बाह्य त्याग संस्कारों से छुटकारा पाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसके द्वारा, नए संस्कारों की रचना की क्रिया बंद हो जाती है। बाह्य त्याग से केवल इतना ही नहीं होता। सभी वस्तुओं के त्याग से, पूर्व बंधनों का भी त्याग हो जाता है। इन वस्तुओं से संबद्ध प्राचीन संस्कार उसके मन से दूर हो जाते हैं, और उन्हें व्यक्त होने का अवसर न मिलने के कारण वे जीर्ण हो जाते हैं।

अधिकाँश मनुष्यों के लिए, बाह्य त्याग, संस्कारों के जीर्ण होने के लिये, उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करता है। सम्पत्ति तथा सत्ता से सम्पन्न मनुष्य के लिए, भोग तथा अपव्यय के जीवन में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। उसकी परिस्थितियां, उसे प्रलोभनों के जाल में फँसाने के लिये, अधिक उपयुक्त हैं। जिस प्रकार शिल्पी काठ–फोड़कर शिल्प निर्माण करता है, उसी प्रकार परिस्थिति रूपी शिल्पकार छेद–भेद कर मनुष्य के व्यक्तित्व को गढ़ता है। अपनी परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर सकना या न कर सकना मनुष्य के चरित्र बल पर निर्भर है। यदि वह बलवान है तो अपनी परिस्थति के घात प्रतिघात के बीच में रहते हुए भी वह अपने विचार और कार्य में स्वतंत्र रह सकता है। यदि वह दुर्बल है तो वह अपनी परिस्थिति के प्रभाव के वशीभूत हो जाता है। उसके बलवान होने की हालत में भी सामूहिक जीवन प्रणाली या सामाजिक विचार परम्परा की प्रबल धारा के आगे उसके पैर उखड़ जाने की संभावना रहती है। परिस्थितियों का शिकार होने से बिल्कुल बच सकना अथवा विचार प्रवाह के प्रबल आक्रमण को झेल सकना, यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। यदि कोई परिस्थितियों का सामना करता है तो सामूहिक भाव की उन्मत्त लहर में उसके बह जाने की सम्भावना है। इस भाँति, विचार रूढि से बद्ध हो जाता है, जिससे छुटकारा पाने में वह अपने आपको असमर्थ पाता है। **बाह्य प्रभाव तथा परिस्थितियों का सामना करना तथा उन पर विजय प्राप्त करना यद्यपि कठिन है, तथापि उनसे दूर होना सरल है।** प्रलोभन एवं भोग की सामग्रियों से यदि फिरें नहीं तो अनेक मनुष्य पवित्र तथा सीधा सादा जीवन बिता सकें। समस्त अनावश्यक वस्तुओं का त्याग संस्कारों को जीर्ण करने में सहायक है, अतः स्वतंत्र जीवन का साधन है।

**एकान्त तथा उपवास।**

बाह्य त्याग के दो मुख्य रूप हैं, जिनका विशेष आध्यात्मिक महत्व है, जैसे (1) एकान्त और (2) उपवास। साँसरिक क्रियाओं की नाना उलझनों और झंझटों से, अपने आपको अलग कर लेने से तथा आवश्यकता के अनुसार समय– समय पर एकान्तवास करने से, समूहगत अभ्यास से सम्बन्ध रखनेवाले संस्कार जीर्ण होते हैं। किन्तु स्वयमेव यह एक साध्य नहीं है, किन्तु केवल साधन है। एकान्त की ही तरह उपवास का भी विशेष आध्यात्मिक महत्व है। खाना तृप्ति है : उपवास अस्वीकार है। भोजन करने का आनंद प्राप्त करने की इच्छा के रहते हुए भी भोजन न करना शारीरिक उपवास है। लोभ–वश तथा आनंद लूटने के लिये नहीं किन्तु शरीर रक्षण मात्र के लिए भोजन करना मानसिक उपवास है। बाह्य उपवास का अर्थ है भोजन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखना ताकि ऐसा करने से मानसिक उपवास में सहायता मिले।

भोजन जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है और उसे लगातार अस्वीकार करना स्वास्थ्य के लिये निःसन्देह घातक सिद्ध होगा। अतः, बाह्य उपवास प्रसंग तथा आवश्यकता के अनुसार मर्यादित समय तक ही करना चाहिये। ऐसा उपवास तब तक करते रहना चाहिये जब तक भोजन–लिप्सा पर पूर्ण विजय प्राप्त न हो जाय। उपवास करने से भोजन की लिप्सा का नियमन करने के लिये, सभी प्रधान मानसिक शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। फलतः भोजनासक्ति से मन को मुक्त करना सम्भव हो जाता है। शरीर गठन अथवा आत्म प्रदर्शन के हेतु से किये जाने वाले बाह्य उपवास का कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। आत्म विज्ञापन अथवा अहंकार प्रदर्शन के साधन के रूप में उपवास का उपयोग नहीं करना चाहिये। इतना अधिक नहीं करना चाहिये कि जिससे शरीर को अवाँछनीय क्षति पहुंचे और वह दुर्बलता की चरम सीमा को पहुँच जाय। दीर्घकालीन उपवास के द्वारा देह दमन या आत्मोत्पीड़न करने से भोजनासक्ति से छुटकारा नहीं मिलता। इसके विपरीत ऐसा करने से एक प्रतिक्रिया होती है और उपवास के बाद भोजनेच्छा इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक तथा अनावश्यक भोजन करने के लिये बाध्य हो जाता है। तथापि यदि बाह्य उपवास आध्यत्मिक अभिप्राय से सामान्य मर्यादा के भीतर किया जाता है तो वह आंतरिक उपवास का साधन बन जाता है। सर्वान्तःकरण से विश्वास पूर्वक किये गये उपवास भोजनेच्छा सम्बन्धी संस्कारों को उधेड़ते हैं।

**तपस्या**

तपस्या के द्वारा भी बहुतेरे संस्कार उधेड़े जा सकते हैं। ग़लत कार्य करने के बाद, भूल मालूम हो जाने पर पश्चाताप की भावना को तीव्र करना तथा प्रकट करना तपस्या है। ज़बर्दस्त आत्म–भर्त्सना के साथ मन–ही–मन अपनी भूलों को स्मरण करना पश्चाताप कहलाता है। तपस्या का उद्रेक करने वाली विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से लाभ उठाने, या भावातिरेक के क्षणों में अनुकूल रुख़ धारण करने या आत्मग्लानि से क्षतविक्षत तथा रक्त रंजित हृदय से बीती घटनाओं का स्मरण करने और अपने कार्य का खण्डन करने की जानबूझ कर चेष्टा करने से पश्चाताप सुगम तथा सरल हो जाता है। ऐसी तपस्या उन संस्कारों को उधेड़ती है जो दुष्कर्मों के लिये ज़िम्मेदार हैं। गम्भीर भाव से ओत प्रोत होकर जो आत्म–खंडन किया जाता है, उससे क्रोध, लोभ तथा मोह के संस्कारों का निराकरण होता है। कल्पना करो कि लोभ, क्रोध या वासना को न रोक सकने के कारण एक मनुष्य ने किसी मनुष्य को ऐसी क्षति पहुँचायी है, जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। किसी न किसी समय मर्म–विदारक पश्चाताप की प्रतिक्रिया का वह अवश्य ही शिकार होगा, और उसे तीक्ष्ण अंतर्वेदना का अनुभव होगा। **इस समय यदि वह उस बुराई**

**को जिसके लिये वह जिम्मेदार है पूर्णतः मन में स्पष्ट करता है तो भावपूर्ण अनुभूति की तीव्रता उसकी उन प्रवृत्तियों को नष्ट करती है जिनके कारण वह स्वंय खण्डित है।**

आत्म–खण्डन कभी कभी आत्मोत्पीड़न के विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। कुछ संत पश्चाताप की मानसिक अवस्था में शरीर पर घाव कर लेते हैं। किंतु पश्चाताप प्रकट करने के ऐसे कठोर उपाय सर्व साधारण के लिये हितकर नहीं है। कुछ हिन्दू साधक उन सभी मनुष्यों के चरणों पर नतमस्तक होने का नियम बना लेते हैं, जिनसे वे मिलते है और इस रीति के आलंबन से अपने में नम्रता उत्पन्न करने का यत्न करते हैं। प्रबल इच्छाशक्ति युक्त एवं दृढ़ चरित्र सम्पन्न मनुष्य, अहंवृत्ति–मर्दन की तपस्या के द्वारा वांछित फल प्राप्ति कर सकते हैं। ऐसी तपस्या, सत्कार्यों एवं दुष्कार्यों से सम्बद्ध विविध संस्कारों को उधेड़ती है तथा उखाड़ फेंकती है । जिनकी इच्छा शक्ति कमज़ोर है, वे भी सहानभूतियुक्त तथा प्रेमपूर्ण पथप्रदर्शन की उपलब्धि होने पर, तपस्या का आश्रय लेकर इच्छित लाभ प्राप्त करते हैं। तपस्या का सावधानी के साथ पालन तथा अभ्यास किया जाता है, तब मानसिक त्याग (Revocation) प्रत्येक विचार एवं आचरण की अवाँछनीय पद्धतियों से मनुष्य निश्चयात्मक रूप से मुक्त हो जाता है और वह शुचिता तथा सेवा का जीवन अपना लेता है।

इस बात का स्पष्ट ध्यान रखना आवश्यक है कि तपस्या में यह भय रहता है कि की गई भूलों पर मन आवश्यकता से अधिक विचार करता रहे और इस प्रकार तुच्छ बातों की चिंता करके रुदन तथा विलाप को अपनी अस्वास्थ्यकर आदत बना डाले। ऐसे व्यर्थ तथा विवेकशून्य भावोद्रेक से अधिकतर मानसिक शक्ति का अपव्यय ही होता है। इससे संस्कारों को उधेड़ने या जीर्ण करने में कोई सहायता नहीं मिलती। प्रतिदिन की दुर्बलता या भूल के लिये, प्रतिदिन पश्चाताप करने का नाम तपस्या नहीं है। तपस्या का यह मतलब नहीं कि अपनी ग़लतियों के लिये असामान्य ढंग से चिंतित और उदास होने की शुष्क तथा नीरस आदत डाल ली जाय। **भूलों के कारण अपने दुःख को बढ़ा लेना तपस्या नहीं है। जिन कार्यों को करने से पश्चाताप करना पड़ता है उन कार्यों को भविष्य में नहीं करने का दृढ़ संकल्प करना सच्ची तपस्या है।** यदि तपस्या के परिणाम स्वरूप, हमारा स्वाभिमान तथा आत्म विश्वास नष्ट होता है, तो हमारी तपस्या ठीक ढंग से नहीं हुई है। वास्तविक तपस्या तो वही है, जिससे कुछ प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति असम्भव बना दी जाये।

इच्छाओं की पूर्ति तथा अभिव्यक्ति पर रोक लगा देना भी संस्कारों को जीर्ण करने तथा उधेड़ने का एक उपाय है। इच्छाओं के अस्वीकार में लोगों की शक्ति तथा क्षमता भिन्न–भिन्न होती है। जिनमें इच्छाएं प्रचंड मानसिक वेग के साथ उत्पन्न स्थान में ही रोकने में असमर्थ होते है किंतु वे ऐसी इच्छाओं को कार्य में अभिव्यक्त होने से वंचित कर सकते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति को न रोक सकने पर भी मनुष्य उन्हें कृति रूप में परिणित होने से रोक सकता है। कृतिनिग्रह द्वारा इच्छाओं का निषेध भावी इच्छाओं के बीजारोपण का निवारण करता है। इसके विपरीत यदि मनुष्य अपनी इच्छाओं को कृति में परिणत करता है तो वह कुछ अनुभव चिन्हों एवं संस्कारों को व्यय तथा क्षीण भले ही करता है। किंतु इच्छाओं की पूर्ति क्रिया के द्वारा वह नये संस्कारों का सृजन करता है इस भाँति वह उन भावी इच्छाओं का बीज बो रहा है जो अपनी बारी आने पर अपनी पूर्ति की मांग करेंगी। अभिव्यक्ति तथा पूर्ति के द्वारा संस्कारों को व्यय तथा क्षय करने की प्रक्रिया स्वयमेव संस्कारों से मुक्ति नहीं प्रदान करती।

इच्छाओं की पूर्ति न होने देना।

जब इच्छाएं उदित होती हैं और इनके कार्य में परिणत होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, तो इन इच्छाओं पर सहज भाव से गम्भीर चिन्तन के लिये पर्याप्त अवसर मिलता है। इस गम्भीर चिंतन से तत्सबद्ध संस्कार जर्जर होते हैं। तथापि यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि ऐसा गम्भीर चिंतन, इच्छाओं का मन ही मन भोग करने का रूप धारण कर ले तो अभीप्सित फल की प्राप्ति नहीं होती। जब इच्छाओं का स्वागत करने एवं मन में उन्हें स्थान देने का चेष्टापूर्ण असंयत प्रयत्न किया जाता है इच्छाओं के ऐसे चिंतन का लेशमात्र आध्यात्मिक महत्व तो रहता ही नहीं किन्तु ऐसे चिन्तन से सूक्ष्म संस्कारों की सृष्टि होती है। मानसिक चिंतन, चेतना में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं की सज्ञान स्वीकृति से कदापि युक्त नहीं होना चाहिये। और इन इच्छाओं को स्मृति स्थायी बनाने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं करना चाहिये। **जब इच्छाओं के लिये, कृति में उनका अभिव्यक्त होना या पूर्ति प्राप्त करना निषिद्ध कर दिया जाता है और इस प्रकार, इच्छाओं को कार्य में परिणत होने से वंचित करके, उन्हें अस्वीकृति मूलक एवं गंभीर चिंतनशील चेतना की प्रखर ज्वाला में दग्ध होने दिया जाता है। तो इन इच्छाओं के बीज भस्मीभूत हो जाते हैं।** इच्छाओं का निषेध करने तथा उनके प्रत्युत्तरस्वरूप शारीरिक कार्य का नियमन करने से समय आने पर पूर्व संस्कारों का सहज ही तथा स्वाभाविक रूप से निराकरण हो जाता है।

इच्छाओं का निषेध, इच्छा शून्यता अथवा चाह विहीनता के लिये तैयारी है। इच्छा शून्यता से ही सच्ची स्वतंत्रता मिलती है। चाह आवश्यक रूप से एक बंधन है। चाहे चाह की पूर्ति की जाय अथवा न की जाय। जब उसकी पूर्ति की जाती है तो और अधिक चाह की उत्पत्ति होती है; और इस प्रकार आत्म बन्धन दृढ़तर होता जाता है और जब उसकी पूर्ति नहीं की जाती तो निराशा और पीड़ा का अनुभव होता है जो अपने संस्कारों के द्वारा अपनी निजी ढंग से आत्मस्वातंत्र्य को श्रृँखलाबद्ध करती हैं। चाह का कोई अंत नहीं है। मन के बाह्य तथा आन्तर उत्तेजक मात्रा स्पर्श (Stimuli) उसे निरन्तर किसी वस्तु की चाह या अरुचि (जो चाह का ही दूसरा स्वरूप है) की मरीचिका में भ्रमित करते रहते हैं। बाह्य मात्रा स्पर्श, देखने, सुनने, सूँघने, स्वाद लेने तथा स्पर्श करने की उत्तेजनाएं हैं। विकास क्रम के समय में, तथा मानवीय जीवन काल में संचित संस्कार समूह से तथा गतकालीन जीवन की स्मृति से, मानस पदार्थ में जो मात्रास्पर्श उदित होते हैं वे आन्तर मात्रा स्पर्श हैं। समस्त बाह्य एवं आन्तर मात्रास्पर्शों के बीच में स्थित होकर भी जब मनुष्य का मन अविचलित तथा स्थिर रहने के लिये अभ्यस्त हो जाता है तब वह चाह विहीनता को प्राप्त होता है; और मात्रास्पर्श जनित परस्पर विरोधी से परे अनन्त सत्य के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की चाह न करने से चाह सम्बन्धी संस्कारों का उधेडा जाना सम्भव होता है।

**इच्छा–शून्यता**

चाह की अवस्था में मन की समतुल्यता भंग हो जाती है। और चाहविहीनता की अवस्था में मन की समता स्थिर रहती है। सुखद या दुःखद, प्रिय या अप्रिय, सभी तरह के मात्रा स्पर्शों से अविश्राम बन्धनमुक्तता के द्वारा, चाह विहीनता की समतोलावस्था स्थायी रखी जा सकती है। इस संसार के सुख दुःखों से अप्रभावित रहने के लिये, मन का बाह्य एवं आन्तर मात्रास्पर्शों के प्रति बिल्कुल अनासक्त रहना आवश्यक है। यद्यपि अपनी रचनात्मक सूचनाओं के द्वारा मन निरंतर किल्ला बन्दी करता रहता है, तथापि स्वाभाविक एवं मानसिक जगत् के समुद्र में उठने वाली आकस्मिक एवं अप्रत्याशित तरंगों के द्वारा, उसके रक्षादुर्गों के बहाये जाने की सम्भावना सदैव विद्यमान रहती है। ऐसे प्रसंगों पर सभंव है, तुम बिल्कुल हिम्मत हार जाओ, किन्तु अनासक्ति का रुख़ बनाये रखने से, तुम सुरक्षित रह सकते हो। 'नेति' 'नेति', 'यह नहीं', यह नहीं'', के निषेधात्मक सिद्धान्त को आचरण में लाना ही अनासक्ति का रूख धारण करना है। **परिमित अनुभवजनित तथा आकर्षक परस्पर–विरोधी के प्रति जागरुक होकर, अनासक्त रहने का**

**'नेति' 'नेति' के द्वारा मात्रा स्पर्शों का सामना करने से चाहहीनता की समतोलावस्था प्राप्त होती है।**

**सतत प्रयत्न करना चाहिये।** केवल अप्रिय मात्रास्पर्शों का निषेध करना तथा प्रिय मात्रास्पर्शों के प्रति मन ही मन आसक्त रहना, संभव नहीं है। द्वन्द्वों के हमलों से, यदि मन को अविचलित रखना हो, मात्रास्पर्शों से अधिक अविचलित रहना हो, तो मन रागूलक मात्रास्पर्शों से आसक्त नहीं बना रह सकता। दोनों द्वंद्वों से पूर्ण रूपेण अनासक्त या अलिप्त रहने से ही समता की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

**विधायक (Positive) संस्कारों का 'हाँ', हाँ' सूचक अर्थ 'न', 'न' निषेधात्मक (Negative) रूख से ही उच्छिन्न हो सकता है।** सन्यास के सभी रूपों में यह नकारात्मक अथवा निषेधात्मक तत्व आवश्यक रूप से विद्यमान है। त्याग, एकान्त, उपवास, तपस्या, वैराग्य तथा चित्तवृत्तिनिरोध आदि साधनों में यही तत्व मौजूद है। इन सब साधनों एवं उपायों (जिन पर व्यक्तिगत रूप से इस लेख में प्रकाश डाला गया है) का चारू समन्वय सन्यास के एक आरोग्य–प्रद रूप को जन्म देता है जिसमें क्लेश तथा परिश्रम की आवश्यकता नहीं रहती। किंतु सुखद तथा सहजसाध्य सन्यास की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि इन साधनों में निहित निषेधात्मक तत्व स्वाभाविक रूप से जीवन में प्रवेश करें ताकि उनके दुरूपयोग से मन में अन्याय द्वन्द्वों का आगमन न हो।

**सन्यास के विभिन्न रूप में निषेधात्मक तत्व की सीमा।**

मन पर ज़्यादती या ज़ोर–ज़बरदस्ती अर्थात उसे हठात् या बलपूर्वक सन्यास की ओर मोड़ने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। सन्यास सम्बन्धी साधनों के मार्ग में जीवन को दमनपूर्वक व्यवस्थित करना अपने कुछ सद्गणों के विकास पर कुठाराघात करना है। जब मनुष्य स्वभाव के सद्गुण धीरे धीरे स्वभाविक गति से विकसित होने के लिये स्वतंत्र रहते हैं तब वे सापेक्ष सत्यों के ज्ञान का उद्घाटन करते हैं और परिणामतः सन्यास के जीवन की ओर सहज प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। सन्यास के जीवन को अपनाने के लिये, मन पर ज़ोर जुल्म या जल्दबाजी करने का प्रयत्न करना प्रतिक्रिया को आमंत्रित करना है।

**कुछ आसक्तियों से मुक्त होने की प्रक्रिया तथा कुछ दूसरी नई आसक्तियों के सृजन की प्रक्रिया एक ही साथ होती है।** आसक्तियों के अत्यँत स्थूल रूप वे हैं जो बहिर्मुख होते हैं अर्थात् जो वस्तुजगत से सम्बद्ध होते हैं। किंतु जब संसार की बाह्य वस्तुओं की आसक्ति से मन को मुक्त किया जाता है तो अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वह मनोमय (Subjective) सूक्ष्मतर आसक्तियों का आश्रय लेता है। स्थूल वस्तुओं के प्रति अनासक्ति के भाव को कुछ अंशों तक विकसित कर लेने के अनन्तर मन सरलता पूर्वक अहम्मन्यता के उस सूक्ष्म रूप को विकसित करने लगता है जो एकाकीपन तथा

दम्भ के द्वारा प्रकट होता है। एक बंधन से मुक्त होते समय, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारा 'अहम्' किसी दूसरे प्रकार के बंधन से बद्ध न होने पाये। **हमारी अनासक्ति कर्तव्य पराङमुखता के रूप में भी नहीं होनी चाहिये।** सांसरिक जीवन के घात प्रतिघातों तथा आँधी–तूफानों का सामना न कर सकने के कारण उनसे मुँह मोड़ना अनासक्त होना नहीं किंतु कर्तव्यपराङमुखता है। कलह तथा संघर्ष के सम्मुख असहाय होकर पीठ फेर लेना दुर्बलता है। अदम्य शक्ति और चरित्र की पवितत्रा से सभी परिस्थितियों का सामना करते हुए उन वस्तुओं का त्याग करना तथा उनसे निरासक्त रहना जो हमारे अनन्त एवं शुद्ध स्वरूप को परिमित करती हैं, वास्तविक अनासक्ति है। 'नेति' ''नेति' के कोरे सूत्र से चिपके रहना अनासक्ति नहीं है। प्रबुद्ध अवस्था के लिये गम्भीर उत्कठा के न रहते हुए भी शब्दाशक्ति का भूत मन पर सवार हो जाता है। किसी कोरे निषेधात्मक मंत्र से दिलचस्पी रखना, और मन ही मन प्रलोभनों को गुनना दोनों साथ साथ किये जाते हैं। सर्वान्तःकरण से पूर्ण अनासक्ति का पालन तभी संभव है जब वह अनासक्ति हमारे स्वभाव का ही एक मुख्य अंग बन जाय।

**निषेधात्मक संस्कारों को भी लोप हो जाने से आत्मज्ञान होता है।**

विकासक्रम के समय में तथा मानवीय जीवन की अवस्थाओं में संचित होने वाले विधायक संस्कारों को नष्ट करने का एक मात्र उपाय, उनके प्रति 'नहीं', 'नहीं' का निषेधात्मक रूख़ धारण करना है। किंतु यद्यपि यह पद्धति विधायक संस्कारों को नष्ट कर देती है तथापि वह साथ ही साथ, निषेधात्मक संस्कारों की रचना करती है। ये निषेधात्मक संस्कार अपने निजी ढंग से मन को सीमित करते हैं, और एक नई समस्या खड़ी कर देते हैं। 'नहीं', 'नही' का रूख तथा तदनुसार आचरण इतना शक्तिशाली तथा सुदृढ होना चाहिये कि परिणामतः समस्त स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संस्कार छिन्नमूल हो जायें, किन्तु उद्देश्य सिद्धि के उपरान्त अन्ततोगत्वा इस निषेधात्मक रूख़ को भी त्यागना आवश्यक है। **अंतिम आध्यात्मिक अनुभव निषेधात्मक नहीं है।** उससे किसी निषेधात्मक सूत्र से बद्ध करना तो उसे एक बौद्धक विचार से परिमित करना है। मन स्वयं अपने को बंधनमुक्त करने के लिये निषेधात्मक सूत्र का उपयोग करता है; किंतु उस को भी त्यागे बिना जीवन के अंतिम ध्येय की उपलब्धि नहीं होती। विचार अपनी खुद की गति से जिन द्वन्द्वों की सृष्टि करता है उन पर विजय प्राप्त करने के लिये विचार का ही उपयोग किया जाता है। किंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर विचार को ही तिलाँजलि देने की ज़रूरत पड़ती है। **यह मन के परे जाने**

**के समान है।** मन तथा उसकी इच्छाओं से सम्बन्ध भंग करने से ही, मन का अतिक्रमण किया जा सकता है। शरीर, विचार तथा अन्य निम्नतर भावों को दृश्यवत (Objectively) देखना आनन्दपूर्ण अनासक्ति में आरूढ होना तथा समस्त संस्कारों का निराकरण करना है। ऐसा करने का अर्थ आत्मा को उसके स्वनिर्मित भ्रमों जैसे 'मैं शरीर हूँ', मैं मन हूँ, या 'मैं विचार हूँ' से मुक्त करना है तथा साथ ही साथ, ''मैं ईश्वर हूँ', 'अनल हक' या 'अहं ब्रह्मास्मि' की अवस्था की उपलब्धि करना है।

# संस्कारों को दूर करने के उपाय

## [द्वितीय भाग]

**संस्कारों को बिखेरना तथा क्षीण करना**

**संस्कारों का निषेध संयम के द्वारा सम्भव है।**

पिछले लेख में मैंने संस्कारों को दूर करने के उपायों को समझाया है जो मुख्यतः उन विधायक **संस्कारों** का निषेध करने के सिद्धान्त पर आश्रित है जो सत्य को चेतना से ओझल रखते हैं और इस भाँति आत्म ज्ञान, जिसके लिये समस्त सृष्टि की रचना हुई है, की प्राप्ति में रुकावट पैदा कर देते हैं। विधायक **संस्कारों** का निषेध करने के ये सभी उपाय अंततः शरीर और मन के संयम पर अवलम्बित हैं। शारीरिक कार्यों के संयम की अपेक्षा आदत से पैदा होने वाली मानसिक प्रवृत्तियों का संयम कहीं ज्यादा मुश्किल है। मन के क्षणभंगुर तथा छलपूर्ण विचारों तथा इच्छाओं का नियमन अत्यंत धैर्य तथा अनवरत और आग्रहयुक्त अभ्यास से ही संभव है। पुराने संस्कारों को उधेड़ने और जीर्ण करने के लिये तथा नये **संस्कारों** जो पुराने **संस्कारों**, के ही व्यक्त रूप हैं, के सृजन को रोकने के लिये मानसिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का नियंत्रण आवश्यक है। आरंभ में संयम कठिन होने पर भी सच्चे प्रयत्न के द्वारा वह क्रमशः स्वाभाविक तथा सहज साध्य हो जाता है।

जब तक मन **संस्कारों** को दूर करके अपने को सीमा युक्त करने की कोशिश करता रहता है तब तक संयम चेष्टा पूर्ण तथा श्रम साध्य रहता है किंतु उसके संस्कारों से छुटकारा पाते ही संयम सहज तथा स्वभाविक हो जाता है। क्योंकि फिर मन स्वतंत्रता और ज्ञान के वायुमण्डल में कार्य करता है। ऐसा संयम चरित्रबल तथा चित्त शुद्धि से उत्पन्न होता है। अतः वह अनिवार्यतः अत्यंत निर्भयता शांति एवं स्थिरता प्रदान करता है। असंयत तथा अनियमित रूप से कार्य करते रहने पर जो मन अशक्त और दुर्बल दिखाई देता है वह संयम तथा नियंत्रित होने पर महान शक्ति का उद्‌गम बन जाता है। **मानसिक शक्ति को सुरक्षित रखने के लिये तथा विचार बल का किफ़ायत के साथ उपयोग करने के लिये संयम की अनिवार्य आवश्यकता है।**

**अनुभूत तथ्यों के अनुसार आत्मव्यवस्था करना संयम है**

संयम का उद्देश्य है मन की मुक्त तथा स्वतंत्र क्रिया को सम्भव बनाना। संयम यदि बिलकुल यंत्रवत् तथा लक्ष्य रहित हुआ तो यह उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। विचारों और इच्छाओं का यंत्रवत् दमन करके जो संयम किया जाता है उसका कोई सच्चा आध्यात्मिक महत्व नहीं है। जीवन के अनुभव के सिलसिले में जिन विधायक तथ्यों का ज्ञान होता है उनकी प्रेरणा के अनुसार स्वभाविक रूप से मन का नियंत्रण करना वास्तविक संयम है। ऐसे संयम का ही आध्यात्मिक मूल्य है। अतएव यथार्थ संयम कोरा निषेधात्मक नहीं हैं।चेतना की दृष्टि परिधि में जब कुछ विधायक तत्व प्रविष्ट होते हैं तब जीवन में उनके व्यक्त होने के अधिकार की प्रेरणा से मानसिक प्रत्युत्तर तथा चित्तशक्ति का उद्‌भव होता है। इस मानसिक शक्ति तथा मन की इस अनुकूल अवस्था के द्वारा उन विधायक तथ्यों की पूर्ण तथा स्वतंत्र अभिव्यक्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाली समस्त मानसिक प्रवृत्तियाँ हटा दी जाती हैं। **इस प्रकार पवितत्रा उदारता तथा दयालुता आदि गुणों का मूल्य या महत्व ज्ञात होने से वासना लोभ तथा क्रोध की प्रवृत्तियाँ हटने लगती हैं।**

विचारों की परम्परागत आदतों तथा रूढि पूजक कार्यपद्धति से अभ्यस्त होने के सबब मन अपने ख़ुद के द्वारा अनुभूत नवीन तथ्यों के दावे के अनुसार आसानी के साथ अपनी व्यवस्था करने में अपने को असमर्थ पाता है। पूर्व की विचार विधियों एवं कार्य पद्धतियों के द्वारा अंकित अनुभव चिन्ह जो एक प्रकार का स्थिति स्थैर्य (Inertia) पैदा कर देते है वही मन की इस असमर्थता का कारण है। इस स्थिति–स्थैर्य पर विजय प्राप्त करने तथा **अनुभूत तथ्यों की प्रेरणा के अनुसार जीवन का पुनिर्माण करने** का क्रम ही मन का संयम कहलाता है। संयम मूलतः विधायक है, न कि निषेधात्मक। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि संयम रचनात्मक है न कि विध्वंसात्मक,

क्योंकि अनुभव में आये हुए यथार्थ तथ्यों की अभिव्यक्ति को स्वतंत्र अवसर देने के लिए आत्म–व्यवस्था करने का वह एक मानसिक प्रयत्न है।

**पुराने संस्कारों को परिवर्तित करके उन्हें बिखेरना तथा क्षीण करना**

चूँकि प्रकाश का उद्गम प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है अतः विधायक संयम सभी के लिए सम्भव बन जाता है और यद्यपि **संस्कारों** के आवरण के कारण आत्मोद्दीपन अवरुद्ध हो जाता है तथापि सामान्य से सामान्य मनुष्य की चेतना का क्षेत्र पूर्णतः अंधकार से ही आच्छन्न नहीं रहता। सद्सद्विवेक अर्थात् सच्चे तथ्यों को ग्रहण करने एवं झूठे तथ्यों को त्यागने की जो बुद्धि प्रत्येक मनुष्य में मौजूद है उसे हम प्रकाश–किरण कह सकते हैं। यही प्रकाश–रश्मि उसे आगे बढ़ाती तथा मार्ग दिखाती है। **संस्कार** रूपी मेघों की सघनता या विरलता के अनुसार यह ज्योति–किरण चमकीली या धुँधली हुआ करती है। **संस्कार–निषेध की क्रिया वास्तविक तथ्यों की ज्ञान प्राप्ति की भी क्रिया है।** इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति क्रम दो लक्षणों से युक्त है– झूठे तथ्यों को त्यागना तथा सच्चे तथ्यों को ग्रहण करना अर्थात् झूठे तथ्यों के स्थान में सच्चे तथ्यों की नियुक्ति करना। **निम्नतर** तथ्यों के स्थान में उच्चतर तथ्यों की नियुक्ति की प्रक्रिया का अर्थ है पुराने **संस्कारों** के भीतर बंद पड़ी रहनेवाली मानसिक शक्ति को परिवर्तित करके उसे विधायक तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों की दिशगम्भीरा में मोड़ देना। **संस्कारों के भीतर बंद मानसिक शक्ति जब इस प्रकार मोड़ दी जाती है तब संस्कार बिखर जाते तथा क्षीण या क्लांत हो जाते हैं।**

**परिवर्तन (Sublimation) की प्रक्रिया–ह्रास रहित रूचि से पूर्ण है।**

परिवर्तन (उच्चीकरण – Sublimation) की रीति प्राचीन **संस्कारों** के अन्तरायों को लाँघने की सबसे अधिक स्वाभाविक तथा प्रभावशाली रीति है। इस रीति में एक विशेष लाभ यह है कि इसे करते हुए साधक की रूचि साधना की सभी अवस्थाओं में ज़रा भी कम नहीं होती। निम्नतर वस्तुओं के त्याग से त्यक्त वस्तुओं के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए उच्चतर वस्तुओं की नियुक्ति यदि न की जाएगी तो ऐसी विधान–शून्य या स्थानापन्न–रहित निषेध की पद्धति शुष्क अरूचिकर तथा भारपूर्ण प्रतीत होगी। मन में रिक्तता, शून्यता या अपूर्णता का भाव पैदा हो जाएगा। किंतु परिवर्तन (उच्चीकरण–Sublimation) की रीति में **निम्नतर तथ्यों के स्थान में उच्चतर तथ्यों की नियुक्ति की जाती है।** अतः अभ्यास की प्रत्येक अवस्था में तल्लीनता–पूर्ण रुचि कायम रहती है। यह तल्लीनता–युक्त रुचि पूर्णता के भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि करती है। मानसिक शक्ति इन आध्यात्मिक धाराओं में परिवर्तित या प्रवाहित की जा सकती है। (1) ध्यान (2) निःस्वार्थ मानव–सेवा और (3) भक्ति।

आदर्श वस्तु पर गम्भीर एवं अनवरत एकाग्रता का नाम ध्यान है। ऐसी एकाग्रता में आत्मा को केवल ध्यान के विषय अथवा ध्यान की वस्तु का ज्ञान रहता है और वह मन तथा देह को पूर्णतया भूल जाती है। फलतः नवीन **संस्कारों** की सृष्टि नहीं होने पाती तथा एकाग्रता की वस्तु पर ध्यान करने की मानसिक क्रिया के द्वारा प्राचीन संस्कार तितर बितर हो जाते हैं अर्थात् बिखर जाते हैं और क्षीण हो जाते हैं। अंत में जब **संस्करों** का सम्पूर्ण लोप हो जाता है तब **व्यष्टीभूत आत्मा एकाग्रता की गहराई में घुल जाता है और आदर्श वस्तु से संयुक्त हो जाता है।**

**ध्यानः– उसका धर्म तथा प्रयोजन।**

मनुष्यों के योग्यता–भेद के अनुसार ध्यान के अनेक प्रकार हैं। कल्पना–प्रधान प्रतिभा से सम्पन्न मनुष्यों की मानसिक शक्ति आवश्यकता से अधिक परिश्रम करने के कारण सूख जाती है। ऐसे मनुष्यों के लिए ध्यान का सबसे उपयुक्त तरीक़ा है विचारों से अपने आप को पृथक् करना और फिर **द्रष्टा की हैसियत** से अपने विचारों तथा अपने शरीर को दृश्य की तरह देखना। अपने विचारों तथा शरीर को दृश्यवत् देखने में सफल होने के उपरान्त साधक रचनात्मक आत्म–सूचनाओं जैसे "मैं अनन्त हूँ" "मैं प्रत्येक वस्तु में हूं" "मैं सर्वव्यापी हूं" के द्वारा **सार्वभौम सत्ता से तादात्म्य स्थापित करता है।** जिनकी कल्पना स्पष्ट तथा बलवान है वे किसी बिन्दु पर तीव्र एकाग्रता का प्रयत्न कर सकते हैं। किंतु वे लोग अपने मन को किसी बिन्दु पर एकाग्र न करें जिन्हें ऐसा करना पसन्द नहीं है। सामान्यतः मन की शक्ति उसके विभिन्न विचारों के कारण बिखर गई रहती है अतः मन का एक बिन्दु पर एकत्रीभूत होकर अपने को स्थिर करना बड़ा लाभदायक होता है। किंतु यह एक यांत्रिक क्रिया है अतः विधायक एवं आनन्द–मय अनुभवों से शून्य है। तिस पर भी ध्यान के अन्य सफलतापूर्ण प्रकारों की तैयारी के लिए आरम्भिक अवस्था में इसका उपयोग किया जा सकता है।

**ध्यान के प्रकार**

ध्यान के अधिक सफलता–पूर्ण तथा गम्भीरता रूपों में पहुँचने के पूर्व ईश्वर–प्रेमास्पद का चेष्टापूर्ण एवं रचनात्मक चिंतन आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर पर ध्यान करना सबसे अधिक फलदायक है। ईश्वर अपने साकार स्वरूप में या अपने निराकार स्वरूप में ध्यान का विषय बन सकता है। ईश्वर के निराकार स्वरूप पर ध्यान करना केवल उन्हीं लोगों के लिए लाभ प्रद है जिनमें ऐसा ध्यान कर सकने की विशेष योग्यता है। ईश्वर के निराकार स्वरूप पर ध्यान करने का मतलब है ईश्वर के रूप रहित निर्गुण तथा अव्यक्त अस्तित्व पर अपने समस्त विचारों को एकाग्र करना। इसके विपरीत ईश्वर के

**ईश्वर के साकार तथा निराकार स्वरूपों पर ध्यान।**

रूप तथा गुणों पर अपने समस्त विचारों को केन्द्रीभूत करने का नाम ईश्वर के साकार स्वरूप पर ध्यान करना है। तीव्र ध्यान के उपरान्त मन ध्यान की वस्तु पर ही स्थिति न रह कर ध्यान के समय अनुभूत व्यापक शांति की निश्चलता पर विश्राम करना चाहता है। ऐसे क्षण कल्पना–शक्ति की क्लांति के परिणाम हैं और उन्हें बिना किसी श्रम के प्रोत्साहित करना चाहिए।

**ध्यान में विघ्न**

ध्यान सहज या स्वाभाविक रूप से किया जाना चाहिए। न कि बलपूर्वक। दिव्य भावना–तरंगों के उर्ध्व आरोहण के क्षणों में कल्पना को स्वच्छन्द छोड़ देना चाहिए तथा उसकी उच्च उड़ान को ज़रा भी नहीं रोकना चाहिए। अनन्त से सायुज्य प्राप्त करने के निश्चित अभिप्राय से ही कल्पना की उड़ान का नियंत्रण करना चाहिए। उसे वासना, लोभ या क्रोध के विभिन्न भाव प्रवाहों के द्वारा प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। एकाग्रता में धीरे–धीरे सफलता प्राप्त होती है और नया–नया साधक शुरू में संतोष–जनक परिणामों की सिद्धि न होते देख कर सम्भव है साहस खो बैठे। उसकी निराशा ही बहुधा उसके उस दिन के ध्यान को शुरू करने तथा उसे जारी रखने में एक बड़ी रूकावट पैदा कर देती है। आलस्य तथा बीमारी जैसे अन्य विघ्न भी हैं जिन्हें दूर करना कठिन हुआ करता है। किंतु ध्यान के लिए निशचित तथा नियमित समय नियुक्त कर देने से तथा स्थायी अभ्यास के द्वारा उन कठिनाइयों का निराकरण कर दिया जा सकता है। प्रातःकाल या सूर्योदय के पूर्व का समय जब प्रकृति शांत रहती है ध्यान के लिए ख़ास तौर से सहायक है। किंतु किसी उपयुक्त समय में भी ध्यान किया जा सकता है।

**ध्यान के लिये एकान्त का महत्व**

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए जो आधारभूत आवश्यकताएं हैं उनमें एकान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। मानस–जगत् में विभिन्न रंग तथा विभिन्न रूप वाले विचारों का निरंतर सम्मिश्रण होता रहता है। कुछ उदात्त एवं महान विचार मन को पूर्णता प्रदान करके उसे बलिष्ट बनाने की प्रवृत्ति रखते हैं तथा कुछ तुच्छ विचार मन की शक्ति को क्षीण करते हैं। मानसिक जगत् के इन विभिन्न विचारों के प्रति मन अनुरक्त या विरक्त होता रहता है। **अपने ध्येय पर आरूढ़ रहने के लिए** इन रंगे–बिरंगे विचारों के प्रभाव से अपने को अछूता रखना आवश्यक है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकान्त परम उपयोगी तथा अमित संभावनाओं से पूर्ण है। एकान्त सेवन मानसिक शक्ति का सदुपयोग या किफ़ायतसारी है। तथा एकाग्रता की शक्ति को बढ़ाने का उत्तम साधन है। मन में राग (प्रवृत्ति) या द्वेष (निवृत्ति) उत्पन्न करने वाली बाह्य वस्तुओं के अभाव में तुम अन्तर्मुख होते हो और वातावरण में व्याप्त उन विचार–प्रवाहों के पात्र

बनते हो जो तुम्हें शक्ति, आनन्द तथा शान्तिमयी व्यापकता प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

जहाँ ईश्वर के साकार तथा निराकार स्वरूपों पर ध्यान करने के लिए चेतना को बाह्य वस्तुओं से खींच कर अपने हृदय मंदिर में केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है वहाँ **ईश्वर के सार्वभौम स्वरूप पर चित्त को एकाग्र करने के लिए मानवता की निःस्वार्थ सेवा करने की ज़रूरत होती है।** जब आत्मा मानव जाति की सेवा में पूर्णतः तल्लीन हो जाती है तब उसे अपने शरीर एवं मन की तथा शरीरिक एवं मानसिक क्रियाओं की बिलकुल विस्मृति हो जाती है जैसा ध्यान करने में होता है और फलतः नये **संस्कारों** का सृजन नहीं होता। इसके अतिरिक्त मन को बाँधने वाले प्राचीन संस्कार–छिन्न भिन्न हो कर तितर–बितर हो जाते हैं। चूँकि आत्मा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा स्वार्थ को त्याग कर परमार्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है अर्थात् स्व–हित–चिंतन को तिलांजलि देकर पर–हित–चिंतन में तन्मय हो जाती है अतः **उसके अहंकार का बीज अपने खाद्य पदार्थ से वंचित हो कर नष्ट होने लगता है।** अतएव **संस्कारों** की कारा के भीतर क़ैद रहने वाली शक्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने तथा परिवर्तित करने के सर्वोत्तम उपायों में से एक उपाय निःस्वार्थ सेवा है।

निःस्वार्थ सेवा

अपने कार्य के लिए पुरस्कार का किंचित भी लोभ मन में लाये बिना जो सेवा की जाती है वही वास्तविक निःस्वार्थ सेवा है। ऐसी सेवा में अपने ख़ुद के आराम या सुभीते की रत्तीभर भी परवाह नहीं की जाती और न दूसरों के द्वारा अपने ग़लत समझ लिए जाने का तिल भर भी भय किया जाता है। जब दूसरों का कल्याण करने में तुम मनसा–वाचा, कर्मणा मग्न हो जाते हो तो तुम्हें अपने विषय में सोचने का अवकाश ही नहीं रह जाता। अपने सुख स्वास्थ्य तथा अपने आराम सुभीते से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं रहता। इसके विरुद्ध दूसरों की भलाई के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तुम तत्पर रहते हो। उनका आराम तुम्हारा सुभीता है उनका स्वास्थ्य तुम्हारा आह्लाद है तथा उनका सुख तुम्हारा आनन्द है। उनके जीवन में अपने जीवन को पूर्णतः देने में ही तुम्हें अपने जीवन की वास्तविक प्राप्ति होती है। तुम उनके हृदयों से मिल कर एक होते हो। तुम उनके हृदयों में निवास करते हो और तुम्हारा हृदय उनका आश्रय–स्थल बन जाता है। जब तुम वास्तव में उनसे अभिन्न हृदय हो जाते हो अर्थात् जब तुम्हारा हृदय उनके हृदयों से मिलकर एक हो जाता है तो उन मनुष्यों से तुम्हारी, पूर्णतः आत्मीयता हो जाती

निःस्वार्थ सेवा का अर्थ।

है। अपने सहायता कार्य या सान्त्वना शब्द के द्वारा तुम उनको वह वस्तु प्रदान करते हो जिसका उनमें अभाव था तथा उनकी कृतज्ञता तथा शुभेच्छा के रूप में उनसे तुम्हें जो कुछ प्राप्त होता है वह तुम्हारी दी गई वस्तु से कहीं बढ़ कर है।

**सेवा के द्वारा मुक्ति एवं तृप्ति।**

इस प्रकार दूसरों के लिए जीने में तुम्हारे जीवन को विस्तार तथा व्यापकता की प्राप्ति होती है। अतः निःस्वार्थ सेवा का जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को कदाचित ही यह ज्ञात रहता है कि वह सेवा कर रहा है। जिनकी वह सेवा करता है उन्हें वह यह अनुभव नहीं होने देता कि वे किसी प्रकार उसके ऋणी या आभारी हैं। इसके विपरीत उन्हें सुखी बनाने का उसे अवसर देने के उनके उपकार के लिए वह स्वयं अपने को कृतकृत्य तथा अनुग्रहीत मानता है। विज्ञापन–प्रदर्शन अथवा नाम–कीर्ति के लिए वह उनकी सेवा नहीं करता। निःस्वार्थ सेवा तभी पूर्णतया सिद्ध होती है जब दूसरों की सेवा करने में मनुष्य स्वयं कृतार्थ होने का आनन्द प्राप्त करता है। निःस्वार्थ सेवा का आदर्श उसे शक्ति और सत्ता सम्बन्धी संस्कारों से आत्मतुच्छता तथा पर–विद्वेष की भावनाओं से एवं स्वार्थपरता–जन्य दुष्कार्यों से मुक्त कर देता है।

**प्रेम**

प्रेम के द्वारा प्रेरित होने पर ही निःस्वार्थ सेवा तथा ध्यान दोनों सहज रूप से सधते हैं। अतः आत्मज्ञान की सर्वोपरि मंज़िल में पहुंचने के लिए प्रेम को जो सर्वोत्कृष्ट पथ माना गया है सो ठीक ही है। प्रेमास्पद के प्रेम में आत्मा पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाती है। अतः वह शरीर तथा मन के कार्यों से अनासक्त हो जाती है। यह तल्लीनता या तन्मयता नवीन **संस्कारों** के सृजन को समाप्त कर देती है तथा जीवन को बिलकुल नई दिशा की ओर निर्दिष्ट करके प्राचीन **संस्कारों** को भी नष्ट कर देती है। **प्रेम की अत्यन्तता में जिस स्वाभाविक तथा पूर्ण आत्म–विस्मृति का अनुभव होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।** अतः चेतना की **संस्कार**–श्रृंखला से मुक्त करने के साधनों में प्रेम का स्थान सर्वोच्च है।

**प्रेम में पवित्र करने का गुण है।**

मुक्ति के अन्य पथों में प्राप्त विभिन्न लाभ की प्रेम में समाविष्ट है। अतः प्रेम का पथ अत्यंत विशेषता पूर्ण तथा प्रभावशाली पथ है। वह आत्मबलिदान तथा आनन्द दोनों से अलंकृत है। उसकी अनुपमता इस बात में है कि प्रेमक प्रेमास्पद के हाथों में सर्वान्तःकरण से अपना आत्म–समर्पण कर देता है। उस पर केवल उसके प्रेमास्पद का एकमात्र अधिकार रहता है। दूसरी वस्तुओं के अधिकार को वह बहिष्कृत कर देता है। अतः मानसिक शक्ति का ज़रा भी विभाजन नहीं होने पाता और एकाग्रता अत्यंत पूर्ण होती है। प्रेम में मनुष्यों की

शरीरगत, प्राण–गत तथा मन–गत शक्तियाँ एकत्रीभूत होकर प्रेमास्पद की सेवा के उपयोग में आती हैं। ये शक्तियाँ एक संचालक शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं। सच्चे प्रेम का तनाव इतना ज़बर्दस्त होता है कि **किसी भी प्रकार का अवाँछनीय या बाधक भाव तुरंत फेंक दिया जाता है।** अतः व्यवधान पैदा करने वाले भावों को निकाल बाहर करने का तथा हृदय को इस भाँति पवित्र करने का जो गुण पूर्ण प्रेम में है वह अद्वितीय है।

**प्रेम अखिल सृष्टि में मौजूद है।**

प्रेम में ऐसा कुछ भी नहीं जो अस्वाभाविक या कृत्रिम कहा जा सके। विकास के आरम्भ से ही उसका अस्तित्व है। जड़ अवस्था में वह अपरिपक्व रहता है और **संयोग** (Cohesion या पदार्थों का आपस में चिपकना) तथा **आकर्षण** (attraction पदार्थों का एक दूसरे की ओर खींचना) के रूप में प्रकट होता है। प्रेम एक स्वाभाविक सम्बन्ध (affinity) है जो वस्तुओं को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रखता है और एक दूसरे की ओर खींचता है। सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे एक दूसरे पर गुरुत्वाकर्षणात्मक खिंचाव उत्पन्न करते हैं वह इसी प्रकार के प्रेम की अभिव्यक्ति है। चेतन अवस्था में प्रेम **आत्मोद्दीप्त** (Self illumined) तथा **आत्म–गुण–ग्रहणशील** (Self-appreciative) बन जाता है और आमीबा (amoeba) जैसे निम्नतम जन्तु से ले कर मनुष्य जैसे सर्वाधिक विकसित जीव तक के जीवन में वह एक महत्वपूर्ण कार्य करता है। जब प्रेम आत्मोद्दीप्त हो जाता है तब उसके चेतन बलिदान के द्वारा उसका मूल्य या महत्व बढ़ जाता है।

**प्रेम चेतन बलिदान के द्वारा अभिव्यक्त होता है।**

प्रेम का बलिदान सर्वांगीण पूर्ण एवं हार्दिक होता है। उसमें लेशमात्र हिचकिचाहट के लिए जगह नहीं रहती। वह अपना सर्वस्व दे देने के लिए आतुर रहता है। बदले में उसे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। वह लेने का नाम नहीं लेता। **जितना ही अधिक वह देता है उतना ही अधिक वह देना चाहता है और देने के भाव का उसे उतना ही कम अनुभव होता है।** प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। वह कदापि कम नहीं होता। प्रेम की सरल अभिव्यक्ति है सरलता–पूर्वक सर्वस्व दे देना। प्रेमास्पद की गहनता (दुर्गमता) उसके सर्वोत्तम ध्यान तथा चिंता का विषय बन जाती है। बिना किसी पश्चाताप के वह अनवरत रूप से प्रेमास्पद को हज़ारों तरीक़ों से प्रसन्न करना चाहता है। प्रेमास्पद की केवल एक इच्छा को संतुष्ट करने के लिए भी किसी भी प्रकार की तकलीफ़ का स्वागत करने में वह आगा पीछा नहीं करता। उपेक्षा या उदासीनताजन्य लेश मात्र क्लेश से उसे मुक्त करने के लिए वह बेचैन हो जाता है। प्रेमास्पद के लिए बरबाद हो जाने तथा अपने प्राण दे देने में उसे ख़ुशी होती है। प्रेमास्पद के लिए वह

यंत्रणाविकल तथा चिंताव्याकुल रहा करता है। जो शरीर उसका पोषण करता है उसकी भी देख भाल करने की वह परवाह नहीं करता। उसका सर्वस्व तो दिया जा चुका है। शरीर की हिफ़ाज़त के लिए ही वह अपना ध्यान प्रेमास्पद से कैसे हटा सकता है? किसी प्रकार का समझौता वह सहन नहीं कर सकता। उसके समस्त जीवन का प्रत्येक क्षण प्रेमास्पद की सेवा में समर्पित हो चुका है। असल विह्लता के कारण प्रेम का बाँध फूट पड़ता है और प्यार तथा माधुर्य की अजस्त्र धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं। अंत में **प्रेमी के सकल सीमा–बंध छिन्न हो जाते हैं और वह प्रेमास्पद के अस्तित्व में अपने व्यक्तित्व को खो देता है।**

**भक्ति की विभिन्न अवस्थाएं।**

प्रेम की तीव्रता या गम्भीरता को भक्ति कहते हैं। अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में भक्ति प्रतिमा पूजा, देवी–देवताओं के सम्मुख प्रार्थना, दिव्य धर्म–ग्रंथों का आदर तथा अनुसरण, अस्पष्ट विचारणों के द्वारा ईश्वर की खोज आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है। अपनी उन्नततर अवस्थाओं में उसकी अभिव्यक्ति जन कल्याण–चिंतन, मानव सेवा, संतो के प्रति अनुराग और सम्मान, आध्यात्मिक गुरु का अनुसरण तथा आज्ञापालन आदि रूपों में होती है। इन अवस्थाओं में भक्ति के अन्योन्य महत्व हैं तथा सापेक्ष फल हैं। जीवित गुरु के प्रति प्रेम भक्ति की अनुपम अवस्था है क्योंकि वह आगे चल कर अंत में **परा–भक्ति** या दिव्य प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

**परा भक्ति**

केवल **तीव्र भक्ति परा–भक्ति** नहीं कही जा सकती। जहाँ **भक्ति** समाप्त होती है वहाँ परा–भक्ति का आरंभ होता है। **परा–भक्ति** की अवस्था में एकांगी चित्त की एकाग्रता मात्र ही नहीं होती। ह्रदय की अवर्णनीय व्याकुलता तथा प्रेमास्पद से मिलने की अविरत उत्कण्ठा परा–भक्ति के लक्षण हैं। इस अवस्था में प्रेमी को अपने शरीर की परवाह नहीं रहती। अपने चारों ओर के वातावरण से वह अलग हो जाता है, आदर तथा आलोचना से वह घृणा करता है और उसका प्रेमास्पद के प्रति आकर्षण का दिव्य भावोन्माद पहले की अपेक्षा अधिकाधिक बढ़ता जाता है। प्रेम की यह सर्वोच्च अवस्था सबसे अधिक लाभदायक सिद्ध होती है क्योंकि प्रेम का पात्र एक ऐसा मनुष्य होता है कि जो प्रेम का अवतार होता है और सर्वोपरि प्रेमास्पद की हैसियत से वह प्रेमिक के प्रेम का पूर्ण रूप से प्रत्युत्तर देता है। गुरु से शिष्य को प्राप्त होने वाले प्रेम की पवित्रता, मधुरता तथा क्षमता प्रेम की सर्वोच्च अवस्था की अतुल आध्यात्मिक महिमा की प्राप्ति में सहायक होती है।

# संस्कारों को दूर करने के उपाय

## [तृतीय भाग]
## संस्कारों का प्रक्षालन

**सद्गुरु** अथवा पूर्णगुरु के प्रति प्रेम विशेषतः महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी बदौलत सद्गुरु से सम्पर्क प्राप्त होता है। ऐसे संपर्क के द्वारा जिज्ञासु को सद्गुरु से जो अनुभव चिन्ह या **चित्त संस्कार उपलब्ध होते हैं उनमें पूर्व जन्मार्जित संस्कारों को अन्यथा करने की विशेष क्षमता होती है।** ये अनुभव चिन्ह जिज्ञासु के जीवन की दिशा को एकदम बदल देते हैं। ऐसे अनुभव चिन्हों को ग्रहण करने वाला जीवन की अपनी पुरानी आदतों तथा विचार–पद्धतियों को बिल्कुल छोड़ देता है। सद्गुरु के सम्पर्क से भ्रष्ट से भ्रष्ट जीव की काया पलट तथा उन्नति हो जाती है। भले ही मनुष्य इहलौकिक तृष्णाओं और वासनाओं की तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सोच–विचार किये बिना दुर्व्यसन तथा दुराचार की जिन्दगी बिताकर अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहा हो चाहे अधिकार और शक्ति की पिपासा का वह क्रीत दास बन चुका हो और धनार्जन तथा

**सद्गुरु से प्राप्त अनुभवचिन्ह अन्य अनुभव चिन्हों का लोप करके चेतना को परिवर्तित कर देते हैं।**

धन संग्रह करने आमोद–प्रमोद करने के सिवा उसका अन्य कोई आदर्श न हो। किंतु सासांरिक श्रृंखलाओं से स्वतंत्रता प्राप्त करने का स्वप्न में भी ख़्याल न करने वाले ऐसे मनुष्य को भी यह मालूम होते देर न *लगेगी कि* **सद्गुरु** के संसर्ग में उसे जो संस्कार प्राप्त होते हैं उनमें उसकी पुरानी आदतों तथा विचार–विधियों पर सदा के लिए यवनिका–पात करने की शक्ति होती है और वे उसके लिए उच्चतर तथा स्वतन्त्र जीवन की नवीन विधियाँ खोल देते हैं। **सद्गुरु** से प्राप्त होने वाले अनुभव–चिन्ह बुद्धि प्रधान तथा सुशिक्षित मनुष्य के लिए भी कम लाभदायक नहीं होते हैं ऐसे (बुद्धिप्रधान तथा सुशिक्षित) मनुष्यों की दृष्टि भी संकुचित ही हुआ करती है। अधिक हुआ तो उसकी कल्पना साहित्य तथा कला के सौंदर्य का रसास्वादन कर सकती है और उसकी परोपकारिता पड़ोस अथवा देश की सीमा तक ही परिमित रहती है। सद्गुरु से अनुभव–चिन्हों की प्राप्ति होने पर ऐसा मनुष्य अधिक उत्कृष्ट जीवन का अनुभव कर सकता है।

**सद्गुरु की मध्यस्थता के द्वारा समस्त संस्कारों का प्रक्षालन।**

सद्गुरु जिज्ञासु को चेतना की सामान्य बौद्धिक सतह से ऊपर उठाकर दैवज्ञान (inspiration) तथा अंतर्ज्ञान (intuition) की सतह में पहुँचा सकता है और फिर वहाँ से वह उसे अतींद्रिय ज्ञान (insight) तथा आत्म ज्ञान (illumination) की सतह तक पहुँचा सकता और अंततोगत्वा वह उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करा सकता है। जिज्ञासु का यह उत्थान उसके पार्थिव क्षेत्र से सूक्ष्म क्षेत्र, सूक्ष्म क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र तथा मानसिक क्षेत्र से मुक्तावस्था में क्रमशः उन्नत होने से सम्बन्ध रखता है। **समस्त संस्कारों–प्राकृतिक या अप्राकृतिक विधायक या निषेधात्मक – का पूर्ण प्रक्षालन ही** जिज्ञासु का अंतिम कदम है। लकड़ी पर लपेटे हुए धागे वाले सादृश के अनुसार संस्कारों के प्रक्षालन की प्रक्रिया धागे को कैंची से काटने के समान है। समस्त संस्कारों का उच्छेयन करना और इस प्रकार चेतना को सभी भ्रमों और बंधनों से मुक्त करना **सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना कदापि सम्भव नहीं है।**

**पूर्ण आत्म–समर्पण की आवश्यकता।**

किंतु **सद्गुरु** के द्वारा ऐसी सक्रिय मध्यस्थता तभी सम्भव है जब जिज्ञासु तथा सद्गुरु के बीच अवरोध रहित सम्भव हो और ऐसा अवरोध रहित सम्भव तभी स्थापित हो सकता है जब जिज्ञासु **गुरु के हाथों में अपना पूर्ण आत्म–समर्पण** करने में सफल होता है। आत्म समर्पण का अर्थ है गुरु की सभी आज्ञाओं का पालन करना। जब तुम्हारे सभी कार्य तथा इच्छाएं गुरु के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं और जब वे तुम्हारे द्वारा उनकी

आज्ञाओं का पालन करने का परिणाम मात्र हैं तब उनके लिए गुरु ही प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदार हैं। इस भाँति जब आत्म समर्पण पक्का होता है तो **संस्कारों** से तुम्हारे निस्तार पाने का उत्तरदायित्व गुरु पर आरोपित हो जाता है और इस नवीन स्थिति में गुरु को तुम्हारे संस्कारों को उन्मूल करते देर नहीं लगती।

**बौद्धिक आज्ञा पालन।**

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्म–समर्पण का अर्थ है आज्ञा पालन। आज्ञा–पालन के दो प्रकार हैं: (1) बौद्धिक तथा (2) शाब्दिक। बौद्धिक आज्ञा पालन की अपेक्षा शाब्दिक आज्ञा पालन अधिक फलदायक है किंतु **बौद्धिक आज्ञा–पालन पहले आता है और वह शाब्दिक आज्ञा–पालन की प्रस्तावना है।** जब गुरु की महानता एवं सिद्धि का तुम्हारी बुद्धि को विश्वास हो जाता है तब तुम्हारे हृदय में उनके लिए प्रेम तथा आदर उत्पन्न हो जाता है किंतु उनकी आज्ञाओं का शब्दशः– अक्षरशः पालन करने में तुम अपने को असमर्थ पाते हो। चूंकि तर्क तुम्हारे विश्वास का आधार होता है अतः गुरू तथा उनकी आज्ञाओं को समझने में तर्क का आश्रय न लेना तुम्हारे लिए कठिन होता है। तुम्हारी बुद्धि तथा गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा अविभाज्य रूप से गुँथी रहती है अतः तर्क–सम्मत या **बुद्धि–गम्य** आज्ञाओं का ही पालन तुम कर सकते हो। गुरू शिष्य की इस मानसिक अवस्था को नहीं छेड़ता और वह उसकी रूचि तथा योग्यता के अनुकूल केवल बुद्धि–ग्राह्य आज्ञाएं ही उसे देता है।

**शब्दिक आज्ञा पालन।**

बौद्धिक आज्ञा पालन के द्वारा तुम अपने सभी **संस्कारों** को विनष्ट कर सकते हो किंतु शर्त यह है कि उनके आदेशों का ठीक ठीक आशय समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में तुम्हें सरल हृदय होने की ज़रूरत है। किंतु शाब्दिक आज्ञा–पालन के द्वारा फल–प्राप्ति अधिक शीघ्र होती है। अपने मानव प्रेम की प्रेरणा से गुरू शिष्य में चट्टान की तरह अचल श्रद्धा तथा अगाध भक्ति उत्पन्न करता है। परिणामतः प्रेम के वशीभूत होकर शिष्य गुरू की आज्ञाओं का शब्दशः या अक्षरशः पालन करता है। गुरु के तेजो मंडल की दिव्य दीप्ति तथा पवित्रता एवं करुणा की विमल कांति शिष्य में कभी विचलित न होने वाली श्रद्धा पैदा कर देती। यही कारण है कि वह बिना तर्क वितर्क के गुरु की आज्ञाओं का पालन करने के लिए तैयार हो जाता है–चाहे वे आज्ञाएं उसकी आलोचक बुद्धि को तुष्ट करें या न करें। ऐसे शाब्दिक आज्ञा पालन को इस बात की आवश्यकता नहीं रहती कि गुरु आज्ञाओं का यथार्थ अर्थ शिष्य के लिए बुद्धि गम्य होना ही चाहिए। यह सर्वोत्कृष्ट कोटि का आज्ञा पालन है। ऐसे ही आज्ञा पालन की तुम्हें आकाँक्षा

करनी चाहिए। **ऐसे अवितर्क तथा प्रश्न–शून्य आज्ञा पालन के द्वारा तुम्हारी वक्र इच्छाएं तथा कुटिल संस्कार ग्रंथियाँ सुलझाई जा सकती हैं।** ऐसे संशय रहित आज्ञा पालन से ही गुरु और शिष्य के बीच में गहरा सम्बन्ध स्थापित होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि शिष्य में **आध्यात्मिक विवेक और बल की अबाध एवं अविरत धारा प्रवाहित होने लगती है।** इस अवस्था में शिष्य गुरु का आध्यात्मिक पुत्र बन जाता है। उचित समय में वह अपने समस्त सांस्कारिक बंधन से मुक्त हो जाता है तथा वह स्वंय गुरु बन जाता है।

**सद्‌गुरु** या सिद्ध गुरु का पद अनुपम होता है तथा उसकी शक्ति अद्वितीय होती है। संसार में ऐसी अनेक आत्मा हैं जो आध्यात्मिक में न्यूनाधिक बढ़ी चढ़ी हैं किंतु

**सद्‌गुरु का कार्य।**

चेतना के छहों अभ्यंतर क्षेत्रों का अतिक्रमण करके सत्, चित् तथा आनन्द के अनन्त उद्‌गम–स्थान से एकाकार हो चुकने वाले **सद्‌गुरु** बहुत थोड़े हैं। **सद्‌गुरु** न केवल चेतना की विभिन्न भूमिकाओं का अनुभव प्राप्त कर चुका होता है किंतु अनन्त से युक्त हो जाने के सबब वह तो समस्त आत्माओं के अस्तित्व में ही व्याप्त हो जाता है। वह सार्वलौकिक क्रियाओं के केन्द्र में स्थित–विवर्तन–कील है। एक अर्थ में तुम्हारे समग्र कार्य और विचार तुम्हारे सुख और दुःख, तुम्हारे क्रोध और क्षोभ तुम्हारी प्रबलता और दुर्बलता तुम्हारे संग्रह तथा विसर्जन एवं तुम्हारे प्रेम और लालसा–इत्यादि का वह आदि हंतु है। वह केवल सर्वव्यापक ही नहीं है किंतु वह कार्य–कारण के पार्थिव नियम का तथा वैयक्तिक आत्माओं के **संस्कारों** की जटिल क्रिया पद्धति का पूर्ण–वेत्ता है। व्यक्तियों के सुख या दुःख, सत्कर्म या दुष्कर्म के कारण उसे विदित रहते हैं। पार्थिव परिवर्तन, उथल पुथल युद्ध तथा क्रांति के कारण भी उससे छिपे नहीं रहते। उसकी सर्वगत चेतना के उज्ज्वल एवं अनन्त प्रकाश के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वस्तु एक खुली पुस्तक है। अनन्त से एकता प्राप्त कर चुकने के सबब वह असीम–शक्ति–सम्पन्न है और निमेष मात्र में ही वह आत्मा के **संस्कारों** को छिन्नमूल कर सकता है और उसे समस्त बंधनों और पाशों से मुक्त कर सकता है।

# पूर्णता

पूर्णता के अर्थ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे दो श्रेणियों में विभक्त करने की आवश्कता है। एक आध्यात्मिक पूर्णता होती है जिसकी उपलब्धि **द्वैत से परे, चेतना की परमावस्था के अभ्यंतर अनुभव के द्वारा होती है। द्वैत की दुनिया में जो दिखाई देती है तथा प्राप्त की जाती** है वह भौतिक पूर्णता है। प्रत्येक सम्बद्ध सत्ता बहुगुण रूपात्मक संसार का ही एक भाग है अतः उसमें अंशों का होना अवश्यम्भावी है। और जब हम इस प्रकटीभूत विश्व में किसी प्रकार की पूर्णता देखते हैं तो हमें ज्ञात हुआ है कि द्वैत के अंतर्गत अन्य प्रत्येक वस्तु की भाँति उसमें भी तारतम्य भाव अथवा अंशों का न्यूनाधिक्य विद्यमान है। बुरा और भला, दुर्बलता और सबलता, दुर्गुण और सद्‌गुण सभी द्वैत के द्वन्द्व है। किंतु वस्तुतः ये सभी अवस्थाएं भिन्न भिन्न अंशों में एक ही सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं।

**पूर्णता के दो प्रकार**

अशुभ केवल अशुभ नहीं है किंतु शुभ का निम्नतम अंश है, दौर्बल्य केवल असामर्थ्य नहीं है, किंतु बल का निम्नतर अंश है, तथा दुगुर्ण निरा दुर्गुण नहीं है किंतु सद्‌गुण का निम्नतम अंश है। दूसरे शब्दों में पाप पुण्य की अत्यल्पावस्था है, और दुराचार सदाचार की अत्यल्पावस्था है। द्वैत की सभी स्थितियों में अत्यल्पावस्था तथा अत्यधिकता अवश्य रहेगी तथा इनके अंतर्गत अंश भी अवश्य रहेंगे। और पूर्णता भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मानवता का समस्त क्षेत्र पूर्णता तथा अपूर्णता के दो छोरों के अंतर्गत है और

**द्वैत के प्रदेश में हम केवल सापेक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।**

**पूर्णता तथा अपूर्णता दोनों सामंजस्य, वैषम्य तथा अन्योन्य सम्बन्ध या आधाराधेयक भाव के विषय हैं।** अतः पूर्णता द्वैत के प्रदेश में केवल सापेक्ष पूर्णता है। पूर्णता की अपूर्णता से तुलना करने पर ही हमें पूर्णता का बोध होता है।

द्वैत–विषयक पूर्णता का अर्थ है किसी गुण या योग्यता की **उत्तमता**। इस प्रकार की एक विषय की पूर्णता में दूसरे विषय सी पूर्णता समाविष्ट नहीं रहती। उदाहरणार्थ विज्ञान में निष्णात मनुष्य आवश्यक रूप से संगीत में निपुण नहीं होता तथा संगीत में चतुर मनुष्य विज्ञान में कुशल नहीं होता। एक प्रकार से अपराध में उत्तमता प्रदर्शित की जा सकती है। जब हत्या इतनी कुशलता के साथ की जाती है कि हत्यारा अपने को खोज निकालने के लिए एक भी चिन्ह नहीं छोड़ जाता तो ऐसी हत्या उत्तम हत्या या पूर्ण हत्या कही जाती है। अतः अपराधों तथा पापों में भी एक प्रकार की पूर्णता या उत्तमता पायी जाती है। किंतु इस प्रकार की पूर्णता या उत्तमता जो किसी गुण या योग्यता का उत्कर्ष मात्र है तथा आध्यात्मिक पूर्णता के मौलिक भेद को सावधानी–पूर्वक समझ लेना चाहिए। आध्यात्मिक पूर्णता द्वैत के अंतर्गत नहीं है। वह द्वैतातीत है। द्वैत के लक्षणों से युक्त भिन्न भिन्न प्रकार की उत्तमता बुद्धि के विषय के अंतर्गत है, क्योंकि ऐसी उत्तमता प्रतिदिन के सीमित अनुभव में आनेवाली किसी अच्छाई का कल्पना में विस्तार करने से सरलता पूर्वक प्राप्त की जा सकती है। किंतु ब्रह्मदर्शी पुरुषों को जो पूर्णता प्राप्त होती है वह द्वैत की सीमा के अंतर्गत नहीं होती। अतः वह बुद्धि के विषय से बिल्कुल परे होती है। ऐसी पूर्णता की द्वैत की दुनिया में कोई उपमा नहीं है। जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिकता में पूर्ण हो जाता है तो उसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है तथा बुद्धि–ग्राह्य, दृश्यमान, द्वैतात्मक अस्तित्व केवल भ्रम या प्रपंच है। **ब्रह्मज्ञ या ईश्वर–वेत्ता मनुष्य के लिए ब्रह्म या ईश्वर ही एकमात्र सत्य है।** विज्ञान, कला संगीत, बल–दौर्बल्य, सद्गुण–ये सब के सब उसके लिए स्वप्न के सिवा और कुछ नहीं है। उसके एक अविभाज्य सत्य के ज्ञान का ही नाम उसकी पूर्णता है।

**आध्यात्मिक पूर्णता उत्तमता से बिलकुल भिन्न है।**

आध्यात्मिकता में पूर्ण मनुष्य सदा अन्य आत्माओं के आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही अपने ज्ञान एवं शक्तियों का उपयोग करता है। दूसरों के सम्बन्ध में कोई उसकी जानकारी उनके बाह्य रूपों या उनके कथनों पर अवलम्बित नहीं रहती। लोगों के विचार उसे पहले मालूम हो जाते हैं बाद में उनके शब्द उसके लिए अनावश्यक हैं। यदि वह कोई बात उसके व्यक्त होने से पहले जानना चाहे तो वह जान सकता है

किंतु वह ऐसा तभी करता है जब आध्यात्मिक कारणों से ऐसा करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यदि वह किसी अन्य विषय में उत्तमता या श्रेष्ठता प्राप्त करना चाहे तो वह बिना किसी कठिनाई के ऐसा कर सकता है। सभी प्रकार की उत्तमता आध्यात्मिक पूर्णता में गुप्त रूप से विद्यमान रहती है। कृष्ण आध्यात्मिकता में पूर्ण थे। वे सभी विषयों में पूर्ण थे। यदि वे चाहते तो पूर्ण शराबी, पूर्ण पापी, पूर्ण धूर्त या पूर्ण हत्यारे के रूप में भी वे अपने आप को दिखा सकते थे। किंतु इन रूपों में उन्हें देख कर संसार चौंक जाता। सभी विषयों में पूर्णता से सम्पन्न होने पर भी उनके मिशन (धर्म–प्रसार) की पूर्ति के लिए सभी विषयों में अपनी पूर्णता प्रदर्शित करना आवश्यक न था। दूसरे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त कर चुकने वाले पुरूषों को जो भी जीवन–पद्धति अपनानी पड़ती है उसमें वे परम उत्तमता प्रदर्शित कर सकते हैं। किंतु उस विषय में केवल अपनी पूर्णता का प्रदर्शन करने के ही उद्देश्य से ही वे ऐसा नहीं करते। अपनी योग्यताओं की विशिष्टता का उपयोग वे दूसरों के कौतूहल को संतुष्ट करने के लिए नहीं करते किंतु आध्यात्मिक आवश्यकता से प्रेरित हो कर ही करते हैं। जब वे अपनी योग्यता की विशिष्टता का उपयोग करते हैं तब बिलकुल आसक्ति–रहित हो कर करते हैं। जिस प्रकार वह मनुष्य जो हाथ के मोज़े पहने हुआ है संसार के मल को छू सकता है और तिस पर भी उसके हाथ कलुषित नहीं होते उसी प्रकार आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त कर चुक़ने वाला मनुष्य सार्वलौकिक क्रियाओं में लग सकता है किंतु तो भी उनसे बद्ध नहीं होता।

**आध्यात्मिक पूर्णता में सभी प्रकार की उत्तमता सुप्त या अंतर्हित रहती है।**

व्यक्तित्व के सभी अवयवों का निःशेष विकास ही यथार्थ पूर्णता है। अतः पूर्णता का सर्व विषयक या सर्वांगीण होना आवश्यक है। एक विषयक पूर्णता कोई पूर्णता नहीं है वह केवल एक शक्ति या एक क्षमता की एकांगी वृद्धि है। ऐसी अधूरी पूर्णता **सतत–चंचल अवस्थान्तरों तथा जीवन के प्रचुर परिवर्तनों के बीच में अपने को व्यथित करने में असमर्थ रहती है।** एक विषय में पूर्ण मनुष्य जीवन में क्षिप्र परिवर्तनों के साथ चलते हुए मन का समतोल कायम नहीं रख सकता। उसकी क्षमता की अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करने वाला अनुकूल वातावरण यदि उसे मिला तब तो वह स्वल्प काल के लिए प्रसन्न रहेगा और संसार के साथ समस्वरता का आनन्द उसे प्राप्त होगा किंतु ऐसे प्रतिकूल वातावरण में आते ही जहाँ उसकी क्षमता अनुपयुक्त है वह एक प्रकार की

**पूर्णता सर्व–विषयक या सर्वांगीण होनी चाहिए।**

असफलता के भाव का अनुभव करेगा और उसका स्वरैक्य या समत्व भंग हो जायगा। अतएव सर्वविषयक पूर्णता ही पूर्णता है।

**पूर्णता द्वंद्वातीत है तो भी द्वन्द्व पूर्णता के अंतर्गत है।**

इसका अर्थ यह है कि यद्यपि पूर्णता द्वन्द्व के परे है तो भी द्वन्द्व पूर्णता के भीतर समाविष्ट है। यदि तुम किसी द्वन्द्व–बोधक परिकल्पित या नियम मान के द्वारा पूर्णता के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना चाहोगे तो तुम उसे सीमित करने में ही सफल होओगे और उसके महत्व को समझने में तुम असमर्थ रहोगे। अपने भीतर द्वन्द्वों का समावेश करके भी पूर्णता उनके परे है। अतएव पूर्ण पुरुष किसी नियम या सीमित आदर्श से बद्ध नहीं है। वह अच्छे और बुरे को पार कर चुका है। किंतु उसका नियम अच्छे लोगों को अच्छा फल तथा बुरे लोगों को बुरा फल देने वाला है। कृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन को यह सिद्ध कर दिखाया कि उसके द्वारा दुराचारी कौरवों का दृश्यतः शारीरिक और मानसिक संहार उनके आध्यात्मिक मोक्ष के लिए था। परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार पूर्णता अपने को संहारक या उद्धारक के रूप में अभिव्यक्त कर सकती है। पूर्ण मनुष्य का हृदय मक्खन की भाँति मृदु तथा लोहे की तरह कठोर होता है। पूर्णता की अभिव्यक्ति द्वन्द्व के एक अंग में सीमित नहीं रहती अर्थात् द्वन्द्व के एक दूसरे अंग द्वारा उसका प्रकट होना उसके लिए निषिद्ध नहीं है। **वस्तुस्थिति के नियम के अनुसार वह द्वन्द्व के दो विरोधों में से किसी भी एक विरोध, अथवा दोनों विरोधों के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है।** यही वजह है कि वह द्वन्द्व के परे है और वह जीवन की तमाम सम्भव परिस्थितियों को यथाविधि प्रत्युत्तर दे सकती है। सत्य के केन्द्र बिन्दु को त्यागे बिना वह समत्व में आरूढ़ रह सकती है। जिसे सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त नहीं है वह जिन परिस्थितियों में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है उन्हीं विभिन्न परिस्थितियों के बीच में पूर्ण पुरूष अचल शांति तथा परम सम–स्वरता का अनुभव करता है।

**पूर्णता मनुष्यता की परमोन्नत अवस्था है।**

मानवीय क्रियाएं द्वन्द्व बद्ध है और पूर्णता उनके परे हैं। तथापि यह न समझ लेना चाहिए कि पूर्णता में मानुषी भाव रहता ही नहीं। मनुष्यगण दुःखी हैं और अपने को तथा दूसरे को सुखी बनाने पर हँसते है किंतु एक पूर्ण मनुष्य भी जिसका अंतर सुख से ओतप्रोत है हास्य या शील के भाव से रहित नहीं है। पूर्णता अमानुषी बनने में नहीं है किंतु अति–मानुषी बनने में है। **मनुष्यता में प्रच्छन्न प्रज्ञा या विवेक का पूर्ण प्रकर्ष ही पूर्णता है।**

ईश्वर का ईश्वर बना रहना ही पूर्णता है किंतु मनुष्य के ईश्वर बनने में पूर्णता है या ईश्वर के मनुष्य बनने में पूर्णता है। वह सान्त सत्ता जिसे अपने सान्त होने का बोध है प्रत्यक्षतः अपूर्ण है। किंतु जब उसे अनन्त से युक्त होने का बोध होता है तो वह पूर्ण हो जाती है। मनुष्य के अपने सान्त होने का भ्रम त्यागने एवं अपनी दिव्यता की अनुभूति होने से उसे जब ऐश्वर्य उपलब्ध होता है तो उसे ऐसा ही बोध होता है। यदि अनन्त से हमें उस वस्तु का बोध हो जो सान्त के विरुद्ध है या सान्त का प्रतिद्वन्द्वी है या सान्त से दूर है और वह वस्तु सान्त के अवश्यतः अतिरिक्त कोई वस्तु है तो ऐसा अनन्त तो सीमित हो जाता है क्योंकि सान्त के भीतर तथा सान्त के द्वारा वह अपने को प्रकाशित करने में असमर्थ हो जाता है। दूसरे शब्दों में ऐसा अनन्त पूर्ण नहीं हो सकता। अतः अनन्त को सान्त के ही भीतर तथा सान्त के ही द्वारा अपनी असीमता का उद्घाटन करना चाहिए और इस क्रिया विधि से उसे सीमित भी नहीं होना चाहिए। ईश्वर की पूर्णता प्रकटीभूत तभी होती है जब वह अपने को मनुष्य के रूप में व्यक्त करता है। ईश्वर का मनुष्य के परिच्छिन्न रूप में ज्ञान पूर्वक अवतरण या अवरोहण उसका **अवतार** कहा जाता है अतएव यह मनुष्य रूप में ईश्वर की पूर्णता है। **इस प्रकार जब सान्त अपनी सीमाओं का उल्लंघन करके अपनी अनन्ता का अनुभव करता है तब उसे पूर्णता की प्राप्ति होती है या जब अनन्तता अपनी कल्पित पृथक् स्थिति का परित्याग करके मनुष्य बनता है तब उसे पूर्णता की उपलब्धि होती है।** दोनो अवस्थाओं में सान्त और अनन्त एक दूसरे का बहिष्कार नहीं करते। सान्त और अनन्त का सुखद एवं सज्ञान संयोग ही पूर्णता है। ऐसा संयोग होने से अनन्त सान्त के द्वारा बिना सीमित हुए अपने आप को प्रकट करता है और सान्त अपने रूप में अनन्त की अभिव्यक्ति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके अपनी ससीमता का अतिक्रमण करता है।

**मनुष्य का ईश्वर बनना या ईश्वर का मनुष्य बनना पूर्णता है।**

# आध्यात्मिक जीवन

सच्चे कर्मयोग में अर्थात् पूर्ण कर्म से युक्त जीवन में जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं के बीच यथोचित व्यवस्था स्थापित हो जाती है। ऐसे जीवन में चेतना ऐहिक तथा भौतिक वस्तुओं के द्वारा बद्ध नहीं होती किंतु साथ ही साथ वह दैनिक कर्मों से दूर भी नहीं रखी जाती। न तो मन को भौतिक भोग–विलास में डूब कर चाहों के दंशन का ही शिकार होने दिया जाता है और न उसे आध्यात्मिक आनन्द में ही मग्न होने दिया जाता है। किंतु मन के द्वारा आध्यात्मिक विवेक के दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं का सामना किया जाता है।

**कर्मयोगी जीवन की समस्याओं का सामना करता है।**

भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच सुव्यवस्था की स्थापना दोनों को समान महत्व देने से नहीं हो सकती। भौतिक जीवन से कुछ वस्तु ले कर तथा आध्यात्मिक जीवन से कुछ वस्तु ले कर दोनों को समभार कर देने से ऐसी सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। **भौतिक वस्तु की अपेक्षा आत्मा को श्रेष्ठ मानना और आत्मा को अनिवार्यतः प्रधान महत्व देना ही होगा।** इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक वस्तु को त्याग देना चाहिए। इसका सिर्फ इतना ही अर्थ है कि भौतिक वस्तु को साध्य न मान कर साधन मात्र मानना चाहिए। और उसका उपयोग आत्मव्यंजन के सहायक उपकरण के रूप में करना चाहिए। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के बीच विवेक सम्मत व्यवस्था तभी स्थापित हो सकती है जब भौतिक

**भौतिक वस्तु का उपयोग आत्मा की अभिव्यक्ति के अनुकूल साधन के रूप में होना चाहिए।**

जगत् आत्मा के आत्म–प्रकाशन के कार्य के लिए एक उपयोगी यंत्र या सहायक उपदान के रूप में व्यवहृत होता है। भौतिकता के आध्यात्मिकता की उपेक्षा करके निरंकुश होने में उसीका अनिष्ट है। जिस प्रकार गायक का वाद्य तभी तक उपयोगी है जब तक वह गायक के गीत को प्रकट करता है किंतु यदि वह गायक के गीत को प्रकट करने में सहायक नहीं होता है तो गायक के लिए वह एक विघ्न है, उसी प्रकार भौतिक जगत् जब विधायक जीवन प्रवाह को प्रकट करने में सहायक होता है तो वह उपयोगी है और जब वह इस जीवन प्रवाह को अवरुद्ध करता है तो वह एक बाधा है।

**आध्यात्मिकता भौतिक जगत की गौणता चाहती है न कि उसका त्याग।**

मन की नाना तृष्णाओं के कारण भौतिक जगत् को सर्व प्रधान मानने की हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः एक शराबी के लिए शराब ही सब कुछ है। लोभी मनुष्य के लिए धन संग्रह से बढ़ कर कुछ भी नहीं है और विषयी मनुष्य के लिए इंद्रिय सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इन उदाहरणों से भौतिक वस्तुओं की अनाधिकार चेष्टा का पता लगेगा। ऐसी ही पद्धतियों से भौतिक पदार्थ आत्म पर प्रभुत्व जमा कर उसके स्वाभाविक जीवन में हस्तक्षेप करते हैं। **आत्मा के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए भौतिक जगत का त्याग अभीष्ट नहीं है केवल इतना ही आवश्यक है कि भौतिक जीवन आत्मा के अधिकारों को अंगीकार करे और उन्हें प्रकट करे।** यह तभी सम्भव है जब आत्मा समस्त इच्छा तृष्णा से विमुक्त हो कर अपनी वास्तविक महिमा का पूर्णज्ञान प्राप्त करे। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर मनुष्य भौतिक पदार्थों को ग्रहण करके भी उनका दास नहीं होता। आवश्यकता होने पर वह पदार्थों का उपयोग आत्मजीवनों के लिए साधनो के तौर पर करता है किंतु न तो वह उनसे लुब्ध होता और न उनके लिए अशांत ही होता क्योंकि वह जानता है कि उन पदार्थों का स्वयं अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। वह भौतिक तथा सामाजिक वातावरण में वास करता है किंतु वह उनके लिए अधीर और बैचेन नहीं होता। अनासक्त एवं वीतराग होने के कारण भौतिक संसार उसके आध्यात्मिक जीवन का कार्यक्षेत्र बन जाता है।

जब आत्मा तथा वस्तु जगत के बीच सच्ची व्यवस्था की स्थापना हो जाती है तब जीवन के सभी भागों का उपयोग दिव्यत्व की अभिव्यक्ति के लिए होता है। प्रतिदिन के जीवन तथा उसकी उलझनों से मुँह मोड़ने और उनसे भागने की आवश्कयता नहीं रह जाती। सांसारिक जीवन से सम्बन्ध विच्छेद करके तथा पर्वतों और गुफाओं में वास करके जो स्वतंत्रता प्राप्त की जाती है वह निषेधक स्वतंत्रता है। जब संसारत्याग अस्थायी रूप से अनासक्ति–शक्ति की वृद्धि करने के उद्देश्य से किया जाता है तब वह

अनुचित नहीं है किंतु लाभदायक है। ऐसा संसार–त्याग थोड़े समय के लिए विश्राम करने के समान है या जीवन की दौड़ में थोड़ी देर आराम पूर्वक साँस लेने के सदृश है किंतु संसार से भयभीत होने के कारण या आत्मविश्वास की कमी के सबब जो संसार–त्याग किया जाता है उससे सच्ची स्वतंत्रता का विधायक होना नितान्त आवश्यक है। **जब आत्मा वस्तु जगत् पर अपना अबाध आधिपत्य स्थापित करती है तभी सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है।** यह आध्यात्मिक जीवन आत्मा का वास्तविक जीवन है।

**जब आत्मा वस्तु जगत् पर शासन करता है तब उसकी विधायक स्वतंत्रता प्रकट होती है।**

आध्यात्मिक जीवन अनन्तता की अभिव्यक्ति है अतः वह निरर्थक मर्यादाएं स्वीकार नहीं करता अन्य सभी वस्तुओं से विमुख होकर किसी एक प्रिय वस्तु के प्रति अनावश्यक उत्साह या रुचि को आध्यात्मिकता मान लेना भूल है। वह कोई व्यावर्तक "वाद" नहीं है और न "वाद" से उसे कोई दिलचस्पी है। जब सांसारिक जीवन से अलग होकर मनुष्य आध्यात्मिकता की खोज करते हैं, मानो आध्यात्मिकता का सांसारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो उनकी खोज व्यर्थ है। सभी मतों और सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति है कि वे जीवन के एक भाग या एक अंग पर ही जोर देते है अतः उनका दृष्टिकोण संकीर्ण है। **सच्ची आध्यात्मिकता का दृष्टिकोण समष्टिमूलक (totalitarian) होता है।** जीवन के किसी पहलू से विशिष्ट या संकुचित दिलचस्पी आध्यात्मिकता नहीं कही जा सकती। जीवन में विद्यमान विभिन्न परिस्थितियों के प्रति विवेकपूर्ण या ज्ञान–सम्मत बर्ताव ही यथार्थ आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता का प्रसाद समस्त जीवन पर है या जीवन आध्यात्मिकता के अंतर्गत है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ दिव्य लीला के साधन बनाये जा सकते हैं। और जब वे गौण बना लिए जाते हैं तो वे आत्मा के आत्म–प्रकाशन में सहायक हो जाते हैं।

**आध्यात्मिकता का प्रसार समस्त जीवन पर है।**

आत्मा के जीवन से भौतिक पदार्थों का जैसा सम्बन्ध होता है उसी के अनुसार उनका मूल्य आँका जा सकता है। उनका अपना खुद का कोई मूल्य नहीं है। वे स्वयं न तो भले हैं और न बुरे। जब वे आत्माभिव्यक्ति में सहायक होते हैं तो वे भले हैं और जब वे बाधक होते हैं तब वे बुरे हैं। उदाहरण के लिए यह देखा जाय कि आत्मा के जीवन से शरीर का क्या सम्बन्ध है। 'देह' को 'देही' (आत्मा) का प्रतिपक्षी या विरोधी मानना भूल है। दोनों के बीच में ऐसा वैमनस्य स्थापित करने से अनिवार्य रूप से शरीर पूर्णतः निन्द्य

**शरीर आध्यात्मिक जीवन के लिए विघ्न नहीं है।**

ठहराया जाता है। शरीर आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक तभी होता है जब आत्मा की उपेक्षा करके एकमात्र उसीका परिपोषण किया जाता है। शरीर को आध्यात्मिक उन्नति के साधन के रूप में उपयोग में लाने से ही उसका यथार्थ कार्य ठीक ठीक समझाया जा सकता है। योद्धा को युद्ध लड़ने के लिए घोड़े की आवश्यकता होती है किंतु यदि घोड़ा उसका हुक्म मानने से साफ इन्कार कर दे तो वह उसके लिए एक रोड़ा है। इसी प्रकार **वस्तु जगत् का आत्मा के वाहन के रूप में उपयोग करने से आत्मा अपनी सारी सम्भाव्यताओं पर विजय प्राप्त कर सकती है** किंतु जब वह आत्मा की अधीनता में रहना अस्वीकार करता है तो वह आत्मा के लिए विघ्न बन जाता है। जब शरीर आत्मा के वश में रहना स्वीकार करता है तो वह पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना करने का साधन बन जाता है और उसके द्वारा दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है। जब शरीर आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है तब उसे पृथ्वी पर स्थित ईश्वर मंदिर कहना अनुचित न होगा।

**विज्ञान, कला, और राजनीति के द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।**

जब आत्मा के जीवन की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक शरीर तथा अन्य भौतिक वस्तुओं का उपयोग हो सकता है तब सच्ची आध्यात्मिकता उनके प्रति विरोधी रूख़ कैसे धारण कर सकती है ? सच तो यह है कि वह भौतिक वस्तुओं में ही तथा भौतिक वस्तुओं के द्वारा ही अपने को प्रकट करती है। आध्यात्मिकता में पूर्ण मनुष्य सुन्दर पदार्थों कला–पूर्ण वस्तुओं, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राजनैतिक प्राप्तियों को हेय दृष्टि से नहीं देखता। सुंदर पदार्थ भोग विलास की वस्तुएं बना लिए जा सकते हैं और उनपर द्वेषपूर्ण तथा व्यावर्तक आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है, कला की कृतियों का उपयोग अहंवृत्ति तथा मानवीय दुर्बलताओं की वृद्धि करने के काम में लाया जा सकता है जैसे आधुनिक युद्धों में और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि से शून्य राजनैतिक उत्साह सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय अस्त–व्यस्तता को स्थायी बनाने में सहायक हो सकता है। किंतु विज्ञान, साहित्य, कला तथा राजनीति–इन सब का विवेकमूलक उपयोग किया जा सकता है और इन्हें आध्यात्म–मय बनाया जा सकता है। सौन्दर्य–पूर्ण पदार्थ, पवित्रता, आनन्द तथा प्रकृति–प्रेरित ज्ञान (inspiration) का उद्गम–स्थान बनाये जा सकते हैं। कला की कृतियाँ लोगों की चेतना को उदात्त तथा उन्नत कर सकती हैं विज्ञान के आविष्कार मानवता को अनावश्यक कष्ट तथा असुविधा से मुक्त कर सकते हैं और राजनैतिक कार्य सच्चे विश्वबंधुत्व की स्थापना का साधन बनाया जा सकता है। अतएव **सांसारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से पीठ फेरना सच्चा आध्यात्मिक जीवन नहीं है। सच्ची आध्यात्मिकता, दिव्य उद्देश्य**

**की सिद्धि के लिए अर्थात् प्रेम, शांति, आनन्द, सौंदर्य तथा आध्यात्मिक पूर्णता को प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच के भीतर लाने के लिए—जीवन के समस्त विभिन्न क्षेत्रों को उपयोग में लाएगी।**

तथापि, अध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाले को सांसारिक वस्तुओं के प्रति—उदासीन या उपेक्षाशील हुए बिना—अनासक्त अवश्य रहना चाहिए। अनासक्ति को गुण—ग्रहणशीलता का अभाव समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। वस्तुओं की ससारता और असारता का यथोचित निर्णय अनासक्ति का लक्षण है। यदि सच पूछा जाय तो वस्तुओं का नये सिरे से मूल्य निरूपण करना ही अनासक्ति की शर्त है। तृष्णा भ्रम उत्पन्न करती है और वस्तुओं का ठीक मूल्य आँकने नहीं देती। तृष्णा आसक्ति की वृद्धि करती है और बाह्य वस्तुओं पर निर्भरता की भावना को प्रोत्साहित करती है। किंतु अनासक्ति विवेक को जन्म देती है तथा वस्तुओं की सारासारता के यथार्थ बोध में सहायता पहुँचाती है। अनासक्ति के द्वारा चेतना बाह्य चेतना बाह्य वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं रहती। वस्तुओं की यथार्थ स्थिति का बोध प्राप्त करने का अर्थ है कि उन्हें एक जीवन को अभिव्यक्त करने वाले विभिन्न भाग समझना और उनकी दृश्यमान अनेकता के आवरण को भेद कर उनकी मौलिक एकता का ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है वस्तुओं की कल्पित पृथक्ता तथा एकांगीपन के ऐंद्रजालिक के प्रेम के प्रभाव से अपने को मुक्त करना। अतः **आसक्तिरहित सर्व—व्यापकता तथा बंधन रहित गुण—ग्रहण—शीलता में ही आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता है।** आध्यात्मिक जीवन विधायक स्वतंत्रता का जीवन है। आत्मा का वस्तु जगत् में प्रविष्ट या निविष्ट होना तथा अपने अधिकारों को कायम रखते हुए उसके द्वारा उद्दीप्त तथा प्रकट होना ही आध्यात्मिक स्वतंत्रता है।

**अनासक्ति का अर्थ उदासीनता नहीं है।**

जब तक पार्थिव सत्ता की वस्तुएं एवं घटनाएं सर्वव्यापक आध्यात्मिकता के वेग—पूर्ण ज्वाल के विशाल ग्रास में समा नहीं जाती तभी तक वे विदेशीय के रूप में देखी जाती हैं। आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त होते ही ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु सृष्टि के ताल—स्वर मय संगीत में मधुरता के साथ भाग ले रही है। फिर आध्यात्मिक जीवन अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई विशेष या पृथक् क्षेत्र नहीं चुनता। मनुष्यों के सामान्य शारीरिक, बौद्धिक तथा भावना—विषयक आवश्यकताओं से सम्बद्ध हो कर भी वह विकृत नहीं होता। आत्मा का जीवन **एकता—मय एवं संपूर्ण जीवन है। असम्बद्ध, व्यावर्तक, निषेधक तथा विशिष्ठ क्षेत्र में सीमित रहना उसे स्वीकार नहीं है।**

**सच्ची आध्यात्मिकता सर्व—व्यापक है।**

आध्यात्मिक जीवन दिव्य प्रेम एवं दिव्य ज्ञान की अवरोध रहित अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिकता के ये दोनों भाग अपनी अबाध सार्वलौकिकता में अनुपम तथा अपनी स्वतंत्रता में अद्वितीय हैं। दिव्य प्रेम को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती। वह अपने को प्रकट करने के लिए किसी ख़ास क्षण की बाट नहीं जोहता और न वह ऐसी गम्भीर परिस्थितियों की ही तलाश में रहता है जो विशेष रूप से पवित्र हैं। ऐसी घटनाएं और परिस्थितियाँ जिन्हें महत्वहीन समझ कर एक विवेकशून्य मनुष्य उन पर कुछ भी ध्यान नहीं देगा उसकी अभिव्यक्ति के साधन बन जायेंगी। साधारण मनुष्य प्रेम उपयुक्त अवस्थाओं में ही प्रकट किया जाता है। वह किसी खास तरह की परिस्थिति का प्रत्युत्तर हुआ करता है। अतः उस प्रेम का उस परिस्थित से सापेक्ष सम्बन्ध रहता है। किंतु अंतर से **प्रस्फुटित होने वाले दिव्य प्रेम का बाह्य परिस्थिति के स्पंदन और संवेदन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।** वह स्वतंत्र होता है। अतः वह ऐसी परिस्थितियों में भी निःसृत हो सकता है जिन्हें मानव प्रेम का ही ज्ञान रखने वाले मनुष्य उपयुक्त न समझें। यदि अपने निकटवर्ती व्यक्तियों में गुरु को आनन्द, शील, और सौन्दर्य का अभाव दिखाई देता है तो यही प्रसंग उसके लिए अपने दिव्य प्रेम की उनपर वर्षा करने के लिए उपयुक्त अवसर बन जायेगा और वह उन्हें उनकी भौतिक या आध्यात्मिक दरिद्रता से मुक्त कर देगा। अतः सांसारिक वातावरण के प्रति उसका प्रतिदिन का प्रत्युत्तर उसकी रचनात्मक दिव्यता का विद्युद्गति से प्रसाद करता है और जिस वस्तु में वह अपना मन लगाता है उसे वह अध्यात्म–मय बना देता है।

**दिव्य प्रेम वस्तु जगत पर प्रचंड रचनात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है।**

आध्यात्मिक ज्ञान आत्मा के जीवन का परिपूरक भाग है। आध्यात्मिक ज्ञान तथा सांसारिक बुद्धिमत्ता में बड़ा भारी अंतर है। सांसारिक बुद्धिमत्ता संसार की रूढ़ियों का सार है। संसार की आचार–विधियों को आँखमूंद कर स्वीकार करने में आध्यात्मिकता की शोभा नहीं है। प्रायः **सदैव सांसारिक आचारविधियां संसारासक्त मनुष्यों के कार्यों का सामूहिक प्रभाव हुआ करती हैं।** संसारी मनुष्य किसी बात को ठीक समझते हैं और उसे अपनी जैसी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के लिए ठीक घोषित कर देते हैं।

**आध्यात्मिकता ज्ञान की प्राप्ति अंधानुकरण से नहीं होती।**

अतः रूढ़ियों के अंधानुकरण से विवेकसम्मत कार्य नहीं हो सकता। गुण–दोष विवेचन शून्य अनुकरण को आध्यात्मिक जीवन नहीं कहते। वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों का सच्चा ज्ञान ही आध्यात्मिक जीवन है।

# निःस्वार्थ सेवा

**कर्मयोगी** स्वार्थ–युक्त इच्छाजनित कार्यों की अस्तव्यस्तता तथा नितान्त चाह–शून्यता–जनित दृश्यमान निष्क्रियता दोनों का निवारण करता है। किंतु वह ऐसी निःस्वार्थ सेवा का जीवन व्यतीत करता है जिसमें **स्वार्थ–बुद्धि की ज़रा भी गन्ध नहीं होती।** ऐसी सेवा जीवन की सभी स्थितियों में दिव्यता की अभिव्यक्ति को सुसाध्य बना देती है।

**कर्मयोगी न तो निष्क्रिय रहता है और न उसके कार्य अस्त व्यस्त होते हैं।**

सेवा का कार्य स्वार्थ–रहित होना ही पर्याप्त नहीं है। निःस्वार्थ होने के साथ ही साथ उसका आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट होना परम आवश्यक है। **अज्ञानमूलक सेवा से अस्तव्यस्तता तथा जटिलता की उत्पत्ति होती है।** अनेक सज्जन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा जन सेवा करने में अविरत रूप से लगे हुए हैं। किंतु उनके सेवा कार्य का परिणाम क्या होता है ? एक समस्या को हल करने के साथ ही साथ वह दस नई समस्यायें पैदा कर देता है। अदूरदर्शी सेवा कार्य एक गुत्थी को सुलझाने में अनेक ऐसी उलझने खड़ी कर देता है जिस पर उसका कोई वश नहीं चलता। संसारी मनुष्य प्रतिकार के द्वारा बुराइयों का विरोध करते हैं। किंतु ऐसा करने में न जानते हुए वे कुछ दूसरी बुराइयों के जन्मदाता बन जाते हैं।

**अज्ञानमूलक सेवा अस्तव्यस्तता तथा जटिलता उत्पन्न करती है।**

कल्पना करो कि चींटियों का एक दल किसी मनुष्य के शरीर पर चढ़ गया है। और उनमें से कोई एक चींटी उसे काट देती है। स्वभावानुसार वह मनुष्य उस चींटी

को दण्ड देने के अभिप्राय से उसे जान से मारना चाहता है। जब वह अपने हाथ से उसे मारता है तो इस कार्य के परिणाम स्वरूप वह कई ऐसी चीटियों को मार डालता है जो उसे काटने के लिये ज़रा भी ज़िम्मेदार नहीं हैं। इस भाँति एक चींटी के विरूद्ध न्याय करने में वह अनिवार्यतः अनेक निर्दोष चीटियों के प्रति अन्याय कर डालता है। पवित्र सेवा की कला का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो मनुष्य उदार भावना से प्रेरित होकर सार्वजनिक जीवन के चक्कर में पड़ जाता है उसका चींटी मारने वाले मनुष्य के ही समान हाल होता है। वह निःस्वार्थ भले हो, किंतु उसके कार्य समता की स्थापना करने के बदले अस्तव्यस्त विषमता की ही उत्पत्ति करते हैं क्योंकि जटिलतायें पैदा किये बिना सच्ची एवं प्रभावपूर्ण सेवा करने की कला उसने सीखी ही नहीं। अतएव **यदि हम चाहते हैं कि हमारी सेवा संसार के लिये एक दुष्परिणाम शून्य, अमिश्रित वरदान हो तो उसका सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा निर्विष्ट होना अत्यंत आवश्यक है।**

**निःस्वार्थ सेवा को ज्ञान की नींव पर प्रतिष्ठित होना चाहिये**

जब सेवा निःस्वार्थ भाव से की जाती है तो वह सदैव **कर्मयोगी** के लिये लाभदायक होती है। यद्यपि वह किसी पुरस्कार या फल की प्राप्ति के उद्देश्य से सेवा नहीं करता। इसमें संदेह नहीं कि अज्ञान पूर्वक निःस्वार्थ सेवा करने वाले को भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं किंतु ऐसी सेवा से दूसरों को बहुत कुछ अनावश्यक पीड़ा पहुँचती है। जब निःस्वार्थ सेवा ज्ञान पूर्वक की जाती है तो न केवल करने वाले को आध्यात्मिक लाभ होता है किंतु जिस पर वह की जाती है उनका भी भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारी निःस्वार्थ सेवा सभी के लिये अमिश्रित हित हो उसका ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित होना निहायत ज़रूरी है।

**दृश्यमान सेवा कभी कभी यथार्थ में कुसेवा होती है।**

जिसे सामान्य मनुष्य सेवा के नाम से पुकारते हैं उसे ही विशेष स्थितियों में गुरु कुसेवा समझता है क्योंकि उसे परिस्थिति का भ्राँतिरहित ज्ञान होता है और उस परिस्थिति की आवश्यकताओं का उसे गम्भीरतर बोध होता है। उन लोगों को भोजन देना जिन्हें उसकी आवश्यकता हो एक सेवा कार्य है। इसे सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं। किंतु एक विशिष्ट परिस्थिति में भोजन माँगने वाले को उसी के हित के लिये भोजन न देना ही उचित हो सकता है। भोजन के लिये भीख माँगने की प्रवृत्ति अवाँछनीय **संस्कारों** की सृष्टि करती है और ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुष्य को भोजन देना उसके ऐसे **संस्कारों** के भार को बढ़ाना है। अतएव उसे भोजन दे कर यद्यपि तुम उसकी

सेवा करते हुए दिखाई देते हो तथापि तुम वस्तुतः उसके बंधनों की वृद्धि करने में ही सहायक होते हो। और यद्यपि उसे भोजन देने में तुम्हारा उसे अपने अनुग्रह के भार से आक्रांत करने का हेतु नहीं रहता किंतु तुम जब ज्ञानपूर्वक परोपकार न करके केवल आदत के कारण परोपकार करते हो तुम उपकार के बदले उपकार करने में ही सफल होते हो।

उपर्युक्त उदाहरण पर जो बात लागू होती है वही बात अन्य सुस्पष्ट तथा अस्पष्ट कार्यो पर भी लागू होती है, और **कर्ता के संकुचित दृष्टिकोण से जो कार्य शुद्ध सेवा कार्य सा प्रतीत होता है वही कार्य उच्चतर दृष्टि से पात्र के लिये निश्चित रूप से कुसेवा ठहरता है।** जिस प्रकार स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक पदार्थ रोगी के लिये विष हो सकता है उसी प्रकार सामान्य लोगों की दृष्टि में अच्छी दिखने वाली वस्तु किसी ख़ास मनुष्य के लिये बुरी हो सकती है। अतः विवेक सम्मत परोपकार के लिये परिस्थिति की आध्यात्मिक आवश्यकता का गम्भीर ज्ञान आवश्यक है।

**विवेक शून्य सेवा से भी आध्यात्मिक लाभ होता है।**

ऊपर जो कहा गया है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि लोगों को सेवा करते समय अधिक सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिये। उन्हें निःस्वार्थ सेवा भाव में निरुत्साहित होने की ज़रूरत नहीं है। यह सच है कि केवल गुरु ही को किसी परिस्थिति की आध्यात्मिक माँग की भ्रांति रहित जानकारी रहती है। किंतु यदि वे मनुष्य जिन्हें अपने निर्णय के निर्दोष होने का पक्का निश्चय नहीं है अनजान में कुसेवा कर जाने के डर से स्वेच्छा प्रेरित सेवा कार्य करना ही बंद कर दें तो यह दुःख की बात होगी। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि **विवेक रहित सेवा करने से भी सदा आध्यात्मिक लाभ होता है।**

**सेवा अनासक्ति पूर्वक की जानी चाहिये।**

परिस्थिति की आध्यात्मिक माँग को समझने में भूल करने की सम्भावना कोई बड़े भारी डर की बात नहीं है। सच पूछा जाय तो ग़लत उद्देश्य या भ्राँत हेतु से की जाने वाली सेवा में ही आध्यात्मिक दृष्टि से असली ख़तरा रहता है। **जब तुम किसी मनुष्य को अनुग्रहीत करने की गरज़ से उसकी सेवा करते हो और ऐसा करने से तुम्हें गर्व का अनुभव होता है तो तुम सेवा ग्रहण करने वाले का ही आध्यात्मिक नुकसान नहीं करते हो अपितु अपने को भी हानि पहुँचाते हो।** सेवा करते समय यदि तुम ख़ुशी मानते हो और तुम्हें यह अभिमान होता है कि तुम एक सत्कार्य कर रहे हो तो तुम अपने कर्म से आसक्त तथा बद्ध होते हो। बंधन चाहे लोहे का हो या सोने का,

आख़िर वह बंधन ही है। इसी प्रकार मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि में बद्ध ही रहता है फिर चाहे वह दुष्कर्मों पर आसक्त हो कर बद्ध होए अथवा सत्कर्मों पर आसक्त बद्ध होए। अतः कर्म–बंधन से मुक्त रहने का उपाय यह है कि मनुष्य बिल्कुल आसक्ति रहित होकर सेवा करे। "मैं किसी को अनुग्रहीत कर रहा हूं" यह विचार सेवा करते समय सर्वप्रथम मन में उत्पन्न होता है।"जिसने मुझे सेवा करने का अवसर देकर मुझपर उपकार किया उसका मैं आभारी हूं" ऐसे विपरीत विचार के द्वारा इस गर्वित विचार को नष्ट कर देना चाहिये। इस विनीत विचार से अनासक्ति सुलभ होगी तथा सत्कर्मों के बंधन से मुक्ति प्राप्त होगी। अतः व्यापक विवेक से समस्त सेवा का केवल निःस्वार्थ होना पर्याप्त नहीं है और न पात्र की आवश्यकता की पूर्ति करने में उसकी इयत्ता है किंतु उसका बिल्कुल असक्तिशून्य होना भी अत्यंत आवश्यक है। निःस्वार्थ ज्ञान मूलक एवं आसक्ति रहित, सेवा के द्वारा ही जिज्ञासु अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हो सकता है।

**सच्ची निस्वार्थ सेवा ईश्वर प्राप्ति के बाद ही सम्भव है।**

सेवा के द्वारा जिस प्रकार का कल्याण किया जाता है। उसके गुण पर ही सेवा का मूल्य अवलम्बित रहता है। दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सेवा है। दूसरों की बुद्धिको विकिसित करना सेवा है लोगो के हृदयों को भोजन देना सेवा है तथा सौन्दर्य सम्बन्धी (Aesthetic) आवश्यकतों की पूर्ति करना भी सेवा है। इस भाँति भिन्न–भिन्न ढंग से निःस्वार्थता पूर्वक सेवा की जा सकती है। किंतु इन सभी प्रकार की सेवाओं का एक समान मूल्य नहीं है। मनुष्य की जैसी बुद्धि रहेगी वैसी ही कल्याण विषयक उसकी भावना रहेगी और लोगों की सेवा करके वह वैसा ही कल्याण करना चाहेगा। अतः **परम उत्कृष्ट तथा परम मूल्यवान् सेवा करने में केवल वही मनुष्य सफल होता है जिसे इस बात का स्पष्टतम ज्ञान है कि लोगों का किस बात में परम कल्याण है।** ऐसी सर्वोपरि प्रकार की सेवा करने में वे लोग अयोग्य ठहरते हैं जिन्हें अंतिम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ईश्वर ज्ञान शून्य मनुष्य की सेवा का वही मूल्य नहीं हो सकता जो मूल्य ईश्वर–ज्ञान–सम्पन्न मनुष्य की सेवा का है। एक अर्थ में सच्ची सेवा के बाद ही शुरू होती है।

जिज्ञासुओं एवं महानुभावों में सतत विद्यमान रहने वाली सेवा वृत्ति यदि गुरु के कार्य से संयुक्त कर दी जाये तो वह सुव्यवस्थित रूप से विधायक आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में लगायी जा सकती है। गुरु अपनी अनन्त ज्ञान की प्रेरणा से समस्त संसार की सेवा करते तथा उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वे उसके सार्वलौकिक कार्य में

अपना हाथ बँटाते हैं। उनकी सेवा को गुरु के ज्ञान तथा दूरदर्शिता की सुविधा रहती है। स्वेच्छापूर्वक गुरु के कार्य में भाग लेने से न केवल सेवा का मूल्य बढ़ता है अपितु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम अवसर भी हाथ लगता है। महत्व में **गुरु के आदेश के अनुसार की जाने वाली सेवा स्वंय गुरु के द्वारा की जाने वाली सेवा से ही दूसरे नम्बर की है।**

**गुरु की सेवा में ईश्वर ज्ञान सुलभ होता है।**

बहुतेरे मनुष्यों की सेवा सम्बन्धी भावना संसार के कर्म क्षेत्र में किसी निश्चित इष्ट फल की प्राप्ति की भावना से अविभाज्य रूप से गुँथी हुई रहती है। उनकी दृष्टि में सेवा का अर्थ या तो अशिक्षा को दूर करना होता है या मानवीय यातनाओं का निवारण करना होता है या तो व्यक्ति अथवा समाज की समृद्धि पर कुठारघात करने वाली कठिनाईयों या अड़चनों को हटाना होता है। जिज्ञासुओं राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों तथा अन्य सज्जनों के द्वारा इसी प्रकार सेवा की जाती है। यद्यपि ऐसी सेवा का भी कुछ कम आध्यात्मिक महत्व नहीं है तथापि इस प्रकार की सेवा का कहीं भी जा कर अंत नहीं होता। इन दिशाओं में किसी व्यक्ति के लिये कुछ उद्देश्य हो सकते हैं। किंतु उसके अनेक उद्देश्य हर हालत में अपूर्ण ही रहेंगे। अतः जब तक सेवा की भावना फल प्राप्ति की भावना से जकड़ी हुई रहेगी तब तक मनुष्य अनिवार्य रूप से एक प्रकार के अभाव के भाव से सदैव ही भाराक्रॉंत रहेगा। **फलों या परिणामों की कभी समाप्त न होने वाली अवली के पीछे पड़ने से अनन्तता की प्राप्ति असम्भव है।** किसी नियत या निश्चित फल की प्राप्ति जिनका लक्ष्य हुआ करता है उनके मन पर एक स्थायी भार लदा रहता है।

**सेवा फलासक्ति से मुक्त होनी चाहिये।**

इसके विपरीत सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् की जाने वाली सेवा आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान की सहज अभिव्यक्ति होती है। और यद्यपि ऐसी सेवा से भी संसार के कर्म क्षेत्र में महत्वपूर्ण फलों की प्राप्ति होती है तथापि फल लालसा के भार से वह जटिल एवं बोझीली नहीं हुआ करती। जिस प्रकार सूर्य इसलिये चमकता है कि चमकना उसका स्वभाव है, इसलिये नहीं कि चमक कर वह कोई फल प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार ईश्वर ज्ञानी मनुष्य सेवा तथा आत्म बलिदान का जीवन इसलिये यापन करता है कि ऐसा करना उसके दिव्यजीवन का सारभूत स्वभाव है न कि इसलिये कि उसे किसी फल की प्राप्ति की

**ईश्वर ज्ञान के बाद की सेवा तथा ईश्वर ज्ञान से पूर्व की सेवा में आकाश पाताल का अन्तर है।**

लालसा है। उसका जीवन किसी उपलब्धि की आशा में किसी पदार्थ की ओर बहिर्गमन या किसी वस्तु के अनुसरण के समान नहीं होता। **फल प्राप्ति के द्वारा सम्पन्न या समृद्ध होने की उसकी आकाँक्षा नहीं रहती। वह तो अनन्त की प्राप्ति की परिपूर्णता में पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुका रहता है।** उसकी सत्ता का अजस्र प्रवाह अन्यरूप धारी प्राणियों के लिये एक उपकार है और इस प्रवाह से सिंचित होने वाले मनुष्यों का अवश्यमेव भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। चूँकि उसका आनन्द उसकी अंतर्भूत दिव्यता के ज्ञान की नींव पर अधिष्ठित होता है अतः वह अन्य रूपधारी प्राणियों की पीड़ा एवं अपूर्णता से ह्रास को प्राप्त नहीं होता और उसका ज्ञान किसी अप्राप्त वस्तु की अपूर्णता या अभाव के लेशमात्र क्लेश से पीड़ित नहीं होता। ईश्वर ज्ञान के उपरांत की जाने वाली सेवा में आकाश पाताल का अंतर है। गुरु का जीवन सेवामय जीवन है, उसका जीवन खुद की आत्मा के अन्य रूपों के लिये शाश्वत आत्मबलिदान है। इस प्रकार की विशिष्ट सेवा जो केवल ईश्वरज्ञानी पुरुष ही करने में समर्थ होते हैं उस सेवा में एकदम भिन्न है जो सेवा उन मनुष्यों के द्वारा की जाती हैं जिन्हें सत्य साक्षात्कार नहीं हुआ रहता।

# ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग

आत्मा तथा भौतिक वस्तु का शुरू में भेद मालूम होने से ही आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग भली भाँति समझ में आ सकते हैं। भौतिक वस्तु का बोध करने के लिये भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आध्यात्मिक साधनों की आवश्यकता होती है। इन्द्रियाँ अपने विभिन्न संवेदनों से मन या बुद्धि के सम्मुख जो विषय उपस्थित करती हैं उन पर मन या बुद्धि की क्रिया के द्वारा भौतिक वस्तु का बोध प्राप्त होता है। किंतु **आत्मा का ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है।** बिना साधन या माध्यम लिये आत्मा के द्वारा यह जो आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है जो बहुत विरल एवं दुःसाध्य है किंतु हृदय के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट द्वितीय मार्ग है, न कि बुद्धि के द्वारा।

**आत्मा बुद्धि ग्राहय नहीं है।**

भौतिक वस्तुओं पर क्रिया और विचार करने का मन का अभ्यास हुआ करता है। और भौतिक वस्तुओं का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे वासनाओं और तृष्णाओं से प्रेरणा शक्ति मिलती है। अतः जब आध्यात्मिक समस्याओं की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता है तो वह अपने अभ्यास के अनुसार उन्हें समझने के लिये उन्हीं पद्धतियों का आश्रय लेता है और भौतिक वस्तुओं के बोध के लिये अपने द्वारा आविष्कृत विचारणाओं का वह उपयोग करता है। आध्यात्मिक समस्याओं का बोध प्राप्त करने के लिये यह विधि अवश्यतः निष्फल होगी क्योंकि वह **तमाम**

**भौतिक वस्तु सम्बन्धी बुद्धि की ग्रहण विधि तथा विचारणा आत्म ज्ञान के लिये अपर्याप्त है।**

**विचारसारणी जिसका भौतिक वस्तुओं के बोध के लिये बुद्धि क्रम–क्रम से विकास करती है आत्मा के ज्ञान के लिये अपर्याप्त एवं अयोग्य है।** आत्मा को विचार के द्वारा ग्रहण करना, कानों के द्वारा देखने के अथवा आँखों के द्वारा सुनने के समान असम्भव है। हृदय से पृथक् होकर यदि मन स्वतंत्र रूप से आत्मा को समझना चाहेगा तो वह भौतिक जगत की पुर्वानुभूत वस्तुओं से उसका सादृश्य या सामंजस्य स्थापित करने के लिये विवश होगा किंतु ऐसा करने से आत्मा मन का एक विषय बन जाती है जो वह नही है।

**मन और हृदय के बीच संघर्ष**

बुद्धि की बोध विधि तथा हृदय की बोध विधि में अंतर है। बुद्धि इंद्रिय प्रदत्त तथा इंद्रिय जनित संवेदन पर अवलम्बित रहती है फिर वह अनुमान से निष्कर्ष निकालती है और फिर निर्गत सिद्धांतों के लिये प्रमाण खोजती है। किंतु हृदय अपने सहज अनुभव से किसी वस्तु का मूल्य आँकता है। मनुष्य अपने जीवन के नाना प्रसंगों और परिस्थितयों से क्रमशः गुज़रता हुआ जब आध्यात्मिक ज्ञान की ओर आकर्षित होता है तो हृदय अपने पूर्व अनुभव से प्राप्त प्रेरणा के अनुसार सहज रूप से उसका महत्व स्थिर करता है। बहुतेरे मनुष्यों के जीवन में मन और बुद्धि में बैर हुआ करता है और दोनो के बीच में संघर्ष होने के कारण उनका बोध क्लिष्ट और जटिल हो जाता है। हृदय अपने ढंग से जीवन की एकता का अनुभव करता है और प्रेम, त्याग, बलिदान तथा सेवा के द्वारा अपनी पूर्ति करना चाहता है। लेने की अपेक्षा देने का उसे ज्यादा ख़्याल रहता है। अंतःकरण की जो अंतःस्थित प्रवृत्ति अपने को अपने आभ्यंतर जीवन के तात्कालिक सहज ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त करती है वही हृदय को प्रेरणा शक्ति देती है जिस पर वह अवलम्बित रहता है और उसे उस अन्य प्रमाणों या बौद्धिक समर्थनों की परवाह नहीं होती जिनकी भौतिक वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये मन को आवश्यकता हुआ करती है। मन भौतिक वस्तुओं के कर्मात्मक सम्पादन में पृथकत्व एवं नानात्व के अनुभव से ओतप्रोत हो जाता है, और अतएव वह उन अहंभाव मूलक प्रवृत्तियों की वृद्धि करता है जो मनुष्य को मनुष्य से विभाजित करती हैं और उसे स्वार्थी तथा अधिकार लोलुप बनाती हैं। किंतु हृदय अपनी आंतरिक अनुभूतियों के द्वारा प्रेम की दीप्ति का अनुभव करता है, और आत्मा की एकता की झाँ की प्राप्त करता है। अतः वह आत्मबलिदान की उन प्रवृत्तियों के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति खोजता है जो मनुष्य और मनुष्य को एकता के सूत्र में गूँथती है और उसे निःस्वार्थ और उदार बनाती है। अतएव "हृदय की आवाज़" तथा बुद्धि के तकाज़े के बीच में आवश्यक रूप में संघर्ष होने लगता है। किन्तु हृदय की

आवाज़ हृदय के आंतरिक जीवन की स्वाभाविक ध्वनि है और बुद्धि का तकाज़ा बाह्य जीवन के दृश्यमान एवं भ्रमात्मक अनेकता का विकार है।

**मन आश्वासन लोलुप तथा विश्वसनीय प्रमाण खोजी होता है।**

जब मन अपनी उचित मर्यादा को बेलाग लाँघ कर हृदय प्रदेश में अनाधिकार प्रवेश करता है तो वह किसी को प्रेम करने के पहले प्रेम के विषय के सम्बन्ध में प्रमाणिक विश्वास तथा आश्वासन की खोज करता है। इस शर्त की पूर्ति के बाद ही वह प्रेम कर सकता है। किंतु उस प्रेम की क्या कीमत है जो आप ही आप सहज रूप से उत्पन्न नहीं होता ? प्रेम बौद्धिक तर्क–वितर्क का परिणाम नहीं हो सकता। वह कोई सौदे की चीज़ नहीं है जिसका मोलभाव क्रय विक्रय किया जाय। **प्रेम करने के पूर्व यदि तुम प्रेम की वस्तु के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी हासिल करना चाहते हो तो तुम्हारा प्रेम मोल भाव करने वाला स्वार्थ है।** उदाहरणार्थ बहुत से लोग मेरे दिव्यत्व पर विश्वास करने के लिये प्रमाण चाहते हैं। केवल इसी शर्त पर वे मुझे प्रेम कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि वह चाहते हैं कि चमत्कार दिखला कर मैं अपनी आध्यात्मिक सिद्धि का उनके सामने सुबूत पेश करूँ। चमत्कार देख कर जो विश्वास पैदा होगा वह उस पराकोटि के प्रेम को प्रवाहित करने में सहायक न होकर बाधक ही होगा जो प्रेम की वस्तु से कुछ पाने की अपेक्षा किये बिना स्वतः ही स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है।

**बौद्धिक विश्वास प्रेम को अवरूद्ध करता है।**

जब मन विश्वास के लिये प्रमाण और समर्थन खोजा करता है (चमत्कारों और सांसारिक सुबूतों के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान के सहायक के रूप में) तब वह हृदय के प्रांत में धृष्ट प्रवेश करता है। कर्म विषयक संसार में कुछ निश्चित तथा ठोस पदार्थों की प्राप्ति के लिये गारण्टी के रूप मे प्रमाण और समर्थन आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हो सकते हैं। थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि चमत्कारों या सांसारिक सबूतों के द्वारा किसी मनुष्य की बुद्धि को ईश्वर के अस्तित्व का विश्वास हो गया। किंतु ऐसे विश्वास से ही वह ईश्वर से प्रेम नहीं करने लग जाएगा उसका हृदय द्वार नहीं खुल जाएगा। ऐसे थोथे रहस्योद्घाटन से उसके मन में ईश्वर के प्रति जो निष्ठा पैदा होगी वह या तो भय के सबब पैदा होगी या कर्त्तव्य के भाव से पैदा होगी। **किंतु बाह्य वस्तु मूलक बौद्धिक प्रमाण पर अवलम्बित विश्वास से प्रतिबंध रहित स्वभाविक प्रेम का जन्म नहीं हो सकता।** जहाँ ऐसे सरल सहज तथा स्वेच्छामूलक प्रेम का अभाव है। वहां आनन्द और सौंदर्य पास में नहीं फटक सकते। प्रेम पारावर तुल्य ईश्वर के स्वभाव को मन ग्रहण नहीं कर

सकता। ईश्वर हृदयगम्य है। चमत्कारों के बौद्धिक अनुसंधान से ईश्वर नहीं जाना जा सकता। यही वजह है कि मैं उन्हें कोई चमत्कार नहीं दिखलाता जो मुझे अत्यंत प्रिय तथा मेरे अत्यंत पास हैं। अपनी दिव्यता पर लोगों को विश्वास दिलाने के लिये चमत्कार दिखलाने की अपेक्षा यह मुझे अधिक पंसद है कि मेरा एक भी अनुयायी न हो। यह सच है कि लोग जब मुझे प्रेम करते हैं तो उन्हें बहुधा अभूतपूर्व आध्यात्मिक अनुभव होते हैं और ऐसे अनुभव उनके हृदय को अधिकाधिक खोलने में सहायक होते हैं। प्रमाणों के पीछे पड़ने वाली मानसिक तृष्णा की तृप्ति के लिये ये अनुभव नहीं दिखलाये जाते और इन्हें अंतिम लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिये।

**हृदय ही के द्वारा आत्मा की झांकिया प्राप्त की जा सकती है।**

जब मनुष्य कार्यों की केवल वास्तविक महत्ता से एकमात्र वास्ता रखने के बजाय उन कार्यों के फलों पर अपनी निगाह रखता है तो वह आध्यात्मिक समस्याओं को केवल मन के द्वारा सुलझाने का यत्न करता है। इस प्रकार वह हृदय की उचित क्रिया में दख़ल डालता है या दस्तंदाज़ी करता है मन सभी क़िस्म की चीज़ें चाहता हैं अतः उसे वस्तुविषयक सूबूत, विश्वसनीय प्रमाण एवं असंदिग्ध आश्वासन की दरकार होती है। किंतु हृदय के सहज प्रवाह के मार्ग में बुद्धि की यह माँग एक अवरोध है। हृदय के प्रेम का सहज प्रवाह तो मनुष्य के सच्चे आध्यात्मिक स्वभाव पर निर्भर है और यह सहज प्रभाव ही उसकी आध्यात्मिकता का वर्धक है। तुम बुद्धि से किसी को प्रेम नहीं कर सकते। बुद्धि तुम्हें प्रेम का सिद्धान्त दे सकती है, प्रेम वह नहीं दे सकती। एक खास प्रकार के योगी मन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह केवल शुष्क एवं बुद्धि प्रधान होता है। इससे उन्हें प्रेम प्रधान आध्यात्मिक आनन्द नहीं मिलता। **प्रेम और आनन्द ही जीवन की सार वस्तुएं हैं और बुद्धिगम्य शुष्क समाचार मूलक ज्ञान से प्रेम और आनंद की प्राप्ति नहीं होती।** सार तत्वों के बौद्धिक ज्ञान का नाम आध्यात्मिकता नहीं। इन सार तत्वों को आचरण में परिणत करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। आंतरिक अनुभूति का ज्ञान ही आध्यात्मिक ज्ञान कहा जा सकता है। और यह ज्ञान बुद्धि पर नहीं, हृदय अवलम्बित है। बौद्धिक ज्ञान केवल एक सूचना है और बाह्य होने के नाते वह केवल सतह का उथला ज्ञान होता है। उससे सत्य की उपलब्धि नहीं होती केवल सत्य के आभास की उपलब्धि होती है। जीवन सागर की अदृश्य गहराई की निम्नतम तह की थाह तो हृदय ही ले सकता है।

अनेक मनुष्यों की बुद्धि असंख्य चाहों के बोझ से लदी रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसा जीवन निम्नतम कोटि का मानवीय जीवन है। सर्वोत्कृष्ट कोटि का

मानवीय जीवन चाहशून्य होता है। संतोष एवं पर्याप्तता उसके लक्षण होते हैं। सभी सुख खोजते है किंतु थोड़े लोग सुख पाते हैं क्योंकि सच्चा सुख तभी मिलता है जब मनुष्य चाहों से बिलकुल मुक्त हो जाता है। चाह–शून्यता की सर्वोपरि अवस्था बाहर से निष्क्रिय और सुलभ सी प्रतीत हो सकती है। किंतु पूर्ण चेतना के साथ (अर्थात् बिना नींद सोये) यदि कोई थोडी देर ही बिना किसी वस्तु की सी वस्तु की इच्छा किये चुपचाप बैठने की कोशिश करे तो उसे मालूम हो जायगा कि चाह–शून्यता की प्राप्ति दुर्लभ तथा दुःसाध्य है और वह प्रचण्ड आध्यात्मिक क्रिया के ही द्वारा प्राप्त की जा सकती है तथा कायम रखी जा सकती है। सच पूछा जाय तो पूर्ण चाह शून्यता तब तक अप्राप्य है जब तक जीवन मन के दुर्वह बोझ से आक्रांत है। यह अवस्था मन से ऊपर उठने पर ही प्राप्त की जा सकती है। इच्छा शून्यता से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करने के लिए मन के परे जाने की आवश्यकता है।

**चेतना जब मन बुद्धि से ऊपर उठती है तभी चाह से मुक्ति मिलती है।**

तथापि नितान्त चाह–शून्य जीवन तथा अत्यंत चाह भाराक्रांत जीवन के दो धारों के बीच एक ऐसी व्यावहारिक जीवन पद्धति का आश्रय लिया जा सकता है जिसमें मन और हृदय के बीच समस्वरता हो। जब ऐसी समस्वरता स्थापित हो जाती है तो मन जीवन के लक्ष्यों का निरंकुश निर्देशक नहीं बन जाता किंतु हृदय के द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों की सिद्धि में केवल सहायक बनता है। हृदय के किसी निर्णय को कार्य रूप में परिणत करना स्वीकार करने के पूर्व वह अपनी किसी शर्त की पूर्ति नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में सांसारिक समस्या को हल करने के सम्बन्ध में **मन जिस न्यायाधीश के पद पर आसीन रहा है वह उस पद को त्याग देता है** और वह हृदय के आदेश और निर्णय को अवितर्क स्वीकार करता है।

**मन और हृदय के बीच समस्वरता स्थापित करने के उपाय।**

**मन विद्या का भण्डार है किंतु हृदय आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार है।** धर्म और विज्ञान के बीच तथा कथित संघर्ष तभी पैदा होता है जब बुद्धि–गम्य तथा हृदय–गम्य ज्ञानो के सापेक्ष महत्व को ठीक–ठीक नहीं समझा जाता। केवल मन के द्वारा सच्चे तत्वों के ज्ञान का संग्रह करने का प्रयत्न व्यर्थ है। मन तुम्हें यह नहीं बतला सकता कि कौनसी वस्तुएं ग्राह्य हैं और कौनसी त्याज्य। वह सिर्फ अबौद्धिक प्रेरणाओं द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों को प्राप्त करने का तरीक़ा ही सुझा सकता है। बहुतेरे मनुष्यों का मन इच्छाओं की प्रेरणा से लक्ष्य स्वीकार कर लेता है। इसका अर्थ

**जीवन का लक्ष्य निर्दिष्ट करने में हृदय को पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए।**

आध्यात्मिक जीवन का निषेध करना है। हृदय की गंम्भीरतम् प्रेरणा से जब मन अपने लक्ष्यों एवं इष्ट तत्वों को स्वीकार करता है तभी वह आध्यात्मिक जीवन में सहायक होता है। अतः मन को हृदय के साथ सहयोग करना चाहिए। हृदय के सहज ज्ञान को प्रधान तथा तथ्य विषयक बौद्धिक ज्ञान को गौण होना चाहिए एवं जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में हृदय की स्वतंत्रता के साथ मन की छेड़खानी हरगिज़ नहीं करनी चाहिए। व्यावहारिक जीवन में मन का स्थान है किंतु उसका अर्थ हृदय के निर्णय का अनुसरण करना है।

मन और हृदय के बीच समस्वरता होने से ही आध्यात्मिक ज्ञान का आविर्भाव होता है। मन और हृदय के बीच समस्वरता स्थापित करने का यह अर्थ नहीं है कि दोनो की क्रियाएं मिश्रित कर दी जाएं। **समस्वरता** का अर्थ कार्य–विरोध नहीं किंतु कार्य–सहयोग है। दोनो की क्रियाएं भिन्न भिन्न होंगी और दोनों का महत्व भी भिन्न भिन्न होगा। समान क्रिया या समान महत्व समस्वरता नहीं है। हाँ, मन और हृदय को "समभार" करने की परम आवश्यकता है। किन्तु मन के विरुद्ध हृदय का विधान और हृदय के विरुद्ध मन का विधान करने से दोनों के बीच समस्वरता नहीं होगी। दोनो के बीच **अस्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता से नहीं किन्तु विवेक सम्मत सुव्यवस्था की स्थापना से** ही समभारता लाई जा सकती है। जब मन और हृदय अपनी अपनी नियत क्रियाएं बिना एक दूसरे की क्रिया में दख़ल डाले करते हैं तो वे समभार कहे जा सकते हैं। दोनो के समभार होने पर ही दोनो में समस्वरता हो सकती है। आध्यात्मिक ज्ञान के अविभाज्य जीवन की अनुभूति के लिए मन और हृदय के बीच समस्वरता को होना परम आवश्यक है।

**पारस्परिक सहयोग होने पर ही मन और हृदय के बीच समस्वरता स्थापित हो सकती है।**

# नवयुगनिर्मिति की पूर्वयातनाएं

विश्व का तूफ़ान जो कि कई दिनों से घुट रहा है अब मानो फूट कर बाहर निकल रहा है और वह अन्तिम सीमा तक पहुँचते ही विश्वव्यापी दुर्घटना में परिणत होगा। भौतिक सुख के खींचने में सभी शिकायतों ने भयानक रूप धारण किया है और विरोधी विचारधाराओं ने मनुष्य को स्वार्थान्ध बनाकर उनमें विरोध पैदा कर दिया है। मनुष्य अपनी और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ ठहरा है। और इसका कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने मूल स्वभाव और जीवन का सच्चा ध्येय ठीक से नहीं समझ सकता। इसीलिये वह न तो रचनात्मक और न निर्मायक कार्य कर सकता है।

संसार भयंकर अंधकार और प्रकाश की महान शक्तियों के संग्राम का अनुभव कर रहा है। एक ओर स्वार्थी मनुष्य है जो सुख और अधिकार प्राप्ति की पाशवी इच्छाओं की तृप्ति करने के लिए बेलगाम लालच और बेजोड़ द्वेष लिये अन्धे की तरह आगे बढ़ रहा है। कर्तव्य के अज्ञान से आदमी असभ्यता की नीचतम अवस्था में पहुँच गया है और वह अपनी शिवात्मा को निर्जीव भूतकाल के विदीर्ण होते हुये विधियों के खण्डहर के किसी कोने में गाड़ देता है। स्वार्थ और अज्ञान के बन्धनो में बँधे हुए वे अपने दैवी ध्येय को भूल गये हैं। वे पथभ्रष्ट हो चुके हैं और उनके हृदय द्वेष और घृणा से फट गये हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे लोग हैं जो सहनशीलता से स्वार्थत्याग से अपनी शिवात्मा को प्रकट करते हैं। आधुनिक युद्ध मनुष्य को त्याग, धैर्य वीरता और सहनशीलता की महान शिक्षा दे रहा है।

मनुष्य में स्वार्थ का रोग जो विश्वव्यापी और भयंकर है और जिसके इलाज की सख़्त जरूरत है इतना गहरा गड़ा हुआ है कि वह चारों ओर से खोदकर ही निकाला जा सकता है। सच्ची शान्ति और सुख का प्रभात तभी होगा जब मानव के स्वार्थ का अन्त हो जायेगा। शांतिसुख, जो त्यागयुक्त प्रेम में पैदा होता है, वह अमर है। महान पातकी भी महात्मा बन सकते हैं यदि उनमें पूर्ण हृदय पलटने की शक्ति है।

आधुनिक कोलाहल और विनाश सब दुनिया को ले डूबेगा, किन्तु उसके बाद कई दिनो तक शान्ति का साम्राज्य रहेगा। हमारे समय की यातना को उस आनेवाली शान्ति के लिये सहना अत्यावश्यक है। इस अन्धाधुन्धी का अन्त केवल एक तरह से हो सकता है। मनुष्य इससे हैरान हो जायगा। मनुष्य को लोभ, द्वेष और युद्ध से घृणा आयेगी। लोभ और द्वेष उस हद तक पहुँच जायेंगे कि लोगों को एक तरह की थकावट आ जायेगी। इस समस्यापूर्ण परिस्थिति में से निकलने का इलाज केवल स्वार्थत्याग ही है। सब समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र उपाय होगा – द्वेष छोड़ प्रेम करना, वाँच्छा छोड़ दान करना और हुकूमत छोड़ कर सेवा करना।

तीव्र यातना दिव्य ज्ञान जागृत करेगी। भयानक दुःख अपना कार्य पूर्णकर क्लान्त मानव को जागृत कर उनमें दिव्य समझ पाने के लिये सच्ची आकाँक्षा पैदा करता है। अभूतपूर्व यातनाओं में से अभूतपूर्व आध्यात्मिक सार निकलेगा। सत्य के अचल अधिष्ठान पर जीवन की रचना करने के लिये इन यातनाओं का सहाय्य होता है। अब समय आ चुका है जब विश्वव्यापी मानवता को जागृत कर उन्हें आध्यात्मिक इतिहास के परिवर्तनपथ पर पहुँचाये और वही दुःख मानव को प्रेम का पथ प्रदर्शित करने का माध्यम बन जाए और मानवता इस दुःख के कारणों की चिकित्सा करे और दिव्य सत्य की अनुभूति करे। आत्मा का दिव्यत्व और अमरत्व समझना असीम आनन्द की बात है। परन्तु यह समझने के लिये मनुष्य को शिवात्मा से अपनी अभिन्नता का अनुभव होना चाहिये।

शिवात्मा से एक्यता पाने पर मनुष्य को सर्वत्र अनन्त परमात्मा ही प्रतीत होता है। और वह ज्ञान उसे अहंबुद्धि तोड़कर मर्यादित जीवन से मुक्त कर देता है। प्रत्येक आत्मा को उच्चतम विश्वात्मा से अपना अभिन्नत्व पूर्ण चेतनावस्था में समझना पड़ता है। प्राचीन सत्य के प्रकाश में मनुष्य अपने को नयी आकृति देगा और वह पड़ोसियों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करेगा।

इस आध्यात्मिक एकता का अनुभव करना मानो सच्ची बन्धुता और सहानुभूति प्रदर्शित करना है और इसी में विश्वबन्धुत्व की कल्पना का उद्गम है। जो नवजीवन आध्यात्मिक समझ की नींव पर अधिष्ठित है वह सत्य का पुरस्कार है। यह काल्पनिक

नहीं किन्तु व्यवहार्य सत्य है। अब मानव खूनी विरोधों की आग में जल रहा है। असह्य दुःख के द्वारा मानव जड़वाद पर अधिष्ठित हुये जीवन की चिर अस्थिरता का और विफलता का अनुभव करता है। वह घड़ी नजदीक है जब मनुष्य सच्चे सुख की चाह में सच्चे सुख की राह ढूँढेंगे।

वह समय आ गया जब मानव उस दैवी मनुष्य को मिलने की कोशिश करेंगे जो मूर्तरूप सत्य हो और जिस के द्वारा उन्हें शक्ति, स्फूर्ति और आध्यात्मिक समझ मिल सके। वे उस पथ दर्शन को स्वीकार करेंगे जो ईश्वरीय अधिकारवाणी से दिया जायेगा। केवल दैवी प्रेम का आविष्कार ही आध्यात्मिक जागृति दे सकता है। इस विश्वव्यापी व्याधि के नाजुक समय में मानव शिवात्मा को अर्पित होकर ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बनाने को तैयार हो रहे हैं। दैवी प्रेम अपने दिव्य जादू द्वारा ईश्वर को मानव के हृदय में लायेगा और उन्हें शाश्वत सत्य और आनन्द का अनुभव करायेगा। वह अनुभव मनुष्य की सबसे बड़ी वाँछा तृप्त करके उन्हें सन्तोष प्रदान करेगा। दैवी प्रेम मनुष्य को स्वार्थहीन बना कर उसके परस्पर सम्बन्ध में उपकारवृत्ति लायेगा और उनकी समस्याओं को सदा के लिये हल करेगा। विश्वबंधुत्व वस्तुसृष्टि में मूर्तरूप होगा और प्रेम और सत्य के बंन्धन से सब राष्ट्रों में एकता पैदा होगी।

इस प्रेम और सत्य के लिये ही मेरा जीवन है। और दुःखित मानवता से मैं कहता हूं :—

"आशावादी बनो। मैं तुम्हें अपने को ईश्वरीय कार्य को समर्पित करने की ओर प्रेम और सत्य से विभूषित ईश्वरीय कृपा को स्वीकार करने की शक्ति देने के लिये आया हूँ। सब विजयों में श्रेष्ठ जो आत्मविजय है उस को मिलाने में सहायता देने मैं आया हूँ।"

# हिंसा और अहिंसा

मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह आकर्षक शब्द पर आसक्त हो जाता है। वह अपनी क्रिया को यंत्र की तरह शब्दों से नियंत्रित होने देता है। इन शब्दों से जो अंतस्थ अर्थ व्यक्त होता है उससे उसके कार्य का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शब्दों का जीवन में अपना निजी स्थान एवं उपयोग है किन्तु यदि हम चाहते हैं कि हमारा कार्य विवेकशील हो तो यही नितान्त आवश्यक है कि हम उस अर्थ का सावधानी के साथ विश्लेषण एवं विवेचन करें जिसे प्रकट करने के लिए ये शब्द व्यवहृत होते हैं। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकार के विवेचन की आवश्यकता है किन्तु उनमें "हिंसा" और "अहिंसा" के समान महत्वपूर्ण शब्द थोड़े हैं। इन शब्दों का सीधा सम्बन्ध उन विचार–धाराओं से है जिनके द्वारा विशिष्ट कार्य मात्र ही निश्चित नहीं होता किंतु समस्त जीवन–क्रम निश्चित होता है।

**शब्दों के पीछे पड़ना।**

यद्यपि नियमों की रचना सर्वोत्कृष्ट तत्वों को अपनाने के लिए हुई है तथापि यंत्रवत् नियमों के पालन करने का नाम आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन अनुभव और ज्ञान का विषय है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है उस ज्ञान की उपलब्धि जो तमाम शाब्दिक व्याख्याओं से परे है। व्याख्याओं में सत्य को सीमित करने की लोगों की प्रवृत्ति है अतः इन व्याख्याओं में अंतर्हित तथ्यों को खोज निकालने की जिज्ञासा रखनेवालों को बहुधा प्रतिपादित एवं सूत्रबद्ध सिद्धान्तों का गवेषणा–पूर्वक विश्लेषण करना पड़ता है। और इस विश्लेषण

**आध्यात्मिक ज्ञान बाह्य नियमों से परे है।**

को जीवन से लिये गये ठोस उदाहरणों की कसौटी पर निरन्तर कसकर उसकी सत्यता की जानकारी हासिल करनी पड़ती है। हिंसा और अहिंसा जैसी परस्परविरुद्ध विचार–धाराओं के आधार पर जो जीवन को निश्चित करनेवाले सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं उनके सम्बन्ध में ऐसी विवेचना विशेष आवश्यक है।

**प्रतिनिधिक परिस्थितियों से आरम्भ।**

सामान्यतः 'हिंसा' और 'अहिंसा' – शब्द इतनी विभिन्न परिस्थितियों पर लागू किये जा सकते हैं कि इन विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में लाये बिना तथा इन्हें विवेचना का आरम्भ बिंदु माने बिना–हिंसा तथा अहिंसा के अर्थ का स्पष्टीकरण अधूरा ही रहेगा। तो भी अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि गिन–गिन कर उन तमाम सम्भव परिस्थितियों की पूरी संख्या ही खत्म करें।

केवल कुछ सबसे अधिक प्रातिनिधिक (Representative) परिस्थितियों पर विचार करना पर्याप्त होगा। नीचे जिन प्रातिनिधिक परिस्थितियों का उल्लेख है वे इसलिए चुनी गयी हैं कि वे हिंसा और अहिंसा की विचार–धाराओं में निहित मौलिक मर्म पर यथेष्ट प्रकाश डालने की योग्यता रखती हैं।

**डूबते हुए मनुष्य का उदाहरण।**

परिस्थिति नं. 1 – मानो कि मनुष्य, जो तैरना नहीं जानता, एक झील में गिर गया है और डूब रहा है। उसके समीप एक दूसरा मनुष्य है जो तैरने में निपुण है और जो उसे डूबने से बचाना चाहता है। डूबता हुआ मनुष्य, भय और जल्दबाजी के सबब सहायतार्थ आये हुए मनुष्य को ऐसे बेहूदे ढँग से पकड़ता है कि उसका बचना ही संभव नहीं हो जाता किन्तु बचानेवाले के भी डूब जाने की संभावना पैदा हो जाती है। अतः सहायता शुरु करने के पूर्व बचानेवाला मनुष्य डूबते हुए मनुष्य के सिरपर आघात करके उसे बेहोश बना देता है। ऐसी परिस्थिति में, डूबते हुए मनुष्य के सिर पर आघात करना न हिंसा कहा जा सकता और न अहिंसा।

**जर्राही ऑपरेशन का उदाहरण।**

परिस्थिति नं. 2 – मानो कि एक मनुष्य किसी ऐसे स्पर्शजन्य रोग से पीड़ित है जो केवल ऑपरेशन के ही द्वारा अच्छा हो सकता है। इस पीड़ित मनुष्य को चंगा करने के लिए तथा उसके इस स्पर्शजन्य रोग के कीटाणुओं से अन्य मनुष्यों की रक्षा करने के लिए एक जर्राह अपनी छुरी से पीड़ित मनुष्य के रोग–ग्रस्त अंग को काटकर अलग कर देता है। इस परिस्थिति में शरीर को छुरी से काटना भी न हिंसा कहा जा सकता है और न अहिंसा।

परिस्थिति नं. 3 – मानो कि एक आक्रमणकारी राष्ट्र अपने से दुर्बल एक राष्ट्र पर चढाई करता है और कोई तीसरा राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र की रक्षा की सदिच्छा से प्रेरित होकर शस्त्र–बल से इस आक्रमण का सामना करता है। इस परिस्थिति में दुर्बल राष्ट्र की रक्षा के हेतु आक्रमण का सामना करने के लिए युद्ध करना न तो हिंसा है और न अहिंसा। ऐसे युद्ध को हम अहिंसात्मक हिंसा (Non-Violent Violence) कह सकते हैं।

**आक्रमणकारी राष्ट्र का उदाहरण।**

परिस्थिति नं. 4 – मानो कि एक पागल कुत्ता आक्रमण करने पर उतारू है और स्कूल के बच्चों को उसके द्वारा काटे जाने की सम्भावना है। बच्चों को बचाने के लिए इस स्कूल के शिक्षक पागल कुत्ते को मार डालते हैं। कुत्ते को मार डालना हिंसा अवश्य है लेकिन इसमें द्वेष नहीं है।

**एक पागल कुत्ते का उदाहरण।**

परिस्थिति नं. 5 – मानो कि एक उद्दण्ड मनुष्य एक हृष्ट पुष्ट शरीर वाले मनुष्य पर थूक देता है और इस प्रकार उसे अपमानित करता है यद्यपि यह उद्दण्ड मनुष्य दुर्बल है।

**बलवान की अहिंसा।**

अपमानित बलिष्ठ मनुष्य अपमान करनेवाले को कुचल डालने की शक्ति रखता है तथापि वह उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाता किन्तु उसे शान्ति–पूर्वक प्रेम का उपदेश समझाता है। ऐसा करना अहिंसा है। किंन्तु यह बलवान की अहिंसा (Non-Violence of the strong) है।

उपर्युक्त प्रथम तीन परिस्थितियों से यह प्रत्यक्ष है कि कौन सा कार्य हिंसा है और कौन–सा कार्य अहिंसा है, इसका निर्णय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक, परिस्थिति के विभिन्न अंग–प्रत्यंग एवं कार्य के प्रेरक हेतु के स्वभाव के सूक्ष्म तथा विवेचनात्मक और गम्भीर विचारों में प्रवेश न किया जाय और अवशिष्ट दो परिस्थितियों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ किस कार्य–विशेष को हिंसा अथवा अहिंसा कह देना सरलता–पूर्वक सम्भव है वहाँ भी यों कहीं गयी हिंसा अथवा अहिंसा को कुछ अन्य तत्वों की उपस्थिति के कारण विशेषणों से सम्बोधित करना पड़ता है। ये विशेषण उन शब्दों से ध्वनित होने वाले साधारण अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ के द्योतक होते हैं।

डूबते हुए आदमी के सिर पर आघात (परिस्थिति नं. 1) वाले उदाहरण की सूक्ष्म जाँच से ज़ाहिर होता है कि यद्यपि डूबते हुए मनुष्य की पूर्व अनुमति के बिना उसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है तथापि इस बल का उपयोग उसकी प्राण–रक्षा के लिए किया जाता है। यह ऐसी परिस्थिति है जिसमें मनुष्य की पूर्व अनुमति के बिना

उसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है और इस अर्थ में इस कार्य को हिंसा कह सकते हैं; किन्तु बल का उपयोग डूबते हुए मनुष्य के हित के लिए किया जाता है न कि उसे नुकसान या चोट पहुँचाने की इच्छा से और इस अर्थ में यह भी कह जा सकता है कि यह कार्य हिंसा नहीं है। इन विशेष अर्थों में एक ही कार्य को क्रमशः हिंसा और अहिंसा कहा जा सकता है किन्तु इन शब्दों के साधारण अर्थों में यह कार्य न तो हिंसा है और न अहिंसा।

स्पर्शजन्य रोग की चिकित्सा के लिए ऑपरेशन (परिस्थिति नं. 2) वाला उदाहरण डूबते आदमी के उदाहरण से थोड़ा ही भिन्न है। यहाँ भी बल का उपयोग है। (शरीर के रोग–ग्रस्त भाग को काटने की सीमा तक) और जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है, उसके हित के लिए ही ऐसा किया जाता है; किन्तु ऑपरेशन के ऐसे बहुत से मामलों में रोगी ऑपरेशन के लिए आवश्यक बल के उपयोग के लिए अपनी पूर्व अनुमति देता है। ऑपरेशन का उद्देश्य केवल रोगी को रोग के अधिक आक्रमण से बचाना मात्र नहीं होता किन्तु अन्य लोगों को भी रोग के कीटाणुओं से बचाना होता है। यहाँ बल का उपयोग, रोगी तथा उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों के अमिश्रित हित के हेतु से, प्रेरित होता है। चूँकि आघात या क्षति पहुँचाने की कोई भावना इस कार्य में नहीं होती अतः इस परिस्थिति में बल का उपयोग साधारण अर्थ में हिंसा नहीं कहा जा सकता और इसे अहिंसा कहना भी ठीक न होगा क्योंकि जीवित शरीर के एक भाग को काटने का यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध (परिस्थिति नं. 3) वाला उदाहरण भी विचारार्ह एवं शिक्षाप्रद है। यहाँ किसी स्वार्थ–पूर्ण हेतु अथवा निजी स्वार्थ से नहीं किन्तु केवल दुर्बल राष्ट्र की रक्षा के उद्देश्य से आक्रमणकारी राष्ट्र का सामना करने के लिए जो युद्ध किया जाता है उसका परिणाम आक्रमणकारी पर ध्वँसात्मक प्रहार करने एवं उसे क्षति पहुँचाने के रूप में होता है और बल का उपयोग आक्रमणकारी राष्ट्र की पूर्व अनुमति से नहीं बल्कि उसकी हठ–युक्त एवं जागती मनोकामना के खुले विरोध में किया जाता है। किन्तु इस परिस्थिति में भी हमें हिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलता क्योंकि यद्यपि यहाँ क्षति और हानि पहुँचायी जाती है तथापि बल का उपयोग केवल आक्रमण–ग्रस्त दुर्बल राष्ट्र के ही हित के लिए नहीं होता, बल्कि एक महत्व पूर्ण अर्थ में आक्रमणकारी राष्ट्र के भी हित के लिए होता है क्योंकि अपने आक्रमण के विरुद्ध जिस बाधा का उसे सामना करना पड़ता है उसके द्वारा दुर्बल राष्ट्रों पर चढ़ाई करने अथवा दुर्बल राष्ट्रों का शोषण करने की दुष्प्रवृत्ति के रूप में वह जिस आध्यात्मिक

दौर्बल्य या रोग से ग्रस्त है उस रोग से वह छुटकारा पाता है। आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध की गयी यह हिंसा यथार्थ में हिंसात्मक नहीं है अतएव हम इसे अहिंसात्मक हिंसा के नाम से पुकारते हैं।

आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध (परिस्थिति नं. 3) का उदाहरण शरीर के रोग–ग्रस्त भाग के ऑपरेशन के उदाहरण के तुल्य है। आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध करने के उदाहरण में दुर्बल राष्ट्र का हित प्रथम परिणाम सा दृष्टिगोचर होता है और आक्रमणकारी राष्ट्र (जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है) का हित द्वितीय परिणाम–सा प्रतीत होता है; और ऑपरेशन के उदाहरण में, रोगी (जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है) का हित प्रथम परिणाम–सा जान पड़ता है एवम् अन्य लोगों का हित द्वितीय परिणाम सा मालूम पड़ता है। किन्तु यह एक छोटा अन्तर है और दोनों परिस्थितियों में जिस पर बल का उपयोग होता है उसका तथा परिस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य लोगों का समान–रूप से हित होता है।

**दुर्बल की रक्षा।**

दुर्बल की रक्षा निःस्वार्थ सेवा का एक मुख्य रूप है और कर्मयोग का एक अंग है। इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के अनिवार्य साधन के रूप में बल का उपयोग करना सेवा के लिए यदि आवश्यक हो, पूर्णतः न्यायोचित है। दुर्बल की रक्षा के लिए यदि इस प्रकार का कोई युद्ध किया जाय तो यह आवश्यक है कि वह निःस्वार्थ एवम् घृणा–रहित हो। तभी उसका पूर्ण आध्यात्मिक महत्व हो सकता है। एक स्त्री पर एक मनुष्य अधम मनोवृत्ति से आक्रमण करता है और दूसरा मनुष्य स्त्री के सम्मान एवम् प्राण की रक्षा के लिए, तथा आक्रमणकारी को दण्ड देने और पश्चाताप करने के लिए उसे बाध्य करने के हेतु से बल का उपयोग करता है। जिस प्रकार इस परिस्थिति में बल का उपयोग न्यायोचित है उसी प्रकार दुर्बल की रक्षा के हेतु किया गया बल का उपयोग भी सर्वथा न्यायोचित है।

**पागल कुत्ते के उदाहरण तथा बलवान की अहिंसा के उदाहरण पर टीका।**

पागल कुत्ते को मार डालने (परिस्थिति नं. 4) का उदाहरण निःसंदेह हिंसा का उदाहरण है, किन्तु घृणा रहित होने एवं बच्चों के श्रेष्ठतर हित के लिए की जाने के कारण यह हिंसा न्यायोचित है। उस बलवान मनुष्य का उदाहरण जो बदला लेने के बजाय (परिस्थिति नं 5) प्रेम का उपदेश समझाता है, अहिंसा का उदाहरण है। यह अकर्मण्यता नहीं है किन्तु बलवान की अहिंसा है।

# अहिंसा के प्रकार

(1) Non-Violence Pure and Simple
शुद्ध एवं अमिश्रित अहिंसा
(दिव्य प्रेम पर निर्भर)

इस अवस्था में व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता है। वह शत्रुता तथा मित्रता दोनो से परे रहता है। किसी भी परिस्थिति में, किसी भी प्रकार की हिंसा उसके मन में प्रविष्ट नहीं होती।

(2) Non-Violence of the Brave
वीर की अहिंसा
(सीमारहित शुद्ध प्रेम पर निर्भर)

यह उन लोगों पर लागू है जिन्हें समस्त प्राणियों की एकता का यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तथापि जो किसी को अपना शत्रु नहीं समझते और जो आक्रमणकारी को भी प्रेम के द्वारा जीतने का प्रयत्न करते हैं और जो आक्रान्त होने पर अपने प्राण देते हैं। भय के वशीभूत होकर नहीं किन्तु प्रेम से प्रेरित होकर।

(3) Non-Violence of the Coward
कायर की अहिंसा
(चरित्र की सीमा–रहित दुर्बलता पर निर्भर)

इस श्रेणी में वे व्यक्ति शामिल हैं जो आक्रमण का प्रतिकार किसी अन्य हेतु से नहीं किन्तु केवल भय के कारण नहीं करते।

# हिंसा के प्रकार

### (1) Non-Violent Violence
### अहिंसात्मक हिंसा
### (सीमारहित प्रेम पर निर्भर)

वह हिंसा, जो केवल दुर्बल की रक्षा के लिए की जाती है तथा जिसे करने में आत्म रक्षा या स्वार्थ का भाव नहीं रहता।

### (2) Selfless Violence
### स्वार्थरहित हिंसा
### (सीमित मानवीय प्रेम पर निर्भर)

वह हिंसा जो आत्म रक्षार्थ आक्रान्त होने की स्थिति में की जाती है तथा जिसे करने में अन्य कोई स्वार्थ–युक्त हेतु नहीं रहता–उदाहरण, ऐसी स्थिति जब किसी की माता का सम्मान एक विषयान्ध आततायी द्वारा भंग होने पर है। इसी प्रकार जब मातृभूमि का सम्मान ख़तरे में है और शत्रुओं–द्वारा उस पर आक्रमण हो रहे हैं तब मातृ–भूति की रक्षा के लिए स्वार्थ–रहित हिंसात्मक प्रयत्न करना स्वार्थ रहित हिंसा है।

### (3) Selfish Violence
### स्वार्थ–युक्त हिंसा
### (द्वेष एवं वासना पर निर्भर)

इस श्रेणी में वे व्यक्ति तथा वे राष्ट्र शामिल हैं जो निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए अथवा सत्ता–प्राप्ति तथा निजी लाभ की सिद्धि के उद्देश्य से हिंसा करते हैं।

शुद्ध और अमिश्रित अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम; यह जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। शुद्ध एवम् अनन्त प्रेम की यह स्थिति प्राप्त होने पर साधक परमात्मा से युक्त हो जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा की परम आवश्यकता है। यह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने की जिस साधक में तीव्र उत्कण्ठा है उसे चाहिए कि वह आरंभ में 'वीर की अहिंसा' का अभ्यास करे। यह आदर्श उन लोगों पर लागू होता है जो किसी को अपना शत्रु नहीं समझते और जो आक्रमणकारी को प्रेम के द्वारा जीतने का यत्न करते हैं तथा जो आक्रान्त होने पर अपने प्राण–भयवश नहीं किन्तु प्रेमवश दे देते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'वीर की अहिंसा' उन लोगों के लिए व्यवहार्य है जिनमें सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने की अति उत्कण्ठा है। ऐसी उत्कण्ठा सर्व–साधारण जन–समूह में नहीं पायी जाती। अतः यदि सर्व–साधारण जनसमूह को 'शुद्ध अहिंसा' के सर्वोच्च आदर्श की ओर ले जाना हो तो यह आवश्यक है कि पहले 'वीर की अहिंसा' के आदर्श को अपना सकने की उसमें योग्यता पैदा की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति का व्यावहारिक उपाय यह है कि आरम्भ में सर्वसाधारण जनों को 'अहिंसात्मक हिंसा' के सिद्धान्त का पालन करने के लिए कहा जाय। बिना किसी स्वार्थ–युक्त अभिप्राय से केवल दुर्बल की रक्षा के लिए की जानेवली हिंसा अहिंसात्मक हिंसा है। युद्धकाल में जब जन–समूह आश्चर्यचकित हो जाता है तथा जब ईश्वर प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा रखने की सलाह को सुनने की उसकी मनःस्थिति नहीं होती तब उपर्युक्त सर्वोपरि आदर्श की ओर ले जाने का एकमात्र व्यावहारिक उपाय यह है कि उसे 'अहिंसात्मक हिंसा' के सिद्धान्त की शिक्षा दी जाय। जब जन–समूह अहिंसात्मक हिंसा के आदर्श को पूर्णतः अपना ले तब फिर धीरे–धीरे उसे 'वीर की अहिंसा' का आदर्श सिखाया जाय। 'वीर की अहिंसा' के आदर्श का पालन करने की योग्यता का सर्वसाधारण जन–समूह में अभाव है। ऐसे अ–तैयार लोगों में 'वीर की अहिंसा' के आदर्श के प्रचार का असामयिक प्रयत्न असफल तो होगा ही, साथ ही साथ इस बात का भी ख़तरा है कि इस असामयिक प्रचार के फलस्वरूप जन–समूह को 'वीर की

अहिंसा' की ओट में घातक 'कायर की अहिंसा' को अपनाने का सहज मौक़ा मिलेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जन–समूह एकमात्र भय के कारण आक्रमण का सामना नहीं करेगा।

'वीर की अहिंसा' को अपनाने की योग्यता उत्पन्न करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर जन–समुदाय को 'अहिंसात्मक हिंसा' की शिक्षा देने के साथ–साथ 'स्वार्थरहित हिंसा' के आदर्श की भी शिक्षा दी जाय। दुष्टता–पूर्ण आक्रमण के अवसर पर आत्मरक्षा के लिए की जानेवाली हिंसा 'स्वार्थ रहित हिंसा' है। अन्य किसी निजी स्वार्थ की पूर्ति के हेतु से की गयी हिंसा से वह भिन्न है। जब माता का सम्मान एक विषय लोलुप आततायी के द्वारा भंग होने पर है और जब इस संकटापन्न परिस्थिति में व्यक्ति हिंसा का आश्रय लेकर माता की रक्षा करता है तो वह 'स्वार्थ रहित हिंसा' के आदर्श का पालन करता है। ठीक इसी प्रकार जब मातृभूति का सम्मान ख़तरे में है और उस पर शत्रुओं के द्वारा आक्रमण हो रहे हैं तब मातृभूमि की रक्षा के लिए किया जानेवाला स्वार्थ–रहित हिंसात्मक प्रयत्न 'स्वार्थ रहित हिंसा' है। इस परिस्थिति में जो प्रेम व्यक्त होता है वह सीमित मानवीय प्रेम है; इस प्रेम में स्वार्थ का बिलकुल थोड़ा सा अंश अवश्य रहता है क्योंकि माता व्यक्ति की खुद की माता होती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है 'कायर की अहिंसा' घातक है; इसी प्रकार 'स्वार्थ युक्त हिंसा' (अर्थात् वह हिंसा जो व्यक्ति या राष्ट्र द्वारा सत्ता प्राप्त करने या अन्य स्वार्थ पूर्ण उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर की जाती है) भी घातक है 'शुद्ध तथा अमिश्रित अहिंसा' जीवन का चरम लक्ष्य है। ईश्वर के साक्षात्कार की जिज्ञासा रखने वाले सत्यशोधकों को इस सर्वोपरि स्थिति में पहुँचने के लिए 'वीर की अहिंसा' के आदर्श को अपनाना चाहिए। सर्व साधारण लोगों में ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यथेष्ट उत्कण्ठा का अभाव होता है। अतः इस सर्वोपरि आदर्श की ओर धीरे धीरे ले जाने के लिए उन्हें परिस्थितियों के अनुसार 'अहिंसात्मक हिंसा' तथा 'स्वार्थ' रहित हिंसा के आदर्श का अभ्यास कराना चाहिए। अंत में, यह स्पष्टतः समझ लेने की ज़रूरत है कि 'अहिंसात्मक हिंसा' तथा 'स्वार्थ रहित हिंसा' दोनों जीवन के चरम लक्ष्य (अर्थात् शुद्ध एवं अमिश्रित अहिंसा अथवा अनन्त प्रेम) के प्राप्ति के साधन मात्र हैं। इन साधनों को साध्य ही नहीं समझ बैठना चाहिए।

किसी कार्य का हेतु तथा परिणाम का निर्णय, उनकी सामान्यतः स्वीकृत अच्छाई अथवा बुराई पर अवलम्बित है; उदाहरणार्थ 'वीर की अहिंसा' तथा 'कायर की अहिंसा' दोनो अहिंसा है किन्तु 'वीर की अहिंसा' को प्रेरणा देने वाला हेतु 'प्रेम' है तथा 'कायर'

की अहिंसा' को प्रेरणा देने वाला हेतु 'भय'। परिणामतः यद्यपि ये दोनों अहिंसा समान हैं तथापि दोनों के हेतु परस्पर विरोधी हैं। 'वीर की अहिंसा' का हेतु है—सीमा रहित प्रेम की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देना और 'कायर की अहिंसा' का हेतु है—सीमा रहित तिरस्कार की प्राप्ति तथा अपने जीवन की रक्षा करना। अतः 'कायर की अहिंसा' का नाम है, 'प्रेम का अभाव' तथा 'वीर की अहिंसा' का नाम है, 'प्रेम भाव'।

'अहिंसात्मक हिंसा' का नाम 'प्रेमभाव' नहीं किन्तु 'कर्तव्य' है। कर्तव्य होने के कारण यह हिंसा उचित है। कर्मयोग द्वारा प्रतिपादित परोपकारार्थ कृत निःस्वार्थ कर्तव्य अंततोगत्वा अनन्त प्रेम से ही सम्बद्ध है यद्यपि यह प्रेम मानवीय है।

परस्पर विरोधी शक्तियों का भेद मिटाया नहीं जा सकता किन्तु एक शक्ति को दूसरी शक्ति में रूपांतरित किया जा सकता है; हां रूपांतर की क्रिया तथा रीति सही होनी चाहिए। गलत तौर पर दिया गया खाद्य पदार्थ विष बन जाता है तथा अल्प मात्रा में दिया गया विष (जैसे स्ट्रिकनाइन Strychnine) धमनियों के लिए टॉनिक बनता है। खाद्य पदार्थ सचमुच में विष नहीं बन जाता और न विष खाद्य पदार्थ ही बनता तथापि दोनो की क्रिया एवं परिणाम का रूपान्तर हो जाता है।

**आध्यात्मिक ज्ञान नियमों से परे है। उसके लिये ईश्वरीय प्रेम आवश्यक है।**

उपर्युक्त विभिन्न परिस्थितियों के विस्तृत विश्लेषण तथा उनकी पारस्परिक तुलना से यह बात प्रकट होती है कि हिंसा और अहिंसा से सम्बद्ध प्रश्न उनका औचित्य या अनौचित्य, उनकी सार—पूर्णता या सार—शून्यता, एक सर्व देशीय रूढ़ नियम की सृष्टि से निर्णीत नहीं होते। इन प्रश्नों में गूढ़ आध्यात्मिक समस्याएं एवं गम्भीर अर्थ छिपे रहते हैं। आध्यात्मिक तत्व—विधान की योजना में हिंसा और अहिंसा के लिए कौन से स्थान नियुक्त है इसे ठीक समझने के लिए परिस्थिति का अर्थ एवं अभिप्राय का सच्चा ज्ञान आवश्यक है। ईश्वरीय प्रेम द्वैत से परे है, आध्यात्मिक ज्ञान नियमों से परे है। अतः दिव्य प्रेम एवम् आध्यात्मिक ज्ञान की सहज प्रेरणा से हमें कार्य करना चाहिए। निरी हिंसा या अहिंसा की अधूरी और अपर्याप्त जानकारी पर निर्भर नारों के द्वारा हमारे कार्य का निर्णय नहीं होना चाहिए; ये नारे फिर कितने ही ऊँचे क्यों न हों।

# क्रियाशीलता तथा निष्क्रियता

ईश्वरानुभूति के लिये किये जाने वाले विवेक युक्त कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी कार्य चेतना के लिये बन्धन का सृजन करते हैं। ये कार्य संचित अज्ञान की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं हैं अपितु संचित अज्ञान की वृद्धि भी हैं अर्थात् संचित अज्ञान से ही ये कार्य किये जाते हैं तथा कार्यों के किये जाने पर अज्ञान और भी बढ़ जाता है।

**कर्म के द्वारा संचित अज्ञान की वृद्धि सम्भव है।**

धार्मिक विधि निषेध, तथा बाह्य नियम आचार एवम् भिन्न मतों तथा सम्प्रदायों के आदेश–उपदेश आदि में प्रेम तथा पूजा की भावना उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से, एक सीमा तक, वे उस अहंकार को क्षीण–जीर्ण करने में सहायक हैं जिसमें चेतना फँस गई है। किन्तु उनका अंधानुकरण तथा विवेक शून्य यंत्र तुल्य पालन करने से प्रेम तथा पूजा की आन्तरिक भावना नष्ट होती है और वे अहंकार को जीर्ण करने के बजाय उसे बध्द मूल करने में सहायक हाते हैं। अतः बाह्य लोकाचार तथा विधि नियम मनुष्य को ईश्वर की ओर अधिक दूर नहीं ले जा सकते; तथा यदि उनका अंधानुकरण किया जाता है तो वे उसी प्रकार बंधन उत्पन करते है। जिस प्रकार कोई अन्य विवेक शून्य कार्य। जब ये बाह्य विधि नियम उनमें प्रच्छन्न आन्तरिक तत्व तथा महत्व को छोड़ बैठते हैं तो वे अन्याय विवेक शून्य कार्यों की अपेक्षा भी अधिक घातक सिद्ध होते हैं। क्योंकि जब मनुष्य उनका पालन करता है तब उसे यह विश्वास रहता है की वे ईश्वरानुभूति में सहायक है किंतु यथार्थ में वे सहायक नहीं होते। बाह्य आचार–नियम

**लोकाचार के अंधानुसरण से मनुष्य पथच्युत हो जाता है।**

के पालन करने में यह आत्म प्रवंचना रहती है। अतः मनुष्य उनके कारण असली मार्ग को छोड़ कर ग़लत मार्ग पकड़ लेता है। बहुधा केवल आदत के वशी भूत होकर मनुष्य इन बाह्य विधि नियमों पर इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि तीव्र यंत्रणा का अनुभव करने पर ही उसे उनकी सार–शून्यता का ज्ञान प्राप्त होता है।

**स्व–रचित बन्धनोंके द्वारा जीवन मुक्ति की खोज करता है।**

विवेक शून्य कार्य की अपेक्षा निष्क्रियता कहीं अच्छी है। निष्क्रियता में कम से कम एक गुण यह है कि वह और अधिक संस्कार तथा उलझन उत्पन्न नहीं करती। सदाचार तथा उदार कार्य भी संस्कारों की उत्पत्ति करते हैं तथा भूतकाल में किये गये कार्यों तथा अनुभवों से उत्पन्न उलझनों में एक उलझन और जोड़ देते हैं। **जीवन स्व रचित बन्धनों से मुक्ति पाने का** एक प्रयत्न है। वह अज्ञान में किये गये कार्यों का निराकरण करने, भूतकाल के संग्रहीत बोझ को उतार फेंकने, अस्थायी प्राप्तियों तथा असफलताओं के कूड़े कर्कट की राशि से त्राण पाने का एक घोर संग्राम है। जीवन भूतकाल के बन्धन कारक संस्कारों की गुत्थियों को उघेड़ने तथा अपने स्वनिर्मित दुर्गम पथ से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना है ताकि उसके अगले कार्य अनन्त के अंतःकरण से प्रत्यक्ष रूप से निःसृत हों तथा उसके कार्य पूर्णतः मुक्त, **सीमा रहित, आसक्ति–शून्य तथा न बाँधने वाले हों।**

**निष्क्रियता बहुधा विवेक शून्य कार्य तथा विवेक युक्त कार्य के बीच की अवस्था होती है।**

जो कार्य ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है वह यथार्थतः विवेक सम्मत तथा आध्यात्मिक दृष्टि से फलोत्पादक होता है क्योंकि वह बन्धनों से उद्धार करता है, ऐसा कार्य ईश्वरानुभूति की अवस्था से उत्पन्न कार्य से महत्व में कम है। दूसरे सभी प्रकार के कार्य, चाहे (सांसारिक दृष्टि कोण से कितने भी अच्छे हों, या कितने भी बुरे, कितने ही फलदायक हों, या कितने भी निष्फल) बन्धनों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करते हैं और इस प्रकार वे निष्क्रियता से अश्रेष्ठ हैं अर्थात् ऐसे बन्धनकारी कार्यों से निष्क्रियता श्रेष्ठ है। **निष्क्रियता विवेकयुक्त कार्य से कम सहायक है, किंतु वह विवेक–रहित कार्य से निश्चय ही अच्छी है; क्योंकि निष्क्रियता का अर्थ है उस कार्य का न करना जिसके करने से बन्धन पैदा होता है।**

विवेक रहित कार्य की अवस्था से विवेकयुक्त की अवस्था (बन्धनकारक कर्म से अबन्धनकारक कर्म) में निष्कर्मता के ही द्वारा बहुधा पदार्पण किया जा सकता है। **निष्क्रियता विकास की वह स्थिति है जहाँ तर्क शंका के कारण विवेक रहित**

**कार्य बन्द हो जाता है, तथा विवेक सम्मत कार्य, पर्याप्त वेग या प्रेरणा के अभाव के कारण शुरू नहीं किया जाता है।** यह विशिष्ट प्रकार की निष्क्रियता है जिसका पथ की अग्रगति में अपना हाथ रहता है। **सामान्य निष्क्रियता तथा इस विशिष्ट निष्क्रियता में भेद है। सामान्य निष्क्रियता जीवन के भय से उत्पन्न होती है या आलस्य से उत्पन्न होती है।** विशिष्ट निष्क्रियता विकास–क्रम की दो स्थितियों के बीच की एक स्वाभाविक अवस्था है।

# ईश्वर-पुरुष

## (भाग 1)

### साधक तथा सिद्ध पुरुष

ईश्वरानुभूति के पूर्व भी उन्नत साधक चेतना की ऐसी उच्च अवस्थाओं का अनुभव करते हैं जो बहुत कुछ ईश्वरानुभूति की अवस्था के समान होती है। जैसे, उच्चतर भूमिकाओं में स्थित **उन्मत्त मस्त–गण तथा सन्त जन पूर्णतः निःस्पृह तथा ईश्वरोन्माद के आनन्द में मग्न रहते हैं।** एकमात्र ईश्वर से ही उनका वास्ता रहता है अतः वे ईश्वरावस्था में अनुभव होने वाले अद्वितीय उल्लास के पात्र बन जाते हैं। ईश्वर के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा प्रियतम नहीं होता तथा ईश्वर मिलन को छोड़कर उनकी कोई दूसरी आकाँक्षा नहीं रहती। वे ईश्वर को अपना एकमात्र प्रियतम ही नहीं समझते बल्कि वे उसे ही एकमात्र सत्य तथा अपना सर्वस्व समझते हैं। वे ईश्वर को छोड़कर अन्य प्रत्येक वस्तु से अनासक्त हो जाते है। संसार के मनुष्य जिन सुख दुःखों से ग्रस्त रहते हैं उनसे वे पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं। आनन्द के सागर अपने दिव्य प्रियतम को अपने सन्मुख देखने के कारण वे सदैव आनन्द में मस्त रहते हैं।

ईश्वरोन्माद का आनन्द।

उन्नत साधकों को दैवी अवस्था के कुछ विशेष अनुभव तो प्राप्त होते ही हैं बल्कि साथ ही साथ उन्हें महान गुप्त शक्तियाँ तथा अलौकिक सिद्धियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

उन्हें प्राप्त होनेवाली शक्तियों की भिन्नता के अनुसार उनकी भिन्न भिन्न श्रेणियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम भूमिका में स्थित रहने वाला साधक भी सूक्ष्म जगत के नाना प्रकाश तथा वर्ण देखना आरम्भ कर देता है; सुन्दर सुरभि सूँघता है तथा मधुर संगीत सुनने लगता है। अधिक उन्नत साधक कितनी भी दूर की चीज़ें देख और सुन सकते हैं। कुछ बढ़े हुए साधक मृत्यु के पश्चात तुरन्त ही नया शरीर धारण कर सकते हैं। सिद्ध गुरुओं के कुछ नियुक्त कार्यकर्त्ताओं का स्थूल जगत् पर इतना अधिक अधिकार रहता है, कि वे इच्छानुसार अपने शरीर को बदल सकते हैं; ये लोग सूफी परम्परा के अनुसार 'अब्दल' कहलाते हैं। किन्तु साधकों की ये सारी सिद्धियां दृश्य जगत् से सम्बन्ध रखती हैं; उनकी शक्तियों का क्षेत्र भ्रममय भौतिक संसार होता है; और वे जो असाधारण चमत्कार दिखलाते हैं; उनका यह अर्थ नहीं कि वे किसी प्रकार ईश्वरावस्था के निकटतर हैं।

**उन्नत साधकों की शक्तियाँ।**

चेतना की भिन्नता के दृष्टिकोण से भी साधकों की विभिन्न श्रेणियाँ होती है। ये श्रेणियाँ उनके साधन–पथ की विशिष्टता तथा ईश्वरावस्था से उनकी सन्निकटता पर निर्भर है। कुछ साधक अपनी असाधारण शक्तियों के कारण मदोन्मत्त हो जाते हैं और उन शक्तियों का उपयोग करने के लोभ में फँस जाने की वजह से उनकी ईश्वर की ओर उन्नति रुक जाती है। वे मध्यवर्ती भूमिकाओं की चेतना में विमुग्ध हो जाते हैं। कुछ साधक चकाचौंध वाले, मूढ़ मति तथा स्वयं भ्रांत हो जाते हैं। कुछ साधक जड़वत् अप्राकृतिक निद्रा से ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ साधक बार–बार कोई शरीरिक कार्य करके या बार–बार किसी वाक्य का उच्चारण करके, बड़ी मुश्किल से स्थूल चेतना में उतरने की चेष्टा करते हैं। कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो अपनी ईश्वरोन्मत्तता में ऐसे मस्त हो जाते हैं कि स्थूल जगत् तथा स्थूल जगह के जीवन से वे बिलकुल उदासीन हो जाते हैं। उनके बाह्य आचरण बिलकुल पागलों जैसे होते हैं। कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अपने सांसारिक कर्तव्यों को करते हुए साधना–पथ पर बढ़ते चले जाते हैं।

**साधकों की विभिन्न अवस्थायें।**

चेतना की अति उत्कृष्ट अवस्था में स्थित होने के कारण कुछ उन्नत साधक पूज्य होते हैं किन्तु ईश्वर प्राप्त पुरुषों से उनकी किसी प्रकार की तुलना नहीं की जा सकती। न तो ईश्वरज्ञ पुरुषों की सी आध्यात्मिक सुन्दरता या पूर्णता ही उन्हें प्राप्त होती और न ईश्वरज्ञ पुरुषों की सी शक्तियाँ ही उन्हें उपलब्ध होती। चेतना की छठी भूमिका तक सभी साधकों की चेतना सीमित रहती है और वे द्वैत तथा द्वन्द्व की ही परिधि के अन्तर्गत रहते हैं। साधक अधिकाँशतः

**उन्मत्त अवस्था।**

उल्लासित रहा करते हैं उनका उल्लास ईश्वर संपर्क तथा ईश्वर संम्भाषण का परिणाम होता है। दिव्य प्रियतम से आन्तरिक संगति प्राप्त होने के कारण कुछ साधकों का आनन्द इतना महान होता है कि वे आपे से बाहर होकर आचरण करने लगते हैं। अपनी **अदम्य ईश्वरोन्मत्तता की अवस्था** में वे लोगों को गाली देते हैं उनकी ओर पत्थर फेंकते हैं तथा बिलकुल पिशाच की तरह व्यवहार करते हैं। यह अवस्था बहुधा उन्मत्त अवस्था के नाम से पुकारी जाती है। **दिव्य प्रियतम से आन्तरिक सम्पर्क प्राप्त होने के उन्मुक्त आनन्दोद्रेक के असंयत अतिरेक के कारण वे सांसारिक मर्यादा तथा मूल्यों की पूर्ण अवहेलना करते हैं** तथा पूर्ण अनासक्ति से प्राप्त होने वाली अपनी नितान्त निर्भीकता के कारण वे जो कार्य और आचरण करते हैं उन्हें लोग उद्धत, उच्छृंखल अथवा **अमर्यादित** स्वेच्छाकार समझने की भूल कर बैठते हैं।

**पूर्ण समत्व सातवीं भूमिका में ही प्राप्त होता है।**

सातवीं भूमिका में पहुँचने पर जब ईश्वर की अनुभूति होती है तभी आत्मा अपने आनन्द पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करती है। **उसका आनन्द सदैव के लिये उसका हो जाता है। अद्वैत के समत्व में उसकी नित्य स्थिति हो जाने से, उसका आनन्द उसे अस्थिर नहीं करता।** नये नये प्राप्त होने वाले प्रेम और आनन्द का अतिरेक उसके लिये नहीं रह जाता ईश्वर के अधिकाधिक सान्निध्य से उत्तरोत्तर वृद्धिमान आनंद के प्रचण्ड प्रवाह से प्रसंग–प्रसंग पर उत्पन्न होने वाली अस्थिरता का उसके लिये अन्त हो जाता है, क्योंकि वह ईश्वर से अविच्छेद्य एकता प्राप्त कर लेता है। वह दिव्य प्रियतम में खो जाता है तथा उसमें इतना लीन हो जाता है कि वह ईश्वर से एक हो जाता है असीम आनन्द का वह अथाह अनन्त पारावार हो जाता है।

**ईश्वर प्राप्त पुरुष का आनन्द अन्याश्रित नहीं होता किन्तु स्वयंभू होता है।**

ईश्वर प्राप्त पुरुष का आनन्द आत्म निर्भर तथा स्वंय पूर्ण होता है। अतः उसमें ह्रास और वृद्धि नहीं होती वह सदा सर्वदा एक ही स्थिति में रहता है। ईश्वर प्राप्त पुरुष असंदिग्ध अन्तिम ज्ञान तथा अचल समता को प्राप्त हो जाता है। **दिव्य प्रियतम के अधिकाधिक समीप आने तथा उससे अधिकाधिक सख्यत्व प्राप्त होने के कारण संतो के आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। किन्तु उनका प्रियतम उनके लिये बहिर्भूत द्वितीय (Exernalised another) ही बना रहता है, किन्तु ईश्वर प्राप्त का आनन्द ईश्वरावस्था का ही अविभेद्य भाग होता है, जिसमें द्वैत नहीं रहता। इस अवस्था में प्रेमी तथा प्रियतम का सारा भेद मिट जाता है। संत का आनन्द आश्रित होता है; किंतु ईश्वर–प्राप्त पुरुष का**

**आनन्द स्वयं–सिद्ध होता है।** दिव्य अनुग्रह की प्राप्ति में वृद्धि होने से संतो के आनन्द का अस्तित्व बढ़ता जाता है; किंतु ईश्वर–प्राप्त पुरुष के आनन्द का अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता है, वह केवल ज्यों का त्यों रहता है।

ईश्वर की अनुभूति होने पर मनुष्य को अनन्त, शक्ति अनन्त ज्ञान, तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है तथा सभी ईश्वर प्राप्त पुरुषों के ये अंगीभूत लक्षण एकसे होते हैं। आन्तरिक अवस्था में कोई मौलिक भेद न होते हुए भी थोड़ा सा बाहरी भेद ज़रूर होता है जिसमें ईश्वर–प्राप्त पुरुष के कुछ विशिष्ट प्रकार हुआ करते हैं। ईश्वर प्राप्त पुरुषों की भिन्नताएं पूर्णतः बाह्य होती है। उनके ईश्वर सम्बन्ध की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं होता। संसार के प्रति उनके सम्बन्ध भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, उसी कारण उनमें भिन्नताएं होती हैं। सत्य की दृष्टि से ये भिन्नताएं महत्व–शून्य है। इन बाह्य भिन्नताओं के कारण, ईश्वर–प्राप्त पुरुषों में उच्चतर या निम्नतर आध्यात्मिक पद–भेद पैदा नहीं होता क्योंकि वे सब समानतः पूर्ण होते हैं। वस्तुतः उनके बीच जो विभिन्नताएं दिखाई देती हैं उनका अस्तित्व एक बाह्य दर्शक के दृष्टिकोण से ही रहता है, ईश्वर प्राप्त पुरुषों के दृष्टि कोण से उनमें कोई पारस्परिक अन्तर नहीं होता। वे सब केवल एक दूसरे से एक नहीं होते किन्तु सम्पूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण अस्तित्व से एक होते हैं।

**संसार के प्रति सम्बन्ध में भिन्नता।**

तथापि सृष्टि के दृष्टिकोण से भिन्न प्रकार के ईश्वर प्राप्त पुरुषों के पारस्परिक अन्तर केवल सुनिश्चित ही नहीं किन्तु ध्यान देने योग्य हैं। ईश्वरानुभूति के पश्चात् कुछ आत्माएं **अपने शरीरों को त्याग देती हैं** और ईश्वर चेतना में नित्य निमग्न हो जाती हैं। उनके लिए केवल ईश्वर ही एक मात्र सत्य होता है तथा सारा संसार शून्य हो जाता है। सत्य के निराकार स्वरूप से वे इतने पूर्णतः युक्त हो जाते हैं कि नामरूपात्मक साकार जगत् से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह जाता।

**कुछ ईश्वर प्राप्त पुरुष अपने शरीर त्याग देते हैं।**

**कुछ ईश्वर प्राप्त पुरुष अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों को कायम रखते हैं किंतु ईश्वर चेतना में पूर्णतः लीन रहने के कारण उन्हें अपने शरीर के अस्तित्व का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।** संसार के अन्य प्राणी उनके शरीर को देख सकते हैं और उन्हें अवतारी पुरुष समझते हैं किंतु केवल दर्शक के दृष्टिकोण से ही उनके शरीर का अस्तित्व रहता है। सूफी भाषा में ऐसे ईश्वर प्राप्त पुरुष मजजुब कहे जाते हैं। मजजुब बोधपूर्वक अपने

**मजजुब**

शरीर का उपयोग नहीं करते क्योंकि उनकी चेतना पूर्णतः ईश्वराभिमुख होती है। शरीर तथा संसार की ओर उनकी चेतना नहीं जाती। उनके लिये उनके स्वंय के शरीर तथा साकार जगत् का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः साकार जगत में उनके शरीर के उपयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि मजजुब चेतना–पूर्वक अपने शरीर का उपयोग नहीं करते तथापि उनके शरीर के केन्द्र से अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, तथा अनन्त प्रेम का ज्योति प्रवाह निरंतर स्वभावतः प्रसारित होता रहता है तथा जो लोग उनके शरीर की आराधना करते हैं वे दिव्यता के इस सहज प्रभाव से महान आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करते हैं।

**कुछ ईश्वर प्राप्त पुरुष सृष्टि से रुचि नहीं रखते।**

कुछ ईश्वर–प्राप्त पुरुषों को ईश्वर चेतना तो होती ही है किन्तु उन्हें अन्य बद्ध आत्माओं के अस्तित्व का भी ज्ञान रहता है। किन्तु इन जीवात्माओं को वे वस्तुतः परमात्मा के ही रूप मानते हैं और वे यह भी जानते है। कि उनका एक न एक दिन मुक्त होना या ईश्वरानुभूति प्राप्त करना निश्चित है। इस ज्ञान में आरूढ़ रहने के कारण बद्ध जीवात्माओं के परिवर्तनशील तथा अल्पकालस्थायी भाग्य के प्रति वे उदासीन रहते हैं। ये ईश्वर प्राप्त पुरुष जानते हैं कि जिस प्रकार उन्होंने स्वयं ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया है उसी प्रकार अन्य लोग भी कभी न कभी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करेंगे। बद्ध लोगों की ईश्वरानुभूति को द्रुत गति से सम्पन्न करने की उन्हें शीघ्रता नहीं रहती और **सृष्टि के काल क्रम में वे कोई सक्रिय रुचि नहीं लेते।**

कुछ ईश्वर प्राप्त पुरुषों को न केवल ईश्वर चेतना ही होती है बल्कि सृष्टि की तथा अपने शरीर की भी चेतना होती है। वे बद्ध जीवात्माओं में सक्रिय सहानुभूति रखते हैं तथा **दूसरे बद्ध आत्माओं को ईश्वर की ओर उन्नति करने में सहायता पहुँचाने के लिए सृष्टि में कार्य करने के लिये वे अपने स्वयम् के शरीर का ज्ञान पूर्वक उपयोग करते हैं।** ऐसी ईश्वर प्राप्त आत्मा को सालिक, सद्‌गुरु या ईश्वर पुरुष कहा जाता है। सालिक या सद्‌गुरु समस्त सृष्टि का केंद्र होता है और ऊँच नीच, अच्छे बुरे सभी प्राणी उससे समान दूरी पर रहते हैं। सूफी पंरपरा के अनुसार यह केंद्र कुतुब कहलाता है। कुतुब अपने प्रतिनिधियों के या नियुक्त कार्यकर्ताओं के द्वारा समस्त सृष्टि का संचालन करता है।

जो सद्‌गुरु, या ईश्वर पुरूष विकास क्रम से सर्व प्रथम निकला तथा अन्य बद्ध जीवात्माओं की जिसने सहायता की तथा जो सहायता करता है, वह अवतार कहा जाता है। साधारण सद्‌गुरु तथा अवतार में एक अन्तर और भी है। जब सद्‌गुरु संसार

के लिए कार्य नहीं करता तो उसका मन अनन्त की ओर पुनः प्रवृत्त होता है और संसार में अवतरित होना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसे प्रसंगों पर वह अपने मन को सांसारिक वस्तुओं तथा कार्यों की ओर प्रवृत्त होने के लिए बाध्य करता है। ऐसे अवसरों पर, कुछ सद्‌गुरु भोजन की इच्छा प्रकट करते हैं अपने बाल खींचते हैं या स्वयम् को थप्पड़ मारते हैं ताकि उन्हें शरीर बोध रहे, अवतरित होने के लिए उन्हें कोई ऐसी शारीरिक क्रिया आवश्यक होती है। किन्तु संसार सम्बन्धी किसी विशेष कार्य में न लगे रहने पर भी अवतार को अपनी सामान्य चेतना कायम रखने में कभी किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। **अवतरण के लिये अवतार को शारीरिक क्रियाओं का आश्रय नहीं लेना पड़ता।**

**अवतार**

चेतना के मौलिक लक्षणों तथा सृष्टि में उसके द्वारा होने वाले कार्य के प्रकार के दृष्टि कोण से अवतार अन्य सद्‌गुरुओं या ईश्वर पुरुषों की ही तरह होता है। सान्त तथा सीमित मन न तो अवतार का होता है और न सद्‌गुरु का क्योंकि अनन्त में मग्न होने के अनन्तर उसका मन सार्वलौकिक हो जाता है। सृष्टि सम्बन्धी सभी प्रकार के कार्यों में लगे रहने पर भी सालिक या सद्‌गुरु या ईश्वर–पुरुष तथा अवतार एक क्षण के लिए भी अपना ईश्वर ज्ञान नहीं खोते तथा जब दूसरी आत्माओं की सहायता करने की उनकी इच्छा होती है तब वे दोनो **सार्वलौकिक मन के ही द्वारा कार्य करते हैं क्योंकि सार्वलौकिक मन उन्हीं का होता है।**

# ईश्वर-पुरुष

(भाग 2)

## ईश्वर पुरुष की अवस्था

मनुष्य के जानने योग्य जितने विषय हैं उन सबमें ईश्वर अध्ययन सर्वश्रेष्ठ विषय है। किन्तु ईश्वर के कोरे सैद्धान्तिक अध्ययन से ही साधक मानव जीवन की असली मँजिल के कोई बहुत नज़दीक नहीं पहुँच जाता। यह सच है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कुछ भी न जानने की अपेक्षा ईश्वर का अध्ययन करना श्रेयस्कर होता है। बुद्धि के द्वारा ईश्वर की खोज करने वाला मनुष्य संशयवादी (Sceptic) या अज्ञेयवादी (agnostic) की अपेक्षा, सौ गुना अच्छा है। किन्तु ईश्वर के बौद्धिक अध्ययन की अपेक्षा ईश्वर को हृदयंगम (feel) करना निश्चयतः श्रेष्ठतर है यद्यपि ईश्वर को हृदयंगम करना भी ईश्वर का अनुभव प्राप्त करने की अपेक्षा कम महत्व रखता है। किन्तु ईश्वर का अनुभव करने से भी दिव्यत्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अनुभव का विषय होने के कारण ईश्वर साधक से भिन्न तथा साधक से बहिर्भूत ही रहता है। ईश्वर की सत्ता में अपने आपको विलीन करने पर, जब ईश्वर से ऐक्य प्राप्त होता है तभी साधक को ईश्वर के सच्चे स्वभाव का पूर्ण बोध होता है। **इस भाँति ईश्वर सम्बन्धी अज्ञान से ईश्वर–विषयक बौद्धिक ज्ञान श्रेष्ठतर है; ईश्वर का बौद्धिक अध्ययन करने की अपेक्षा ईश्वर को हृदयंगम करना श्रेष्ठतर, ईश्वर की हृदयंगम करने की**

**ईश्वरानुभूति ईश्वर के बौद्धिक ज्ञान से भिन्न है।**

**अपेक्षा ईश्वर का अनुभव करना श्रेष्ठता है और ईश्वर का अनुभव करने की अपेक्षा ईश्वर बन जाना श्रेष्ठतर है।**

ईश्वर प्राप्ति या ईश्वरानुभूति की अवस्था उन विभिन्न शंका संदेहों से विमुक्त होती है जिनसे बद्ध मनुष्यों का मन आक्रान्त रहा करता है। जो मनुष्य बद्ध हैं वे कहां से आये हैं और कहां तक जायेंगे इस सम्बन्ध में वे निरंतर अज्ञान तथा संशयात्मक रहते हैं। किन्तु इसके विपरीत ईश्वर वेत्ता मनुष्य मानो सृष्टि के उस केन्द्र में है जहां सृष्टि के आदि और अंत का ज्ञान उत्पन्न होता है। ईश्वरानुभूत पुरुष अपने को ईश्वर जानता है जिस प्रकार मनुष्य निश्चय पूर्वक यह जानता है कि वह मनुष्य है न कि कुत्ता उसी प्रकार ईश्वरवेत्ता पुरुष यह निश्चयपूर्वक जानता है कि वह ईश्वर है। उसका यह ज्ञान कि वह ईश्वर है कोई संदिग्ध विषय, कोई राय, आत्म विभ्रम, कल्पना या अनुमान नहीं है। वह उसके लिये ध्रुव तथा निश्चल सत्य है। उसे किसी बाह्य अनुमोदन या समर्थन की ज़रा भी आवश्यकता नहीं रहती। यह ज्ञान निरन्तर आत्म–ज्ञान पर निर्भर रहता है। औरों के खण्डन से वह ज़रा भी प्रभावित नहीं होता। ईश्वर पुरुष को अपने ईश्वरत्व का इतना निश्चयात्मक ज्ञान रहता है कि किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के द्वारा वह चुनौती देने योग्य नहीं रह जाता। ऐसा पुरुष अपने को ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे साधारण मनुष्य अपने को मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। किन्तु मनुष्य अपने आपको वह समझता है जो वह यथार्थ में नहीं है तथा ईश्वरवेत्ता अपने को वही समझता जो यथार्थ में है।

**निश्चयात्मक ज्ञान।**

ईश्वरानुभूति सारी सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है महान् से महान् भौतिक सुख ईश्वरानुभूति के अनन्त आनन्द की एक क्षणभंगुर प्रतिच्छाया है। व्यापक से व्यापक समस्त सांसारिक ज्ञान ईश्वरानुभूति के अमर सत्य का एक विकृत प्रतिबिम्ब है। भव्य से भव्य समग्र मानवीय बल ईश्वरानुभूति की निःसीम शक्ति का केवल एक अंश है। **पृथ्वी में जो कुछ भी श्रेष्ठ, सुंदर आकर्षक है तथा जो कुछ भी महान, पवित्र तथा उत्साह जनक है वह सब ईश्वरानुभूति के अक्षय तथा अकथनीय गौरव का ही एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग है।**

**ईश्वरानुभूति का गौरव।**

ईश्वरानुभूति का अनन्त आनन्द, अद्वितीय सत्य, असीम शक्ति तथा अक्षर महात्मय बिना किसी मोल के ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। सृष्टि के गर्भ में प्रच्छन्न इस अक्षय निधि को प्राप्त करने के पूर्व जीवात्मा अर्थात् वैयक्तिक आत्मा को विकास

क्रम तथा जन्म परम्परा के सारे द्वंद्व वेदनाएं तथा प्रसव यंत्रणायें अनुभव करनी पड़ती हैं, और इस निधि पर अधिकार प्राप्त करने के लिये उसे अपने पृथक् आहंकारिक अस्तित्व की कीमत चुकानी पड़ती है। ऐश्वर्य की असीम अवस्था में प्रवेश तभी सम्भव है जब सीमित व्यक्तित्व का पूर्ण लोप हो जाय। यह पृथक व्यक्तित्व अर्थात् अहंकार मूलक अस्तित्व सीमित नाम रूप से युक्त और आसक्त होकर प्राधान्य को प्राप्त हो जाता है तथा अंतर्भूत ईश्वर पर अज्ञान का परदा डाल देता है। जब उसका निःशेष नाश हो जाता है तथा उसके सीमित व्यष्टि जीवन का लेशमात्र अंश अवशिष्ट नहीं रह जाता, तब केवल ईश्वर ही शेष रह जाता है। **सीमित अस्तित्व का विसर्जन पृथक् सत्ता के दृढमूल भ्रम का विसर्जन है। सीमित अस्तित्व का परित्याग किसी सत्य का परित्याग नहीं है, वह असत्य का परित्याग तथा सत्य की उपलब्धि है।**

**ईश्वरानुभूति की कीमत।**

ज्यों ज्यों मनुष्य आंतरिक भूमिकाओं का अतिक्रमण करता जाता है, तथा ईश्वरानुभूति की ओर अग्रसर होता जाता है त्यों त्यों वह क्रम क्रम से स्थूल सूक्ष्म तथा मानसिक संसार एवम् अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर के प्रति अचेतन होता जाता है। किंतु ईश्वरानुभूति के पश्चात् कतिपय आत्मा अवतरित होते अर्थात् नीचे उतरते हैं तथा समस्त सृष्टि एवम् अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से चेतन होते हैं। इस अवरोहण तथा अवतरण से उनकी ईश्वर चेतना में कोई विकार नहीं आता। ऐसे पुरुष ईश्वर पुरुष कहलाते हैं। **ईश्वर, स्वयंमेव ईश्वर की हैसियत से, चेतना पूर्वक मनुष्य नहीं होता, तथा मनुष्य की हैसियत से, चेतना पूर्वक ईश्वर नहीं होता। किन्तु ईश्वर पुरुष चेतना पूर्वक ईश्वर भी होता है तथा मनुष्य भी होता है।**

**ईश्वर–पुरुष के दो अंग।**

सृष्टि की चेतना प्राप्त करके भी, ईश्वर पुरुष की ईश्वर चेतना में लेश मात्र भी विकार या अन्तर नहीं आता। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सृष्टि की चेतना स्वयमेव किसी भी प्रकार घातक नहीं है, घातक है संस्कारों के कारण चेतना का सृष्टि प्रपंच में फँस जाना। चेतना जब सृष्टि से इस प्रकार आसक्त हो जाती है तो वह परिणामतः अज्ञान से आच्छादित हो जाती है। उसके अज्ञानाच्छन्न हो जाने के कारण आभ्यंतर दिव्यत्व का उसे ज्ञान नहीं हो पाता। इसी भाँति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शरीर की चेतना स्वयमेव घातक नहीं है, घातक है संस्कारों के कारण चेतना का शरीर से आसक्त हो जाना तथा उससे तादात्म्य अनुभव करना। इस आसक्ति के फल–स्वरूप उस परमात्मा की

**ईश्वर–पुरुष सृष्टि प्रपंच में नहीं फँसता।**

अनुभूति नहीं हो पाती जो एकमात्र अद्वितीय सत्य है, जो सकल सृष्टि का आधार है तथा जो समूचे सृष्टि प्रपंच का सारगर्भित रहस्य है और जिस परमात्मा के ज्ञान से ही सृष्टि का यथार्थ मर्म जाना जा सकता है।

जीवात्मा संस्कारों की श्रृंखला के द्वारा रूपों की दुनिया से बँध जाती है। संस्कार भ्रम पैदा करते हैं और भ्रम के कारण आत्मा अपने को शरीर से युक्त कर लेती है अर्थात अपने को शरीर समझने लगती है। **चेतना की आन्तरिक अशान्ति तथा इच्छा की विकृति केवल शरीर की चेतना के कारण उत्पन्न नहीं होती है किन्तु चेतना की शरीर से सांस्कारिक आसक्ति हो जाने के कारण उत्पन्न होती है।** किन्तु ईश्वर पुरुष सारे संस्कारों से मुक्त रहता है अतः वह निरन्तर अपने को अपने शरीर से भिन्न समझता है। वह पवित्र दिव्य इच्छा अभिव्यक्ति के लिये अपने शरीर का उपयोग साधनों के बतौर उनसे अनासक्त होकर शान्तिपूर्वक करता है। जिस प्रकार गंजे मनुष्य के लिये उसका कृत्रिम केश होता है, उसी प्रकार ईश्वर पुरुष के लिये उसके शरीर होते हैं। गंजा दिन को जब काम पर जाता है तब अपना कृत्रिम केश लगा लेता है, और शाम को वापस लौटने पर उसे उतार कर रख देता है। इसी प्रकार, ईश्वर पुरुष को अपने कार्य के लिये जब शरीर की आवश्यकता होती है तब वह उनका उपयोग करता है; किन्तु जब उसे उनकी आवश्यकता नहीं रहती तब वह उनसे मुक्त रहता है तथा उन्हें अपने ऐश्वर्य के यथार्थ व्यक्तित्व से बिल्कुल भिन्न मानता है।

**ईश्वर चेतना ईश्वर की परिवर्तशील छाया से प्रभावित नहीं होती।**

ईश्वर पुरुष अपने को अनन्त जानता है। वह अपने को समस्त रूपों से परे जानता है। अतः वह पूर्ण अनासक्ति पूर्वक सृष्टि में बिना फँसे सृष्टि से चेतन हो सकता है। दृश्यजगत का मिथ्यात्व उसे ठीक से नहीं समझने में सन्निहित है। उसे ठीक से नहीं समझने का अर्थ है उसे अनन्त आत्मा की भ्रामक अभिव्यक्ति नहीं समझना। अज्ञान, रूप को ही स्वयमेव पूर्ण समझने में सन्निहित है। वस्तुतः रूप अनन्त आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। **ईश्वर पुरुष को सत्य ज्ञान हो जाता है। उसे ईश्वर के यथार्थ स्वभाव तथा सृष्टि के वास्तविक स्वरूप का सच्चा बोध हो जाता है किन्तु उसके इस बोध में द्वैत भाव नहीं रह जाता, क्योंकि सृष्टि का पृथक अस्तित्व उसके लिये नहीं रह जाता। उसके लिये केवल ईश्वर का ही अनन्त तथा वास्तविक अस्तित्व रहता है। वह ईश्वर को ही सृष्टि का मर्म समझता है तथा सृष्टि को वह ईश्वर की परिवर्तनशील छाया समझता है।** अतः ईश्वर पुरुष के सृष्टि से चेतन होने पर भी, उसकी ईश्वर चेतना में कोई भिन्नता

नहीं आती। वह नाम रूपमय संसार में, सृष्टि के प्रारम्भिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये, निरन्तर कार्यनिरत रहता है; और सृष्टि का प्रारंभिक प्रयोजन प्रत्येक आत्मा में पूर्ण आत्म ज्ञान या ईश्वरानुभूति उत्पन्न करना होता है।

ईश्वर की निराकार अवस्था में ईश्वर पुरुष जब रूपों के साकार संसार में अवतरित होता है तो उसे सर्वगत समष्टिमन (Universal Mind) की प्राप्ति होती है।

**ईश्वर पुरुष सर्वगत समष्टि मन के द्वारा कार्य करता है।**

वह इस समष्टि मन के ही द्वारा जानता, अनुभव करता, तथा कार्य करता है; शान्त मन का सीमित जीवन उसके लिये समाप्त हो जाता है; द्वैत के सुख दुःख उसके लिये नहीं रह जाते; पृथक् अहंकार का मिथ्या दम्भ तथा उसकी विफलता उसके लिये नहीं रह जाती। वह समूचे जीवन से ज्ञानतः एक होता है। **सार्वलौकिक मन के द्वारा वह समस्त मनों का केवल सुख ही अनुभव नहीं करता किन्तु समस्त मनों का दुःख भी अनुभव करता है;** और चूँकि, अज्ञान के कारण, अनेक मनुष्य सुख की अपेक्षा अधिक दुःख भोगते हैं, अतः दूसरों के दुःख के कारण ईश्वर पुरुष को जो दुःख अनुभव होता है वह सुख से अनन्त गुना अधिक होता है। बद्ध मनों की पीड़ा से ईश्वर पुरुष को जो पीड़ा होती है, वह अत्यन्त महान् होती है। किंतु ईश्वरावस्था के जिस अनन्त आनन्द का वह निरन्तर तथा अनायास आस्वादन करता है वह यंत्रणा को सहन करने में सहायक होता है। परिणामतः ईश्वर पुरुष यंत्रणा से अलिप्त तथा अविचलित रहता है।

बद्ध जीवात्मा ईश्वरावस्था के अनन्त आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और सीमित मन से अज्ञान पूर्वक युक्त होकर वह अपने संस्कार जन्य सुख दुःखों से अत्यन्त उद्विग्न तथा अस्थिर होता रहता है। किन्तु ईश्वर पुरुष का संसार में जब अवतरण होता है तब उसे जो सार्वलौकिक समष्टि मन प्राप्त होता है वह उस मन से भी युक्त नहीं होता। वह संसार में अपना धर्म कार्य करने के लिये ही सार्वलौकिक मन को धारण करता है; और चूँकि बिना उससे तादाम्य अनुभव किये, केवल अपने कार्य के लिये वह उसका उपयोग करता है अतः उस सार्वलौकिक मन के द्वारा जिस हर्ष शोक का उसे अनुभव होता है वह उससे अप्रभावित तथा अनासक्त रहता है। उसका कार्य पूरा होते ही वह सार्वलौकिक समष्टि मन का परित्याग कर देता है;

**अपना अवतार कार्य समाप्त करके ईश्वर पुरुष अपना विश्वव्यापी मन त्याग देता है।**

**किन्तु सार्वलौकिक मन के द्वारा संसार में कार्य करते समय भी, वह अपने को अनन्त तथा अद्वितीय ईश्वर ही समझता है, न कि सार्वलौकिक मन।**

ईश्वर–पुरुष की ईश्वर से जो एकता होती है वह पूर्ण होती है; और यद्यपि वह द्वैत के जगत में अपना सार्वलौकिक कार्य करने के लिये उतरता है, वह ईश्वर से एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होता। अपनी मनुष्य सदृश सामान्य अवस्था में, उसे समस्त मनुष्यों की सतह पर रहना पड़ता है तथा औरों की तरह खाना पीना तथा दुःखी होना पड़ता है; किंतु चूँकि ये सब कार्य करते हुए भी वह अपने ऐश्वर्य का अनुभव करता रहता है अतः उसे शान्ति, आनन्द तथा शक्ति की सदैव अनुभूति होती रहती है। उदाहरणार्थ ईसा को सूली की यंत्रणा का अवश्य अनुभव हुआ किंतु वह इस यंत्रणा से ज़रा भी प्रभावित नहीं हुआ क्योंकि अपने चेतन ऐश्वर्य के निरन्तर ज्ञान के कारण वह यह जानता था कि द्वैत की दुनिया की प्रत्येक वस्तु भ्रम है। ईसा की यंत्रणा को उसके ईश्वररैक्य के आनन्द का आधार प्राप्त था।

**ईश्वर पुरुष पीड़ा से प्रभावित नहीं होता**

ईश्वर की हैसियत् से ईश्वर पुरुष सभी आत्माओं को अपना ही आत्मा समझता है वह सभी वस्तुओं में अपना दर्शन करता है और सार्वलौकिक मन के विस्तार के भीतर उसके समस्त मन समाविष्ट रहते हैं। ईश्वर पुरुष समस्त बद्ध जीवात्माओं से अपने को एक समझता है। **यद्यपि वह अपने को ईश्वर समझता है और वह इस प्रकार निरन्तर मुक्त रहता है तथापि वह अपने को अन्य बद्ध और इस भाँति वह प्रतिनिधि के नाते बद्ध रहता है** और यद्यपि वह ईश्वरानुभूति के अनन्त आनन्द का निरन्तर अनुभव करता रहता है तथापि वह साथ ही साथ उन अन्य बद्ध जीवात्माओं के प्रतिनिधि की हैसियत से पीड़ा का भी अनुभव करता है जिन्हें वह अपना रूप समझता है। ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने का **यही अर्थ है।** ईश्वर पुरुष मानो निरन्तर सूली पर चढ़ाया जाता है और वह निरन्तर जन्म लेता रहता है। ईश्वर पुरुष में सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ण रूप से सिद्धि हो चुकी रहती है और संसार में रह कर उसे अपने लिये कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। तो भी वह अपने शरीर को बनाये रखता है तथा बद्ध जीवात्माओं का उद्धार करने के लिये तथा ईश्वर प्राप्ति में उनकी सहायता करने के लिये वह उन शरीरों का उपयोग करता है।

**सूली पर चढ़ना**

द्वैत जगत में कार्य करते समय भी, ईश्वर पुरुष किसी भी प्रकार द्वैत से सीमित नहीं होता। उसकी ईश्वरावस्था में, 'मै' और 'तुम' का द्वैत, सर्वव्यापी दैवी प्रेमी के समुद्र में विलीन हो जाता है। **जिस पूर्णावस्था मे ईश्वर पुरुष निवास करता है** वह द्वैत

नहीं आती। वह नाम रूपमय संसार में, सृष्टि के प्रारम्भिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये, निरन्तर कार्यनिरत रहता है; और सृष्टि का प्रारंभिक प्रयोजन प्रत्येक आत्मा में पूर्ण आत्म ज्ञान या ईश्वरानुभूति उत्पन्न करना होता है।

**ईश्वर पुरुष सर्वगत समष्टि मन के द्वारा कार्य करता है।**

ईश्वर की निराकार अवस्था में ईश्वर पुरुष जब रूपों के साकार संसार में अवतरित होता है तो उसे सर्वगत समष्टिमन (Universal Mind) की प्राप्ति होती है। वह इस समष्टि मन के ही द्वारा जानता, अनुभव करता, तथा कार्य करता है; शान्त मन का सीमित जीवन उसके लिये समाप्त हो जाता है; द्वैत के सुख दुःख उसके लिये नहीं रह जाते; पृथक् अहंकार का मिथ्या दम्भ तथा उसकी विफलता उसके लिये नहीं रह जाती। वह समूचे जीवन से ज्ञानतः एक होता है। **सार्वलौकिक मन के द्वारा वह समस्त मनों का केवल सुख ही अनुभव नहीं करता किन्तु समस्त मनों का दुःख भी अनुभव करता है;** और चूँकि, अज्ञान के कारण, अनेक मनुष्य सुख की अपेक्षा अधिक दुःख भोगते हैं, अतः दूसरों के दुःख के कारण ईश्वर पुरुष को जो दुःख अनुभव होता है वह सुख से अनन्त गुना अधिक होता है। बद्ध मनों की पीड़ा से ईश्वर पुरुष को जो पीड़ा होती है, वह अत्यन्त महान् होती है। किंतु ईश्वरावस्था के जिस अनन्त आनन्द का वह निरन्तर तथा अनायास आस्वादन करता है वह यंत्रणा को सहन करने में सहायक होता है। परिणामतः ईश्वर पुरुष यंत्रणा से अलिप्त तथा अविचलित रहता है।

**अपना अवतार कार्य समाप्त करके ईश्वर पुरुष अपना विश्वव्यापी मन त्याग देता है।**

बद्ध जीवात्मा ईश्वरावस्था के अनन्त आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और सीमित मन से अज्ञान पूर्वक युक्त होकर वह अपने संस्कार जन्य सुख दुःखों से अत्यन्त उद्विग्न तथा अस्थिर होता रहता है। किन्तु ईश्वर पुरुष का संसार में जब अवतरण होता है तब उसे जो सार्वलौकिक समष्टि मन प्राप्त होता है वह उस मन से भी युक्त नहीं होता। वह संसार में अपना धर्म कार्य करने के लिये ही सार्वलौकिक मन को धारण करता है; और चूँकि बिना उससे तादाम्य अनुभव किये, केवल अपने कार्य के लिये वह उसका उपयोग करता है अतः उस सार्वलौकिक मन के द्वारा जिस हर्ष शोक का उसे अनुभव होता है वह उससे अप्रभावित तथा अनासक्त रहता है। उसका कार्य पूरा होते ही वह सार्वलौकिक समष्टि मन का परित्याग कर देता है; **किन्तु सार्वलौकिक मन के द्वारा संसार में कार्य करते समय भी, वह अपने को अनन्त तथा अद्वितीय ईश्वर ही समझता है, न कि सार्वलौकिक मन।**

ईश्वर–पुरुष की ईश्वर से जो एकता होती है वह पूर्ण होती है; और यद्यपि वह द्वैत के जगत में अपना सार्वलौकिक कार्य करने के लिये उतरता है, वह ईश्वर से एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होता। अपनी मनुष्य सदृश सामान्य अवस्था में, उसे समस्त मनुष्यों की सतह पर रहना पड़ता है तथा औरों की तरह खाना पीना तथा दुःखी होना पड़ता है; किंतु चूँकि ये सब कार्य करते हुए भी वह अपने ऐश्वर्य का अनुभव करता रहता है अतः उसे शान्ति, आनन्द तथा शक्ति की सदैव अनुभूति होती रहती है। उदाहरणार्थ ईसा को सूली की यंत्रणा का अवश्य अनुभव हुआ किंतु वह इस यंत्रणा से ज़रा भी प्रभावित नहीं हुआ क्योंकि अपने चेतन ऐश्वर्य के निरन्तर ज्ञान के कारण वह यह जानता था कि द्वैत की दुनिया की प्रत्येक वस्तु भ्रम है। ईसा की यंत्रणा को उसके ईश्वररैक्य के आनन्द का आधार प्राप्त था।

ईश्वर पुरूष पीड़ा से प्रभावित नहीं होता

ईश्वर की हैसियत् से ईश्वर पुरुष सभी आत्माओं को अपना ही आत्मा समझता है वह सभी वस्तुओं में अपना दर्शन करता है और सार्वलौकिक मन के विस्तार के भीतर उसके समस्त मन समाविष्ट रहते हैं। ईश्वर पुरुष समस्त बद्ध जीवात्माओं से अपने को एक समझता है। **यद्यपि वह अपने को ईश्वर समझता है और वह इस प्रकार निरन्तर मुक्त रहता है तथापि वह अपने को अन्य बद्ध और इस भाँति वह प्रतिनिधि के नाते बद्ध रहता है** और यद्यपि वह ईश्वरानुभूति के अनन्त आनन्द का निरन्तर अनुभव करता रहता है तथापि वह साथ ही साथ उन अन्य बद्ध जीवात्माओं के प्रतिनिधि की हैसियत से पीड़ा का भी अनुभव करता है जिन्हें वह अपना रूप समझता है। ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने का **यही अर्थ है।** ईश्वर पुरुष मानो निरन्तर सूली पर चढ़ाया जाता है और वह निरन्तर जन्म लेता रहता है। ईश्वर पुरुष में सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ण रूप से सिद्धि हो चुकी रहती है और संसार में रह कर उसे अपने लिये कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। तो भी वह अपने शरीर को बनाये रखता है तथा बद्ध जीवात्माओं का उद्धार करने के लिये तथा ईश्वर प्राप्ति में उनकी सहायता करने के लिये वह उन शरीरों का उपयोग करता है।

सूली पर चढ़ना

द्वैत जगत में कार्य करते समय भी, ईश्वर पुरुष किसी भी प्रकार द्वैत से सीमित नहीं होता। उसकी ईश्वरावस्था में, 'मै' और 'तुम' का द्वैत, सर्वव्यापी दैवी प्रेमी के समुद्र में विलीन हो जाता है। **जिस पूर्णावस्था मे ईश्वर पुरुष निवास करता है** वह द्वैत

के समस्त रूपों तथा द्वन्द्व की सकल सीमाओं से परे रहती हैं वह असीम स्वतंत्रता, अविकृत सम्पूर्णता, अनश्वरत मधुरता, अमर आनन्द, निर्मल दिव्यता, तथा अनिरुद्ध निर्मायकता (Creativity) की अवस्था है। ईश्वर पुरुष ईश्वर से सदैव के लिये अभिन्नतः युक्त रहता है। तथा वह द्वैत के मध्य में ही अद्वैत की अवस्था में निरन्तर निवास करता है और वह न केवल अपने को सभी से एक समझता है **किन्तु अपने को अद्वितीय भी समझता है।** वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वस्तु न देखने की अवस्था से प्रत्येक वस्तु में ईश्वर देखने की अवस्था से अवतरित होता है। अतएव कहना न होगा कि उसके संसारिक कार्य उसे बाँध नहीं सकते। इसके विपरीत, उसके संसारिक कार्य एकमात्र सत्य स्वरूप ईश्वर के अमर गौरवश्री को प्रतिबिम्बित करते हैं, तथा बन्धनों में बँधे हुए अन्य व्यक्तियों को मुक्त करने में वे सहायक होते हैं।

**द्वैत के मध्य में अद्वैत।**

# ईश्वर-पुरुष

**(भाग 3)**

**ईश्वर पुरुष का कार्य**

**ईश्वरानुभूति सृष्टि का अन्तहीन आख़िर है तथा ज्ञान युक्त एवम् बन्धन शून्य कर्म की कालातीत सिद्धि तथा परिपक्व है।** ईश्वरानुभूति के पश्चात् यदि आत्मा जन्म धारण करती है या अवतीर्ण होती है तो अहंकार मूलक मन के रूप में वह अवतीर्ण नहीं होती अपितु वह सशरीर सर्वगत समष्टिमन (Universal Mind) के रूप में अवतीर्ण होती है। जिस प्रकार अहंकार मूलक मन का जन्म कर्म बन्धन के अधीन होता है उसी प्रकार ईश्वर पुरुष का अवरोहण कर्म बन्धन के अधीन नहीं होता। साधारण पुरुष अपनी अदम्य तृष्णा की प्रेरणा से बाध्य होकर जन्म लेता है किन्तु **ईश्वर पुरुष भग्न तथा बन्धन के जगत् में फंसे हुए लोगों के प्रति असीम तथा सहज करुणा के कारण संसार में अवतीर्ण होता है।**

**ईश्वर पुरुष का अवतरण कर्म बन्धन के कारण नहीं होता।**

वे आत्मा जिन्हें ईश्वर की अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है द्वैत की ही सीमा के भीतर रहती है और विभिन्न क्षेत्रों में अनेक पारस्परिक लेनदेन के कार्यों के परिणामस्वरूप वे अपने लिये ऐसे कर्मजन्य कर्जा या पावना की बन्धनों की सृष्टि करती हैं, जिनसे छुटकारा पाने में वे असमर्थ हो जाती हैं। उनके पारस्परिक सम्बन्धों का फल यह होता

है कि या तो वे किसी के ऋणी ग्रस्त या बद्ध हो जाते हैं या कोई दूसरा उनका ऋणी या बद्ध हो जाता है। किन्तु ईश्वर पुरुष अद्वैत या एकता के ज्ञान में निवास करता है और उसके कार्यों का उसके लिये बन्धन कारक होना तो दूर रहा किंतु उसके कार्यबद्ध मनुष्यों के लिये मुक्ति कारक होते हैं। ऐसा एक भी प्राणी नहीं होता जो ईश्वर पुरुष की सत्ता के अन्तर्गत नहीं होता। वह सभी में अपने आप को देखता है और **चूँकि उसके समस्त कार्य उसकी अद्वैत की चेतना से स्फुरित होते है अतः वह स्वतंत्रता पूर्वक दे सकता है; और स्वतंत्रता पूर्वक ले सकता है। किसी को देकर उसे अपना ऋणी नहीं बनाता, न किसी से लेकर वह उसका ऋणी बनता है। उसके कार्य, उसके लिये तथा अन्य मनुष्यों के लिये बन्धन कारक नहीं होते।**

**स्वतंत्र ततमें की बन्धन शून्य लेन देन**

ईश्वर पुरुष सब पर समान रूप से अनुग्रह की वर्षा करता है। यदि कोई मनुष्य निष्कपट भाव से ईश्वर पुरुष का मुक्तहस्त अनुग्रह स्वीकार करता है, तो वह ईश्वर पुरुष से ऐसा सम्बन्ध स्थापित करता है जो उसकी ईश्वर प्राप्ति तक कायम रहता है। और यदि कोई मनुष्य जीवन तथा स्वकीय सर्वस्व समर्पित करके ईश्वर पुरुष की सेवा करता है तो वह उससे ऐसा सम्बन्ध स्थापित करता है जो ईश्वर–पुरुष की अनुकम्पा तथा सहायता को उसकी ओर आमंत्रित करता है, तथा फलतः उसकी आध्यात्मिक उन्नति की वृद्धि करता है। **यदि कोई मनुष्य ईश्वर पुरुष के कार्य का विरोध करता है तो मानो वह भी विरोध के द्वारा ऐसा सम्बन्ध या सम्पर्क स्थापित करता है जो यथार्थ में अप्रत्यक्ष रूप से उसे ईश्वर की ओर बढ़ाने में सहायक होता है।** इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जो इच्छा से या अनिच्छा से उसके कार्य क्षेत्र में प्रवेश करता है किसी न किसी प्रकार से आध्यात्मिक उन्नति करता है।

**ईश्वर पुरुष का सम्पर्क सभी लोगों के लिये कल्याणकारी होता है**

धार्मिक पुरोहित जिस प्रकार कार्य करने में लगे रहते हैं वैसे कार्यों से ईश्वर पुरुष का धर्म कार्य मूलतः भिन्न होता है। परम्परागत रूढ़ धर्मावलम्बी अधिकाँश पुरोहित बाह्य रूप लोकाचार तथा विधिनिषेधों को आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं और चूँकि वे स्वयं स्वार्थपरता, संकीर्णता तथा अज्ञान से मुक्त नहीं होते अतः वे नरक तथा स्वर्ग की आशा दिलाकर दुर्बल तथा विश्वासी व्यक्तियों का अनुचित शोषण करते हैं। इसके विपरीत, ईश्वर पुरुष, सदा सर्वदा के लिये प्रेम, पवित्रता, सार्वलौकिकता तथा ज्ञान के अनन्त जीवन में सदैव के लिये प्रविष्ट हो चुका रहता है; अतः वह केवल आध्यात्मिक महत्व

**ईश्वर पुरुष तथा धर्म के पुरोहित।**

की ही बातों से सम्बन्ध रखता है और अंतर्भूत आत्मा को प्रगट करने के लक्ष्य को ही ध्यान में रख कर वह मनुष्यों की सहायता करता है। स्वयं अज्ञान में फंसे रहने वाले मनुष्य आत्म विभ्रांति (Self Delusion) या बुद्धिपुरस्सर स्वार्थपरता के कारण ईश्वर पुरुष की ही भाषा का भले ही उपयोग करें तथा उसकी वेशभूषा और उसके बाह्य आचरण का अनुकरण भले ही करें; किन्तु अज्ञान में फँसे रहने के कारण वे पूर्ण ज्ञान से युक्त होने, अनन्त आनन्द का अनुभव करने, असीम शक्ति के संचालक होने, आदि बातों में ईश्वर पुरुष की नकल कदापि नहीं कर सकते। ये गुण तो ईश्वर पुरुष को ईश्वर से युक्त होने के कारण प्राप्त हुए हैं।

**आत्म विभ्राँती तथा पाखण्ड।**

अज्ञानी पुरुषों में ईश्वर पुरुषों के दिव्य गुणों का अभाव रहेगा ही। किन्तु यदि वे आत्म विभ्राँति या पाखण्ड के कारण छद्म वेष धारण कर ईश्वर पुरुष होने का ढोंग करें तो उनकी भ्राँति तथा ढोंग का कभी न कभी भंडाफोड़ हुए बगैर न रहेगा। आत्म विभ्राँति के कारण यदि कोई मनुष्य किसी जीवन क्रम का आचरण करता है तो वह अभागा अपने को वह समझता है जो यथार्थ में नहीं है। कुछ भी न जानने पर वह समझता है कि वह सब कुछ जानता है किन्तु भ्रम वश वह जो कुछ भी सोचता या करता है, सच्चाई पूर्वक वैसा सोचता या करता है। वह बेचारा भ्रांत मनुष्य निर्दोष है यद्यपि वह कुछ हद तक दूसरों को हानि पहुँचा सकता है। किन्तु कपटवेशी पाखण्डी जानता है कि वह वस्तुतः कुछ भी नहीं जानता तथा स्वार्थयुक्त कारणों से वह वास्तव में जैसा नहीं है वैसा बनने का ढोंग रचता है किन्तु इस दंभाचरण के द्वारा वह अपने लिये घातक कर्म बँधन उत्पन्न करता है। यद्यपि वह दुर्बल तथा विश्वासी व्यक्तियों के लिये यथेष्ट घातक सिद्ध होता है किंतु वह सदैव लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपना उल्लू सीधा करने में सफल नहीं हो सकता। समय आने पर आप ही आप पोल खुल जाती है। ईश्वर पुरुष बनने के लिये उसके झूठे दावे का भंडा फोड़ हो जाता है, क्योंकि वह इस दावे को सिद्ध नहीं कर सकता।

अपने सार्वलौकिक कार्य की सिद्धि के लिये ईश्वर पुरुष में परिस्थिति तथा पात्र के अनुसार आचरण करने की अनन्त व्यवस्थापन क्षमता होती है। दूसरों की सहायता करने के लिये वह किसी एक प्रणाली पर आसक्त नहीं रहता; वह परम्परागत विधि निषेधों का अंधानुकरण नहीं करता। वह स्वयमेव सर्वोपरि नियम होता है। वह उपस्थित अवसर के अनुसार आचरण कर सकता है तथा प्रस्तुत परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार अभिनय कर सकता है। किन्तु वह किसी परिस्थिति से बंधता नहीं है। एक

बार एक भक्त ने अपने गुरु से उनके उपवास करने का कारण पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, – 'मैं पूर्णता की प्राप्ति के लिये उपवास नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि पूर्णता तो मुझे पहले ही प्राप्त हो चुकी है; और मैं साधक नहीं हूँ। मैं औरों के लिये उपवास करता हूँ।'' एक आध्यात्मिक साधक सिद्ध पुरुष की तरह व्यवहार नहीं कर सकता क्योंकि **सिद्ध पुरुष की सिद्धावस्था का अनुकरण करना साधक के लिये असम्भ है किन्तु सिद्ध पुरुष औरों के कल्याण तथा पथ प्रदर्शन के लिये साधक के समान बर्ताव कर सकता है।** विश्वविद्यालय की सर्वोच्य परीक्षा जिसने पास कर ली है वह बच्चों को सिखाने के लिये वर्णमाला के अक्षरों को बिना किसी कठिनाई के लिख सकता है। जो कार्य वह कर सकता है वही कार्य बच्चे नहीं कर सकते। ईश्वर प्राप्ति का मार्ग औरों को दिखलाने के लिये ईश्वर पुरुष बहुधा भक्त की भाँति आचरण कर सकता है यद्यपि उसने ईश्वर से पूर्ण एकता प्राप्त कर ली है। ईश्वरानुभूति के पश्चात् भी वह औरों के पथ प्रदर्शन के हेतु एक भक्तवत् अभिनय करता है। वह किसी एक प्रकार के आचरण से बँधा नहीं रहता। वह अपनी शिक्षा पद्धति को सहायता इच्छुक व्यक्तियों तथा पथ प्रदर्शनार्थी जनो की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित कर सकता है। और अपने खुद के लिये प्राप्तव्य एक भी वस्तु उसके लिये बाक़ी नहीं रहती अतः जो कुछ भी वह करता है, वह औरों की आध्यात्मिक भलाई के लिये ही करता है।

**सिद्ध ईश्वर पुरुष साधक सदृश बर्ताव कर सकता है।**

औरों की आध्यात्मिक सहायता करने के लिये ईश्वर पुरुष किसी एक प्रकार की शिक्षा पद्धति का आवश्यक रूप से कायल तो रहता ही नहीं; साथ ही साथ वह अच्छाई सम्बन्धी परम्परागत मापदंड से भी बद्ध नहीं रहता। अच्छाई और बुराई के भेदभाव से वह परे रहता है। किन्तु यद्यपि उसके कार्य संसार की आँखों में नियम शून्य से दिखाई पड़ते हैं तथापि वे औरों के आध्यात्मिक हित संवर्धन के ही लिये होते हैं। भिन्न–भिन्न मनुष्यों के लिये वह भिन्न–भिन्न तरीकों को उपयोग करता है। उसका कोई अपना स्वार्थ या निजी मतलब तो रहता ही नहीं और उसके समस्त कार्य सर्वदा परमार्थ परायण करुणा से प्रेरित होते हैं अतः अपने कार्यों से वह अनासक्त रहता है। अपने शिष्यों को माया से निकालने के लिये वह माया का ही उपयोग करता है तथा अपने आध्यात्मिक कार्य को पूर्ण करने के लिये वह अनन्त उपायों से काम लेता है। भिन्न–भिन्न मनुष्यों के लिये उसके उपाय भिन्न–भिन्न होते हैं तथा एक मनुष्य के लिये उसका उपाय सब समय एक सा नहीं हुआ करता । कभी कभी वह ऐसा भी कार्य

**वह माया को नष्ट करने के लिये माया का ही उपयोग करता है।**

करता है जिसे देखकर लोग दंग रह जाते है क्योंकि उसका वह कार्य उनकी सामान्य अपेक्षाओं के विपरीत होता है। वे नहीं समझ पाते कि उसका कार्य किसी आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्धि के लिये किया गया है। **एक लम्बे सुंदर सपने से किसी मनुष्य को जगाने के लिये एक छोटे उद्वेगकर आकस्मिक स्वप्न का व्याघात बहुधा उपयोगी हुआ करता है।** उद्वेगकर आकस्मिक स्वप्न की ही तरह ईश्वर पुरुष जान बूझकर किसी व्यक्ति को उद्वेगकर आघात पहुँचाता है तथा जिस प्रकार एक छोटे उद्वेगकर स्वप्न से मनुष्य का दीर्घकालीन स्वप्न भंग हो जता है उसी प्रकार किसी छोटी सी घटना के आघात से मनुष्य माया की दीर्घकालीन नींद से जाग पड़ता है। घटने के समय वह घटना अप्रिय मालूम होती है किन्तु उसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

**डूबते हुए मनुष्य का रक्षण।**

ईश्वर पुरुष कुछ मनुष्यों के साथ अनुचित रीति से कठोर बर्ताव करता हुआ दिखाई देता है किन्तु बाह्य दर्शकों को आन्तरिक वस्तु स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। अतः उसकी ऊपरी कठोरता के यथार्थ औचित्य को वे ठीक ठीक समझ नहीं पाते किन्तु सच पूछा जाये तो उपस्थित परिस्थिति की माँग के अनुसार उसकी निष्ठुरता एक अनिवार्य आवश्यकता होती है तथा जिसके प्रति कठोर बर्ताव किया जाता है उसके लिये परम हितकर सिद्ध होती है। ऐसे निष्ठुर कार्य का एक सुंदर तथा स्पष्ट सादृश्य उन कुशल तैरने वालों के दृष्टान्त में मिलता है जो डूबते हुए मनुष्य के रक्षण के लिये बुद्धिमता पूर्वक निष्ठुर कार्य करते हैं। यह तो सभी को मालूम है कि जब मनुष्य पानी में डूबने लगता है तो वह जो भी वस्तु मिले उसे पकड़ लेना चाहता है। डूबता हुआ मनुष्य डर तथा किंकर्तव्यविमूढता के कारण अपने रक्षक को ऐसे अनुचित ढंग से पकड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप अपने साथ अपने बचानेवाले को भी डुबा ले जा सकता है। डूबने वाला मनुष्य अपने बचाने वाले को जिस ढंग से पकड़ता है। उससे उसको बचाना असम्भव हो जाता है। अतः डूबते मनुष्य के बचाने वाले को बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। जो मनुष्य डूबते मनुष्य को डूबने से बचाने की कला में निपुण होता है वह बहुधा उस मनुष्य के सिर पर आघात करके उसे मूर्छित कर देता है ताकि वह उसे रद्दी ढंग से न पकड़े। इस ऊपरी कठोरता के द्वारा वह डूबने वाले मनुष्य पर आये हुए संकट को कम कर देता है और सफलतापूर्वक उसकी सहायता करके उसे डूबने से बचा लेता है। ठीक इसी प्रकार औरों के आध्यात्मिक हित को ध्यान में रखकर ही ईश्वर पुरुष किन्हीं–किन्हीं मनुष्यों के प्रति कठोरता का बर्ताव करता है।

जीवात्मा संसार में फँस जाती है; और संसार कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। चूँकि कल्पना का कही अंत नहीं है अतः जीवात्मा अनिश्चित काल तक मिथ्या चेतना के गहन मार्ग में भटकती रह सकती है। किन्तु **ईश्वर पुरुष सत्य का दर्शन कराके, मिथ्या चेतना की विभिन्न स्थितियों का शीघ्रातिशीघ्र अतिक्रमण करा सकता है;** और उन्हें पार करने में लगने वाले समय को अत्यन्त संक्षिप्त कर सकता है। जब मन सत्य का दर्शन नहीं करता है तो वह तरह–तरह की कल्पनायें करता रहता है। जैसे कोई आत्मा कल्पना करती है कि वह भिक्षुक है कोई कल्पना करता है कि वह राजा है कोई कल्पना करती है कि वह पुरुष है या स्त्री है इत्यादि।

**मिथ्या चेतना की स्थितियों का शीघ्रातिशीघ्र अतिक्रमण।**

इस प्रकार जीवात्मा द्वन्द्वात्मक अनुभव राशि का संचय करती चला जाती है। जहाँ भी द्वैत है, वहीं द्वन्द्व के द्वारा समता स्थापित करने की प्रवृत्ति होगी। जैसे, यदि कोई मनुष्य हत्या करके हत्यारा होने का अनुभव करता है तो वह द्वन्द्व के एक भाग का ही अनुभव करता है। अतः अपने अधूरे अनुभव की पूर्ति के लिये किसी दूसरे के द्वारा स्वयं हत्या किये जाने का उसे अनुभव करना पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा को यदि राजा बनने का अनुभव होता है तो वह भिखारी बनने के अनुभव के द्वारा उस अनुभव की पूर्ति करता है। **इस प्रकार जीवात्मा अनन्त काल तक द्वन्द्वों के बीच भटकता रहती है तथा अपनी मिथ्या चेतना को अन्त करने में अपने को असमर्थ पाती है।** ईश्वर पुरुष उसे सत्यदर्शन कराके सत्य प्राप्ति में उसकी सहायता कर सकता है। ईश्वर पुरुष उसकी कल्पना की क्रिया को संक्षिप्त कर देता है। **यदि वह ऐसा न करे तो जीवात्मा को मिथ्या कल्पना कहीं समाप्त नहीं होती।** ईश्वर पुरुष बद्ध जीवात्मा के अंतःकरण में **ईश्वरानुभूति का बीज बोकर,** उसकी सहायता करता है। किन्तु ईश्वरानुभूति की प्राप्ति करने के लिये हमेशा कुछ समय लगता है। संसार में विकास के किसी भी क्रम के लिये, समय की आवश्यकता होती है।

**ईश्वरानभूति का बीज**

उन्नत साधक भी कुछ सहायता कर सकते हैं किन्तु उनकी सहायता की अपेक्षा ईश्वर पुरुष की सहायता अत्यधिक सफलीभूत होती है साधक सहायता करता है तो वह हमेशा मनुष्य को वहीं तक ले जा सकता है, जहाँ तक वह स्वयम् पहुँचा है और उसकी यह सीमित सहायता भी धीरे–धीरे अपना प्रभाव उन्नत करती है। फलतः जो मनुष्य ऐसी सहायता के द्वारा उन्नत होता है, उसे प्रथम भूमिका में दीर्घ काल तक ठहरना पड़ता है फिर द्वितीय

**ईश्वर–पुरुष की सहायता।**

भूमिका में भी बहुत समय तक रुकना पड़ता है और इसी भाँति अन्य भूमिकाओं में भी। किन्तु सहायता देने के लिये, यदि ईश्वर पुरुष किसी मनुष्य को चुनता है तो वह उसे अपनी अनुकम्पा के द्वारा एक क्षण में ही सातवीं भूमिका में पहुँचा सकता है; यद्यपि इस एक क्षण के भीतर उस साधक को समस्त अंतरवर्ती भूमिकायें पार करनी पड़ती हैं।

**बरगद के वृक्ष का सादृश्य।**

जब ईश्वर पुरुष किसी मनुष्य को सातवीं भूमिका में पहुँचाता है तो वह उसे अपने ही समान बनाता है। और जो मनुष्य इस प्रकार, सर्वोच्य आध्यात्मिक परम पद को प्राप्त होता है वह स्वयं ईश्वर पुरुष बन जाता है। ईश्वर पुरुष आध्यात्मिक ज्ञान का अपने शिष्य में जो संचारण करता है वह एक दीपक से दूसरे दीपक को ज्योतित करने के तुल्य है जिस जलते हुए दीपक से दूसरा दीपक ज्योतित होता है वह उसके समान ज्योति देने में समर्थ हो जाता है तथा महत्व और उपयोगिता की दृष्टि से उन दोनों दीपकों में कोई अंतर नहीं रह जाता। ईश्वर पुरुष बरगद के वृक्ष के सदृश होता है। **बरगद का वृक्ष उच्च तथा विशाल होता है तथा धूप, वर्षा और आँधी से यात्रियों की रक्षा करता है, तथा उसके पूर्णतः विकसित हो जाने के पश्चात् उसकी जड़ के समान नीचे की ओर झुकने वाली शाखायें ऊसर ज़मीन में काफ़ी गहराई तक घुस जाती हैं और उससे कुछ समय के पश्चात् एक दूसरा पूर्ण बरगद का वृक्ष उत्पन्न होता है, जो पहले बरगद के वृक्ष की तरह उच्च और विशाल होता है तथा न केवल पहले बरगद के वृक्ष की ही भांति धूप, वर्षा तथा आँधी से यात्रियों की रक्षा करता है, किन्तु पहले बरगद के वृक्ष की ही भांति वह भी एक दूसरा पूर्ण बरगद का वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। यही बात ईश्वर पुरुष पर भी लागू होती है जो अन्य मनुष्यों में सुप्त ईश्वर पुरुष को जागृत करता है।** पृथ्वी पर ईश्वर–पुरुषों का क्रमबद्ध निरंतर अभ्युदय मानवता के लिये स्थायी वरदान है। ये ईश्वर पुरुष मानवता की तिमिराच्छादित पूर्ण यात्रा में उसका पथ प्रदर्शन करते हैं।

**प्रभु तथा सेवक**

ईश्वर पुरुष संसार का प्रभु भी है तथा साथ ही साथ सेवक भी है अपने अक्षय अनुग्रह की मुक्त हस्त से अनन्त वर्षा करने वाले की हैसियत से वह संसार का स्वामी है; तथा निरंतर औरों का भार वहन करने वाले तथा उन्हें उनकी असंख्य कठिनाईयों में सहायता करने वाले के नाते वह संसार का सेवक है। **जिस प्रकार वह प्रभु है** उसके साथ ही साथ वह सेवक भी है उसी प्रकार वह परम प्रेमी तथा अद्वितीय प्रियतम भी है। जिस प्रेम का वह दान करता है तथा प्रति

दान में वह जो प्रेम प्राप्त करता है वह प्रेम जीवात्मा को अज्ञान से मुक्त करता है। जब वह प्रेम देता है तो वह अन्य रूपधारी अपने आप को ही देता है जब वह प्रेम प्राप्त करता है तो वह वही प्रेम प्राप्त करता है जिसे वह अपने अनुग्रह के द्वारा औरों में जाग्रत करता है। वह बिना किसी भेद भाव, सब पर **अपने अनुग्रह की वर्षा करता है।** ईश्वर पुरुष का अनुग्रह मेघ जल के तुल्य है। मेघ का जल, ऊसर तथा उर्वरा सभी भूमियों पर समान भाव से बरसता है। उसी प्रकार ईश्वर पुरुष सभी मनुष्यों पर, बिना भेदभाव के अपने अनुग्रह की वर्षा करता है। किन्तु जिस प्रकार, परिश्रम पूर्वक तथा धैर्य पूर्वक जोती गई उर्वरा भूमि में ही वर्षा के कारण बीज उगता है, तथा फलता फूलता है, उसी प्रकार योग्य पात्र में ही, ईश्वर पुरुष का अनुग्रह उगता तथा विकसित होता है।

# मण्डल

कई जन्मों की खोज, पवित्रता, सेवा तथा आत्म बलिदान के पश्चात् जीवात्मा को ईश्वर प्राप्त गुरु से मिलने तथा उससे सम्बद्ध होने का सौभाग्य प्राप्त होता है; और गुरु से कई जन्मों के निकट सम्बद्ध रखने तथा उसे प्रेम करने तथा उनकी सेवा करने के पश्चात् वह उसके मण्डल में प्रवेश करता है।

**गुरु के मण्डल में प्रवेश।**

जब गुरु अपने कार्य के लिये अवतार लेता है तो वह सदैव अनिवार्यतः उन सभी को अपने साथ लाता है जो उसके मंडल में प्रविष्ट हो गये रहते हैं। जो उसके मण्डल में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे वे आत्मायें हैं, जिन्होंने अपने प्रयत्नों के द्वारा, ईश्वरानुभूति का अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा ईश्वरानुभूति का निश्चित समय ज्योंही आता है त्योंही गुरु के अनुग्रह से उन्हें ईश्वरानुभूति होती है।

द्वैत के संसार में होने वाले समस्त कार्य द्वैत के संस्कारों से प्रेरित होते हैं। द्वैत की चेतना का अर्थ है द्वैत के संस्कारों की क्रिया। इन द्वैत के संस्कारो के द्वारा पहले जो चेतना के विकसित होने तथा उसके सीमित होने का उद्देश्य पूर्ण होता है तदनन्तर द्वैत के संस्कारों के ही द्वारा, आत्मज्ञान या ईश्वरानुभूति की प्राप्ति करने में चेतना को सहायता मिलती है।

**द्वैत के संस्कारों की क्रिया**

**जीवात्मा जब तक द्वैत के अनुभवों को पार नहीं कर चुकती तब तक उसे अपनी एकता की चेतना प्राप्त नहीं हो सकती और द्वैत के अनुभव द्वैत के संस्कारों द्वारा प्राप्त होते हैं।**

आदि से लेकर अन्त तक जीवात्मा संस्कारों के वेग के वशीभूत रहता है। ये संस्कार ही जीवात्मा का भाग्य विधान करते हैं। ये संस्कार प्रारब्ध संस्कार कहलाते हैं।

**प्रारब्ध संस्कार**

**प्रारब्ध संस्कार सदैव द्वन्द्व मूलक होते हैं** जैसे लोभ के संस्कार तथा लोभ के विरोधी संस्कार, वासना के संस्कार तथा वासना के विरोधी संस्कार क्रोध के संस्कार तथा क्रोध के विरोधी संस्कार, बुरे विचारों, शब्दों तथा कार्यों के संस्कार तथा इनके विरोधी संस्कार।

परमाणु की अवस्था से लेकर, ईश्वरानुभूति की अवस्था तक जीवात्मा द्वैत के संस्कारों से बँधी रहती है; और जो कुछ भी उसे अनुभव होता है वह द्वैत के ही संस्कारों से निर्णीत होता है। **जब जीवात्मा को परमात्मा की अनुभूति होती है तो उसके समस्त संस्कार लुप्त हो जाते हैं।** यदि वह दिव्यता के ही अनुभव में मग्न हो जाय, तथा द्वैत जगत की सामान्य चेतना में अवतरित न हो तो वह सर्वदा के लिये, सभी प्रकार के संस्कारों से परे रहती है। उसके कोई संस्कार नहीं रह जाते और न रह ही सकते हैं।

**संस्कारों का लोप।**

किन्तु यदि ईश्वर प्राप्त पुरुष द्वैत जगत की चेतना में अवरोहण करता है तो सार्वलौकिक मन प्राप्त करता है और उसे जो सार्वलौकिक मन प्राप्त होता है वह हल्के तथा बन्धन शून्य संस्कारों से सम्पन्न होता है। ये संस्कार **योगायोग संस्कार** कहलाते हैं। अपनी परमावस्था में गुरु समस्त संस्कारों से मुक्त रहता है और जब उसे सृष्टि का ज्ञान रहता है और जब वह सृष्टि में काम करता है तब भी वह योगायोग संस्कारों से अनासक्त तथा विमुक्त रहता है। ये योगायोग संस्कार उसके सार्वलौकिक मन पर अत्यंत हलके रूप से आसीन रहते हैं। **योगायोग संस्कार उसके सार्वलौकिक कार्य को प्रवाहित करने वाली धाराओं का काम करते हैं ये संस्कार उसकी चेतना को श्रृँखलाबद्ध तथा सीमित नहीं करते।**

**विश्वव्यापी समष्टि मन (Universal Mind) के योगायोग संस्कार।**

योगायोग संस्कार स्वतः **गतिशील** होते है। ईश्वर पुरुष के समस्त विशिष्ट सम्बन्ध तथा संपर्क अंततोगत्वा इन **योगायोग संस्कारों** पर निर्भर रहते हैं। योगायोग **संस्कार सार्वलौकिक मन पर किसी तरह का आवरण नहीं डालते। वे किसी अज्ञान की सृष्टि नहीं करते। वे सुनिश्चित कार्यों को पूर्ण करने के लिये एक आवश्यक ढाँचे के बतौर होते हैं।** योगायोग संस्कार के द्वारा ईश्वर की सार्वलौकिक इच्छा की अभिव्यक्ति विशिष्ट रूप धारण कर लेती है। देश तथा काल के संसार में जो भी कार्य व्यक्त होगा

**योगायोग संस्कारों की क्रिया।**

वह किसी निश्चित वस्तु स्थिति या परिस्थितियों का एकराशि से अवश्य सम्बद्ध रहेगा, और जब उस कार्य का सम्बन्ध किसी दूसरी परिस्थिति से न होकर किसी विशिष्ट परिस्थिति से होता है तथा वह सम्बन्ध किसी अन्य प्रकार से न होकर किसी विशेष प्रकार से होता हैं तो उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। **बद्ध जीवात्माओं के कार्यों का विशिष्ट प्रकार से सीमित होना उनके प्रारब्ध संस्कारों पर निर्भर होता है और उनके ये प्रारब्ध संस्कार बंधन कारक होते हैं तथा मुक्तात्मा का सीमित होना उसके योगायोग संस्कारों पर अवलम्बित रहता है किंतु ये योगायोग संस्कार बन्धनकारक नहीं होते।**

**सिद्ध पुरुष के कार्य सृष्टि के नियमों से ही चलते हैं।**

यदि ईश्वर पुरुष को सामान्य सांसरिक चेतना में अवतरित होते समय वे योगायोग संस्कार प्राप्त न हों तो वह सुनिश्चित प्रकार का कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकेगा। **योगायोग संस्कार, उसके द्वारा दिव्य इच्छा को विशिष्ट रूप देने में तथा उसके धर्मकार्य को पूर्ण करने में सहायक होते हैं।** ईश्वर पुरूष का अस्तित्व ज्ञान आनन्द, प्रेम तथा शक्ति अनन्त होती है; और वह अपनी अतीतावस्था में अनन्त रहता तथा अपने आपको अनन्त जानता है। किन्तु सृष्टि–जगत में जो कार्य वह सिद्ध करता है वह सृष्टि के नियमों के अधीन रहता है; अतः एक अर्थ में उसका कार्य सीमित रहता है। चूँकि उसका कार्य, प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में प्रसुप्त दिव्यता तथा प्रछन्न अनन्तता को व्यक्त करने से सम्बन्ध रखता है, और चूंकि इस अनन्तता तथा दिव्यता की अनुभूति ही समस्त सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है, अतः **उसके कार्य का अनन्त महात्य है।** किंतु यदि उसके कार्य का माप कार्य के परिणामों के मापदण्ड से किया जाय तो वह संसार में किये जाने वाले अन्य किसी भी सम्भव कार्य के भाँति सीमित होता है।

**ईश्वर पुरुष के कार्य का क्षेत्र तथा विस्तार योगायोग संस्कारों से निर्दिष्ट होते हैं।**

किन्तु परिणामों की तुला पर ईश्वर–पुरुष के कार्य को तोलने पर भी मालूम होगा कि ईश्वर पुरुष के कार्य के परिणाम की तुलना में संसार पुरुषों के कार्य के परिणाम अत्यन्त तुच्छ तथा महत्व शून्य होते हैं। महान् से महान् पुरुष जो संसार में बँधा हुआ है वे परिणाम नहीं पैदा कर सकता जो ईश्वर पुरुष कर दिखाता है। ईश्वर पुरुष के कार्य के पीछे ईश्वर की अनन्त शक्ति होती है तथा संसारी पुरुष अपने अहंकार मूलक मन की सीमित शक्ति के द्वारा कार्य करता है। किन्तु कभी कभी ईश्वर पुरुष भी कोई सीमित कार्य करके तिरोहित हो जाता है इसका यह कारण नहीं होता

कि उसकी शक्ति सीमित होती है– **किन्तु उसके योगायोग संस्कारों के द्वारा उतना ही कार्य निर्दिष्ट रहता है उससे अधिक नहीं और उसका कार्य उसके लिये बन्धन कारक भी नहीं होता।** योगायोग संस्कारदत्त कार्य को समाप्त करके, वह अनन्त के निराकार स्वरूप में पुनः मग्न हो जाता है। उसके योगायोग संस्कारों के द्वारा, उसके जितने समय तक कार्य करने का आयोजन रहता है, उससे एक क्षण भी अधिक वह नहीं ठहरता।

सिद्ध पुरुषों की ही भाँति अवतार का भी मण्डल होता है। जब अवतार जन्म लेता है तो उसके समक्ष एक सुस्पष्ट तथा सुनिश्चित आध्यात्मिक धर्म कार्य उपस्थित रहता है जो योजना के अनुसार अग्रसर होता है। यह कार्यक्रम या योजना सावधानीपूर्वक समय की गति के अनुसार व्यवस्थित रहती है। अवतार के अवतरण का क्रम अद्वितीय होता है। भौतिक शरीर धारण करने के पूर्व तथा द्वैत जगत में अवतरित होने से पहले वह अपने आपको तथा अपने मण्डल के व्यक्तियों को विशेष प्रकार के संस्कार प्रदान करता है। जो विज्ञानी संस्कार कहलाते हैं। अवतार का मण्डल एक सौ बीस व्यक्तियों से बनता है। अवतार के जन्म के समय, उन सबको जन्म लेना पड़ता है। भौतिक शरीर धारण करने के पूर्व विज्ञानी संस्कारों के ग्रहण करना, अपने आप पर तथा अपने मण्डल पर एक आवरण डालने को समान है। जन्म लेने के पश्चात् अवतार तब तक विज्ञानी संस्कारों के आवरण से आच्छादित रहता है जब तक वह समय न आ जाय, जिसे वह स्वयं नियुक्त करता है। किन्तु ज्योंही स्वयं उसके द्वारा नियत समय आता है त्योंही वह अपनी मौलिक दिव्यता का अनुभव करता है तथा विज्ञानी संस्कारों के द्वारा कार्य करना शुरू करता है। **कार्य शुरू करते ही उसके विज्ञानी संस्कार सार्वलौकिक मन के योगायोग संस्कार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।**

**विज्ञानी संस्कारों का स्वरूप।**

व्यावहारिक दृष्टि कोण से देखा जाय तो विज्ञानी संस्कार द्वैत के अन्य सामान्य संस्कारों के ही समान होते हैं यद्यपि स्वभाव में वे उनसे मूलतः भिन्न होते हैं। विज्ञानी संस्कारों के द्वारा जो कार्य प्रेरित होते हैं तथा जो फल उत्पन्न होते हैं वे सामान्य संस्कारों से प्रेरित कार्यों और फलों के ही समान होते हैं। किन्तु जहाँ सामान्य संस्कारों द्वारा प्रेरित कार्यों तथा फलों में भ्रम–जन्य द्वैत के बन्धन को दृढ करने की प्रवृत्ति होती है वहाँ विज्ञानी संस्कारों द्वारा प्रेरित कार्यों और अनुभवों के परिणाम–स्वरूप द्वैत के बंधन व्यवस्थित ढंग से ढीले होते जाते हैं। **विज्ञानी संस्कारों का कार्य रूप में परिणत होना ईश्वर से एकता की**

**अनुभूति प्राप्त करना है। अतः विज्ञानी संस्कार एकता या ईश्वर के प्रवेश द्वार कहलाते हैं।**

**ईश्वरानुभूति के लिये निश्चित समय।**

मण्डल के व्यक्ति विज्ञानी संस्कारों के आवरण से तब तक आच्छन्न रहते हैं जब तक वे उस निश्चित समय में ईश्वरानुभूति नहीं कर लेते जो अवतार के द्वारा नियत कर दिया गया रहता है और अवतार के द्वारा जब उन्हें ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है तब वे विज्ञानी संस्कार जो वे अपने साथ लाते हैं आवरण नहीं रह जाते, किन्तु योगायोग संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं। इन योगायोग संस्कारों के द्वारा वे ईश्वर प्राप्त पुरुष पृथ्वी पर दैवी योजना की पूर्ति करते हैं।

**विज्ञानी संस्कारों तथा योगायोग संस्कारों में भेद।**

विज्ञानी संस्कारों तथा योगायोग संस्कारों में एक महत्व का भेद है। यद्यपि विज्ञानी संस्कार ईश्वर प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं और अंत में उनके कार्यों से ईश्वर प्राप्ति होती है, किन्तु जब तक ईश्वर प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक वे सीमा बद्धता का ही अनुभव करते हैं। किन्तु ईश्वरानुभूति के पश्चात् प्राप्त होने वाले योगायोग संस्कारों के द्वारा अनन्तत्व के अनुभव में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उसका अनन्तत्व का अनुभव द्वैत के परे रहता है। योगायोग संस्कारों से द्वैत जगत के कार्य तथा सम्बन्ध निश्चित तथा निर्दिष्ट होते हैं। विज्ञानी संस्कारों के कार्य में परिणत होने के परिणाम स्वरूप खुद को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है तथा योगायोग संस्कारों के कार्य में परिणत होने के परिणाम स्वरूप अन्य बद्ध जीवात्माओं को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है।

**परात्पर स्थिति।**

परात्पर अवस्था में देश काल तथा दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं रहता। द्वैत के दृश्य जगत् में देश, काल तथा कार्य कारण का नियम है। अतः जब सिद्ध पुरुष द्वैत के क्षेत्र में मानव जाति के उद्धार के लिए, कार्य करता है तो उसका कार्य देश, काल तथा कार्य कारण के नियम के अधीन हो जाता है तथा बाह्य कार्य के दृष्टिकोण से वह समय समय पर सीमित सा दिखाई देता है यद्यपि, वस्तुतः वह अतीतावस्था की अनन्तता तथा एकता का निरन्तर अनुभव करता रहता है। **यद्यपि वह स्वयं कालातीत होता है तथापि जब वह द्वैत की सीमा के अंतर्गत व्यक्तियों के लिए कार्य करता है तो समय का महत्व रहता है।**

मानव जाति के प्रति ईश्वर पुरुष का सामान्य कार्य अविश्रांत रूप से, उच्चतर शरीरों के द्वारा ही होता रहता है किन्तु जब वह अपने मण्डल में सम्मिलित व्यक्तियों

के लिये कार्य करता है तब उसका कार्य समय बद्ध रहता है। यह समय गम्भीर चिंतन तथा सावधानी के साथ वह स्वयं निश्चित करता है क्योंकि वह कार्य उनके संस्कारों की यंत्र तुल्य क्रिया में निश्चित तथा महत्वपूर्ण व्याधात उत्पन्न करता है अर्थात संस्कारों का क्रिया में परिणत होना शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न किया जाता है। वह मण्डल के लिये निश्चित समयों पर कार्य करता है। अतः जो व्यक्ति गुरु के आदेशों का पालन करने में उनके द्वारा नियत समय की पाबन्दी करते हैं वे गुरु के विशेष कार्य का फल प्राप्त करते हैं। गुरु जिस विशेष कार्य का विधान करता है उसके दृष्टिकोण से समय का प्रमुख महत्व है। अपने मण्डल के व्यक्तियों के सम्बन्ध में गुरु जो विशेष कार्य हाथ में लेता है उसका प्रभाव तथा स्पर्श केवल इन व्यक्तियों पर ही नहीं होता किन्तु उन लोगों पर भी होता है जो उसके मण्डल के व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में रहते हैं।

**गुरु मण्डल से परिधि–बद्ध नहीं होता।**

गुरु का मण्डल गुरु के सार्वलौकिक कार्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। मंडल से संबद्ध होकर तथा मण्डल के ही द्वारा वह मानव जाति के प्रति अपने आध्यात्मिक कर्तव्य का पालन करता है। अनेक जन्मों के निकट सम्बन्धों तथा सम्पर्कों के परिणाम स्वरूप यह मण्डल अस्तित्व में आता है। अत्यन्त समीपस्थ शिष्यों का ऐसा एक मण्डल सभी गुरुओं का होता है। किन्तु, यह मण्डल गुरु की आन्तरिक चेतना को किसी प्रकार भी सीमा बद्ध नहीं करता। **अपनी ईश्वरावस्था में गुरु अपने को समस्त संसार तथा प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में, स्थित पाता है और उसकी सत्ता को परिधि बद्ध करने के लिये, कोई नहीं रह जाता।** अद्वैत की अनन्तता में विशेष सम्बन्ध के लिये, गुंजाइश नहीं रहती। **दृश्य जगत् में किये जाने के लिये ज़ो कार्य तथा कर्तव्य गुरु अपने हाथ में लेता है उन्हीं के सम्बन्ध से, मण्डल का अस्तित्व होता है।** किन्तु दृश्य जगत् में किये जाने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण से गुरु का मण्डल उतना ही महान् सत्य होता है जितना कि हिमालय।

भाग 2
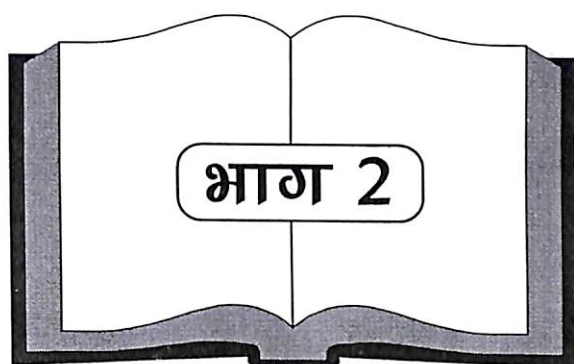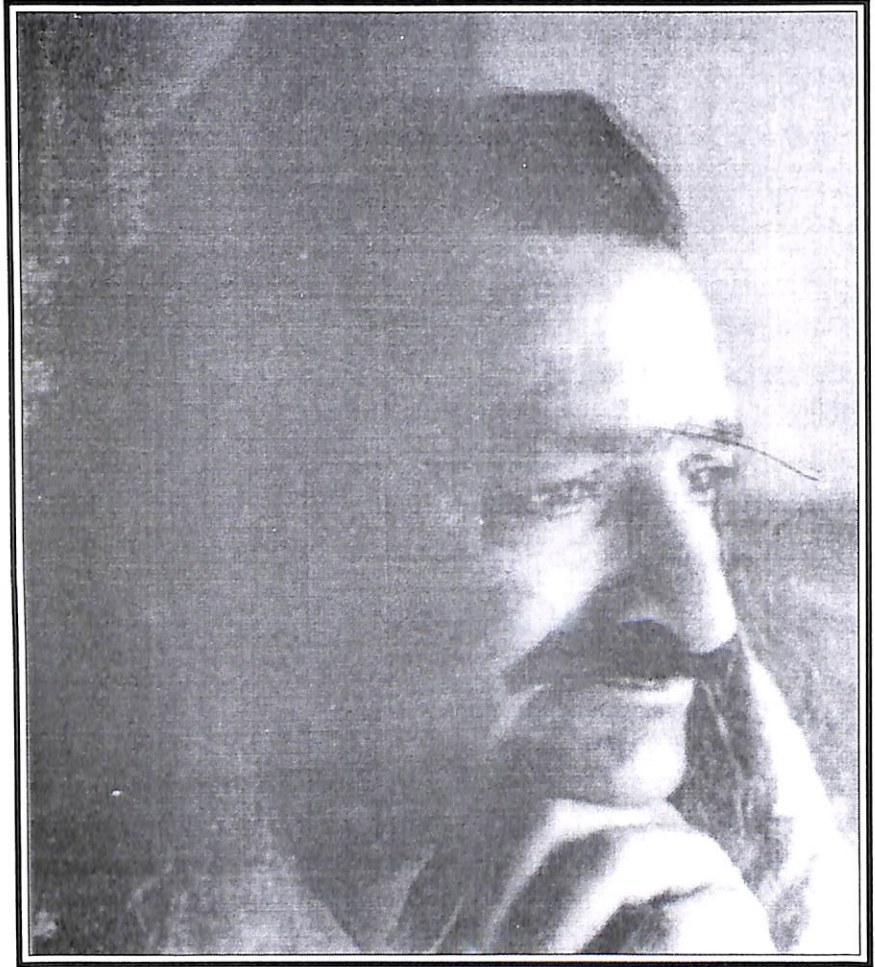
अवतार मेहेरबाबा

# काम-वासना की समस्या

द्वैत की सीमा को पार करने के पूर्व, मनुष्य के मन को जिन अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करना पड़ता है, कामवासना की समस्या उनमें से एक है।

**कामवासना का जन्म**

कामवासना उन वस्तुओं में से एक है, जो मनुष्य को स्वभाव से ही प्राप्त है; और इससे मनुष्य को निपटना ही पड़ता है। यह भी सीमित मन की द्वन्द्वात्मक सृष्टियों में से एक है और इसे भी द्वन्द्व की दृष्टि से ही देखा जाता है। जिस प्रकार मन मानवीय जीवन को आह्लाद या विषाद अच्छे या बुरे, निर्जनता या जन–संग, अनुरक्तियाँ या विरक्ति के द्वंद्वों की योजना में व्यवस्थित करता रहता है, उसी प्रकार से कामवासना के सम्बन्ध में वह तृप्ति या दमन के बीच डाँवाडोल होता रहता है; और इससे उसे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसा मालूम होता है मानो मनुष्य को इस द्वन्द्व के पक्षद्वय में से एक या दूसरे को स्वीकार करना ही होगा। किन्तु तो भी वह इनमें से किसी एक को भी सर्वान्तःकरण से स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जब वह दमन का यत्न करता है, तो वह अपनी अवस्था से असन्तुष्ट रहता है, और तृप्ति की लालसा करता है। और जब वह तृप्ति में प्रवृत्त होता है, तो उसे इन्द्रिय–दासत्व का बोध होता है, और यांत्रिक इन्द्रिय–निग्रह की ओर मुड़कर स्वतंत्रता की खोज करता है। द्वन्द्व के दोनों भागों का वह क्रम–क्रम से अनुभव करता है; किन्तु प्रत्येक अवस्था में वह असन्तुष्ट ही रहता है। इस प्रकार मनुष्य–जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् संक्लिष्ट समस्या का जन्म होता है।

कामवासना की समस्या को सुलझाने के लिए, यह समझना निहायत ज़रूरी है कि तृष्णा के भ्रमात्मक प्रभाव में आकर, कल्पना द्वन्द्व की सृष्टि करती है। तृष्णा से उद्भ्रान्त कल्पना के ही द्वारा इस द्वन्द्व के क्रमागत दोनो विरोधों की उत्पत्ति होती है।

**वासनातृप्ति एवं यांत्रिक दमन दोनों द्वंद्व निराशाजनक है**

काम–वृत्ति के दमन एवम् तृप्ति दोनों में, तृष्णा गुप्त रूप से विद्यमान रहती है। इंन्द्रिय– संवेदन की चाह या तृष्णा की क्रिया के द्वारा, चेतना के दूषित हो जाने के कारण ही, दोनो अवस्थाएँ पैदा होती हैं। अतः दोनो अवस्थाओं में मन अनिवार्यतः उद्विग्न रहता है। जिस प्रकार, आकाश के मेघाच्छन्न हो जाने पर सूर्य का प्रकाश लुप्त हो जाता है, और चारों ओर छाया फैल जाती है, चाहे वर्षा हो या न हो, उसी प्रकार, मानव मन के तृष्णाच्छादित होने पर, जीवन–विस्तार का ह्रास तथा सच्चे सुख का अभाव हो जाता है, चाहे इस तृष्णा की तृप्ति हो अथवा न हो। तृष्णा से अशान्त मन को कामेच्छा की पूर्ति में सुख का भ्रम हो जाता है, और जब उसे यह अनुभव होता है, कि कामेच्छा की पूर्ति के पश्चात् भी आत्मा असन्तुष्ट ही रहती है, तब वह कामेच्छा का दमन करके स्वतंत्रता पाना चाहता है। इस प्रकार, **सुख और स्वतंत्रता की खोज में, मन तृप्ति एवम् दमन के द्वन्द्व में फँस जाता है, और दोनों ही अवस्थाओं में, वह समान रूप से असन्तुष्ट रहता है।** चूँकि वह द्वन्द्व से ऊपर उठने की कोशिश नहीं करता, अतः वह क्रमशः एक के बाद दूसरे विरोध से बद्ध होता है, अर्थात् एक निराशा के चंगुल से छूटकर, दूसरी निराशा के जाल में फँसता है। इस प्रकार बारी–बारी से वह बँधता जाता है।

तृष्णा कल्पना के कार्य को मिथ्या बना देती है, और दो विरोधों में से एक को चुनने के लिए मन को बाध्य करती है। दोनो विरोध, अर्थात् तृप्ति तथा दमन, सुख

**द्वन्द्वों के मिथ्या आश्वासन**

प्रदान करने का आश्वासन देते हैं; किन्तु दोनो के आश्वासन समान रूप से मिथ्या सिद्ध होते हैं। तृप्ति तथा दमन दोनों से क्रम से लगातार निराशा की प्राप्ति होने पर भी, मन एकाएक विशाद के मूलकारण अर्थात् तृष्णा का त्याग नहीं करता, क्योंकि दमन में जब उसे निराशा का अनुभव होता है, तो वह तृप्ति के आश्वासन के धोखे में सहज ही आ जाता है; और जब उसे तृप्ति में निराशा का अनुभव होता है, तो वह सहज ही पूर्णतः यांत्रिक दमन के झूठे आश्वासन के चक्कर में आ जाता है।

यह पिंजड़े के भीतर चक्कर लगाने के समान है। सद्‌गुरू के द्वारा जागृत किये जाने के सौभाग्य से जो वंचित हैं, उनके लिए, तृष्णा के आंतरिक एवम् सहज त्याग

का मार्ग अवरुद्ध है, अर्थात् आध्यात्मिक पथ का प्रवेशद्वार बन्द है। सच्ची जागृति उस ज्ञान–मार्ग में प्रविष्ट होती है, जो उचित समय में, निश्चयतः अनन्त स्वतंत्रता तथा शाश्वत आनन्द की अन्तिम मंज़िल में पहुँचा देता है। तृष्णा का आंतरिक एवम् सहज त्याग, तृप्ति एवम् यांत्रिक दमन दोनो से भिन्न है। **मन निराशा की वजह से तृष्णा का यांत्रिक दमन करता है; किन्तु वह तृष्णा का आंतरिक एवम् सहज त्याग भ्राँति–मुक्ति या जागृति के ही सबब करता है।** तृप्ति या यांत्रिक दमन की आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब तृष्णा का स्वरूप स्पष्टतः समझ में नहीं आता। जब साधक को इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, कि तृष्णा के अनिवार्य परिणाम दुख एवं बन्धन ही हैं, तो वह विवेक युक्त ज्ञान की सहायता से अपने मन को तृष्णा के भार से स्वेच्छापूर्वक मुक्त करना प्रारम्भ कर देता है। **जब तक तृष्णा रहती है, तभी तक तृप्ति या दमन का प्रश्न उठता है, तृष्णा के पूर्णतः लोप होते ही, दोनो की आवश्यकता मिट जाती है।** जब मन तृष्णा से मुक्त हो जाता है, तो फिर वह तृप्ति या यांत्रिक दमन के मिथ्या आशा–आश्वासन के फंदे में नहीं फँसता।

**ज्ञान से ही तृष्णा का आंतरिक एवम् सहज त्याग सम्भव है**

**तृप्ति और दमन का तृष्णा से सम्बन्ध है**

तथापि यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, कि **मुक्त जीवन तृप्ति–मय जीवन की अपेक्षा संयम–मय जीवन के अधिक निकट है,** यद्यपि इन दोनो से वह मूलतः भिन्न है। अतः साधक के लिए, वैवाहिक जीवन की अपेक्षा, पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन अधिक श्रेयस्कर है, बशर्ते कि वह बिना अनुचित आत्म–दमन के सध सके। किन्तु बहुतेरे मनुष्यों के लिए ऐसा संयम कठिन तथा कभी–कभी असम्भव होता है; अतः उनके लिए वैवाहिक जीवन, ब्रह्मचर्य जीवन की अपेक्षा, कहीं अधिक लाभदायक है। ब्रह्मचर्य पालन कर सकने की विशेष क्षमता रखने वालों को छोड़कर, सामान्य मनुष्यों के लिए, वैवाहिक जीवन निःसंदेह उपादेय है।

**तृप्ति की अपेक्षा संयम मुक्ति के अधिक समीप है।**

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य–जीवन से अनेक सद्‌गुणों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, उसी प्रकार, वैवाहिक जीवन से भी अनेक परमोत्कृष्ट आध्यात्मिक गुणों का विकास और उत्थान होता है। **संयम के अभ्यास तथा स्वतंत्रता एवम् अनासक्ति के भाव में ब्रह्मचर्य का सार सन्निहित है।** किन्तु जब तक मन तृष्णा से पूर्णतः मुक्त नहीं होगा, तब तक उसे सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार, **पारस्परिक व्यवस्था तथा पारस्परिक एकता के भाव में,**

**ब्रह्मचर्य और विवाह की सम्भाव्यतायें**

**वैवाहिक जीवन का सार सन्निहित है।** किन्तु सच्ची एकता या द्वैत का लोप दिव्य प्रेम के ही द्वारा सम्भव है। दिव्य प्रेम तब तक अप्राप्य है, जब तक मन में वासना या तृष्णा का लेश मात्र भी बाक़ी है। तृष्णा के आंतरिक तथा सहजस्फूर्त त्याग के ही द्वारा, सच्ची स्वतंत्रता तथा एकता की उपलब्धि सम्भव है।

**ब्रह्मचर्य तथा विवाह दोनो के लिये पूर्णता का मार्ग खुला है।**

ब्रह्मचारी तथा विवाहित दोनो के लिए, आभ्यंतर जीवन का पथ एक–सा है। जब साधक सत्य की ओर आकर्षित होता है, तो फिर किसी अन्य वस्तु की चाह वह नहीं करता, और ज्यों–ज्यों सत्य उसके अधिकाधिक सन्निकट आ जाता है, त्यों–त्यों वह क्रमशः अपने को तृष्णा विमुक्त करता जाता है, चाहे वह ब्रह्मचारी हो अथवा विवाहित, वह तृप्ति या यांत्रिक दमन के भ्रमात्मक आशा–आश्वासनों के द्वारा, डाँवाडोल नहीं होता, और वह तब तक तृष्णा का आंतरिक तथा सहजस्फूर्त त्याग करता जाता है, जब तक वह द्वन्द्व की प्रवञ्चना से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता। ब्रह्मचारी तथा विवाहित, दोनो के लिये, पूर्णता का मार्ग खुला है; और **साधक की साधना का ब्रह्मचर्य–जीवन से शुरू होना, या वैवाहिक जीवन से शुरू होना, उसके संस्कारों तथा कर्म–बंधनों पर अवलम्बित है।** वह अपने पूर्वजन्म द्वारा निर्णीत परिस्थितियों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है, और अपने अनुभव–गत आदर्श की ओर आध्यात्मिक प्रगति करने में वह अपनी परिस्थितियों का उपयोग करता है।

**स्पष्ट चुनाव की आवश्यकता**

साधक के लिये जो दो मार्ग विहित हैं उनमें से किसी एक को उसे अवश्य चुन लेना चाहिये। या तो उसे ब्रह्मचर्य–जीवन को अपना लेना चाहिये, या वैवाहिक जीवन स्वीकार कर लेना चाहिये। इन दोनो के बीच में, उसे कोई सस्ता समझौता हरगिज़ नहीं करना चाहिए। कामेच्छा की तृप्ति में, **उच्छृंखलता या व्यभिचार साधक के लिये महान घातक है। ऐसा निरंकुश स्वेच्छाचार उसमें अदम्य कामेच्छा की वृद्धि करता है** उसका मन भयंकर रूप से अस्तव्यस्त तथा दुर्दम होता है। और अन्त में, उसकी दशा शोचनीय होती है। विस्तीर्ण एवं अनियंत्रित वासना उसकी नित्यानित्य विवेक–बुद्धि को उद्भ्रान्त कर देती, जिससे उसके बन्धन दृढ़ होते हैं और उसके आध्यात्मिक पथ में, अनतिक्रम्य कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। तृष्णा का सहज एवम् आंतरिक त्याग, उसके लिये, असम्भव होता है। विवाह के भीतर सीमित कामवासना तथा विवाह के बाहर अमर्यादित कामवासना में भेद है। वैवाहिक जीवन में वासना के संस्कार अपेक्षाकृत हल्के होते हैं, और अधिक सुविधा से दूर किये जा सकते हैं। जब काम–सहचर्य में उत्तरदायित्व, प्रेम

एवम् आध्यात्मिक आदर्श का भाव विद्यमान रहता है, तब कामेच्छा को परिवर्तित तथा उन्नयन (sublimation) करने के अधिक अनुकूल एवम् उपयुक्त मौक़े रहते हैं। किन्तु सस्ते और स्वेच्छाचार–युक्त व्यभिचार में यह बात लागू नहीं होती।

व्यभिचार के जीवन में, केवल कामेच्छा की तृप्ति के लिये सहवास का अवसर ढूँढ़ने का लोभ, अत्यंत उग्र तथा उद्दाम रूप धारण कर लेता है। कामवासना के क्षेत्र पर, अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाने से ही साधक जीवन के उच्चतर सार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। कामवासना के क्रमानुसार प्रेम में परिवर्तत होने पर ही जीवन का उच्चतर सार ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु कामेच्छा के क्षेत्र का प्रसार करके, यदि मन उसकी तृप्ति करना चाहता है तो मन इतने प्रपंचों का शिकार होता चला जायगा जिनका कोई अंत ही नहीं है। क्योंकि कामेच्छा के क्षेत्र विस्तृति कहीं जाकर समाप्त नहीं होती। **व्यभिचार में कामेच्छा की सूचनाएं ही सर्वप्रथम मन में उदित होती हैं; और मन एकमात्र इस प्राथमिक विकार से ही दूषित होकर, अनेक व्यक्तियों पर प्रतिक्रिया करता है।** इस प्रकार, गम्भीरतर अनुभूतियों का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है।

**दांपत्य जीवन का विवेकपूर्वक संचालन करने से अनन्तत्व की प्राप्ति**

जीवन की सतह पर भ्रमण–विचरण करने तथा कामवासना संसर्गों की वृद्धि करने से, सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। सत्य के ज्ञान के लिए, मन को अपनी क्षमताएं कुछ चुने हुए अनुभवों पर केन्द्रित करने के लिए तथा बन्धन कारक विषयों से अपने आपको मुक्त करने के लिए, तैयार होना चाहिए। सद्सदविवेक की क्रिया तथा सत्य के लिए असत्य को त्यागने की गति तभी सम्भव है, जब हम ह्रदय की पूरी एकाग्रता के साथ जीवन में सच्ची रुचि और वास्तविक रस लें; किन्तु अनेक विषयों के पीछे निरन्तर दौड़ते रहने से तथा एक ही अनुभव के लिए अनेक तथा विभिन्न सम्भव विषयों में भ्रमण करने से, एकाग्रता का और सद्भिरुचि का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। दाम्पत्य जीवन में, पति–पत्नी की मित्रता में अनुभव का क्षेत्र इतना प्रशस्त हो जाता है कि वासना की ही सूचनाएं आवश्यक रूप से मन में सर्वप्रथम उपस्थित नहीं होती; और कामवासना को पहचानने तथा उसे दूर करने का साधक को सच्चा मौका मिलता है। धीरे–धीरे कामेच्छा को दूर करके, तथा प्रेम और त्याग के गम्भीरतर अनुभवों की क्रमशः वृद्धि करके अन्त में वह अनन्तत्व की प्राप्ति कर सकता है।

# दाम्पत्य जीवन का पवित्रीकरण

बहुतेरे मनुष्य बिना किसी सोच–विचार के, यों ही दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते हैं; किन्तु उसका सहायक या बाधक होना उसकी संचालन–विधिपर निर्भर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैवाहिक जीवन के द्वारा कतिपय परम आध्यात्मिक सम्भाव्यताओं की सिद्धि की जा सकती है; किन्तु ऐसा होना उसके सदुपयोग पर अबलम्बित है। विवेक दृष्टि के द्वारा आध्यात्मिक सत्य निर्दिष्ट होने पर ही, वैवाहिक जीवन सफल बनाया जा सकता है। उसे एकमात्र कामेच्छा की पूर्ति का साधन मान लेने पर, या व्यावहारिक साझेदारी समझ लेने पर वह लाभदायक नहीं होता। **उसे एक आध्यात्मिक साहसकार्य की भाँति ग्रहण करना चाहिए; और उसमें इस बात का अनुसंधान करना चाहिए, कि जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप क्या हो सकता है।** जब पति पत्नी दोनो कृत– संकल्प होकर, आत्मा की उच्चतर सम्भाव्यताओं का आविष्कार करने का बीड़ा उठाते हैं, तो वे अपने प्रयोग को वैयक्तिक लाभ–सम्बन्धी स्वार्थ–परायण विचार–बुद्धि से एकदम सीमित नहीं कर सकते।

**दाम्पत्य–जीवन एक आध्यात्मिक साहस कार्य होना चाहिए**

दाम्पत्य–जीवन, पति–पत्नी दोनो में, पारस्परिक सुव्यवस्था एवम् सहयोग की बुद्धि उत्पन्न करता है। और उनके सम्मुख अनेक अनपेक्षित समस्याएं उपस्थित कर देता है। यद्यपि ऐसा प्रायः सामान्यतः सभी प्रकार के जीवन में हुआ करता है, किन्तु

वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में यह बात विशेषतः सच है। वैवाहिक जीवन में, कई प्रकार से दो आत्माएं आपस में सम्बद्ध हो जाती हैं। अतः उन्हें किसी एकान्त कामना के द्वारा उत्पन्न कोई सरल समस्या नहीं सुलझानी पड़ती; किन्तु **उन्हें व्यक्तित्व से संबंध रखने वाली बहुतेरी और पेचीदा समस्याएं हल करनी पड़ती हैं।** यही एक विशेषता है, जिसके कारण दाम्पत्य जीवन कामेच्छामूलक व्यभिचार–मय जीवन से बिल्कुल भिन्न है। कामेच्छा–प्रेरित सम्बन्ध विकासशील व्यक्तित्व की दूसरी आवश्कताओं की उपेक्षा करता है; तथा कामेच्छा की समस्या को उनसे अलग करके स्वतन्त्र रूप से उसे हल करने का यत्न करता है। और यद्यपि इस प्रकार का हल आसान मालूम पड़ता है, तथापि वह एक बाहरी हल सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक बड़ी हानि यह भी है कि साधक अपने उचित उत्तरदायित्व से पराङमुख होकर, वास्तविक समस्या को ठीक ढंग से सुलझाने की ओर ध्यान नहीं देता।

**दाम्पत्य–जीवन तथा कामेच्छामूलक व्यभिचार में मौलिक भेद है।**

सीमित व्यक्तित्व के विभिन्न–भागों के सापेक्ष मूल्य, सर्वोत्तम ढंग से, तभी आँके जा सकते हैं, जब वे परस्पर संयुक्त होकर भिन्न–भिन्न रूप तथा भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। एक असम्बद्ध श्रेणी में उनके एक दूसरे से अलग–अलग नियुक्त रहने पर, उनकी असारता या ससारता को समझना कठिन हो जाता है। वैवाहिक जीवन में, भिन्न–भिन्न प्रकार के अनुभवों की प्राप्ति के लिये, पर्याप्त क्षेत्र मिलता है। अतः, परिणामतः मन की अनेक प्रसुप्त प्रवृत्तियाँ, दाम्पत्य–जीवन की साकार योजना के चारों ओर, व्यवस्थित होने लगती हैं। **विविध अभिप्रायों की यह व्यवस्था न केवल निम्नतर तथा उच्चतर मूल्यों के बीच चुनाव करने का असीम क्षेत्र प्रदान करती है, किन्तु उनके बीच आवश्यक तनाव या खींच–तान उत्पन्न करती है, जिससे उन्हें परिवर्तित और उदात्त करना निहायत ज़रूरी हो जाता है।** एक दृष्टि से देखा जाय, तो वैवाहिक जीवन में, अनेक मानवीय समस्याएं अत्यन्त तीव्र या उग्र रूप धारण कर लेती हैं। अतः **दाम्पत्य जीवन को हम एक रण–स्थल कह सकते हैं, जहाँ दासता की तथा स्वतंत्रता की शक्तियाँ और अज्ञान की एवम् प्रकाश की शक्तियाँ, युद्ध के लिये इकट्ठी हो जाती हैं।** चूँकि साधारण मनुष्यों का वैवाहिक जीवन मिश्रित हेतुओं तथा विचारों के द्वारा निर्दिष्ट होता है, अतः विवाहित स्त्री पुरुषों के उच्चतर तथा निम्नतर स्वभावों के बीच, विषम संग्राम मच जाता है। इस संग्राम के

**वैवाहिक जीवन के विविध उद्देश्यों का तनाव उन्नयन (Sublimation) को आवश्यक बना देता है।**

**विवाह–सम्बन्ध की व्यवस्थाएं आंतरिक जीवन के परिवर्तन को उत्साहित कर द्रुतगामी बना देती है।**

फलस्वरूप, निम्नतर स्वभाव जर्जर हो जाता है; तथा उसका वास्तविक उच्चतर एवम् दिव्य स्वभाव विजयी होकर पूर्ण रूप से प्रकट होता है। वैवाहिक जीवन दो आत्माओं के बीच इतने अधिक सम्बन्ध उत्पन्न कर देता है, कि उनमें पूर्ण सम्बन्ध–विच्छेद हो जाना समूचे जीवन में अव्यवस्था, व्युत्क्रम तथा अस्त–व्यस्तता को जन्म देता है। एक दूसरे से अलग होने की यह कठिनाई शीघ्र से शीघ्र आंतरिक पुनर्रचना स्थापित कर देती है। अतः यह कठिनाई एक छद्मवेशी सुअवसर है जिसके सबब पति–पत्नी के बीच ऐसा सच्चा और स्थायी प्रेम तथा मेल पैदा हो जाता है जिसके बल पर वे अत्यन्त जटिल एवम् अत्यन्त कोमल परिस्थितियों का सामना कर सकते हैं।

**दाम्पत्य–जीवन को ईश्वरीय योजना के लिये अनुकूल होना चाहिए।**

दाम्पत्य–जीवन का आध्यात्मिक महत्त्व, उसकी दैनिक घटनाओं को निर्दिष्ट करने वाले अभिप्रायों से सापेक्ष रहता है। यदि वह उथले विचारों पर आधारित किया गया, तो वह सारे संसार के विरुद्ध एक स्वार्थयुक्त साझेदारी के रूप में विकृत हो सकता है। किन्तु यदि वह उच्च आदर्शों से प्रेरित हुआ, तो वह एक ऐसी उच्च कोटि मैत्री के रूप में परिणत किया जा सकता है, जो न केवल पारस्परिक स्वार्थत्याग को अधिकाधिक प्रोत्साहन, किन्तु **जिसे माध्यम बनाकर पति–पत्नी समस्त मानव परिवार के प्रति संयुक्त प्रेम तथा सेवा कर सकते हैं।** जब इस प्रकार, वैवाहिक जीवन की व्यक्ति विकास की दिव्य योजना के साथ तालैक्य हो जाता है, तो ऐसे विवाह–सम्बन्ध से उत्पन्न बच्चों के लिये, वह एक शुद्ध वरदान सिद्ध होता है, क्योंकि अपने पार्थिव जीवन के प्रारम्भ में ही उन्हें आध्यात्मिक वातावरण प्राप्त होता है।

**बच्चे दाम्पत्य–जीवन पवित्र तथा समृद्ध बनाते हैं।**

माँ–बाप का दाम्पत्य–जीवन इस भाँति बच्चों के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। किन्तु साथ ही साथ, बच्चों की उपस्थिति से माँ–बाप का दाम्पत्य–जीवन भी समृद्ध होता है। बच्चे माँ–बाप को सच्चे तथा सहज प्रेम की अभिव्यक्ति तथा उन्नति के लिए अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रेम में स्वार्थत्याग सरल तथा आनन्द– दायक होता है। इस प्रकार माँ–बाप के जीवन में बच्चों का जो भाग होता है, वह स्वयं मां–बाप के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः वैवाहिक जीवन में बच्चों के जन्म का हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिए।

वैवाहिक जीवन पर बच्चों का जो अधिकार है उसे दृष्टि में रखते हुए वर्तमान संतति–निग्रह–आंदोलन पर ध्यान देना तथा इसकी समालोचना करना आवश्यक है। किसी एक विशिष्ट तथा सीमित स्वार्थ के दृष्टि–कोण से इस प्रश्न पर विचार करना

ठीक नहीं है। इस प्रश्न पर व्यक्ति तथा समाज के अंतिम कल्याण के दृष्टि–कोण से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य विषयों की भाँति, इस विषय की विवेचना करने का हमारा दृष्टि–कोण भी प्रधानतः आध्यात्मिक होना चाहिए। संतति–निग्रह–आंदोलन के प्रति, अनेक लोगों का रुख अस्पष्ट तथा अस्थिर है क्योंकि उसमें अच्छे और बुरे तत्वों का विचित्र संमिश्रण है। **जहाँ संतति–निग्रह–आंदोलन का जनसंख्या के नियमन का उद्देश्य सही है, वहां इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनों का उसका चुनाव शोचनीय एवम् घातक है।** इसमें कोई शंका नहीं, कि व्यक्ति तथा समाज के हित के लिए बच्चों की संख्या का नियमन वाँछनीय होता है। अनियंत्रित संतानोत्पादन जीवन–संग्राम की गति को उग्र कर देता है, और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि करता है जिसमें स्वार्थपूर्ण स्पर्धा अनिवार्य हो जाती है। बच्चों की अधिकता के कारण माँ–बाप अपने उत्तरदायित्व का यथोचित पालन नहीं कर सकते। अनियंत्रित संतानोत्पादन अपराध, युद्ध एवं दारिद्रय का भी अप्रत्यक्ष तथा सहायक कारण होता है। किन्तु यद्यपि मानव–प्रेम प्रेरित बौद्धिक विचार–दृष्टि से बच्चों की संख्या को मर्यादित करने के सभी सच्चे प्रयत्न उचित तथा आवश्यक हैं तथापि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, भौतिक साधनो का उपयोग सर्वथा अनुचित तथा हानिकार है।

**संतति–निग्रह आंदोलन की उद्देश्य सिद्धि के लिये ग़लत साधन का उपयोग होता है।**

संतति–निग्रह–आंदोलन के समर्थक सामान्यतः जिन भौतिक साधनो का प्रचार करते हैं, वे अध्यात्मिक दृष्टिकोण से अत्यन्त दोष–पूर्ण एवं आपत्तिजनक हैं। यद्यपि मानव–हित–कामना से प्रेरित होकर ही इस आंदोलन के प्रवर्तक भौतिक साधनो का प्रचार करते हैं, किन्तु सामान्य लोग, अपने स्वार्थ–पूर्ण उद्देश्य की पूर्ति तथा बच्चों का भार वहन करने या उनका पालन–पोषण करने की ज़िम्मेदारी से बचने की गरज़ से ही, इनका उपयोग करते हैं। अतः जीवन के उच्चतर मूल्यों से अपरिचित व्यक्तियों के लिए कामेच्छा की पूर्ति में संयत रहने के लिए कोई प्रेरणा शक्ति ही नहीं रह जाती क्योंकि वासना का शिकार होने के भौतिक परिणामों से इन भौतिक साधनों के द्वारा आसानी के साथ बच जाते हैं। इस प्रकार वे अत्यधिक वासनातृप्ति के शिकार बन जाते हैं। और मानसिक संयम की अवहेलना करने तथा पाशविक काम–वृत्ति के क्रीतदास होकर वे अपना शारीरिक, नैतिक एवम् आध्यात्मिक नाश कर डालते हैं।

**भौतिक साधनो का उपयोग मानसिक संयम के प्रवर्तक हेतु को नष्ट कर देता है।**

भौतिक साधनों का उपयोग मनुष्य की दृष्टि से समस्या के आध्यात्मिक पहलू को ओझल कर देता है, तथा उसे अपनी आध्यात्मिक महिमा एवम् स्वतंत्रता का ज्ञान कराने में, किंचित् भी सहायता नहीं पहुँचाता। विचार शून्य तथा असंयत वासनातृप्ति दुष्परिणामों तथा बन्धनों की वृद्धि करती है। विशेषकर आध्यात्मिक साधकों को तथा समस्त मनुष्यों को भी (क्योंकि सभी स्वभावतः सुप्त स्थिति में आध्यात्मिक साधक हैं), **यह सलाह दी जाती है कि बच्चों की संख्या कम करने के लिए वे भौतिक साधनो पर किसी भी हालत में अवलम्बित न रहें।** बच्चों की संख्या कम करने के लिए, उन्हें मानसिक संयम के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। मानसिक संयम के द्वारा, संतति–निग्रह आंदोलन में निहित मानव–कल्याण– कामना का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है; तथा भौतिक साधनो के उपयोग से होने वाले दुष्परिणामों से भी रक्षा होती है। मानसिक संयम बच्चों की संख्या कम करने के साथ ही साथ, मनुष्य के दिव्य गौरव तथा आध्यात्मिक हित की भी पुनःस्थापना करता है। **मानसिक संयम का बुद्धियुक्त अभ्यास करने से ही, मनुष्य कामुकता से शान्ति, बन्धन से मुक्ति, तथा पशुता से पवित्रता की ओर अग्रसर हो सकता है।** विचारशील व्यक्तियों को इस समस्या के अत्यन्त उपेक्षित आध्यात्मिक पहलू की महत्ता पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है।

**कामुकता से उठकर शान्ति में प्रवेश करने के लिये मानसिक संयम अनिवार्य है।**

चूँकि स्त्री को बच्चों के जनन तथा पोषण की तकलीफें और ज़िम्मेदारी झेलनी पड़ती है अतः मानसिक संयम की किसी संभव असफलता का परिणाम पुरुष की अपेक्षा उसे ही अधिक भोगना पड़ता है, ऐसा मालूम होता है। किन्तु यथार्थ में स्त्री के प्रति यह कोई सचमुच का अन्याय नहीं है। यह सच है कि स्त्री को संतान के जनन तथा पोषण का कष्ट तथा उत्तरदायित्व उठाना पड़ता है; किन्तु उनको खिलाने–पिलाने, उनका लालन–आलिंगन करने का आनन्द भी तो उन्हें पुरुष की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है। इस प्रकार, मातृत्व का आनन्द पितृत्व के आनन्द से कहीं बढ़कर है। फिर, पुरुष को बच्चों के प्रति अपने आर्थिक तथा शिक्षा विषयक उत्तरदायित्व को अवश्य निभाना चाहिए। उचित ढंग से व्यवस्थित विवाह सम्बन्ध में, मातृपितृ विषयक उत्तरदायित्व में स्त्री तथा पुरुष, दोनो को अपना–अपना भाग लेना चाहिए। उत्तरदायित्व के विभाजन में किसी के प्रति किसी प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता। यदि माँ तथा बाप, दोनो को अपने पारस्परिक उत्तरदायित्व का सच्चा ज्ञान हो, तो पूर्ण मानसिक संयम साधने

**माता–पिता का संयुक्त उत्तरदायित्व**

का सक्रिय तथा सहयोगशील प्रयत्न, अपरिणामदर्शी अविचार का स्थान ग्रहण कर लेगा; और यदि कभी मानसिक संयम असफल हुआ, तो दोनो इच्छापूर्वक एवम् प्रसन्नतापूर्वक, माता–पिता का संयुक्त उत्तरदायित्व संभाल लेंगे।

यदि बच्चों की ज़िम्मेदारी संभालने के लिए कोई व्यक्ति तैयार नहीं है, तो उसके लिए सिर्फ़ एक ही रास्ता है। उसे ब्रह्मचारी रहना चाहिए; तथा मानसिक संयम का पूर्ण पालन करना चाहिए। क्योंकि, यद्यपि ऐसा मानसिक संयम अत्यंत कठिन है तथापि वह असम्भव या असाध्य नहीं है। केवल आध्यात्मिक दृष्टिबिंदु से पूर्ण ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते उनके लिए द्वितीय सर्वोत्तम मार्ग विवाह है। व्यभिचार का शिकार होने की अपेक्षा विवाह श्रेष्ठतर है। वैवाहिक जीवन में पाशविक–कामवृत्ति का संयम सीखा जा सकता है। किन्तु इस क्रिया का क्रमबद्ध होना अवश्यम्भावी है और **संयम में असफल होने पर, माता–पिता को चाहिए कि वे प्रकृति को अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दें और कृत्रिम उपायों के द्वारा उसके कार्य में हस्तक्षेप न करें।** उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य के परिणाम का स्वागत करना चाहिए; तथा बच्चों के पालन–पोषण का उत्तरदायित्व वहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

**वैवाहिक जीवन में बच्चों का स्वागत किया जाना चाहिए**

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से केवल एकमात्र मानसिक संयम के द्वारा संततिनिग्रह करना चाहिए। अन्य किसी उपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। किसी भी परिस्थिति में भौतिक साधनो का उपयोग करने की सलाह नहीं दी जा सकती। थोड़े समय के लिए एक द्वितीय सहायता के तौरपर मानसिक संयम की वृद्धि के आदर्श की उपेक्षा किये बिना भी उनका उपयोग वाँछनीय नहीं है। भौतिक साधनो का उपयोग करते हुए या आश्रय लेते हुए, कोई मनुष्य सच्ची इच्छा के रहते हुए भी, मानसिक संयम का यथार्थ पालन नहीं कर सकता। इसके विपरीत भौतिक साधनो के उपयोग का उसे व्यसन हो जाता है और वह उन्हें उचित समझने लगता है। इस बात को ज़रा स्पष्टतः समझाने की ज़रूरत है। भौतिक साधनो के उपयोग में व्यक्ति यह सोचता है, कि वह उनका उपयोग मात्र आरम्भिक सहायता के तौर पर कर रहा है, और मानसिक संयम की शक्ति आ जाने पर या मानसिक संयम के सधने पर वह उन्हें छोड़ देगा। किन्तु होता यह है कि उसे उनका उपयोग करने की लत पड़ जाती है और वह यथार्थ में इस आदत का गुलाम बन जाता है और यद्यपि वह कुछ समय तक इस भ्रम में रहे कि

**भौतिक साधनों पर निर्भर रहने से मानसिक शक्ति क्षीण होती है।**

(भौतिक साधनो का उपयोग करने के साथ ही साथ) उसका मानसिक संयम बढ़ रहा है तथापि वास्तव में, उसका मानसिक संयम धीरे–धीरे घटता चला जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि **भौतिक साधनो पर अवलम्बित रहने से मानसिक शक्ति अवश्यतः क्षीण हो जाती है।** इस प्रकार भौतिक साधनों का उपयोग आत्म–संयम की वृद्धि के लिए घातक है तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए नितान्त अनर्थकारी है। अतः किसी भी अवस्था में उनका उपयोग करने की सलाह नहीं दी जा सकती चाहे उनका उपयोग अच्छे से अच्छे हेतु से क्यों न किया जाय।

**वैवाहिक जीवन के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति।**

वैवाहिक जीवन के आरम्भ में, पति–पत्नी वासना एवम् प्रेम दोनो के द्वारा एक दूसरे की ओर खिंचते हैं। किन्तु हेतुपूर्वक एवं सचेष्ट सहकारिता के बल पर वे क्रमशः वासना–वृत्ति को कम तथा प्रेम–भाव की वृद्धि कर सकते है। इस वृद्धि की प्रक्रिया से अंततोगत्वा वासना गम्भीर प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। एक दूसरे के सुख–दुख से सुखी–दुखी होने की परस्परता के कारण पति–पत्नी एक आध्यात्मिक विजय से दूसरे आध्यात्मिक विजय की ओर बढ़ते हैं, गम्भीर प्रेम से गम्भीरतर प्रेम में प्रवेश करते हैं, **आरम्भ काल का ममत्व–प्रधान एवं मत्सरयुक्त प्रेम व्यापक तथा त्यागशील प्रेम में पूर्णतः परिणित हो जाता है।** सच पूछा जाय, तो विवाह का विवेकपूर्वक संचालन करके मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग की इतनी दूरी तय कर सकता है, कि उसे अनन्त जीवन के पवित्र मन्दिर में ले जाने के लिये केवल सद्गुरु के स्पर्श मात्र की ही आवश्यकता रह जाती है।

# ईश्वर की खोज

बहुतेरे मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह ही नहीं करते, और वे ईश्वर के विषय में विशेष उत्सुक भी नहीं होते। दूसरे ऐसे लोग भी हैं, जो परम्परागत प्रभाव के कारण, किसी न किसी धर्म के अनुयायी हो जाते हैं तथा अपने आसपास के लोगों की देखा–देखी ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने लग जाते हैं। इन लोगों की श्रद्धा में इतना बल अवश्य होता है कि वे कुछ रूढ़ि–नियमों, आचार विधियों या धार्मिक अनुष्ठानो से बंध जाते हैं, किन्तु वह इतनी सजीव नहीं होती कि जीवन के प्रति उनके पहले दृष्टिकोण को आमूल परिवर्तित कर सके। कुछ ऐसे भी लोग हैं (जो दार्शनिक बुद्धि के होते हैं) जो निजी कल्पनाओं या अन्य व्यक्तियों की घोषणाओं के कारण ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। इन लोगों के लिए ईश्वर अधिक से अधिक एक सम्भाव्य अनुमान या एक बौद्धिक विचार होता है। किन्तु ऐसे शिथिल विश्वास से इतनी पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलती कि ईश्वर की सच्ची खोज करने का बीड़ा उठाया जाय। निजी अनुभव से ईश्वर कें सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं होती और उनके लिए ईश्वर प्रचण्ड अभीप्सा के प्रयत्न का विषय नहीं होता।

**ईश्वर–विश्वास की विभिन्न कोटियाँ**

आध्यात्मिक सत्यों का जो ज्ञान जनश्रुति या किंवदन्ती पर आश्रित है उससे सच्चा जिज्ञासु सन्तुष्ट नहीं रह सकता। तर्क–सिद्ध ज्ञान से भी उसे संतोष प्राप्त नहीं होता। उसके लिए आध्यात्मिक सत्य कोरे तर्क–वितर्क या बुद्धि विलास के विषय नहीं होते। इन सत्यों को स्वीकार या अस्वीकार करना, उसके आंतरिक जीवन के लिए, घोर

महत्व एवम् गम्भीर अर्थ रखते हैं। अतएव उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की उसकी स्वाभाविक टेक हो जाती है। यह बात एक बड़े राजकुमार के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगी। एक दिन वह आध्यात्मिक विषयों पर अपनें ऐसे मित्र से बहस कर रहा था जो आध्यात्मिक मार्ग में काफी बढ़ चुका था। वे इस प्रकार बहस–मुबाहसे में भिड़े हुए थे कि उनकी बाजू से एक शव ले जाया जा रहा था जिस पर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। ''यह देह का अवसान है, आत्मा का नहीं,'' मित्र ने शव की ओर संकेत करके कहा। ''क्या तुमने आत्मा को देखा है?'' राजकुमार ने प्रश्न किया। ''नहीं'', – मित्र ने उत्तर दिया; और राजकुमार आत्मा के सम्बन्ध में संशयशील ही बना रहा, क्योंकि उसका आग्रह था कि वह आत्मा का व्यक्तिगत ज्ञान प्राप्त करे।

**सच्चा जिज्ञासु आध्यात्मिक सत्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान चाहता है।**

यद्यपि जिज्ञासु अन्य लोगों से अधिगत ज्ञान या निरे अनुमान से सन्तुष्ट नहीं होता तथापि वह ऐसे आध्यात्मिक सत्यों के अस्तित्व की सम्भाव्यता के विरुद्ध जो उसके अनुभव में नहीं आये हैं, अपने मन को बन्द नहीं कर देता अर्थात् **वह अपने वैयक्तिक अनुभवों की सीमाओं को जानता है, और वह उन्हें सब प्रकार की सम्भाव्यताओं का मापदण्ड बनाना उचित नहीं समझता।** उसके अनुभव क्षेत्र से बाहर की सभी वस्तुओं के लिए उसका मन खुला रहता है। यह सच है कि किंवदन्ती के आधार से वह उन पर विश्वास नहीं करता; किन्तु वह उन पर पूर्ण अविश्वास करने की हद पर भी नहीं कूद पड़ता। यह सच है कि अनुभव की परिमितता कल्पना के क्रिया–क्षेत्र को मर्यादित कर देती है; और मनुष्य विश्वास करने लगता है कि उसके विगत अनुभव की परिधि में जो बातें आ चुकी हैं उनके अतिरिक्त दूसरे कोई तत्व हैं ही नहीं। किन्तु प्रायः उसके ख़ुद के जीवन में ऐसे प्रसंग आ पड़ते हैं, या ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप वह अपना मन कट्टरता के कपाट खोलकर बाहर निकालता है। इस प्रकार, उसके मन के बन्द–द्वार खुल जाते है।

**जिज्ञासु का मन खुला रहता है।**

यह मानसिक अवस्थान्तर उसी उपरोक्त राजकुमार के जीवन से लाई गई कथा से स्पष्टतः समझ में आ जायगा। एकबार उपर्युक्त बहस की घटना के कुछ दिनों के बाद जब वह घोड़े पर चढ़कर कहीं चला जा रहा था तो उसने देखा कि रास्ते पर विरुद्ध दिशा से एक साधारण पैदल यात्री उसी की ओर चला आ रहा है। थोड़ी ही देर में उस पैदल यात्री की उपस्थिति से घोड़े का मार्ग अवरुद्ध हो गया। राजकुमार ने सगर्व उसे रास्ता छोड़ने का हुक्म दिया। पैदल यात्री

**दृष्टान्त**

ने मार्ग से हटने से साफ इंकार कर दिया। इस पर राजकुमार घोड़े पर से उतर गया; और उसके तथा राजकुमार के बीच इस प्रकार बातचीत हुई :– "तुम कौन हो ?" पैदल यात्री ने पूछा। "मैं राजकुमार हूँ", राजकुमार ने उत्तर दिया। "किन्तु मैं नहीं जानता कि तुम राजकुमार हो" – पैदल यात्री कहता चला गया। "मैं तुम्हारा राजकुमार होना तभी स्वीकार करूँगा, जब मैं जान लूँगा, कि तुम राजकुमार हो, अन्यथा नहीं।" इस प्रत्युत्तर को सुनकर, राजकुमार की बुद्धि इस तथ्य को ग्रहण करने के लिये जागृत हुई कि यद्यपि मैं व्यक्तिगत अनुभव से न जानूं, तो भी ईश्वर हो सकता है। ठीक वैसे ही जैसे वह वास्तव में राजकुमार है यद्यपि पैदल यात्री अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह नहीं जानता। चूँकि अब उसका मन ईश्वर के सम्भाव्य अस्तित्व पर विचार करने के लिए खुल गया; अतः इस विषय का अन्तिम निर्णय करने के कार्य में वह कृतसंकल्प होकर जुट गया। वह राजकुमार आगे ऋषि बना।

**साधारण मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व के प्रति उदासीन रहता है।**

**ईश्वर का या तो अस्तित्व है; या नहीं है। यदि उसका अस्तित्व है तो उसकी यथेष्ट खोज सर्वथा उचित है; और मान लो कि उसका अस्तित्व नहीं है, तो भी उसे खोजने में कोई हानि नहीं है।** किन्तु प्रायः, मनुष्य एक आनन्दपूर्ण साहस–कार्य के तौरपर ईश्वर की सच्ची खोज नहीं करता। संसार की मोहक वस्तुओं से ध्यान हटाना उसके लिए कठिन होता है; किन्तु इन सांसारिक वस्तुओं के सम्बन्ध में जब उसका भ्रम दूर हो जाता है, तब कहीं सच्चाई के साथ, वह ईश्वर की खोज करने के लिए मजबूर होता है। साधारण मनुष्य स्थूल जगत् से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में पूर्णतः निमग्न रहता है। सुखों एवं दुःखों के अनेक अनुभवों से गुज़रता हुआ वह अपना जीवन व्यतीत करता है। किसी गम्भीरतर सत्य के अस्तित्व के बारे में वह सन्देह भी नहीं करता। जहाँ तक उससे बन पड़ता है वह इन्द्रिय के सुखों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और साथ ही साथ विभिन्न दुःखों का निवारण करने की कोशिश करता है।

**विचारोत्तेजक प्रसंग**

**"खाओ, पियो और मौज करो"** – यही उसका दर्शन–शास्त्र होता है। किन्तु आमोद, प्रमोद, और भोग–विलास की अविश्रांत खोज करते रहने के बावजूद वह दुःखों और यंत्रणाओं का पूर्ण निवारण करने में असमर्थ रहता है। और इन्द्रिय सुखों की उपलब्धि में सफल होने पर भी, वह उनके भोग से बहुधा ऊब जाता है। इस प्रकार, जब वह विभिन्न अनुभवों के दैनिक चक्कर में फँसा हुआ रहता है, तब कभी कभी ऐसा प्रसंग आता है, जब वह अपने आपसे

यह प्रश्न करता है, **"आखिर इन सबका अन्त कहाँ होगा ?"** ऐसा प्रसंग किसी ऐसी अवांछनीय एवम् अप्रतीक्षित घटना से उपस्थित होता है जिसके लिये उसका मन प्रस्तुत नहीं रहता। या तो कोई ऐसी अपेक्षा जिसके निष्फल होने का स्वप्न में भी विश्वास नहीं होता एकाएक भग्न हो जाती है और इस प्रकार सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है या किसी विपदा के आ जाने से उसकी परिस्थिति में कोई ऐसा महत्वपूर्ण उलटफेर पैदा हो जाय जिससे उसकी पूर्व–प्रतिष्ठित विचार–विधि तथा कार्य–पद्धति को गहरी ठेस पहुँचे और उन्हें आमूल बदलकर नयी व्यवस्था करना उसके लिए आवश्यक हो जाये। प्रायः किसी गहरी तृष्णा (जिससे वह अभिभूत था) के खन्डित होने पर ही ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है। जब कोई गहरी तृष्णा चौपट हो जाती है और उसकी क्षतिपूर्ति की लेशमात्र आस बाक़ी नहीं रहती तब उसके अन्तःकरण को एक ज़बरदस्त धक्का लगता है। फल यह होता है कि अब तक जिस प्रकार के जीवन को वह बिना किसी सोच विचार के स्वीकार करता रहा है, उसे क्षणभर भी स्वीकार करना उसके लिए एकदम असह्य हो जाता है।

**अनियन्त्रित तीव्र नैराश्य घातक होता है। किन्तु ईश्वर की तरफ झुकने पर विधायक हो जाता है।**

ऐसी परिस्थितियों में निराशा के वशीभूत होकर मनुष्य बिल्कुल किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है; और अन्तःकरण में उथल–पुथल मचने से जो प्रचण्डशक्ति उत्पन्न होती है उसे यदि अनियन्त्रित तथा अनिर्दिष्ट छोड़ दिया जाय तो मनुष्य या तो पागल हो जाता है या आत्महत्या कर लेता है। ऐसा संकट उन लोगों पर आता है जिनका नैराश्य विचारशून्य होता है और जो उछलती हुई वासना के हाथों अपने आपको बिलकुल सौंप देते हैं। विवेकविहीन नैराश्य विध्वंसक ही हुआ करता है। किन्तु ऐसी ही परिस्थितियों में एक विवेकशील मनुष्य का तीव्र नैराश्य बिलकुल भिन्न परिणाम पैदा करता है क्योंकि वह निराशाजन्य शक्ति को किसी अभिप्राय की ओर एकाग्र तथा निर्दिष्ट करता है। मनुष्य विवेकशील तीव्र नैराश्य के क्षण में जीवन का वास्तविक लक्ष्य खोज निकालने का महत्वपूर्ण निश्चय करता है। इस प्रकार, स्थायी मूल्यों की खोज का सूत्रपात होता है। अब कभी शान्त न होने वाला प्रज्वलित प्रश्न बारम्बार मन में उठता है, – **"आख़िर जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?"**

जब मनुष्य की अन्तःकरण की शक्ति जीवन के चरम लक्ष्य का अनुसन्धान करने के प्रयत्न में केन्द्रीभूत होती है तो कहना चाहिए कि वह अपने नैराश्य का विधायक तरीक़े से उपयोग कर रहा है। इस जीवन की चंचल वस्तुओं की चाह उसे अब नहीं

रहती संसार की चीजों से जिनका महत्व उसने अभी तक गृहीत किया था वह अब बिल्कुल संशयशील होता है। उसकी एकमात्र इच्छा सत्य को किसी भी मूल्य पर खोज निकालने की है; और सत्य से कम किसी भी चीज से उसे सन्तोष नहीं हो सकता। **दैवी तीव्र नैराश्य आध्यात्मिक जागृति का आरम्भ है; क्योंकि वह ईश्वर प्राप्ति की इच्छा को जन्म देता है।** दैवी तीव्र नैराश्य की पवित्र घड़ी में जब प्रत्येक वस्तु निराशाजनक मालूम होती है मनुष्य सब प्रकार के ख़तरे सिर पर लेकर किसी ऐसे सम्भाव्य अर्थपूर्णता को प्राप्त करने के लिये कमर कस लेता है जो आच्छन्न सी है।

**दैवी तीव्र नैराश्य आध्यात्मिक जागृति का आरम्भ है।**

पहले की सभी सान्त्वनाओं ने उसे धोखा दिया; किन्तु उसकी अन्तर्ध्वनि साथ ही साथ, यह बात मानने से भी इन्कार करती है, कि जीवन बिलकुल अर्थ–रहित या सार–शून्य है। **यदि वह किसी ऐसे प्रच्छन्न सत्य पर जिसे उसने अभी तक नहीं जाना है विश्वास नहीं करता तो फिर उसके लिए रह ही क्या जाता है जिसके लिए वह जीवित रहे ?** उसके लिए केवल दो ही बातें रहती हैं। या तो सिद्ध पुरुषों के कथनानुसार ईश्वर नाम का कोई गुप्त आध्यात्मिक सत्य है; अथवा सब कुछ निःसार है। दूसरी बात को मनुष्य का समूचा व्यक्तित्व स्वीकार करने से इन्कार कर देता है; अतः वह पहली ही बात की खोज–ढूँढ़ करने के लिए विवश होता है। इस प्रकार संसार से हताश होने पर मनुष्य ईश्वर की ओर मुड़ता है।

**केवल दो बातें या तो ईश्वर या कुछ भी नहीं।**

चूँकि उस सत्य (जिस पर उसने विश्वास किया है) तक पहुँचने के लिए कोई प्रत्यक्ष तथा सीधा मार्ग नहीं है वह अपने पहले के अनुभवों को ही आँखों से ओझल महिमामय के पास पहुँचने के साधन समझता है और तदनुसार वह अपने पहले के अनुभवों को पथ–दर्शन के अभिप्राय से फिर से शुरू करता है। अब वह प्रत्येक वस्तु को एक नई दृष्टि से देखता है; और प्रत्येक अनुभव की नए सिरे से व्याख्या करता है। अब केवल अनुभव ही नहीं करता; किन्तु उसकी आध्यात्मिक महत्ता की थाह लेता है। 'अनुभव कैसा है ?'– केवल इसी से वह सन्तुष्ट नहीं रहता; किन्तु अनुभव का उसके छिपे हुए लक्ष्य से क्या सम्बन्ध है वह यह जानने की कोशिश करता है। इस प्रकार जब वह प्रत्येक अनुभव का नए सिरे से मूल्य–निर्धारण करता है तो उसे वह अंतर्दृष्टि प्राप्त होती जाती है जो नई खोज शुरू करने के पहले उसे अज्ञात थी।

**मानी हुई दिव्यता के प्रकाश में अनुभवों का नया मूल्य–निर्धारण**

**अनुभव का नए सिरे से मूल्य आँकने का अर्थ है, विवेक की वृद्धि। आध्यात्मिक विवेक की ज्यों ज्यों वृद्धि होती चली जाती है, त्यों त्यों जीवन के प्रति साधारण रुख़ संशोधित या परिवर्तित होता जाता है।** अतएव ईश्वर या प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्य की बौद्धिक खोज की प्रतिध्वनि मनुष्य के आचरण या व्यावहारिक जीवन में होने लगती है; अर्थात् जिसे वह बुद्धि में सोचा करता था उसे अब कार्यरूप में परिणत करता रहता है। उसका जीवन अब अनुभूत आध्यात्मिक तथ्यों या मूल्यों का सच्चा प्रयोग बन जाता है।

**नयी प्रज्ञा का अर्थ है, अनुभूत मूल्यों को आचरण में लाना।**

ज्यों ज्यों उसका निजी जीवन से विवेक सम्मत तथा अभिप्राय–मूलक प्रयोग अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों जीवन के वास्तविक अर्थ का उसका बोध अधिक अधिक गहरा होता जाता है। अन्त में उसे पता लगता है, कि ज्यों ही उसके अन्तःकरण का मौलिक परिवर्तन होता है, त्यों ही उसे जीवन की अन्तिम महत्ता, ज्यों की त्यों, विदित हो जाती है। **जीवन के परम स्वरूप एवम् मूल्य का सुस्पष्ट तथा प्रशान्त दर्शन करने पर, उसे ज्ञान होता है कि वह ईश्वर, जिसे वह इतना विकल–विह्वल होकर खोजता रहा है कोई विदेशीय, प्रच्छन्न या पृथक सत्ता नहीं है; वह कोई अनुमान या कल्पना नहीं है; किन्तु स्वयम् सत्य है; वह निर्मल दृष्टि से द्रष्टव्य सत्य है जिससे वह भिन्न नहीं है, एवम् जिसमें उसका सम्पूर्ण अस्तित्व सम्मिलित है, एवम् जिससे वस्तुतः उसका तादात्म्य है।** इस प्रकार यद्यपि वह अपने से बिलकुल भिन्न किसी नयी वस्तु की खोज करने चला था तथापि वह यथार्थतः प्राचीन वस्तु का केवल नया ज्ञान ही प्राप्त करता है। आध्यात्मिक यात्रा में मनुष्य का उद्दिष्ट स्थान केवल यही है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं पाता है जो उसके पास नहीं थी; या वह नहीं बन जाता है जो वह नहीं था। केवल उसके जीवन के अज्ञान का मात्र नाश होता है; और उसके उस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, जिसका आरम्भ आध्यात्मिक जागृति से होता है। आध्यात्मिक यात्रा का यही अर्थ है। **ईश्वर को पाना आपने आपको जानना है।**

**ईश्वर को पाना अपने आपको जानना है।**

# प्रेम

जीवन और प्रेम–अविभेद्य या नित्यसहवती हैं। जहाँ जीवन है, वहाँ प्रेम है। अत्यन्त प्राथमिक अवस्था में भी, चेतना अपनी सीमाओं से फूट निकलने तथा अन्य रूपों से किसी न किसी प्रकार की एकता अनुभव करने की चेष्टा करती है। यद्यपि प्रत्येक रूप अन्य रूपों से भिन्न है तथापि वे सब एक ही जीवन के भिन्न भिन्न रूप हैं। और इस अप्रकट अन्तर्गत सत्य का सुप्त भाव ही, भ्रम–मय संसार में भिन्न–भिन्न रूपों के बीच आकर्षण प्रत्याकर्षण के द्वारा, अप्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होना चाहता है।

**प्रेम देशव्यापी है।**

सब तारे और ग्रह जिसके अधीन हैं वह गुरुत्वाकर्षण का नियम (Gravitation) एक प्रकार से विश्व के प्रत्येक कण में व्याप्त प्रेम का ही एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्रतिसारक शक्ति (Repulsion) भी, वस्तुतः प्रेम की ही अभिव्यक्ति है क्योंकि किसी तीसरी वस्तु के प्रति प्रचण्ड आकर्षण ही एक दूसरे को हटाने का कारण होता है। प्रतिसारक शक्ति आकर्षण का ही एक निषेधक परिणाम है। पदार्थों के बीच पारस्परिक संश्लेषशीलता (Cohesion) तथा संसक्ति शीलता (Affinity), जो भौतिक वस्तुओं के मौलिक तत्त्व–विधान में ही पायी जाती हैं, प्रेम की विधायक अभिव्यक्तियाँ है। लोहे का चुम्बक के प्रति आकर्षण, जड़ जगत् में विद्यमान आकर्षण का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। प्रेम के वे रूप निम्नतम श्रेणी के हैं, क्योंकि इस समय चेतना अत्यन्त अविकसित रहती है। चेतना की अवस्था की प्राथमिकता इन रूपों को नितान्त सीमित रखती है।

**जड़ जगत में प्रेम का राज**

पशु–जगत् में यह प्रेम अधिक स्पष्ट हो जाता है; और वह आस–पास की विभिन्न वस्तुओं की ओर निर्दिष्ट सबोध प्रवृत्तियों (Conscious impulses) का रूप धारण करता है। यह प्रेम नैसर्गिक प्रेरणात्मक (Instinctive) होता है; और वह उपयुक्त पदार्थों को स्वायत्त बनाकर, उनके द्वारा विभिन्न इच्छाओं की तृप्ति करने के रूप में प्रकट होता है। जब शेर हरिण का भक्षण करना चाहता है तो वह एक सच्चे ही अर्थ में उससे प्रेम करता है। इस अवस्था में कामाकर्षण (Sex-attraction) प्रेम का एक दूसरा रूप है। पशुओं में जो प्रेम दिखाई देता है; उसमें एक बात समान रूप से पायी जाती है और वह यह है, कि वे सभी प्रेम की वस्तु के द्वारा अपनी कोई न कोई शारीरिक प्रवृत्ति या इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं।

**पशु–जगत् में प्रेम।**

समस्त निम्न कोटि के प्रेम की अपेक्षा, मानवीय प्रेम अति उच्चतर है, क्योंकि मनुष्यों को पूर्ण रूप से विकसित चेतना प्राप्त है। यद्यपि मानवीय प्रेम निम्नतर उपमानवीय (Sub human) प्रेम के रूपों से अविच्छिन्न है तथापि वह एक तरह से उनसे भिन्न है। क्योंकि अब उसकी क्रियाएं एक नवीन तत्त्व अर्थात् बुद्धि के साथ साथ चलती हैं। कभी–कभी, मानवीय प्रेम बुद्धि से विश्लिष्ट (Divorced) शक्ति के रूप में प्रकट होता हुआ, बुद्धि से समानान्तर होकर गतिशील होता है। कभी–कभी वह बुद्धि से सम्मिश्रित शक्ति के रूप में व्यक्त होता है; और बुद्धि से उसका संघर्ष होने लग जाता है। और अन्त में, वह बुद्धि के साथ एक सुव्यवस्थित एकता का अवयव बनकर व्यक्त होता है। **इस अन्तिम अवस्था में, प्रेम तथा बुद्धि समभार हो जाते हैं; तथा एक सम्पूर्ण एकता में उन दोनो का सायुज्य हो जाता है।**

**मानवीय प्रेम को बुद्धि के एक नए तत्त्व के अनुसार व्यवस्थित होना पड़ता है।**

प्रेम और बुद्धि में तीन प्रकार के मेल सम्भव हैं। पहले प्रकार के मेल में विचार का क्षेत्र और प्रेम का क्षेत्र एक दूसरे से जितना हो सकता है उतना अलग और दूर रखा जाता है। अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में, विचार की पहुँच बिल्कुल असम्भव हो जाती है; और विचार की वस्तुओं तक प्रेम पहुँच नहीं पाता। आत्मा के इन दो भागों में, पूर्ण पृथकत्व सच पूछो तो कदापि सम्भव नहीं है; किन्तु जब प्रेम और बुद्धि की बारी बारीसे अलग अलग पर्याय क्रिया होती है, (और जब वे दो प्रधानता में डावाडोल होती रहती हैं) तब प्रेम ऐसा होता है जो बुद्धि से उद्दीप्त नहीं रहता, और बुद्धि ऐसी होती हैं, जो प्रेम से उल्लसित नहीं रहती। दूसरे प्रकार के मेल में, प्रेम और बुद्धि की क्रिया साथ–साथ होती है किन्तु वे समस्वर होकर

**प्रेम और बुद्धि के तीन प्रकार के मेल।**

कार्य नहीं करते। यद्यपि उनकी इस विषमता या संघर्ष से उलझन उत्पन्न हो जाती है तो भी वह विकास की एक आवश्यक स्थिति है जो एक ऐसी उच्चतर अवस्था को जन्म देती है जिसमें प्रेम और बुद्धि के बीच समन्वय की स्थापना आरम्भ होती है। **तीसरे प्रकार के मेल में, प्रेम और बुद्धि के बीच में, पूर्ण रूप से समन्वय स्थापित हो जाता हैं और परिणामतः प्रेम तथा बुद्धि दोनो के दोनों बिल्कुल ऐसे परिवर्तित हो जाते हैं कि वे शीघ्रातिशीघ्र एक नवीन प्रकार की चेतना को जन्म देते हैं, जिसे (साधारण मानवीय चेतना की तुलना में) अति चेतना या लोकोत्तर चेतना (Super consciousness) कहना अत्यन्त श्रेयस्कर होगा।**

मानवीय प्रेम असंख्य इच्छासंपन्न आहंकारिक चेतना (Ego-consciousness) के साँचे में ढलकर प्रकाशित होता है। इच्छाओं के कारण प्रेम नाना प्रकार से रंग–बिरंग हो जाता है। जिस प्रकार, चारुदर्शक (Kaledoscope) को घुमाने से असंख्य नमूने देख पड़ते है, जो कि सरल–सरल तत्त्वों के विभिन्न सम्मिश्रण से ही तैयार किये जाते है, उसी प्रकार अन्तःकरण के तत्त्वों के विलक्षण मेल के कारण हमें प्रेम के प्रायः असंख्य गुण–भेद दिखाई देते हैं। और जिस प्रकार फूलों के रंग के असंख्य भेद हैं, उसी प्रकार मानवीय प्रेम के भी नाना प्रकार के सूक्ष्म भेद हैं।

**प्रेम के नाना गुण–भेद**

मानवीय प्रेम मोह, वासना, लोभ, क्रोध और घृणा जैसे अनेक अवरोधक तत्त्वों से घिर जाता है। एक प्रकार से ये अवरोधक तत्त्व भी, या तो निम्नश्रेणी के प्रेम के ही रूप हैं, अथवा उसके अनिवार्य पार्श्वपरिणाम है। मोह, काम और लोभ प्रेम के विकृत एवम् निम्नतर रूप कहे जा सकते हैं। मोह में, मनुष्य भोग्य वस्तु पर आसक्त हो जाता है; काम में, वह भोग्य वस्तु से संवेदना की लालसा रखता है, और लोभ में वह भोग्य वस्तु पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। निम्नतर प्रेम के इन तीन रूपों में से लोभ विचित्र है। आरम्भिक भोग्य पदार्थ से, उसकी प्राप्ति के **साधन पर** विस्तृत होने की उनकी प्रवृत्ति होती है तदनुसार, मनुष्य, धन, सत्ता, या कीर्ति के लोभी हो जाते हैं क्योंकि वे इन साधनों के द्वारा, अपने विभिन्न वाँछित भोग्य विषयों पर अधिकार जमाना चाहते हैं। जब प्रेम के ये निम्नतर रूप अवरुद्ध हो जाते हैं या उनके अवरोध का ख़तरा उपस्थित हो जाता है, तब क्रोध और ईर्ष्या का उदय होता है।

**प्रेम की निम्नतर श्रेणियाँ**

प्रेम के ये निम्नतर रूप पवित्र के प्रवाह के प्रतिरोधक हैं। निम्नतर प्रेम के इन बाधक तथा विकारपूर्ण रूप से मुक्त हुए बिना, प्रेम की धारा निर्मल तथा शान्त कदापि

नहीं हो सकती। **निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।** यदि चेतना स्वनिर्मित गर्त में फँस जाती है, तो फिर उससे निकलकर उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इस भाँति, प्रेम का निम्नतर रूप प्रेम के उच्चतर रूप के विकास में विघ्न ड़ालता है। अतः प्रेम के उच्चतर रूप के मुक्त प्रवाह के लिए उसका निम्नतर रूप त्यागना आवश्यक है।

**निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।**

विवेक से निरन्तर काम लेने पर, निम्नतर प्रेम के आवरण से, उच्चतर प्रेम का मुक्त होना सरल हो जाता है। अतः, प्रेम को मोह, लोभ और क्रोध के बाधक तत्त्वों से, सावधानी के साथ, छाँटकर निकालना पड़ता है। मोह में, मनुष्य भोग्य विषय के कल्पित आकर्षण के जादू का निष्क्रिय शिकार हो जाता है; किन्तु प्रेम में, प्रेम के विषय का सक्रिय रूप से वास्तविक मूल्य आँकता है तथा उसके गुणों को ग्रहण करता है।

**प्रेम तथा मोह**

प्रेम काम से भी भिन्न है। कामेच्छा में, इन्द्रिय विषय पर अवलम्बन है; और परिणामतः आत्मा को तत्सम्बन्धी आध्यात्मिक पराधीनता महसूस होती रहती है। किन्तु प्रेम रूप के अन्तर्भूत सत्य से आत्मा का सीधा और समतायुक्त सम्बन्ध कराता है। अतः कामेच्छा भारतुल्य प्रतीत होती है, किन्तु प्रेम हल्का लगता है। कामेच्छा जीवन को संकुचित बनाती है; और प्रेम आत्मीयता का विस्तार करता है। **एक आत्मा को प्रेम करना मानो उसके जीवन को तम्हारे जीवन से जोड़ना है;** प्रेम में तुम्हारा जीवन वस्तुतः विस्तृत हो जाता है; और तुम दो केन्द्रों में रहने लग जाते हो। यदि तुम सारे संसार को प्रेम करते हो, तो तुम प्रतिनिधिक अर्थ से सारे संसार में ही रहते हो। किन्तु कामेच्छा में जीवन का क्षय होता चला जाता है; और एक रूप (जिसे तुम दूसरा समझते हो) पर पूर्णतः आश्रित होने का भाव सदा मौजूद रहता है। इस प्रकार, कामेच्छा में, पृथकत्व और यन्त्रणा का आधिक्य होता है; किन्तु प्रेम में एकता और आनन्द का भाव बना रहता है। कामेच्छा इन्द्रियों की तृष्णा है, किन्तु प्रेम आत्मा की अभिव्यक्ति है। वासना तृप्ति खोजती फिरती है; किन्तु प्रेम तृप्ति का अनुभव करता है। वासना में क्षोभ है; किन्तु प्रेम में शान्ति है।

**प्रेम और कामेच्छा**

प्रेम लोभ से भी बिलकुल भिन्न है। लोभ अपने तमाम स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में एक प्रकार की ग्रहण–लोलुपता है। वह स्थूल पदार्थों तथा मनुष्यों को तथा सूक्ष्म और अमूर्त वस्तुओं, जैसे कीर्ति और सत्ता को भी अधीनस्थ करना चाहता है। प्रेम में, किसी दूसरे मनुष्य को बलपूर्वक अपने वैयक्तिक जीवन की अधीनता में लाने का सवाल ही नहीं

उठता। और वह मुक्त एवं निर्मायक गति से प्रवाहित होकर, प्रिय के अन्तःकरण को संजीवित तथा पुनःपरिपूरित कर देता है। और वह अपने लिए कोई अपेक्षा नहीं करता।

**प्रेम और लोभ**

यहाँ यह विरोधाभास (Paradox) है कि लोभ, जो अन्य पदार्थपर आत्मा का अधिकार जमाना चाहता है, यथार्थ में आत्मा को ही वस्तु के अधीनस्थ कर देता है; और प्रेम, जो आत्मा को प्रिय के लिए समर्पित करना चाहता है, वस्तुतः प्रिय को प्रेमी के अस्तित्व में सम्मिलित करने में सफल होता है। **लोभ में, आत्मा वस्तु पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है; किन्तु वह स्वयं उस वस्तु के आधिपत्य के नीचे आ जाता है; और प्रेम में, आत्मा अपने आपको पूर्ण रूप से प्रिय को समर्पित कर देती है; किन्तु इस समर्पण के द्वारा वह प्रिय को अपने अस्तित्व में समाविष्ट कर लेती है।**

मोह, कामेच्छा तथा लोभ के मेलसे एक आध्यात्मिक रोग का जन्म होता है। क्रोध और मत्सर इस रोग के बाह्य लक्षण हैं, जो रोग को और अधिक उग्र बना देते हैं। प्रेम

**पवित्र प्रेम अनुग्रह के द्वारा जागृत किया जाता है।**

इन विकारों से सर्वथा भिन्न है। वह मानो आध्यात्मिक पूर्णता की प्रफुल्लता है। मानवीय प्रेम इन विकारों के कारण इतना अधिग्रस्त हो जाता है, कि अन्दर से पवित्र प्रेम का सहज रूप से प्रस्फुटित होना असम्भव हो जाता है। साधक को पवित्र प्रेम सदैव उपहार के रूप में प्राप्त होता है। **साधक के हृदय में पवित्र प्रेम सद्गुरु के अनुग्रह के प्रतिसम्वादी के रूप में अवतरित होता है।** जब सद्गुरु अनुग्रह से प्रेरित होकर, साधक को पहले पवित्र प्रेम का उपहार भेंट करता है, तब वह कुछ समय तक चेतना में सुप्तावस्था में निवास करता है जैसे उर्वरा धरती में बीज निवास करता है फिर वह योग्य समय आनेपर, पौधे की भाँति उगता है और तदतन्तर पूर्ण विकसित वृक्ष की भाँति फूलता फलता है।

साधक की प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी गुरु के अनुग्रह के अवरोहण की शर्त है। जब तक साधक के आन्तरिक स्वभाव में कुछ दिव्य गुणों का विकास नहीं हो जाता,

**अनुग्रह की आध्यात्मिक तैयारी**

तब तक गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, उसकी प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी पूरी नहीं हुई रहती। जब मनुष्य परोक्ष में दूसरों की बुराई करने की आदत छोड़ देता है, और जब वह अन्य लोगों के ऐबों को छोड़कर, उनके सद्गुणों का ही चिंतन करता है, और जब वह परम सहिष्णुता का बर्ताव करने में सफल होता है, तथा जब वह खुद की हानि सहकर भी, और की भलाई चाहता है, तो, समझना चाहिए कि साधक सद्गुरु का

नहीं हो सकती। **निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।** यदि चेतना स्वनिर्मित गर्त में फँस जाती है, तो फिर उससे निकलकर उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इस भाँति, प्रेम का निम्नतर रूप प्रेम के उच्चतर रूप के विकास में विघ्न ड़ालता है। अतः प्रेम के उच्चतर रूप के मुक्त प्रवाह के लिए उसका निम्नतर रूप त्यागना आवश्यक है।

**निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।**

विवेक से निरन्तर काम लेने पर, निम्नतर प्रेम के आवरण से, उच्चतर प्रेम का मुक्त होना सरल हो जाता है। अतः, प्रेम को मोह, लोभ और क्रोध के बाधक तत्त्वों से, सावधानी के साथ, छाँटकर निकालना पड़ता है। मोह में, मनुष्य भोग्य विषय के कल्पित आकर्षण के जादू का निष्क्रिय शिकार हो जाता है; किन्तु प्रेम में, प्रेम के विषय का सक्रिय रूप से वास्तविक मूल्य आँकता है तथा उसके गुणों को ग्रहण करता है।

**प्रेम तथा मोह**

प्रेम काम से भी भिन्न है। कामेच्छा में, इन्द्रिय विषय पर अबलम्बन है; और परिणामतः आत्मा को तत्सम्बन्धी आध्यात्मिक पराधीनता महसूस होती रहती है। किन्तु प्रेम रूप के अन्तर्भूत सत्य से आत्मा का सीधा और समतायुक्त सम्बन्ध कराता है। अतः कामेच्छा भारतुल्य प्रतीत होती है, किन्तु प्रेम हल्का लगता है। कामेच्छा जीवन को संकुचित बनाती है; और प्रेम आत्मीयता का विस्तार करता है। **एक आत्मा को प्रेम करना मानो उसके जीवन को तम्हारे जीवन से जोड़ना है;** प्रेम में तुम्हारा जीवन वस्तुतः विस्तृत हो जाता है; और तुम दो केन्द्रों में रहने लग जाते हो। यदि तुम सारे संसार को प्रेम करते हो, तो तुम प्रतिनिधिक अर्थ से सारे संसार में ही रहते हो। किन्तु कामेच्छा में जीवन का क्षय होता चला जाता है; और एक रूप (जिसे तुम दूसरा समझते हो) पर पूर्णतः आश्रित होने का भाव सदा मौजूद रहता है। इस प्रकार, कामेच्छा में, पृथकत्व और यन्त्रणा का आधिक्य होता है; किन्तु प्रेम में एकता और आनन्द का भाव बना रहता है। कामेच्छा इन्द्रियों की तृष्णा है, किन्तु प्रेम आत्मा की अभिव्यक्ति है। वासना तृप्ति खोजती फिरती है; किन्तु प्रेम तृप्ति का अनुभव करता है। वासना में क्षोभ है; किन्तु प्रेम में शान्ति है।

**प्रेम और कामेच्छा**

प्रेम लोभ से भी बिलकुल भिन्न है। लोभ अपने तमाम स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में एक प्रकार की ग्रहण–लोलुपता है। वह स्थूल पदार्थों तथा मनुष्यों को तथा सूक्ष्म और अमूर्त वस्तुओं, जैसे कीर्ति और सत्ता को भी अधीनस्थ करना चाहता है। प्रेम में, किसी दूसरे मनुष्य को बलपूर्वक अपने वैयक्तिक जीवन की अधीनता में लाने का सवाल ही नहीं

उठता। और वह मुक्त एवं निर्मायक गति से प्रवाहित होकर, प्रिय के अन्तःकरण को संजीवित तथा पुनःपरिपूरित कर देता है। और वह अपने लिए कोई अपेक्षा नहीं करता।

**प्रेम और लोभ**

यहाँ यह विरोधाभास (Paradox) है कि लोभ, जो अन्य पदार्थपर आत्मा का अधिकार जमाना चाहता है, यथार्थ में आत्मा को ही वस्तु के अधीनस्थ कर देता है; और प्रेम, जो आत्मा को प्रिय के लिए समर्पित करना चाहता है, वस्तुतः प्रिय को प्रेमी के अस्तित्व में सम्मिलित करने में सफल होता है। **लोभ में, आत्मा वस्तु पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है; किन्तु वह स्वयं उस वस्तु के आधिपत्य के नीचे आ जाता है; और प्रेम में, आत्मा अपने आपको पूर्ण रूप से प्रिय को समर्पित कर देती है; किन्तु इस समर्पण के द्वारा वह प्रिय को अपने अस्तित्व में समाविष्ट कर लेती है।**

मोह, कामेच्छा तथा लोभ के मेलसे एक आध्यात्मिक रोग का जन्म होता है। क्रोध और मत्सर इस रोग के बाह्य लक्षण हैं, जो रोग को और अधिक उग्र बना देते हैं। प्रेम

**पवित्र प्रेम अनुग्रह के द्वारा जागृत किया जाता है।**

इन विकारों से सर्वथा भिन्न है। वह मानो आध्यात्मिक पूर्णता की प्रफुल्लता है। मानवीय प्रेम इन विकारों के कारण इतना अधिग्रस्त हो जाता है, कि अन्दर से पवित्र प्रेम का सहज रूप से प्रस्फुटित होना असम्भव हो जाता है। साधक को पवित्र प्रेम सदैव उपहार के रूप में प्राप्त होता है। **साधक के ह्रदय में पवित्र प्रेम सद्‌गुरु के अनुग्रह के प्रतिसम्वादी के रूप में अवतरित होता है।** जब सद्‌गुरु अनुग्रह से प्रेरित होकर, साधक को पहले पवित्र प्रेम का उपहार भेंट करता है, तब वह कुछ समय तक चेतना में सुप्तावस्था में निवास करता है जैसे उर्वरा धरती में बीज निवास करता है फिर वह योग्य समय आनेपर, पौधे की भाँति उगता है और तदतन्तर पूर्ण विकसित वृक्ष की भाँति फूलता फलता है।

साधक की प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी गुरु के अनुग्रह के अवरोहण की शर्त है। जब तक साधक के आन्तरिक स्वभाव में कुछ दिव्य गुणों का विकास नहीं हो जाता,

**अनुग्रह की आध्यात्मिक तैयारी**

तब तक गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, उसकी प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी पूरी नहीं हुई रहती। जब मनुष्य परोक्ष में दूसरों की बुराई करने की आदत छोड़ देता है, और जब वह अन्य लोगों के ऐबों को छोड़कर, उनके सद्‌गुणों का ही चिंतन करता है, और जब वह परम सहिष्णुता का बर्ताव करने में सफल होता है, तथा जब वह खुद की हानि सहकर भी, और की भलाई चाहता है, तो, समझना चाहिए कि साधक सद्‌गुरु का

अनुग्रह प्राप्त करने के योग्य हो चुका है। साधक की इस आध्यात्मिक तैयारी की सबसे बड़ी बाधा है चिन्ता। और जब महान प्रयत्न के बलपर यह बाधा दूर हो जाती है, तो उन दिव्य गुणों के लिए रास्ता साफ हो जाता है जिनके विकसित होनेपर शिष्य की आध्यात्मिक तैयारी पूर्ण हो जाती है। **ज्योंही शिष्य तैयार होता है, त्योंही गुरु का अनुग्रह अवतरित होता है, क्योंकि गुरु जो, दैवी प्रेम का पारावार होता है, उस आत्मा की तलाश में रहता है, जिसमें उसका अनुग्रह फलीभूत हो सकता हो।**

जिस प्रकार का प्रेम गुरु के अनुग्रह के द्वारा जागृत किया जाता है, वह विरल है या, कहना चाहिए, एक विशेषाधिकार है। वह माता जो अपनी सन्तान के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने एवम् प्राण देने के लिए तैयार रहती है तथा वह वीर, जो अपने देश के वास्ते अपना प्राणोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहता है, निस्संदेह महान हैं; किन्तु सद्गुरु के द्वारा जागृत किए जाने वाले पवित्र प्रेम की मिठास को वे नहीं जानते। गिरी–गह्वरों में बैठे हुए घोर समाधि में पूर्णतः मग्न रहने वाले बड़े–बड़े दाढ़ी–धारी योगियों में भी इस बहुमूल्य प्रेम का अभाव हुआ करता है।

**पवित्र प्रेम दुर्लभ है।**

अन्य साधनो और साधनाओं की अपेक्षा, गुरु के अनुग्रह से साधक के हृदय में जागृत किया जानेवाला पवित्र प्रेम अधिक मूल्यवान है। अन्य साधन–साधनाओं से जो लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं, वे सब न केवल इस पवित्र प्रेम में समाविष्ट रहते हैं; प्रत्युत अन्य विधियों की अपेक्षा, इसमें साधक को लक्ष्य की ओर ले जाने की अधिक क्षमता रहती है। जब यह प्रेम पैदा होता है तो साधक को केवल एक इच्छा रहती है; और वह है, दैवी प्रियतमसे मिलकर एक होने की इच्छा। अन्य इच्छाओं से चेतना के हटकर वापस खिंच आनेसे अनन्त पवित्रता की प्राप्ति होती है। अतः, पवित्रता उत्पन्न करने में गुरुप्रदत्त प्रेम की भाँति सामर्थ्यशाली अन्य कोई तरीक़ा नहीं है। साधक अपने दैवी प्रियतम को अपना सर्वस्व दे देने के लिए सदा तैयार रहता है। और उसके लिए कैसा भी त्याग वह कर सकता है। वह अपनी खुदकी ज़रा भी चिन्ता नहीं करता। वह अन्य किसी वस्तु की चाह नहीं करता। उसके समस्त विचार अपने दिव्य प्रियतम पर केन्द्रित हो जाते हैं। और **इस निरन्तर वर्धमान प्रेम की प्रचण्ड तीव्रता के कारण उसके व्यष्टिभाव के बन्धन पूर्णतः छिन्न हो जाते हैं; और वह अपने प्रियतम से युक्त हो जाता है।** यह प्रेम की सिद्धि अथवा सम्पूर्णता है। जब प्रेम इस प्रकार फलीभूत हो जाता है तो वह दिव्य हो जाता है।

**पवित्र प्रेम सर्वश्रेष्ठ अनुशासन है।**

गुण में दिव्य प्रेम मानवीय प्रेम से भिन्न है। मानवीय प्रेम एक के अनेक रूपों के लिए होता है; और देवी प्रेम अनेक में सन्निहित एक तत्त्व के लिये होता है। मानवीय प्रेम न जाने कितनी गुत्थियाँ और ग्रन्थियाँ पैदा कर देता है; किन्तु दैवी प्रेमसे पूर्णता और स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। **दैवी प्रेम में व्यक्तिपरक और व्यक्तिनिरपेक्ष भाग बिलकुल समभार होते हैं।** किन्तु मानवीय प्रेम में कभी व्यक्तिपर भाग (Personal aspect) का प्राधान्य होता है; तो कभी व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonal) का। मानवीय प्रेम में जब व्यक्तिपर भावना प्रबल हो जाती है, तो मनुष्य इतर रूपों के अन्तस्थ मूल्य की ओर से अपनी आँखें मूँद लेते हैं; और जब कर्तव्य की भावना में उसका प्रेम व्यक्तिनिरपेक्ष होता है, तो वह बहुधा शुष्क, कठोर तथा यंत्र–तुल्य बन जाता है। कर्तव्य की भावना आचरण की एक बाहरी बला के रूप में आती है; किन्तु दैवी प्रेम में अबाध स्वतंत्रता तथा असीम सहजता है। मानवीय प्रेम अपने व्यक्तिपर तथा व्यक्तिनिरपेक्ष रूपों में सीमित ही रहता है; किन्तु उसके वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक रूपों के सायुज्य की वजह, दैवी, प्रेम की अभिव्यक्ति तथा सत्ता अनन्त हो जाती है।

**मानवीय प्रेम की उपेक्षा दैवी प्रेम उच्चतर है।**

सर्वोत्कृष्ट कोटि का मानवीय प्रेम भी, वैयक्तिक स्वभाव के कारण, परिमित ही रहता है। यह वैयक्तिक स्वभाव सातवीं भूमिका तक बना रहता है; किन्तु **वैयक्तिक मन के लोप के पश्चात् ही, दैवी प्रेम आविर्भूत होता है।** अतः, यह वैयक्तिकता की श्रृंखला से मुक्त रहता है। मानवीय प्रेम में, प्रेमी और प्रियतम का द्वैत बना रहता है किन्तु दैवी प्रेम में प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं। इस अवस्था में, साधक द्वैत की सीमा लाँघकर ईश्वर से **प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं तो यही मानो इति और अथ है।**

**दैवी प्रेम में प्रेमी और प्रियतम मिलकर एक हो जाते हैं।**

प्रेम के लिये, समस्त सृष्टि आविर्भूत हुई है; और प्रेम ही के लिये, वह चल रही है। ईश्वर भ्रम के क्षेत्र में इसलिये अवतीर्ण होता है, कि प्रेमी और प्रियतम के दृश्यमान द्वैत की सहायता से ही, वह अपनी दिव्यता की अन्ततोगत्वा सज्ञान अनुभूति प्राप्त करें। द्वैत की खींचतान के द्वारा ही, प्रेम का विकास संवर्धित होता है। प्रेम की क्रीड़ा को जारी रखने के लिये, ईश्वर नाना आत्माओं का भासमान विभिन्नत्व धारण करता है। नाना नामरूपात्मक जीव ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप हैं; या यों कहें, कि स्वयं ईश्वर ही दैवी प्रेमी और दैवी प्रियतम दोनो बनता है। प्रियतम के रूप में वह प्रेमी के लिये पूज्य और आराध्य है; और दैवी प्रेमी के रूप में, ईश्वर जीवों को परम उद्धारक है जो उन्हें अपनी ओर खींचता रहता

**प्रेम के लिये सृष्टि की रचना हुई है**

है। इस प्रकार यद्यपि यह सारा द्वैतमय संसार केवल एक भ्रम है तथापि इस भ्रम का उद्‌गम एक महान् अभिप्राय की सिद्धि के लिये हुआ है।

**प्रेम की संचालक शक्ति**

**प्रेम इस अनेकता युक्त जगत् में ईश्वर की एकता का प्रतिबिम्ब है।** वह अखिल सृष्टि की शोभा है! जीवन मे यदि प्रेम न रहे, तो संसार के सकल मनुष्य एक दूसरे से बहिस्थित हो जायें; और ऐसे प्रेमहीन संसार में यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव हो सकता है, तो वह अर्थहीन या यंत्रतुल्य ही होगा। प्रेम के ही कारण व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध महत्वपूर्ण बन जाता है, और प्रेम ही द्वैतमय संसार की घटनाओं को अर्थ और मूल्य प्रदान करता है। किन्तु **जहाँ प्रेम द्वैत के संसार को सार प्रदान करने वाला है, वहाँ वह साथ ही साथ, द्वैत के लिये एक खुली चुनौती भी है।** ज्यों ज्यों प्रेम प्रबल होता जाता है त्यों त्यों वह निर्मायक विह्वलता की उत्पत्ति करता है; और वह उस आध्यात्मिक गति को संचालित करनेवाली संचालक शक्ति बन जाता है, जो अन्त में चेतना को उसके स्वरूप की आरम्भिक एकता का ज्ञान कराती है।

# पथ की विभिन्न अवस्थाएँ

सभी मनुष्यों को बद्धता की स्थिति पार करनी पड़ती है; किन्तु इस बन्धन काल को जीवन के विकास का एक अर्थ रहित व्याख्यान नहीं मानना चाहिए। पिंजड़े के भीतर बन्द रहने का अनुभव यदि प्राप्त नहीं किया जाएगा, तो फिर स्वतंत्रता का महत्व कैसे समझा जा सकता है। यदि मछली अपने जीवन की पूरी अवधि के भीतर एक बार भी पानी से बाहर न निकले तो उसे पानी का मूल्य आँकने का मौका ही नहीं मिलेगा। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह पानी के ही भीतर रहे तो यह समझने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता कि उसके जीवन के लिए पानी का क्या महत्व है। किन्तु यदि वह एक क्षण मात्र के लिए पानी से बाहर निकाल दी जाय, तो वह पानी के लिए तड़पती है, और इस तड़पने के अनुभव से उसे पानी का महत्व मालूम हो जाता है। इसी प्रकार यदि जीवन यहां से लेकर वहाँ तक, बिल्कुल स्वतंत्र होता, और वह यह न जानता कि बन्धन क्या चीज़ है, तो वह स्वतंत्रता की महत्ता को समझने के मौके से हाथ धो बैठता। **आध्यात्मिक बद्धता का अनुभव और उससे युक्त होने की तीव्र इच्छा– दोनो आनेवाली मुक्ति के आनन्दास्वाद की तैयारी हैं।**

**बन्धन मुक्ति के महत्व को बढ़ाता है।**

पानी से वियुक्त मछली जिस प्रकार पानी में जाने के लिए व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार साधक जिसे लक्ष्य का बोध हो गया है ईश्वर से मिलने के लिये विह्वल

रहता है। यदि सच पूछा जाय तो जिस समय में प्रत्येक जीव अज्ञान के आवरण के कारण ईश्वर से वियुक्त होता है ठीक उसी समय से वह उससे मिलने के लिए लालायित रहता है। किन्तु उसकी यह लालसा सज्ञान नहीं होती। सज्ञान लालसा के उत्पन्न होने पर ही साधक पथ में प्रविष्ट होता है। मनुष्य अज्ञान से उसी प्रकार अभ्यस्त हो जाता है जिस प्रकार रेलगाड़ी पर बैठा हुआ मनुष्य उस सुरंग के अंधःकार से अभ्यस्त हो जाता है जिसके भीतर से रेल गाड़ी निकलती रहती है। किन्तु उस अन्धःकार के समय भी उसे एक निश्चित आरामशून्यता का अनुभव होता है तथा उसे एक अस्पष्ट एवम् अवर्णनीय अस्थिरता महसूस होती है। उसे ऐसा लगता रहता है, मानो कुछ खो गया हो। शुरू से ही उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस खो गये कुछ का उसके लिए अत्यन्त महत्व है। घोर अज्ञान की दशा में इस जगत् के रंगबिरंगे भौतिक पदार्थ ही वह "खो गया हुआ कुछ" समझ लिये जाते हैं। किन्तु जब इस संसार का अनुभव काफी प्रौढ़ हो जाता है, तब उन पदार्थों के द्वारा, बारबार प्रताड़ित और प्रवंचित होने पर, जब बारबार आंखे खुलती हैं और इनके सम्बन्ध में कल्पित भ्रम दूर होता है, तब मनुष्य उस खोयी हुई वस्तु को पाने के सही रास्ते को पकड़ता है। ठीक उस क्षण–से **वह नित्य परिवर्तनशील नामरूपों को पाने की अपेक्षा किसी अन्य गम्भीरतर सत्य की खोज करता है।** इस क्षण को साधक की प्रथम दीक्षा या प्रथम पथ–प्रवेश कहना अनुचित न होगा। पथ प्रवेश के क्षण से ही ईश्वर या अपने मौलिक स्वरूप जिससे वह नियुक्त हो गया है उसे युक्त होने की आकांक्षा **स्पष्ट** और **तीव्र** हो जाती है। जिस प्रकार रेल में बैठा हुआ आदमी सुरंग के दूसरे छोर से प्रकाश की एक रेखा को देखते ही प्रकाश की प्रबल लालसा करने लग जाता है उसी प्रकार जीवन के लक्ष्य की झलक पा चुकनेवाला मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र वेग से लक्ष्य की ओर बढ़ने की लालसा करता है।

**गम्भीर सत्य की सज्ञान लालसा से पथ का प्रारम्भ होता है।**

आध्यात्मिक पथपर छः स्टेशन हैं और सातवाँ स्टेशन अन्तिम स्टेशन या अन्तिम लक्ष्य है। बीच का प्रत्येक स्टेशन मानो **उस अन्तिम लक्ष्य सम्बन्धी काल्पनिक पूर्वसूचना** (Imaginative anticipation) है। मनुष्य को ईश्वर से नियुक्त करनेवाला आवरण मिथ्या कल्पना से बुना गया है। और इस मिथ्या व कल्पना से बुने गये आवरण की मानो अनेक तह हैं। पथ में पदार्पण करने के पूर्व, मनुष्य, कल्पना के इस अनेक तहवाले आवरण से, आच्छदित रहता है। परिणामतः वह अपने को एक पृथक और आछिन्न

**अज्ञान के अनेकतर आवरण का जीर्ण होना।**

सान्त व्यक्ति समझने के सिवा अन्य किसी बात की कल्पना तक नहीं करता। अनेक–स्तर–पूर्ण मिथ्या कल्पना की प्रक्रिया के कारण, उसकी अहं–वृत्ति धनीभूत हो जाती हैं, और ईश्वर दर्शन की सज्ञान लालसा के द्वारा, कल्पना की दीर्घकालीन मिथ्या क्रिया से निर्मित अहंकार की इमारत को पहला धक्का लगता है– जिससे वह हिल उठती है। **आध्यात्मिक पथ पर आगे बढने का अर्थ है, कल्पना की मिथ्या प्रक्रिया, के परिणामों को अन्यथा करना, या अनतिक्रमणीय पार्थक्य तथा अलंध्य वियोग का भाव पैदा करनेवाले अज्ञानावरण की तहों को, एक एक करके निकालकर, फेंकते जाना।** अब तक मनुष्य अपने पृथक अस्तित्व से दृढतापूर्वक चिपका रहा, और घोर अज्ञान के दुर्घर्ष प्राप्ति के भीतर, उसे उसने सुरक्षित रखा; किन्तु अब मानो महत्तर सत्य के साथ वह एक प्रकार का वार्तालाप आरम्भ करता है। साथ से उसका वार्तालाप ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों उसका अज्ञानावरण पतला होता जाता है, और पार्थक्य तथा अहंभाव के क्रमशः जीर्ण होने के साथ ही, उसे श्रेष्ठतर सत्य से सायुज्य की अधिकाधिक गहरी भावना का अनुभव होता जाता है।

**कल्पना की मिथ्या क्रिया की क्रमिक प्रायावृत्ति।**

कल्पना की भाँति भाँति की उड़ान के सबब, दूरी के भाव का जन्म होता है अतः दूरी (Aloofness) के स्वनिर्मित भाव को दूर करना और सत्य से मिलकर एक होना, कल्पना की मिथ्या क्रिया की प्रायावृत्ति के द्वारा सम्भव है अर्थात् जिस क्रम से मिथ्या कल्पना ने अज्ञान का ताना–बाना बुना है उसी क्रम से वह उधेड़ा जा सकता है। कल्पना से पूर्णतः मुक्त होना गाढ़ी निद्रा से जागने के समान है, और मिथ्या कल्पना से मुक्ति पाने की क्रमिक क्रिया की विभिन्न अवस्थाएँ, उन सपनो के तुल्य हैं, जो गाढ़ी निद्रा और पूर्ण जागृति के बीच मानो एक पुल कायम करते हैं। मिथ्या कल्पना की विभिन्न क्रियाओं से मुक्त होने की विधि क्रमिक है और उसकी सात अवस्थाएँ हैं। कल्पना के आवरण की एक तह को निकाल फेंकना, निश्चय ही सत्य प्रकाश के अधिक समीप आना है, किन्तु वह सत्य से युक्त होना नहीं है। क्योंकि उससे केवल इतना ही अर्थ है, कि अपेक्षाकृत कम मिथ्या कल्पना को ग्रहण करके अधिक मिथ्या कल्पना को त्यागना। अहंवृत्तिजन्य दूरी के भाव जैसे विभिन्न अंश है; उसी के अनुसार कल्पना के मिथ्यात्व के विभिन्न **अंश हैं। मिथ्या कल्पना से मुक्ति पाने की क्रिया की प्रत्येक अवस्था अहंकार की निश्चित जीर्णता है, किन्तु सातवीं अवस्था में पहुँचने के पहले, बीच की अवस्थाओं में, एक के बाद दूसरी में पहुँचना, मानो कल्पना की एक उड़ान को छोड़कर दूसरी उड़ान को ग्रहण करना है।** सातवीं अवस्था में पहुँचे बिना कल्पना की समाप्ति नहीं होती।

कल्पना की विभिन्न उड़ानों से आत्मा के यथार्थ **स्वरूप** का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। **कल्पना के बदलने से आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल आत्मा–सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन होता है।** अनुमान करो कि दिवास्वप्न (daydreem) में, या काल्पनिक मनःसृष्टि में, तुम कल्पना करते हो कि तुम चीन में हो, यद्यपि तुम्हारा शरीर वस्तुतः हिंदुस्तान में है। जब तुम्हारी काल्पनिक मनःसृष्टि की माला समाप्त होती है, तब तुम्हें विदित होता है, कि तुम्हारा शरीर यथार्थतः चीन में नहीं है, किन्तु हिन्दुस्तान में है। मानसिक (Subjective) दृष्टिकोण से यह चीन से हिन्दुस्तान लौटने के समान है। इसी प्रकार, देह के तादात्मय का क्रमशः कम होना तथा सर्वान्तर्यामी आत्मा से तादात्म्य का क्रमशः बढ़ना, पथ पर यथार्थतः यात्रा करने के तुल्य है, यद्यपि सच पूछा जाय, तो पथ के बीच की विभिन्न अवस्थाएं कल्पना क्रिया की ही सृष्टियाँ हैं।

**पथ के बीच की विभिन्न अवस्थाएँ कल्पना के रूप हैं।**

इस भाँति, आरोहण की छः अवस्थाएं कल्पना के ही अन्तर्गत हैं। किन्तु **प्रत्येक अवस्था में, दूरी (Aloofness) के भाव के कम होने तथा महानतर सत्य से सायुज्य प्राप्त करने का भाव इतना स्पष्ट और निश्चित होता है कि मनुष्य को बहुधा आत्मज्ञान का संभ्रम (Pseudosense of Realisation) हो जाता है।** जिस प्रकार, पर्वत चढ़ने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य मार्ग में गहरी दरी को देखकर मुग्ध हो जाता है, और मिथ्या यह सोचने लगता है, कि वह लक्ष्य स्थान में पहुँच गया है, उसी प्रकार, साधक भी पथ की मध्यवर्तिनी विभिन्न अवस्थाओं को ही अन्तिम लक्ष्य–स्थान समझने की ग़लती कर जाता है। किन्तु, जिस भाँति, पर्वत के सर्वोच्च श्रृंग पर चढने की सच्ची अभिलाषा रखनेवाला मनुष्य थोड़ी ही देर के बाद जान जाता है कि दरी तो यथार्थ में, पार करने के लिए है, उसी प्रकार, साधक को भी, देर या अवसर से मालूम होता है, कि बीच की यह अवस्था दर असल पार करने के लिए ही है। **मध्यस्थित अवस्थाओं में प्रतीत होनेवाले आत्म–ज्ञान का आत्म–संभ्रम (Self-delusion) मनुष्य के नींद की अवस्था में यह अपनाने के तुल्य है, कि वह नींद से जग गया है, यद्यपि यथार्थ में वह जगा नहीं है।** यथार्थ में जगने पर, उसे बोध होता है, कि उसे जगने के पहले जो भाव हुआ, वह वास्तव में एक सपना ही था।

**आत्म ज्ञान का मिथ्या–संभ्रम**

उन्नति की प्रत्येक विशिष्ट अवस्था चेतना की एक निश्चित स्थिति है : और चेतना की एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचना, ओर आन्तरिक भूमिकाओं को

लाँघना साथ ही साथ होता है। सातवीं भूमिका, जहाँ यात्रा समाप्त हो जाती है, उसमें पहुँचने के पहले, बीच की छः भूमिकाएं और चेतना की छः स्थितियाँ पार करनी पड़ती हैं। सातवीं भूमिका में पहुँचने पर ब्राह्मी स्थिति (God-state) प्राप्त होती है। प्रत्येक भूमिका रेल्वे स्टेशन के तुल्य हैं, जहाँ थोड़ी देर रेलगाड़ी ठहरती है; और चेतना की स्थिति स्टेशन में उतरकर यात्री के चलने–फिरने के सदृश है।

**मानसिक स्थितियाँ तथा भूमिकाएँ**

चेतना की नई भूमिका में प्रविष्ट होने के पश्चात् मनुष्य को उस भूमिका का स्वतंत्रतापूर्वक अनुभव करने में कुछ समय लगता है। चूँकि मानसिक दशा में आमूल परिवर्तन हो जाता है, अतः उसे मानसिक क्रिया की एक प्रकार की मंदता का अनुभव होता है, जिसे समाधि कहते हैं। जब यात्री एक नयी भूमिका में प्रविष्ट होता है, तो पहले वह उस भूमिका मे निमग्न हो जाता है। तत्पश्चात् वह उस भूमिका में विद्यमान चेतना की एक विशिष्ट स्थिति का अनुभव करता है। जिस प्रकार, यात्री यात्राजन्य थकान के कारण क्लान्त हो जाता है, और कभी कभी उसे इस थकान की वजह नींद आ जाती है, उसी प्रकार चेतना, जो श्रमपूर्वक चढ़कर नयी भूमिका मे पहुँचती है, थक जाती है, और उसकी क्रिया शिथिल या मन्द पड़ जाती है। **यह मन का शैथिल्य नींद के तुल्य है।** किन्तु साथ ही, समाधि और नींद में आकाश पाताल का अन्तर है। **नींद में मनुष्य पूर्णतः अचेतन रहता है। किन्तु समाधि में आनन्द, प्रकाश तथा शक्ति की चेतना विद्यमान रहती है, और शरीर तथा परिस्थिति की चेतना नहीं रहती है।** समाधि की थोड़े समय तक रहने वाली स्थिरता के पश्चात् मन नयी भूमिका में कार्य करने लग जाता है। और वह चेतना की एक ऐसी स्थिति का अनुभव करता है, जो उस स्थिति से बिल्कुल भिन्न है, जिसे वह पीछे छोड़ आया है।

**समाधिका स्वरूप (इष्टि धाक)**

**जब साधक नयी भूमिका में प्रविष्ट होता है; तो वह उसमें मग्न हो जाता है, और उसकी मानसिक क्रिया के मंदहोने के साथ साथ, वह अपने अहंकारिक जीवन (Ego-life) का भी निश्चित ह्रास अनुभव करता है।** अहंकारिक जीवन का यह ह्रास, सातवीं भूमिका में के अहंकार के अन्तिम मूलोच्छेद से भिन्न है। अहंकार के अन्तिम मूलोच्छेद की भाँति, मध्यस्थित छः भूमिकाओं में होनेवाला अहंकार का क्रमिक ह्रास भी, सापेक्ष महत्व के कारण, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूफी आध्यात्मिक परम्परा में अहंकार का अन्तिम मूलोच्छेद 'फ़ना–फ़िल्लाह' कहलाता है। और द्वैतयुक्त छः भूमिकाओं की विभिन्न समाधियाँ भी, फ़ना के विभिन्न रूप मानी गई हैं क्योंकि प्रत्येक समाधि में अहंकार का **आन्शिक** उच्छेद होता है।

**पथ की प्रत्येक अवस्था अहंकारिक जीवन का ह्रास है।**

प्रत्येक फ़ना मानो एक उच्चतर चढ़ाव है। छः फना का चढ़ाव पार करते–करते अंत में ''फ़ना–फ़िल्लाह'' में पहुंच होती है। प्रत्येक फ़ना की अपनी निजी विशेषता है। जब यात्री प्रथम भूमिका में पहुँचता है, तो वह प्रथम फ़ना में मग्नता का अनुभव करता है। इस मग्नता से अहंकार का **आंशिक उच्छेद** होता है। यात्री अपने सीमित व्यक्तित्व को, कुछ समय के लिए, खो देता है; और आनन्द का अनुभव करता है। बहुत से यात्री, जो प्रथम भूमिका में मग्न होते हैं; सोचने लग जाते हैं; कि उन्हें ईश्वरानुभूति हो गयी है; और वे भूमिका में रूक जाते हैं। किन्तु यदि यात्री भ्रम में नहीं पड़ता, या उसे यह मालूम हो जाता है, कि उसकी प्राप्ति उसकी यात्रा का मात्र अवस्थांतर है, तो वह आध्यात्मिक पथ पर, बढ़ता जाता है, और दूसरी भूमिका में पहुँचता है। दूसरी भूमिका मे निमग्न होना 'फ़ना–ए–वातिली', या मिथ्या का उच्छेद कहलाता है। कुछ यह सोचने लग जाते हैं, कि उन्हें लक्ष्य–सिद्धि हो गयी और वे द्वितीय भूमिका में रूक जाते हैं किन्तु दूसरे जो भ्रम में नहीं पड़ते, ऊपर की ओर अग्रसर होते हैं; और तीसरी भूमिका में प्रवेश करते हैं। तीसरी भूमिका में मग्न होना ''फ़ना –ए–जाहेरी'', या दृश्यमान का उच्छेद, कहलाता है। इस अवस्था में, यात्री को अपने शरीर तथा संसार की कई दिनो तक चेतना नहीं रहती, और वह अनन्त शक्ति का अनुभव करता है। संसार का उसे बोध नहीं रहने के कारण, यह दैवी मूर्छा या विदेही समाधि है। इसमें, चेतना सब संसार से परावृत्त रहती है। **उसे अपनी शक्ति को व्यक्त करने का मौक़ा नहीं मिलता।**

**प्रथम तीन फ़ना**

यदि यात्री और आगे बढता है, तो वह चौथी भूमिका में पहुँचता है। चौथी भूमिका में मग्न होना ''फ़ना–ये–मला–कुती'' या स्वतंत्रता की ओर ले जानेवाला उच्छेद कहलाता है। चूँकि अब यात्री न केवल अनन्त शक्ति का अनुभव करता है। किन्तु इस शक्ति को व्यक्त करने के उसे अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। अतः उसे, चौथी भूमिका में, एक विचित्र प्रकार की चेतना का अनुभव होता है। वह सब कुछ जान सकता है। उदाहरणार्थ, वह यह जान सकता है, कि संसार के किसी भी भाग में स्थित कोई भी मनुष्य क्या सोच रहा है, या क्या कर रहा है। इसके सिवा अपनी शक्तियों का उपयोग करने के केवल मौके ही उसे नहीं रहते, किन्तु उन्हें व्यक्त करने की ओर मानसिक झुकाव (Inclination) का भी वह अनुभव करता है। यदि वह इस लोभ का शिकार हुआ, तो वह अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करता चला जाता है, और चौथी भूमिका की चित्ताकर्षक शक्यताओं में, वह फँस जाता है। यही वजह है, कि चौथी भूमिका सबसे ख़तरनाक भूमिका है, और उसे पार करना सबसे कठिन है। इस अवस्था में यात्री तब तक सुरक्षित नहीं रहता और पतन का तब तक भय रहता है, जब तक वह चौथी भूमिका को लाँघकर पाँचवी भूमिका में पहुँच नहीं जाता।

**चौथी भूमिका के ख़तरे।**

पाँचवी भूमिका मे मग्न होना 'फ़ना–ए–जबरूती'' या सब इच्छाओं का उच्छेद कहलाता है। यहाँ निम्नतर बुद्धि की अविश्रांत क्रिया पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। यात्री सामान्य तरीक़े से सोचता नहीं; किन्तु तो भी वह अप्रत्यक्षतः दूसरे मनुष्यों के विचारों का प्रेरक होता है; वह देखता है, किन्तु आँखो से नहीं। उसका मन अन्य लोगों के मनो से बोलता है; और उसे किसी प्रकार की न तो चिन्ता होती है, और न सन्देह। वह आध्यात्मिक दृष्टि से, अब सुरक्षित हो गया रहता है, और पतन की सम्भावना से परे रहता है।

**पाँचवी और छटवीं भूमिकाओं के फ़ना।**

किन्तु तो भी इस उच्च्व भूमिका में स्थित कितने ही यात्री ईश्वरानुभूति के आत्मसंभ्रम (Self-delusion) में पड़ने का संवरण नहीं कर सकते हैं। आत्म–संभ्रम (Self-delusion) में, पड़कर ऐसा यात्री सोचता और कहता है, 'मैं ईश्वर हूं' और उसे मिथ्या विश्वास हो जाता है कि वह आध्यात्मिक पथ के अन्त में पहुँच गया है। किन्तु, जरा आगे चलने पर, उसे अपनी भूल मालूम हो जाती है; और वह छटवीं भूमिका में पहुँच जाता है। यह **''फ़ना–महबूबी'' या प्रियतम में जीवका उच्छेद,** कहलाती है। अब यात्री, ईश्वर को उसी प्रकार प्रत्यक्षतः तथा स्पष्टतः देखता है, जिस प्रकार, एक सामान्य मनुष्य इस संसार की विभिन्न वस्तुओं को देखता है। ईश्वर का यह दर्शन तथा आनन्द एक क्षण के लिए भी खण्डित नहीं होता। किन्तु ईश्वर या अनन्त से वह मुक्त नहीं हुआ रहता।

**फ़ना–फ़िल्लाह, या निर्विकल्प समाधि सज्ञान ईश्वरानुभूति है।**

यदि यात्री सातवीं भूमिका में चढ़ जाता है, तो वह **अन्तिम निमग्नता** (Last merging) का अनुभव करता है। **इस ''फ़ना–फ़िल्लाह'', के द्वारा यात्री अपनी पृथक सत्ता को खो देता है, और वह स्थायी रूप से ईश्वर से युक्त हो जाता है।** वह अब ईश्वर से एक हो जाता है; और वह अपने ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी न होने का अनुभव करता है। यह सातवीं भूमिका, ''फ़ना–फ़िल्लाह'', आध्यात्मिक पथका अन्तिम गन्तव्य स्थान है, तथा सभी शोध और साधना की समाप्ति है। यह सहज़ समाधि या निर्विकल्प समाधि है। यह ब्रह्मावस्था की संज्ञान अनुभूति है। यही एकमात्र सच्ची जागृति है। यात्री अब विशाल कल्पनासागर के दूसरे तह पर पहुँच चुका है, और वह अनुभव करता है, कि यह अन्तिम सत्य ही केवल सत्य है; और पथ की पिछली विभिन्न अवस्थाएं पूर्णतः भ्रामक थीं, तथा उसे यह अनुभव होता है वह अन्तिम लक्ष्य स्थान में पहुँच गया है।

# आत्म-ज्ञान की प्राप्ति

**आत्म–ज्ञान की ओर उन्नति अधिकाँश में धीरे–धीरे तथा अदृश्य रूप से होती है।**

जब निश्चित समय आता है, तब मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से होती चली जाती है, जिस प्रकार शिशु का शरीर धीरे धीरे संवर्धित होता जाता है, और अन्त में प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है। पाँच भौतिक शरीर की वृद्धि प्राकृतिक नियमों के अनुसार होती है, और साधक का आध्यात्मिक उत्कर्ष चेतना के रूपान्तर तथा उद्धार से सम्बन्ध रखनेवाले आध्यात्मिक नियमों के अनुसार होता है। शिशु के शरीर की वृद्धि बहुत धीमी गति से तथा प्रायः अदृश्य रूप से होती है, और ठीक यही बात पथ–प्रविष्ट साधक की आध्यात्मिक उन्नति के बारे में भी सच है। बच्चा यह नहीं जानता कि उसका देह कैसा बढ़ रहा है। इसी प्रकार साधक भी उस नियम से अनभिज्ञ रहता है जिसके अनुसार वह अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाता है। वह प्रायः इतना ही जानता है, कि वह जीवन की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का रूख धारण करता है; किन्तु उसे शायद ही यह मालूम रहता है कि वह किस प्रकार आत्मज्ञान की ओर उन्नति कर रहा है। तथापि, **बिना जानेही साधक अपने सुख–दुःख, हर्ष–विषाद जयापजय, यत्न और विश्राम का बारीबारी से अनुभव करता हुआ, इस भाँति आँतरिक पथ को तय करता हुआ, क्रमशः अपनी मंज़िल के अधिकाधिक समीप पहुँचता चला जाता है।** यात्रा में कभी ऐसे क्षण आते हैं, जब उसके विचार स्पष्ट तथा इच्छाशक्ति व्यवस्थित रहती है, यात्रा में कभी ऐसे क्षण आते हैं, जब उसे मानसिक संघर्षों और संविलष्टताओं का सामना करना पड़ता है। ये सब उसके भूतकालीन विविध संस्कारों के परिणाम हैं। साधक अपने पूर्वजन्मार्जित

संस्कारों की गुत्थियों और जटिलताओं को सुलझाता हुआ आत्मज्ञान की ओर उसी प्रकार अग्रसर होता जाता है, जिस प्रकार एक यात्री किसी घोर सघन वन के बीच से अपना मार्ग बनाता हुआ यात्रा करता चला जाता है।

**चेतना का सीमा–क्षेत्र+तथा उसकी क्रिया–विधि+**

मानवीय चेतना की तुलना उस विद्युद्विभा (flashlight) से की जा सकती है जो वस्तुओं के अस्तित्व तथा स्वरूप को प्रकट करती है। प्रकाश से प्रकाशित होने वाला क्षेत्र केवल उस माध्यम पर निर्भर है जिसके द्वारा वह कार्य करता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक नाव पर बैठा हुआ आदमी पानी की सतह पर कहीं भी घूम सकता है किन्तु ज़मीन और हवा के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में उसकी पहुँच नहीं हो सकती। चेतनारूप प्रकाश की क्रिया–विधि संचित संस्कारों के द्वारा निर्णीत होती है, जिस प्रकार पर्वत से निकलने वाला नदियों का प्रवाह पथ तथा गति–दिशा पर्वत के प्राकृतिक आकार–प्रकार पर निर्भर है।

**साधरण मनुष्य केवल स्थूल जगत् से परिचित रहता है।**

औसत दर्जे के मनुष्य का जीवन–क्षेत्र तथा कार्यक्षेत्र स्थूल जगत में ही रहता है; क्योंकि चेतनारूप प्रकाश उसके स्थूल शरीर पर पड़ता है, और उस शरीर के ही द्वारा कार्य करता है। स्थूल शरीर के माध्यम तक सीमित रहने के कारण ऐसा मनुष्य स्थूल–जगत् के किसी भी पदार्थ से अभिज्ञ हो सकता है, किन्तु सूक्ष्म तथा मानसिक वास्तविकताओं से सम्बोध–सम्पर्क (conscious contact) स्थापित करने में वह असमर्थ है। इस प्रकार, स्थूल जगत् सामान्य मनुष्य की रंगभूमि होती है। और उसके समस्त विचार तथा कार्य स्वभावतः उन वस्तुओं की ओर उन्मुख होते हैं, जो उसकी पहुँच के भीतर हैं। चूँकि उसकी चेतना का प्रकाश सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों के माध्यम के द्वारा सूक्ष्म तथा मानसिक जगत पर केन्द्र जगत पर केंद्रीभूत नहीं किया जा सकता है। अतः वह सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से अपरिचित रहता है।

**स्थूल शरीर से तादात्म्य**

**इस अवस्था में, आत्मा को स्थूल–संसार का ज्ञान रहता है, किन्तु वह अपने यथार्थ स्वभाव से पूर्णतः अनभिज्ञ है। वह उस स्थूल शरीर से ही अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिस पर चेतना का प्रकाश पड़ता है और वही उसकी समस्त सम्भव क्रियाओं का आधार बन जाता है। वह अपने को स्वयं अपने ही द्वारा नहीं जानता, वह अपने को स्थूल शरीर का सहायता से जानता है;** और चूँकि वह तमाम ज्ञान, जो वह स्थूल शरीर की सहायता से संचित करता है, स्थूल शरीर से ही सम्बन्ध

रखता है, क्योंकि स्थूल ही उसके समस्त कार्य–कलाप का केंद्रबिंदु होता है, अतएव, **वह अपने को स्थूल शरीर ही समझ बैठता है। सच पूछा जाय तो स्थूल शरीर उसका साधन मात्र होता है।** अतः आत्मा अपने को स्त्री या पुरूष, युवा या वृद्ध इत्यादि सोचने लगता है; ओर देह के परिमितताओं को अपने ऊपर धारण कर लेता है।

**सूक्ष्मशरीर से तादात्म्य**

स्थूल जगत् के नियम के अनुसार, अनेक जीवन चक्करों के पश्चात्, अतीव सुख तथा अतीव दुःख के **द्वन्द्व का एक लम्बे समय तक पुनःपुनः अनुभव करने के कारण** स्थूल जगत् सम्बन्धी संस्कार दुर्बल पड़ जाते हैं। इन संस्कारों का दुर्बल पड़ना आध्यात्मिक जागृति की शुरूवात है। चेतना–प्रकाश का स्थूल जगत के प्रलोभनो से धीरे–धीरे हटा लिया जाना, आध्यात्मिक जागृति है। ऐसा होने पर, स्थूल संस्कार सूक्ष्म बनकर, सूक्ष्म शरीर को अपना कार्यक्षेत्र बना लेते हैं। अब चेतना का प्रकाश स्थूल शरीर पर पड़ता है, और वह सूक्ष्म शरीर को अपना माध्यम बनाकर कार्य करती है। अतः सारा स्थूल संसार आत्मा की चेतना से ओझल हो जाता है; और आत्मा को केवल सूक्ष्म संसार का बोध रहता है। अस्तित्व का सूक्ष्म क्षेत्र अब उसका जीवन–प्रसंग बन जाता है; और **आत्मा अपने को सूक्ष्म शरीर समझने लगता है।** सूक्ष्म शरीर अब उसकी कार्य–राशि का केंन्द्र–बिंदु बन जाता है। किन्तु इस प्रकार, आत्मा के सूक्ष्म–चेतन हो जाने पर भी वह अपने यथार्थ स्वभाव से अनभिज्ञ रहता है, क्योंकि वह अपने को स्वंय अपने द्वारा नहीं जानता, बल्कि सूक्ष्म शरीर के द्वारा जानता है। तथापि उसके रंग–मंच का स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् में परिवर्तन हो जाना विशेष महत्व रखता है, क्योंकि **सूक्ष्म क्षेत्र में, स्थूल जगत् के रूढ़ मापदण्डो की जगह कुछ ऐसे नवीन मापदण्ड आ जाते हैं, जो सत्य के अधिक समीपवर्ती होते हैं। नयी शक्तियों के आविर्भूत होने से, तथा अध्यात्मिक स्फूर्ति के अधिक स्वतंत्र रूप से प्रवाहित होने के कारण, जीवन की पद्धति बदलकर नई हो जाती है।** सूक्ष्म संसार का जीवन आध्यात्मिक यात्रा की एक अस्थायी अवस्था है, वह लक्ष्य कदापि नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि स्थूल–चेतन करोड़ों मनुष्यों में से केवल एक मनुष्य सूक्ष्म–चेतन हो सकता है।

कुछ तपस्याओं तथा योगिक क्रियाओं के द्वारा, सूक्ष्म संसार से सम्बन्ध रखनेवाले संस्कार भी, समय आने पर जीर्ण पड़ जाते हैं, जिस के फल–स्वरूप, चेतना और अधिक अन्तर्मुख हो जाती है; तथा चेतना का प्रकाश मानसिक (कारण) शरीर पर पुंजीभूत होता है; और उसी के द्वारा कार्य करता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से सम्बोध सम्बन्ध (Conscious Connection) के भंग होने का अर्थ है, स्थूल तथा सूक्ष्म क्षेत्रों का

चेतना की परिधि से बहिर्भूत हो जाना। आत्मा को अब मानसिक जगत का बोध हो जाता है। इस अवस्था में, **उसके लिए अन्तिम सत्य का दर्शन स्पष्टतर हो जाता है; तथा गम्भीरतर आध्यात्मिक ज्ञान की सम्भावनाएँ सुलभ हो जाती हैं।** मानसिक क्षेत्र की इस नयी योजना में आत्मा अविच्छिन्न स्फूर्ति, गम्भीर ज्ञप्ति तथा निश्चयात्मक सहज अंतःप्रज्ञा का अनुभव करता है; और वह **आध्यात्मिक सत्य के घनिष्ट सम्पर्क में आ जाता है।** ईश्वर से घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी, वह ईश्वरत्व का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह अपने को स्वयम् अपने द्वारा नहीं जानता, किन्तु व्यष्टि मन (Individual Mind) के माध्यम के ही द्वारा जानता है। **वह अपने को वैयक्तिक मन समझ बैठता है,** क्योंकि वैयक्तिक मन ही उसका आधार तथा उसकी क्रिया का केंन्द्र होता है। यद्यपि अब आत्मा स्थूल एवम् सूक्ष्म क्षेत्रों की अपेक्षा, ईश्वर के अधिक समीप आ जाती है, तथापि वह छायामय संसार से ही घिरी रहती है, और मानसिक क्षेत्र सम्बन्धी संस्कारों से उत्पन्न आवरण के कारण, वह अपने को ईश्वर से पृथक ही अनुभव करती है। चेतना का प्रकाश वैयक्तिक मन की मर्यादा के भीतर कार्य करता है; अतः आत्मा को अपने **वास्तविक स्वरूप** का अभी भी ज्ञान नहीं होता। किन्तु यद्यपि आत्मा को अपने ईश्वर होने का अनुभव नहीं होता, तथापि उसका मानसिक क्षेत्रवर्ती जीवन, सूक्ष्म–क्षेत्रवर्ती जीवन से अधिक उन्नत अवस्था है; और करोड़ों सूक्ष्म–चेतन मनुष्यों में से, केवल एक मनुष्य मानसिक क्षेत्र से अपना चेतनसम्पर्क स्थापित करने में समर्थ होता है।

**कारण शरीर से तादात्म्य**

स्थूल तथा सूक्ष्म अस्तित्व क्षेत्रों से ऊपर उठकर साधक, दूसरे की मदद के बिना, स्वयं अपने ही प्रयत्नो से मानसिक क्षेत्र तक पहुँच सकता है। किन्तु, **मानसिक शरीर को त्यागने का मतलब है, अपने वैयक्तिक अस्तित्व का विसर्जन करना; और यह अन्तिम तथा सबसे महत्वपूर्ण कदम ईश्वरप्राप्त सिद्ध सद्‌गुरू की सहायता के बिना नहीं उठाया जा सकता।** मानसिक क्षेत्रज्ञ करोड़ों मनुष्यों में से केवल एक मनुष्य अपनी चेतना के प्रकाश को वैयक्तिक मन से वापस खींचने में समर्थ होता है। चेतना के ऐसे अपनयन का अर्थ आत्मा के मानसिक जीवन–सम्बन्ध संस्कारों के अन्तिम अवशेषों का पूर्णतः लोप है। जब चेतना का प्रकाश तीनों शरीरों में से किसी एकपर भी केन्द्रित नहीं किया जाता तब वह आत्मा के यथार्थ स्वभाव को प्रतिबिम्बित करने में सफल होता है।

**सद्‌गुरु की आवश्यकता**

अब, **किसी माध्यमपर आश्रित हुए बिना, आत्मा को अपने आपका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। अब वह अपने को सान्त शरीर नहीं समझता, किन्तु अनन्त**

**ईश्वर तथा एकमेव सत्य जानता है।** जीवन में यह महान घटना तभी होती है जब **तीनो शरीरों से पूर्ण सम्बन्ध–विच्छेद** हो जाता है। विभिन्न–अस्तित्व क्षेत्रों की चेतना तत्सम्बन्धी शरीरों पर आश्रित रहती है; अतः आत्म–ज्ञान होने पर आत्मा को **समस्त संसार की पूर्ण विस्मृति** हो जाती है। चेतना का प्रकाश किसी बाह्य या विदेशीय वस्तु पर एकत्रीभूत नहीं किया जाता, किन्तु स्वयम् आत्मा पर खींच लिया जाता है। फलतः आत्मा यथार्थतः आत्म–चेतन हो जाता है और उसे आत्म–ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

**प्रत्यक्ष आत्म–ज्ञान**

तीनो अस्तित्व क्षेत्रों में, उन्नति–क्रम के अनुसार, स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक (कारण) शरीरों से तादात्म्य **स्वरूप मिथ्या आत्मज्ञान** (false self knowledge) हो जाया करता है। आत्मा के आत्मचेतन होने का जो सृष्टि का आरम्भिक उद्देश्य है, उसी के अनुसार ऐसा हुआ करता है। आध्यात्मिक उन्नति पराकाष्ठा पर पहुँचे बिना, आत्मा को सच्चा आत्मज्ञान नहीं होता; और उन्नतिकाल में होनेवाले विभिन्न प्रकार के आत्म–ज्ञान मानो सच्चे आत्म–ज्ञान के अस्थायी प्रतिनिधि (Temporary substitutes) हैं। **आत्म–ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में वे आवश्यक भूलें** (necessary mistakes) हैं। चूँ कि पूरे यात्रा–काल में चेतना का प्रकाश स्वयं आत्मापर न फेंका जाकर, वस्तु–जगतपर पदार्थों की ओर फेंका जाता है, अतः आत्मा प्रवृत्तितः इन पदार्थों में इतना अधिक भूल जाती है, कि वह अपने खुद के अस्तित्व तथा स्वरूप से बेखबर हो जाती है। **इस एकदम लगातार आत्म–विस्मृति की अभाव–पूर्ति मानो देहात्म भावमूलक आत्म–स्मृति से की जाती है, क्योंकि देह ही चेतना के प्रकाश की केन्द्रीय नींव होती है।** इस प्रकार, आत्मा अपने को अपना शरीर समझ जाती है, तथा अन्य आत्माओं को भी उनके शरीरों के रूप में ही देखती है। और इस अज्ञान के कारण, वह उस द्वैत–जगत् का संवर्धन करता है, जहाँ स्त्री–पुरूषों का कामवासना सम्बन्ध है, तथा जहाँ स्पर्धा, आक्रमण, घृणा, पारस्परिक भय तथा स्वार्थपूर्ण महत्वाकाँक्षा है। किसी चिन्ह की सहायता से आत्म ज्ञान करने का प्रयत्न भ्राँति उलझन तथा बन्धन का उद्‌गम स्थान है।

**विभिन्न प्रकार के मिथ्या आत्मज्ञान सच्चे आत्मज्ञान के अस्थायी प्रतिनिधि है।**

इस प्रकार का अज्ञान, लौकी की मशहूर कहानी से अधिक स्पष्टतः समझ में आ जायगा। यह कहानी शायद जामी के अशआर में वर्णित है। एक समय की बात है, कि बिलकुल भुलक्कड़ आदमी रहता था जो भूल जाने के गुण में अपना सानी नहीं रखता था। उसके विश्वास का एक बुद्धिमान दोस्त था जिसने कम से कम अपनी खुद की याद

रखने में उसकी मदद की। उसके इस मित्र ने उसके गले में एक लौकी बाँध दी और कहा, ''ऐ बूढ़े, सुनो, किसी दिन तुम अपने आपको गुमा–डालोगे; और तुम्हे अपनी याद न रहेगी। इसलिये, चिन्ह के तौर पर तुम्हारे गले में मै, यह लौकी बाँध देता हूँ, ताकि हर दिन सुबह उठकर, जब तुम लौकी को देखोगे, तो तुम्हें अपना ख़्याल रहेगा।''

**लौकी की कहानी**

प्रतिदिन सुबह अन्यमनस्क मनुष्य जगते ही लौकी को देखता था; और अपने आपको कहता था, **''मैं गुमा नहीं हूँ।''** कुछ दिनों के बाद, जब वह भुलक्कड़ लौकी की सहायता से अपने आपको पहचानने का आदी हो गया, तब उसके मित्र ने एक अजनबी आदमी को अपने भुलक्कड़ दोस्त के साथ रहने के लिये कहा, और उसके यह भी कह दिया, कि दोस्त की नींद के समय, वह लौकी, उसके गले से निकालकर, अपने गले में बाँध ले। अजनबी आदमी ने ऐसा ही किया और जब सुबह यह भुलक्कड मनुष्य नींद से जगा, तो उसने लौकी अपने गले में नहीं पायी। अतएव उसने अपने आपसे कहा **''मैं गुम गया हूँ''।** उसने दूसरे मनुष्य के गले में लौकी देखी, और उससे कहा **''तुम''मैं '' हो; किन्तु फिर मैं कौन हूँ।''**

देहात्मभावमूलक विभिन्न प्रकार के मिथ्या आत्म–ज्ञान (False Self knowledge) का इस लौकी की कहानी से सादृश्य है। अपने आपको देह के रूप में जानना, अपने को

**उक्त दृष्टान्त का स्पष्टीकरण**

लौकी की सहायता से जानने का सदृश है। स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक (कारण) शरीर से क्रमशः अतादाम्य होने पर, जो अस्थिरता उत्पन्न होती है, वह शून्यमनस्क मनुष्य की उस अस्थिरता के तुल्य है, जिसका अनुभव उसे लौकी को गले में न पाने से हुआ था। द्वैत–भाव के लोप का आरम्भ होना, शून्यमनस्क मनुष्य का उस अपरिचित मनुष्य को अपना स्वरूप समझने के समान है, जिसने उसकी लौकी अपने गले में बाँध ली थी। और यदि शून्यमनस्क मनुष्य ने बिना चिन्ह की सहायता के, अपने ही द्वारा अपने को जानना सीखा होता, तो वह उस आत्मज्ञान के तुल्य हुआ होता, जो तीनों शरीरों से सम्बन्ध विच्छेद होने पर प्राप्त होता है और जिस के प्राप्त होने पर, आत्मा अपने को ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझता। **ऐसे आत्म–ज्ञान की प्राप्ति इस सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है।**

# ईश्वरानुभूति

सच्ची आत्मानुभूति की प्राप्ति ही ईश्वरानुभूति की प्राप्ति है। ईश्वरानुभूति चेतना की अनुपमेय अवस्था है। चेतना की अन्यान्य अवस्थाओं से वह भिन्न है, क्योंकि चेतना की अन्य सभी अवस्थायें वैयक्तिक मन (Individual Mind) के माध्यम के द्वारा अनुभूत होती हैं किन्तु ईश्वर का अनुभव वैयक्तिक मन या किसी अन्य माध्यम पर आश्रित नहीं रहता। **आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु के अनुभव के लिये माध्यम की आवश्यकता होती है, किन्तु आत्मा के अनुभव के लिये, किसी माध्यम की ज़रूरत नहीं पड़ती।** चेतना का मन के साथ संसर्ग, ईश्वरानुभूति के लिये, सहायक नहीं, किन्तु निश्चयतः बाधक है। वैयक्तिक मन अहंवृत्ति अर्थात् पार्थक्यबोध का आसन है। वह उस सीमित व्यक्तित्व को जन्म देता है, जो देशकाल निमित्त सम्बन्धी द्वैत काम का पोषण करता है, तथा जो स्वयं उसके द्वारा पोषित होता है। अतः आत्मा को जैसा का वैसा जानने के लिये, चेतना को वैयक्तिक मन की सीमाबद्धता से बिलकुल मुक्त करना ज़रूरी है। कहने का आशय यह है, कि वैयक्तिक मन का तो लोप हो जाना चाहिये, किन्तु चेतना कायम रहना चाहिये।

**आत्मानुभूति ही ईश्वरानुभूति है।**

आत्मा के अतीत कालीन जीवन इतिहास में, चेतना वैयक्तिक मन के साथ–साथ वर्धित होती है; और चेतना की समस्त क्रियाओं की पृष्ठभूमि वैयक्तिक मन से होती है। अतः **चेतना वैयक्तिक मन में दृढ़ता–पूर्वक बद्धमूल हो जाती है;** और वह जिस ग्रन्थि में गुँथ जाती है, उससे अलग नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है, जब मन अन्तर्हित होता है, तो चेतना भी लुप्त हो जाती है।

**चेतना मन से ग्रंथित हो जाती है।**

ध्यान के द्वारा, मानसिक क्रिया बन्द करने के प्रयत्न में चेतनाशून्य होने का जो अनुभव होता है, उस वैयक्तिक मन तथा चेतना का ग्रन्थिसम्बन्ध पर्याप्ततः समझ में आ जाता है।

ध्यानावस्था में जिस मन की क्रियामन्दता का अनुभव होता है, वह नींद से सर्वथा भिन्न नहीं, यद्यपि ध्यान तथा नींद की उत्पत्ति में थोड़ा सा ही भेद है। चूँकि वैयक्तिक मन निरन्तर द्वैतजगदभिमुखी रहा करता है, अतः वह अविश्रांत संघर्ष में अभिषक्त रहता है; और **जब वह अपने अनुध्दृत घात प्रतिघात से क्लान्त हो जाता है, तब वह अपनी पृथक् सत्ता को खोकर, अनन्त की ओर लौटना चाहता है।** तो फिर वह स्व–सृष्ट से अपक्रमण करता है; और क्रियाशून्यता का अनुभव करता है। मन का क्रियाशून्य होना तथा चेतना का लोप होना अवश्यतः एक साथ होते है।

नींद का स्पष्टीकरण

नींद में मानसिक क्रिया स्थिर हो जाती है; और इस प्रकार, चेतना का पूर्ण लोप हो जाता है; किन्तु मानसिक जीवन तथा मानसिक क्रिया की यह समाप्ति केवल अस्थायी होती है, क्योंकि **मन में संचित अनुभवचिन्ह (Impressions of Experience) एवम् संस्कार मन को फिर से क्रिया प्रवृत्त होने के लिये प्रोत्साहित करते हैं।** अनुभव की छाप की आंतरिक प्रेरणा से, मन फिर विलोड़ित हो जाता है, जिससे उसे फिर संज्ञालाय हो जाता है; और चेतना मन के माध्यम की सहायता से अपनी सम्बोध क्रिया फिर शुरू कर देती है। इस प्रकार कार्य और विश्राम के क्रमानुक्रमी नियम के अनुसार, नींद के बाद जागरण तथा जागृति के बाद नींद का क्रमागमन जारी रहता है। किन्तु जब तक मन में प्रसुप्त संस्कार बिलकुल नष्ट नहीं होते, तब तक वैयक्तिक मन का अंतिम लोप अर्थात् चेतना को मुक्ति नहीं होती। नींद में कुछ समय के लिये, मन अपनी पृथक सत्ता भूल जाता है; किन्तु उसके वैयक्तिव अस्तित्व का अन्तिम नाश नहीं होता। और जब मनुष्य निद्रा से पुनर्जागरण में प्रवेश करता है, तो वह अपने को पूर्ववत् सीमाबद्ध पाता है। यद्यपि चेतना का पुनरुज्जीवन होता है; किन्तु वह मन के भार से आक्रान्त ही रहती है।

पुनर्जागरण

सीमित मन की धरती में, अहंकार दृढ़तापूर्वक बद्धमूल रहता है। यह अहंकार भ्रमों के फँदे में फँस जाता है; और इस प्रकार, वह अज्ञान की वृद्धि करता है। अहंकार आत्मा में सुप्त अनन्त ज्ञान का प्रतिरोधक है। अहंकार ही ईश्वरानुभूति का दुर्द्धर्ष शत्रु है। फारस का एक कवि सच ही कहता है, "अज्ञान के परदे को चीरकर देखना महा कठिन है, क्योंकि आगपर चट्टान रख दी गयी है"। यदि आग की ज्वाला पर चट्टान रख दी जाये तो वह बहुत ऊँची नहीं उठ सकती। इसी प्रकार, चेतना पर जब तक अहंकार का बोझ लदा हुआ है, तब तक ईश्वर जिज्ञासा सत्य तक नहीं पहुँच सकती। **आत्मा की सम्पूर्ण यात्रा में अहंकार की निरंतरता आत्मज्ञान को असम्भव बना देती है।** बुढ़ापे में, महीनो दांत की पीड़ा सताती रहती है,

अहंकार का विघ्न

क्योंकि यद्यपि उसकी जड ढीली हो जाती है, और वह अपने स्थान में बहुत हिलती डुलती रहती है, तो भी वह उखड़ती नहीं है। इस प्रकार, पवित्र प्रेम अथवा तपस्या से जर्जरीभूत अहंकार का शीघ्र उन्मूलन नहीं होता है, आत्मा , ज्यो ज्यो पथपर अग्रसर होता जाती है, त्यों त्यों अहंकार अधिकाधिक जीर्ण होता जाता है । तो भी वह तब तक निर्जीव नहीं होता, जब तक सातवीं भूमिका में पहुँच नहीं हो जाती।

अहंकार समस्त मानवीय क्रिया का केन्द्र है, औरं अहंकार के संहार का प्रत्यन अपनी भुआजों पर खड़े होने के प्रयत्न के तुल्य है। जिस प्रकार, आँख अपने आपको नहीं देख सकती, उसी प्रकार अहंकार अपने अस्तित्व का स्वयं अन्त करने में असमर्थ है।

**अहंकार पर विजय प्राप्त करने की कठिनाई**

**अपने अस्तितत्व का विध्वंस करने के लिये, अहंकार जो भी कार्य करता है, वह उसके अस्तित्व की और भी वृद्धि करता है;** अपना अस्तित्व नष्ट करने की उसकी चेष्टाएं उसे और भी हृष्ट–पुष्ट करती हैं। अतः अपने निजी उन्मत्त प्रयत्नों के द्वारा अपनी लोप करने में वह असमर्थ है। हाँ, अपना रूप परिवर्तन करने में, वह सफल जरूर होता है। अहंकार के अंतर्हित होने के लिये, उसके निवास स्थान अर्थात् सीमित मन को विलुप्त होना चाहिये।

**ईश्वरानुभूति की समस्या चेतना को मनकी सीमाओं से मुक्त करने की समस्या है।** जब वैयक्तिक मन का लय हो जाता है, तब मन सापेक्ष सब संसार शून्य होता है; और चेतना फिर किसी वस्तु से आबद्ध नहीं रह जाती। फिर चेतना किसी वस्तु से आच्छादित व सीमाबद्ध नहीं रहती। इस प्रकार, मुक्त हो जाने पर, वह अनन्त सत्य को उद्दीप्त करने का कार्य करती है। अनुभूति के आनन्द में निमग्न रहने के कारण, आत्मा को दर्शन, श्रवण या संसार के अन्य इन्द्रियगोचर पदार्थो का विस्मरण हो जाता है। किन्तु अनेक महत्वपूर्ण बातों में प्रगाढ़ निद्रावस्था ईश्वरानुभूति से भिन्न है। निद्रा में चेतना का लोप हो जाता है। अतः निद्राकाल में संसार अंतह्नित हो जाता है। किन्तु निद्रावस्था में, ईश्वर की सज्ञान अनुभूति नहीं होती, क्योंकि ईश्वरानुभूति के लिये, अहंकार का पूर्णतः लोप तथा चेतना का परम सत्य की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। कभी कभी जब क्षणिक अंतरालों द्वारा निद्रा में व्याघात हो जाता है, तब आत्मा को किसी विशिष्ट वस्तु के बोध के बिना चेतना को कायम रखने का अनुभव हो सकता है। ऐसे क्षणिक निद्रा भंग में चेतना रहती है। किन्तु यह चेतना संसार की चेतना नहीं होती; वह मानो **शून्य की चेतना है।** पूर्णतः ऐसे अनुभवों को, जिनमें चेतना, संसार से पूर्णतः मुक्त हो जाती है, तथा उस अनन्त ज्ञान को क्षणभर के लिये अभिव्यक्त सी करती है, जो अब तक अहंकार से आच्छन्न था, ईश्वरानुभूति का पूर्वाभास कह सकते हैं।

**निद्रा तथा ईश्वरानुभूति में समानता**

निद्रा में, यद्यपि मन अपने आपको, तथा अन्य सभी वस्तुओं को भूल जाता है, तथापि उसका अस्तित्व बना रहता है; और प्रसुप्त चित्त संस्कार विलुप्त चेतना तथा अनन्त सत्य के बीच में, आवरण उत्पन्न कर देते है। इस प्रकार, **निद्रावस्था में चेतना वैयक्तिक मन के कोष में विलुप्त हो जाती है; किन्तु इस कोष से बाहर निकलने में अभी तक मानो असमर्थ रहती है।** अतएव आत्मा यद्यपि ईश्वर से अपनी पृथक् सत्ता भूल जाती है। और वस्तुतः वह ईश्वर से सायुज्य प्राप्त करने में सफल होती है, किन्तु उसे इस सायुज्य का ज्ञान नहीं रहता। किंतु **ईश्वरानुभूति में, मन अपने को भूलकर ही नहीं रह जाता; किन्तु (समस्त संस्कारों सहित), उसकी पृथक् सत्ता बिल्कुल नष्ट हो जाती है।** और वैयक्तिक मन से अब तक अनुषक्त रहने वाली चेतना, अब अपने समस्त बन्धनों से मुक्त होकर, न केवल परम सत्य के सीधे सम्पर्क में आती है, किन्तु उससे उसका सायुज्य हो जाता है। वह अनन्त से युक्त हो जाती है; वह अनन्त में ही नित्य अविच्छेद रूप से निवास करती है; और उसकी इस एकता से अनन्त ज्ञान तथा अखण्ड आनन्द की असीम अवस्था का उद्‌भव होता है।

निद्रा तथा ईश्वरानुभूति में अन्तर

अनन्त ज्ञान तथा असीम आनन्द केवल उसी आत्मा की चेतना में अभिव्यक्त होते हैं, जिसे ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है। ईश्वरानुभूति आत्मा में अनन्त सत्य को अपनी अनन्तता का पूर्ण तथा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा ही पूर्ण और प्रत्यक्ष ज्ञान का, उस आत्मा में स्थित अनन्त सत्य को, अनुभव नहीं होता, जिसे ईश्वरानुभूति की प्राप्ति नहीं हुई रहती। ईश्वरानुभूतिशून्य आत्मा संसार भ्रम से ग्रस्त रहती है। यदि ईश्वरानुभूति, इस प्रकार, आत्मा की व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं रही होती, तो एक आत्मा को ईश्वरानुभूति होने के पश्चात् सब संसार का अन्त होता। किन्तु ऐसा केवल इसीलिये नहीं होता, कि **ईश्वरानुभूति मन का अतिक्रमण करनेवाले आत्मा को ही प्राप्त होनेवाली चेतना की व्यक्तिगत अवस्था है।** दूसरे आत्मा बन्धनबद्ध ही रहते हैं; और यद्यपि उन्हें भी, एक दिन ईश्वरानुभूति अवश्य होगी, किन्तु उन्हें ईश्वरानुभूति तभी होगी, जब वे वैयक्तिक मन की परिमितता तथा अहंकार के भार से चेतना को मुक्त करने में सफल हो सकेंगे। अतः आत्मानुभूति की प्राप्ति का प्रत्यक्ष महत्व केवल उसी आत्मा के लिये है, जो काल चक्र से विमुक्त हो चुका हो।

ईश्वरानुभूति व्यक्तिगत होती है।

ईश्वरानुभूति की प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को विदित होता है कि **वह तो सदैव वही अनन्त सत्य रहा है, जिसके होने का ज्ञान उसे अभी हुआ है;** और विकास क्रम के समय, तथा आध्यात्मिक उन्नति करते समय, उसका, अपने आपको सीमित (Finite) मान

लेना, वस्तुतः एक भ्रम था। आत्मा को यह भी ज्ञात होता है, कि जिस अनन्त ज्ञान तथा जिस असीम आनन्द का वह अब आस्वाद कर रहा है, वे काल के आरम्भ से ही अनन्त सत्य में, प्रसुप्त रूप से विद्यमान थे, और अनुभूति के समय वे केवल प्रकट हुए। इस प्रकार, ईश्वरानुभूत मनुष्य वस्तुतः कोई वह वस्तु नहीं हो जाती, जो वह अनुभूति के पूर्व नहीं था। वह अब भी वहीं रहता है, जो वह पहले था। **अनुभूति से केवल इतना ही अन्तर आ जाता है, कि उसके पूर्व यह अपना यथार्थ स्वरूप नहीं जानता था, जिसे अब वह जानता है।** उसे मालूम होता है, कि आज जो वह है, उससे भिन्न वह कदापि नहीं था; और वह जिस अवस्था से गुज़र चुका है; **वह अपने आपको जानने का एक तरीक़ा था।**

**अनन्त में जो प्रसुप्त रहता है वही प्रकट हो जाता है।**

**ईश्वरानुभूति प्राप्त करने का तरीक़ा मानो एक खेल है, जिसके आदि और अन्त में कोई भेद नहीं है।** किन्तु तो भी ईश्वरानुभूति की प्राप्ति आत्मा के लिये एक प्रत्यक्ष लाभ है। लाभ दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार का लाभ यह, कि **उस वस्तु की प्राप्ति, जो पहले हमारे पास नहीं थी। दूसरे प्रकार का लाभ यह कि हम यथार्थ में जो हैं उसकी अनुभूति।** ईश्वरानुभूति का महत्व दूसरे प्रकार के लाभ में निहित है, जो ईश्वरानुभूति युक्त आत्मा तथा ईश्वरानुभूति शून्य आत्मा में, अनन्त अन्तर पैदा कर देता है। यद्यपि ईश्वरानुभूत आत्मा को कुछ नयी वस्तु मिलती नहीं, तथापि, उसका यह स्पष्ट ज्ञान, कि वह क्या था, क्याा है और वह सदैव क्या रहेगा, उसकी ईश्वरानूभूति को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना देता है। ईश्वरानुभूतिहीन आत्मा अपने सीमाबद्ध होने का अनुभव करता है; और सुख दुःखादि के नश्वर द्वन्द्वों से निरन्तर पीड़ित रहता है। किन्तु वह आत्मा, जिसे ईश्वरानुभूति हो जाती है, द्वन्द्वातीत हो जाता है; तथा **ईश्वर चेतन होने का अनन्त ज्ञान तथा असीम आनन्द अनुभव करता है।**

**दो प्रकार के लाभ**

ईश्वरानुभूति में, आत्मा अपनी पृथक चेतना का विसर्जन कर देता है, तथा अनन्त सत्य से अपने सायुज्य के अविनश्वर ज्ञान के द्वारा, द्वैतातीत हो जाता है; **सीमाबद्ध व्यक्तित्व की श्रृंखलाएं छिन्न हो जाती हैं; ऐंद्रजालिक छाया की छलना का अन्त हो जाता है, भ्रमावरण सदैव के लिये हट जाता है, तथा सीमित चेतना के कंटकाकीर्ण उत्ताप और नैराश्य की जगह, हमेशा के लिये, सत्यप्रत्यय की शान्ति तथा आनंद का अनुभव होता है; और ऐहलौकिक लोभ तथा आवेगोद्वेग मानो अनन्तसागर की अथाह, शान्त और अगम्य गाम्भीर्य में समा जाते हैं।**

**ईश्वरानुभूति का महत्व**

# सच्ची शिष्यता

जब साधक किसी सद्‌गुरु से स्वेच्छा से सम्बद्ध हो, तब वह उसका शिष्य कहलाता है। यदि यह सम्बन्ध मात्र नैयमिक शिष्टाचार ही रहा हो तो वह सच्चा शिष्यत्व नहीं कहा जा सकता। गुरु–शिष्य सम्बन्ध अन्यविध कानूनी सम्बन्धों से सर्वथा भिन्न है। **क़ानूनी सम्बन्ध नियामानुसार लिखित इक़रार नामे या ज़बानी रज़ामन्दी के ज़रिये तय होते हैं, तथा उनके हक़ तथा ज़िम्मेदारी की उत्पत्ति होती है।** किन्तु शिष्यत्व उत्कृष्ट साधक के जीवन के सारभूत लक्षणों में एक विशिष्ट लक्षण है; और किसी निरर्थक कारवाई से वह उत्पन्न नहीं होता। **शिष्यत्व का जन्म आध्यात्मिक जीवन के आधारभूत नियमों के अनुसार होता है।** अतः उसका महत्व सामान्य सामाजिक जीवनप्रसंगविषयक आनुषंगिक समागमों या अस्थायी व्यापार–संसर्गो के परिणाम–स्वरूप पैदा होनेवाले सांसारिक सम्बन्धों या रिश्तेनातों की अपेक्षा कहीं बढ़कर है। अनेक ऐसे पार्थिव सम्बन्ध साधक के जीवन की बाह्य सतह पर ही स्थित रहते हैं। **वे उसके हृदय की तह को नहीं छू पाते तथा उसके जीवन के आध्यात्मिक हर्म्य में प्रविष्ट नहीं होते।** तुम्हारे लिये तब तक यह कोई बड़े महत्व की बात नहीं है, कि अमुक वस्तु इस दुकानदार से ख़रीदते हो, या उस दुकानदार से, जब तक तुम उस वस्तु की क़ीमत दे चुकते हो। इस तरह, तुम चाहे इस जहाज से यात्रा करो, या उस जहाज से, तुम्हें गन्तव्य स्थान में पहुँचने से गरज़ है; फिर चाहे कोई भी जहाज़ तुम्हें वहां पहुंचावे। इस प्रकार के व्यावहारिक सम्बन्ध भी अन्तर्भूत–सांसरिक बन्धनों तथा

**शिष्यत्व एक मार्मिक सम्बन्ध है।**

मार्मिक नियमों से निर्दिष्ट होते हैं; अतः वे आध्यात्मिक महत्व से नितान्त शून्य नहीं हैं। किन्तु ये सम्बन्ध स्वभावतः ही अस्थायी और बाह्य होते हैं। और उन की तुलना साधक के जीवन को प्राण और दिशा देने वाले शिष्यत्व के मार्मिक सम्बन्ध से किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती।

**गुरु शिष्य सम्बन्ध साधक के जीवन की अंतर्गत अवस्थाओं का अपरिहार्य परिणाम है। यह प्रथमतः प्रेमी तथा उसके दैवी प्रियतम के बीच का सम्बन्ध है।** आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, यह सम्बन्ध मनुष्य के अन्याय सम्बन्धों में पाये, जानेवाले प्रेम की अपेक्षा, शिष्यत्व का मर्मभूत प्रेम निरूपण होता है। सांसारिक प्रेम दो ईश्वरअचेतन केन्द्रों के बीच सम्बन्ध हैं; किन्तु **शिष्य का गुरु के प्रति प्रेम ईश्वरअचेतन (God-unconscious) का ईश्वरचेतन (God-conscious) के प्रति प्रेम है।** प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर है; किन्तु कुछ अपने ऐश्वर्य से अचेतन हैं; कुछ अपने ऐश्वर्य से अंशतः चेतन हैं; **और कुछ अपने ऐश्वर्य से पूर्णतः चेतन हैं।** ईश्वर अचेतन की ईश्वरावस्था की कोई कल्पना नहीं हो सकती। वे केवल देहावस्था से चेतन हैं ईश्वरचेतना मिलने के लिये, उन्हें, ईश्वरावस्था में निरन्तर निवास करने वाले सद्‌गुरु से प्रेम करना पड़ता है, उनकी भक्ति करनी पड़ती है; तथा उनके मार्गदर्शन पर आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है।

**शिष्यत्व में अनुस्यूत प्रेम अनुपम होता है।**

गुरु के प्रति शिष्य का प्रेम वस्तुतः शिष्य के प्रति गुरु के उच्चतर प्रेम का प्रत्युत्तर है, और इस प्रेम को अन्य प्रेमों से श्रेष्ठतम प्रेम मानना चाहिये। गुरु प्रेम स्वाभाविकतः साधक के जीवन में एक केन्द्रीय शक्ति बन जाता है, क्योंकि शिष्य गुरु को अनन्त ईश्वर का प्रतिनिधि या मूर्तिमान स्वरूप मानता है। अतः वह गुरु को केन्द्र बनाकर, उसके चारों ओर अपनी समस्त इच्छाओं और आकाँक्षाओं का ताना–बाना बुनता है। अतः साधक के स्वीकृत अन्य दावों में उसके गुरु का दावा (Claim) निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ है; और **दावे की सर्वश्रेष्ठता के ही द्वारा, गुरु आध्यात्मिक शक्तिरूपी प्रभापुंज का केन्द्रबिन्दु बनकर, दिव्य–रश्मि राशि का प्रसार करता है, जिससे शिष्य का अज्ञानांधकार दूर होता है, उसके हृदय के दूषण नष्ट होते हैं तथा वह मुक्त एवम् ज्ञानमय जीवन में प्रविष्ट होता है।**

**गुरु के दावे की श्रेष्ठता**

सच्चा शिष्य बनने की अभिलाषा रखनेवाले के लिये, यह परम आवश्यक है, कि वह गुरु से तर्क विर्तक शून्य प्रेम करे। **सभी प्रकार की प्रेमसरिताएं आख़िर गुरुप्रेम**

**की दिव्य सरिता में मिलकर लुप्त हो जाती हैं।** मजनू ने लैला से प्रेम किया। उसके प्रेम में इतनी तीव्रता थी, कि उसके जीवन का प्रत्येक क्षण लैला की स्मृति से ओत–प्रोत रहता था। लैला का ध्यान किये बिना न तो वह खा–पी सकता था, और न सो ही सकता था। उसके लिये लैला का सुख ही एक आकांक्ष्य विषय था। यदि वह यह जानता, कि किसी दूसरे व्यक्ति के साथ लैला की शादी हो जाने में ही, उनकी भलाई है तो ऐसी शादी से मजनू को प्रसन्नता होती; और वह उसके पति के लिये मरने को भी तैयार होता, यदि वह जानता, कि ऐसा करने से लैला सुखी होगी। उसका यह उच्चकोटि का स्वार्थत्याग तथा सच्चा प्रेम, उसे अन्ततोगत्वा गुरु की ओर ले जाने में सफल हुआ। अपने जीवन में प्रत्येक पल में, वह अपने बारे में नहीं सोचता था। किन्तु अपनी प्रियतमा के विषय में ही सोचता था। इस तीव्रता ने उसके प्रेम को शारीरिक या बौद्धिक सतह से उठाकर, आध्यात्मिक बना दिया। उसके प्रेम की आध्यात्मिकता उसे दैवी प्रियतम के पास ले आयी।

**सभी प्रकार का प्रेम सद्‌गुरु की ओर ले जाता है**

गुरु दैवी प्रियतम है; और गुरु के मिलने पर शिष्य का केवल इतना ही काम है, कि वह उसे प्रेम करे, क्योंकि यदि शिष्य गुरु को सर्वान्तःकरण से प्रेम करता है, तो गुरु के साथ उसकी अन्तिम एकता की प्राप्ति सुनिश्चित रहती है। उसे अपने प्रेम के प्रकार के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिये; उसे अपनी दुर्बलताओं के बावजूद प्रेम करना चाहिए; और हृदय पवित्र होते तक गुरु पर प्रेम करने में कभी भी नहीं चूकना चाहिये। गुरु पवित्रता का उद्‌गम स्थान है; और **गुरु पर अपने हृदय को लगाना आत्मशुद्धि का आरम्भ है।** जब शिष्य पूर्ण हृदय से गुरु को प्यार करता है, तब वह गुरु की दिव्य प्रेम वर्षा का पात्र बन जाता है। और वह जो दिव्य प्रेम प्राप्त करता है, उसकी ज्वाला में उसकी समस्त दुर्बलताएं भस्मीभूत हो जाती हैं। किन्तु यदि शिष्य सभी दुर्बलताओं से त्राण पाने, तथा निर्मल एवम् अनन्त पवित्रता की प्राप्ति करने का इच्छुक है, तो **उसे अपना जीवन निर्ब्याज एवम् निष्कपट भाव से गुरु को समर्पित कर देना चाहिये।** उसे अपने बल–दौर्बल्य, सदगुण–दुर्गुण तथा अपने पाप पुण्य सभी कुछ गुरु को अर्पित कर देना चाहिये। ऐसे आत्म–समर्पण में किसी प्रकार का 'अगर–मगर' 'किन्तु–परन्तु' नहीं रहना चाहिये। उसकी शरणागति इतनी पूर्ण होना चाहिये, कि उसके मन में किसी स्वार्थमूलक गुप्त इच्छा की लेशमात्र छाया भी नहीं रहना चाहिये।

**प्रेम तथा शरणागति के द्वारा शुद्धि**

पूर्ण आत्म–समर्पण तथा अवितर्क प्रेम तभी सम्भव होता है, जब शिष्य की गुरु के प्रति निश्चित श्रद्धा पैदा हो जाती है। **गुरु के प्रति श्रद्धा सच्ची शिष्यता का अपरिहार्य भाग है।** ईश्वरानुभूति हो जाने पर श्रद्धा के लिये कोई जगह नहीं रह जाती। जैसे जब मनुष्य यह जान जाता है, कि वह मनुष्य है, तो फिर श्रद्धा का प्रश्न ही नहीं रह जाता। किन्तु ज्ञानावस्था के प्राप्त होने तक, शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा उसके लिये विश्वसनीय पथप्रदर्शक ज्योति है। गुरु के प्रति विश्वास जहाज़ के संचालक चक्र (Steering Wheel) के समान है। **विश्वास को अन्धा कहना ग़लत है, क्योंकि वह दृष्टिरहित अज्ञान की अपेक्षा, अधिकतर दृष्टि के तुल्य है,** यद्यपि यह दृष्टि तब तक दर्शन से वंचित रहती है, जब तक ईश्वर से साक्षात्कार नहीं हो जाता। अकारण ही समस्त धर्मो को 'श्रद्धा' (Faiths) नहीं कह दिया जाता। साधक के जीवन की परमोपयोगी बातों में से विश्वास भी एक है। विश्वास भिन्न– भिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है; किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह एकही वस्तु है, और उसे अलग नाम नहीं दिया जा सकता। विश्वास के भेद केवल अंश के भेद है; प्रकार के नहीं। विश्वास सबल और सजीव हो सकता है, या शिथिल और दुर्बल हो सकता है। दुर्बल तथा शिथिल विश्वास मनुष्य को शास्त्रोक्त आचार अनुष्ठान तथा बाह्य रूढ़िनियम पर आसक्ति तक ही ले जाता है। किन्तु, **सबल तथा सजीव विश्वास धर्म के बाह्य रूपों से परे अवश्य ले जाता है;** और ऊपरी छिलके को त्यागकर आध्यात्मिक जीवन के भीतरी बीज तक पहुँचाने में सहायक होता है। **जब विश्वास अपने निजी अन्तिम अधिष्ठान का आश्रय लेकर खुद के गुरु के प्रति आरूढ़ हो जाता है, तब वह पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।**

**विश्वास या श्रद्धा का महत्व**

शिष्य की श्रद्धा गुरु अधिष्ठित होनी चाहिये। उसे उस तिनके की तरह नहीं होना चाहिये। जो जरा सी हवा के द्वारा उठ जाय। उसे उस चट्टान की भाँति होना चाहिये, जो प्रबलतम आँधी में भी निश्चल रहती है। गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा कैसी होनी चाहिये, यह कल्याण की कथा से प्रकट होता है। कल्याण रामदास का शिष्य था। स्वामी रामदास शिवाजी के समकालीन, एक सिद्ध सद्गुरु थे। गुरु अपने सब शिष्यों को समान प्रेम करता है। किन्तु उनमें से कोई एक उसे विशेष प्रिय हो सकता है। जैसे मनुष्य अपने शरीर के सभी भागों को प्रेम करता है, किन्तु अंगुलियों की अपेक्षा, उसकी आँखे उसे अधिक प्यारी होती हैं। स्वामी रामदास के अनेक शिष्य थे। किन्तु कल्याण सबसे प्रिय था। दूसरे शिष्य यह नहीं समझ पाते थे, कि कल्याण औरों की अपेक्षा गुरु को अधिक प्यारा क्यों था ?

**कल्याण की कथा**

एक बार स्वामी रामदास ने अपने शिष्यों की भक्ति की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने बहाना किया, कि वे इतने बीमार हैं, कि अब वे मरने ही वाले हैं। उन्होनें सब शिष्यों को बुलवाया। उन्होंने अपने घुटनों की जोड़ पर एक आम रखकर उस पर घाव बाँधने की पट्टी (Bandage) चारों ओर से लपेट दी, जिससे वह हूबहू एक बड़ी सूजन की तरह दिखने लगा। इस सूजन की ओर अँगुली दिखलाते हुए, स्वामी रामदास ने अपने सभी शिष्यों से कहा, कि वह एक दु:साध्य व्रण है, और उसके विष को यदि कोई चूसकर न निकालेगा तो उनका बचना असम्भव हो जायेगा। तथा जो कोई विष को चूसकर निकालेगा वह तत्काल मर जायेगा। फिर अपने शिष्यों से पूछा कि मरने का ख़तरा रहते हुए, उनमें से कौन सूजन के पीप को चूसकर निकालने के लिये तैयार है। दूसरे सभी शिष्यों ने आनाकानी की, किन्तु कल्याण तुरन्त उठ खड़ा हुआ; और उसने व्रण को चूसना शुरू किया। चूसने पर कल्याण के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसे मालूम हुआ कि उसने तो विष की जगह आम का मीठा रस चूसा है। और इसके सिवा स्वामी रामदास ने उसके निस्वार्थ प्रेम तथा अटल श्रद्धा की अनेक प्रशंसाएं कीं। प्रियतम के सुख के लिये स्वयं मरने के लिये तैयार रहना ही सच्चा प्रेम है। कल्याण की जैसी असंदिग्ध श्रद्धा, अच्युत प्रेम तथा अविभक्त निष्ठा गुरु की कृपा से ही प्राप्त होती है।

**गुरु की आन्तरिक प्राप्ति सेवा के द्वारा सम्भव है।**

गुरु के प्रति अविभक्त भक्ति से, शिष्य के जीवन में किसी प्रकार के संकोच (Narrowness) का सूत्रपात नहीं होता। गुरु की सेवा करने का अर्थ प्रत्येक दूसरे मनुष्य में विद्यमान अपने ही आत्मा की सेवा करना है। गुरु की चेतना विश्वव्यापी होती है और वह सार्वलौकिक आध्यात्मिक कल्याण में ही निरत रहता है। अतः गुरु की सेवा करना उसके सार्वलौकिक कार्य में भाग लेना है; और सभी मनुष्यों की सेवा करना है। गुरु के कार्य में हिस्सा लेते समय, शिष्य का संसार के सम्पर्क में रहना आवश्यक हो सकता है; किन्तु अपने नियत कार्य के सिलसिले में, संसार का भ्रमण करते हुए भी, गुरु के अनन्तत्व से उसका आंतरिक सम्पर्क बना रहता है। अतएव, **गुरु के कार्य में भाग लेकर, शिष्य गुरु के अधिक समीप आता जाता है; और उसकी चेतना का एक अविभाज्य भाग बन जाता है।** गुरु की सेवा करना उसकी आंतरिक प्राप्ति करने का (Realising) शीघ्रतम साधन है।

शिष्य गुरु की जो सेवा करता है, वह न केवल सार्वलौकिक मानव सेवा से सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह उसके आध्यात्मिक साध्य का अत्यन्त सफल साधन है।

जब उसकी सेवा सहज, स्वेच्छास्फूर्त, हार्दिक, निस्वार्थ तथा शर्तरहित होती है, तो उससे उसे जितना आध्यात्मिक लाभ होता है, उतना अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। गुरु की सेवा शिष्य का आनन्द है, यद्यपि ऐसी सेवा उसके शरीर और मन के लिये श्रमपूर्ण होती है। असुविधा तथा कष्ट सहकर की जानेवाली सेवा शिष्य की निष्ठा की कसौटी है। सेवा जितनी ही श्रम–साध्य होती है, उतनी ही वह शिष्य के लिये वाँछनीय होती है और चूँकि शिष्य गुरु सेवा में शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा स्वेच्छतः स्वीकार करता है, उसे आध्यामिक तृप्ति का अनुभव होता है। गुरु क्या है, तथा वह किस तत्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने से, गुरु के प्रति अविभक्त तथा एकाग्र भक्ति का भाव रखना सम्भव हो जाता है। गुरु की यथार्थ महिमा तथा क्रिया का यदि शिष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, तो सम्भव है; वह अपने अन्तस्थ आत्मदेव तथा गुरु के बीच मिथ्या अंतर्विरोध की सृष्टि करे ले; और इस अन्तर्विरोध के परिणामस्वरूप, वह अपने मन में गुरु सम्बन्धी कर्तव्यों तथा अन्य न्याय–प्रतीत होनेवाले कर्तव्यों के बीच कृत्रिम तथा काल्पनिक संघर्ष का सृजन कर ले। किन्तु शिष्य को सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिये, कि गुरु सिर्फ़ यही चाहता है, कि शिष्य अपने अन्तरात्मा एवम् शिवात्मा की ही (Higher self) अनूभूति करे, और उसी की प्रेरणा के अनुसार कार्य करे। यदि सच पूछा जाय, तो **गुरु शिष्य के अन्तरात्मा का ही साकार स्वरूप है, अर्थात् वह उसके शिवात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह सही सत्य है, जो सभी में समान रूप से विद्यमान है।** अतः, गुरू के प्रति भक्ति दूसरे शब्दों में अपने आंतरिक आत्मदेव के प्रति भक्ति है। इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि अपने अन्तरात्मा के प्रति–बाहरी निष्ठा–विधि (Foamal allegiance) सच्ची गुरुनिष्ठा के बदले में पर्याप्त हो सकती है।

**गुरु के कार्य में हाथ बंटाना**

**जब तक ईश्वरानुभूति नहीं हो जाती, तब तक शिष्य को अपने अन्तस्थ आत्मदेव का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, और उसे बहुधा उसके कर्तव्य की भ्राँति जो प्रतीत होता है, वह उसके अन्तरात्मा तथा उसके चेतना के क्षेत्र के बीच में कपट–पूर्वक प्रविष्ट हो जाने वाले किसी संस्कार का प्रोत्साहन मात्र है।** इसके विपरीत, गुरु तथा शिष्य के अन्तरात्मा में कोई अन्तर नहीं है, अतः गुरु मूल्य निर्धारण (Valluatio) के विषय में कदापि कोई भूल नहीं कर सकता।

मिथ्या अंतर्विरोध

अतएव, शिष्य को अपने अन्तरात्मा की प्रेरणा तथा संस्कार की प्रेरणा गुरु की आज्ञा की तुला में तौलना चाहिए। यदि गुरु की आज्ञा तथा अन्तरात्मा की प्रेरणा में

**संघर्ष के मौके**

कोई संघर्ष पैदा हुआ, तो उसे अपने विचारों की पुनः परीक्षा करनी चाहिए; और पता लगाना चाहिए कि उनमें कहाँ त्रुटि है। ज़रा निरीक्षण करके विचार पूरा करने से शिष्य को पता लग जाएगा, कि **उसके अन्तरात्मा की प्रेरणा तथा गुरु की आज्ञा में मूलभूत सम स्वरता (Harmony) है।** यदि कभी किसी एकाध प्रसंग में उन दोनों में संघर्ष दिखाई देता है, तो यह निश्चित है, कि या तो उसने अपने अंतरात्मा की प्रेरणा को ठीक से नहीं समझा है, अथवा गुरु की आज्ञा का अर्थ ग्रहण करने में वह असमर्थ रहा है। ऐसे मौके पर गुरु स्वयं यह चाहता है कि शिष्य हर हालत में, अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा का अनुकरण करे। कभी कभी, गुरु शिष्य को उच्चतर जीवन के लिए तैयार करने के उद्देश्य से आदेश देता है। ऐसी ही परिस्थितियों में, शिष्य को अन्तरात्मा की प्रेरणा तथा गुरु के आदेश में अस्थायी तथा दृश्यमान विरोध महसूस होता है। किन्तु प्रायः गुरु ऐसे आदेश नहीं देता है, जिनके लिए शिष्य की पूर्व आन्तरिक तैयारी नहीं रहती।

सदगुरू नितान्त स्वार्थ–रहित होता है; और हर समय, वह, शिष्य की चेतना तथा उसके अन्तरात्मा के बीच पड़े हुए आवरण को ही दूर करने के लिए, चेष्टाशील रहा

**शिष्यता का सच्चा अर्थ**

करता है। अतः अन्तरात्मा के प्रति तथा सदगुरु के प्रति कर्तव्यों में वास्तविक विरोध कदापि पैदा नहीं हो सकता। **वस्तुतः अपने अनुसंधान के अन्त में, शिष्य को यह मालूम होता है कि उसका गुरु दूसरे रूप में उसकी अन्तरात्मा ही है।** सदगुरू अपनी नितान्त निस्वार्थता तथा अविच्छिन्न दिव्यता में इतना स्वयंपूर्ण होता है, कि वह अपने खुद के लिए, कुछ भी नहीं चाहता। और शिष्य के संबंध में वह जो कुछ चाहता है, वह केवल यह है, कि वह सर्वोच्च सत्य के प्रकाश में, अपनी पुनर्व्यवस्था करे। **शिष्य बन जाना आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जानेवाले पथ पर चलना शुरू करना है।** सच्ची शिष्यता का यही अर्थ है।

# सद्‌गुरुओं के तरीके

सद्‌गुरुओं की चेतना सर्वथा व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonal) एवम् पूर्णतः विश्वव्यापी (Universal) हुआ करती है। किन्तु अपने आध्यात्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अपने कार्य–क्षेत्र को सीमित कर सकते हैं तथा अपने अभिव्यक्त व्यक्तित्व को अपने शिष्यों की आकाँक्षाओं का केन्द्र–स्थल बनने देते हैं। **वे अपने सम्पर्क में आनेवाले साधकों की सहायता करने के लिए, व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा अन्य नियम प्रणालियों का उपयोग करते हैं।** वे सदैव ऐसे लोगों की तलाश में रहते हैं, जिन्हें उनकी सहायता की आवश्यकता रहती है, तथा जो उनकी सहायता के अधिकारी होते है। वे आध्यात्मिक उत्कण्ठा के क्षीण से क्षीण स्फुरण को भी दुर्लक्ष्य नहीं करते। वे नानाविध तरीक़ों से सभी साधकों की आध्यात्मिक वृद्धि को प्रवर्तित तथा प्रोत्साहित करते हैं, और उनके तरीक़े निश्चित रूप से प्रभावशाली होते हैं, यद्यपि वे दूसरों के लिए आवश्यकतः बुद्धिग्राह्य नहीं होते।

**गुरु सहायता करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।**

गुरु की सहायता आध्यात्मिक यात्रा को निश्चित तथा सुरक्षित करने में रहती है; और वह यात्री को थोड़े ही समय में लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं। गुरु के बिना यात्रा अनिश्चित तथा अरक्षित रहती है, और समय तथा शक्ति का बहुधा अपव्यय होता है। साधक स्वतंत्र रूप से काफ़ी दूर तक अनुसंधान कर सकता है; किन्तु छठी भूमिका को वह गुरु की सहायता के बिना पार नहीं कर सकता। किन्तु मध्यस्थित भूमिकाओं में भी, गुरु की सहायता अत्यन्त

**उनकी सहायता का प्रकार।**

उपयोगी सिद्ध होती है, क्योंकि **गुरु बीच रास्ते में ही अटकावों से तथा मार्गवर्ती ख़तरनाक गर्तों में गिरने से बचा लेता है।** कबीर मार्ग की तीन स्थितियों की तुलना आग की तीन अवस्थाओं से करते हैं। जिस प्रकार पहले सिर्फ धुआँ होता है और आग नहीं रंहती, उसके बाद धुएं से लिपटी हुई आग होती है, और अन्त में केवल आग होती है, तथा धुआँ बिल्कुल नहीं रहता, उसी प्रकार, आध्यात्मिक प्रथा की प्राथमिक स्थिति में, प्रगाढ़ अज्ञान रहता है, मध्यस्थिति में ईश्वर का अज्ञानावेष्टित ज्ञान रहता है, तथा अन्तिम स्थिति में, केवल सहानुभूति रहती है, जो लेशमात्र भ्रम से भी अवगुण्ठित नहीं रहती। चूँकि पथ अनेक भ्रमों से आकीर्ण रहता है, अतः गुरु के मार्ग–प्रदर्शन के बिना साधक कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता। गुरु मार्ग की विपत्तियों से परिचित रहता है; और वह साधक को उनसे बचा ले जाता है।

**भ्रमनिकेतन।**

अंतर्दृष्टि के खुलने के पहले, मन लक्ष्य को अनन्तवत् समझता है। अनन्त का विचार किसी ऐसी लाक्षणिक प्रतिभापर अवलम्बित रहता है, जिससे विशालता का बोध होता है, जैसे आकाश या समुद्र। यद्यपि अनन्त के ये विचार सुस्पष्ट तथा सुनिश्चित होते हैं, तथापि अनन्त के स्वतंत्र एवम् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उनका निरस्त होना आवश्यक है। साधक आत्मा को प्रत्यक्षतः तभी देखता है, जब उसका आत्मचक्षु खुल जाता है। आत्मचक्षु खुलने पर जो कुछ वह देखता है, उससे उसका मन चौंधिया जाता है। जो कुछ वह देखता है, वह उतना भी स्पष्ट नहीं दिखाई देता है, जितना स्पष्ट अंतर्चक्षु के खुलने के पूर्व दिखाई देता था। आत्मा की चकाचौंध से मन चौंधिया जाता है, स्पष्ट विचार करने में वह असमर्थ हो जाता है, और आत्मदर्शन को आत्मानुभूति समझने की भूल कर बैठता है। इसी प्रकार, मार्गवर्ती स्थिति को ही मार्ग का अन्त समझ बैठने की भ्रान्त धारणा मनमें समा जाती है। सूफी में मार्ग की यह स्थिति 'मुकाम–ए आफसन', अर्थात् भ्रम का निवासस्थान कहलाता है। पथ की ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में ही गुरु की आवश्यकता होती है। ऐसे मौक़े पर गुरु, साधक को एक धक्का देता है, जिससे वह रास्ते में रूके नहीं बल्कि अपनी यात्रा जारी रखे।

**गुरु की देन**

सच पूछा जाय तो प्रत्येक मध्यवर्ती आंतरिक भूमिका में साधक को अटकने तथा आवश्यक विलम्ब करने का डर रहता ही है क्योंकि वह अत्यन्त चित्ताकर्षक होती है। प्रत्येक भूमिका एक प्रलोभन पाश के तुल्य है। गुरु साधक से या तो इनको पार करवा लेता है या इनके बीच से उसे बिना किसी अनावश्यक विलम्ब के निकाल ले जाता है। **चलना तो खुद साधक को पड़ता है**

**किन्तु पूर्व प्राप्त सहज ज्ञानो तथा अन्तःप्रज्ञा को स्थिर तथा दृढ करने में एवम् अप्रत्याशित किन्तु अवारणीय अग्रगमन के लिये चेतना को क्षिप्रतापूर्वक सन्नद्ध करने में गुरु की देन निहित रहती है।**

गुरु शिष्य को माया से निकालने के लिए माया का ही उपयोग करता है। वह स्वयं तो अच्छे और बुरे से परे रहता है। किन्तु कभी कभी वह ऐसी भी आशाएँ देता है जो उसके शिष्यों की ''सुबुद्धि'' (Good sense) को अस्वीकार्य तथा आश्चर्यजनक सी मालूम होती है। ऐसे प्रसंगो पर, गुरु की आज्ञाओं को अभियुक्त बनाकर अपनी परिमित बुद्धि के न्यायालय में उपस्थित करना उचित नहीं है। शंका संशय–शून्य श्रद्धा के साथ उनका नम्रतापूर्वक पालन करना ही शिष्य का परम कर्तव्य है। निम्न–लिखित सुप्रसिद्ध उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

**शिष्यों की संशय रहित श्रद्धा।**

कुरान में एक कथा है, कि अब्राहम को अपने प्यारे बेटे इस्माइल की खुदाकी ख़ातिर, कुरबानी कर देने का हुक्म मिला।

जब अब्राहम अपने लड़के का गला काटने को तैयार हुए तब ऐसा चमत्कार हुआ कि लड़का तो बच गया और उसकी जगह एक बकरे की कुरबानी हो गई। गुरु शम्सत बरेज़ को प्रसन्न करने तथा उसका अनुग्रह प्राप्त करने की गरज़ से मौलाना रूमी ने अपने गुरु की मैकरे से शराब उठा लाने की, आज्ञा का पालन करने में जरा भी आना–कानी नहीं की। अपने समय में इस्लामी दुनिया के एक बड़े भारी धर्मनिष्ठ शास्त्री होने के नाते मौलाना रूमी की आध्यात्मवादी मुसलमानों में बड़ी प्रतिष्ठा थी, और इस्लाम धर्म में मुसलमानों के लिए शराब पीना निषिद्ध (हराम) है। अतः अपने कंधे पर शराब का प्याला लेकर सड़क पर से चलना, मौलाना के लिए एक कठोर कार्य था। किन्तु यह कठिन परीक्षा थी, जिसमें वे उत्तीर्ण हुए।

गौसाली शाह के गुरु गंगा नदी के किनारे एक कुटिया में रहते थे। उन्होनें अपने शिष्य को नदी की बीच धार से एक घड़ा भर पानी पीने के लिये लाने का हुक्म दिया। आधी रात का वक्त था और वर्षा की वजह से गंगा में खूब बाढ़ आयी हुई थी। शिष्य पहले तो हिचकियाया किन्तु बाद में साहस बटोरकर तथा गुरु की सर्वज्ञता पर विश्वास करके असम्भव को सम्भव करने के लिए उद्यत हुआ। प्रकुप्त जल–प्रवाह के भीतर वह उतर नहीं पाया था कि नदी में उसे आश्यर्चजनक परिवर्तन दिखाई दिया। बाढ़ की क्षुब्ध तरंगो की जगह नदी में केवल एक पतली जल धारा बह रही थी। उसका घड़ा नदी के तले को छू जाता था। बीच धार की तलाश में शिष्य नदी के दूसरी तह तक

आ गया। इस प्रकार जब कि वह खोज–तलाश में मशगूल था उसके गुरु ही वहाँ आ
उपस्थित हुए और विलम्ब का कारण पूछा। जब शिष्य ने बतलाया कि बीच धार
निश्चित करना मुश्किल हो गया है तो गुरु ने पतली धार से ही हाथों द्वारा पानी भरने
की इजाजत दी और पानी भरने में स्वयम् शिष्य की सहायता करने लगे। कुछ बहाना
बताकर गुरु शिष्य को घड़ा भर कर तुरन्त आने के लिए कह कर चलते बने। जब
गौसाली शाह कुटिया में लौटा तो अन्य शिष्यों से यह सुनकर उसके आश्यर्च की सीमा
न रही कि उनके गुरु उनकी गैरहाजरी में उन्हें छोड़कर एक क्षण के लिए भी बाहर
नहीं गये किन्तु वे लगातार उसके बारे में उनसे बातचीत करते रहे।

उक्त दृष्टान्तों से मालूम होगा कि गुरु बिरले प्रसंगो पर शिष्यों के अहँकार को
नष्ट–भ्रष्ट करने तथा उन्हें पथ में आगे बढ़ाने के लिए अपनी गूढ़ शक्तियों का भी
उपयोग कर सकते हैं; किन्तु, नियमतः, वे अपनी दिव्य शक्तियों का बहुत ही कम
उपयोग करते हैं, और वे उनका उपयोग तब तक हरगिज़ नहीं करते जब तक ऐसा

**गुरु गूढ तरीकों की अपेक्षा साधारण तरीके ही पसंद करते हैं।**

करना आध्यात्मिक कारणों से निहायत ज़रूरी नहीं। सामान्यतः
साँसारिक मनुष्यों के साधारण तरीक़ों से ही उनका काम निकल
जाता है। किन्तु साधारण तरीक़ों का उपयोग करते हुए भी वे
महान ज्ञान, तीक्ष्ण विनोद–भाव, असीम प्रतिज्ञा तथा पूर्ण व्यवहार
कौशल से काम लेते हैं। इतना ही नहीं किन्तु वे अपने शिष्यों की
सहायता करने में बड़े कष्ट उठाते तथा परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुरूप
असंख्य तरीक़ों से वे अपने आपको व्यवस्थित करते हैं।

उपर्युक्त कुछ बातें महान आध्यात्मवादी बहलुल की कथा से स्पष्ट हो जाएगी।
बहलुल अपने कुछ निजी कारणों से फारस के गणमान्य व्यक्तियों से अपना सम्पर्क
स्थापित करना चाहते थे। राजा की सभाओं में ही वे गणमान्य व्यक्ति उपस्थित होते थे।
अतः राजसभा में जाने से ही बहलुल का काम सधता था। किन्तु दुर्भाग्यवश बहलुल का

**बहलुल की कथा**

सिर गँजा था और किसी भी केशहीन व्यक्ति को राज–सभा में प्रवेश
की अनुमति नहीं था। राजा के सिरमें एक भी बाल न था और दूसरों
को केशहीन देखकर उसे अपने गंजेपन का ख्याल आ जाता था और वह सभा का आनन्द
नहीं ले पाता था। राजा इस विषय पर इतना तुनुक मिज़ाजी था कि किसी भी गँजे व्यक्ति
को सभा के भीतर आने की इजाज़त नहीं थी और जब गँजा सिरवाला बहलुल अपने गन्दे
मैले कपड़ों में सभा में पहुँचा तो वह खदेड़ दिया गया। किन्तु सभा तीन दिनो के लिये
लायी गयी थी। बहलुल ने किसी सज्जन से अच्छी पोशाक तथा कृत्रिम केश उधार लिये।
रूप बदलकर, सजधज और ठाट–बाट के साथ बहलुल दूसरे दिन सभा में गया।

सभा के कार्यकाल में किसी ने भी बहलुल को नहीं पहचाना, और सभा में उपस्थित समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियों पर बहलुल ने अपनी सज्जनता की धाक बैठा दी। वह इतना ज्यादा सामान्य और प्रिय बन बैठा कि स्वयं राजा ने उस का आदरपूर्वक स्वागत किया और अपने पास बैठने का निमंत्रण दिया। अपनी जगहपर बैठने के पश्चात् ही राजा की ओर देखकर बहलुल ने आँख मारी। राजा इस आँख मारने का कुछ भी मतलब नहीं समझा। उसे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि ऐसे लब्ध–प्रतिष्ठित व्यक्ति के अंग–विक्षेप का कुछ तो अर्थ होना ही चाहिए और यह सोचकर कि इस संकेत के प्रत्युत्तर की आवश्यकता है वह भी बहलुल की ओर देखकर आँख मारने लगा। राजा के पास बैठनेवालों ने आँख मारने का यह आदान–प्रदान देखा। उन्हें कुछ ऐसा लगा मानो उन्हें भी ऐसा ही करना चाहिये। उनका इस प्रकार आँख मारने का यह क्रम–उपक्रम पूरी भीड़ में व्याप्त हो गया और पाँच मिनिट तक आँख मारने के सिवाय और कुछ नहीं हुआ। तब बहलुल ने चिल्लाकर कहा, "महाशयों, ठहरो। तुम आँख क्यों मारते हो?" गणमान्य व्यक्तियों ने जवाब दिया, आप जैसे महापुरूषों को आँख मारते देखकर हम भी आँख मार रहे हैं। हम तो केवल आपकी नकल कर रहे हैं। इस पर तुरन्त अपना बाल–वाला टोप सिरसे निकालकर बहलुल ने कहा "हम दोनो गँजे है। हमारी नकल करो" सभी गणमान्य सज्जन चले गये और तीसरे दिन वे सभी अपने सिर मुड़ाकर आये। तब बहलुल राजा से बोले– "हम दोनो तो स्थायी रूप से गंजे हैं, किन्तु इन सब लोगों को गँजा रहने के लिए हर दिन अपना सिर मुड़ाना पड़ेगा।" इस प्रकार बहलुल अपने विनोद तथा व्यवहार कुशलता के बलपर उन लोगों के निकट पहुँच गया जिन्हें वह मदद करना चाहता था।

**शिष्यों की त्रुटियों से बर्ताव**

गुरु शिष्य से संपर्क स्थापित करने तथा उसे आध्यात्मिक मार्ग में खींचलाने के लिए कुछ भी नहीं उठा रखता। यदि गुरु के प्रति शिष्य का प्रेम नष्ट न हो जाय तो उसकी आध्यात्मिक उन्नति निश्चित रहती है। अतः गुरु उन तमाम बाधाओं को एक–एक करके दूर कर देता है, जो शिष्य की सर्वातःकरण युक्त भक्ति को अवरूद्ध करती है। **वे बाधाएं उनके पथ के विकट रोड़े न बनने पावें, इसीलिए वह अक्सर शिष्य के वैयक्तिक स्वभाव की स्तुति करता है।** कभी कभी वह शिष्य की अहंवृत्ति का साथ भी देता है। किन्तु यह उसके अज्ञान को नष्ट, अस्थायी रूप से सहारा देने तथा उसकी प्रवृत्ति को अन्तिम रूप से नष्ट करने के लिए शिष्य को तैयार करने के ही उद्देश्य से वह ऐसा करता है, जैसे वध किये जाने के पहले बलिदान के बकरे खूब खिलाये–पिलाये जाते हैं। अच्छे व बुरे से परे रहने के कारण गुरु शिष्य की त्रुटियों और दोषों से अस्थिर नहीं

होता। असीम प्रतिज्ञा के साथ वह उन्हें सहन करता है और अनन्त समय तक धीरज रखने की उसमें क्षमता होती है। वह जानता है कि शिष्य के साथ में दृढता के साथ आरूढ़ होते ही उस पथ की त्रुटियों और दुर्बलताओं को दूर करने में कुछ भी समय नहीं लगेगा।

किन्तु गुरु को इस बात का सन्तोष होते ही कि शिष्य पथ पर दृढ़ता–पूर्वक आरूढ़ हो गया है वह शिष्य के चित्त को दोषों से मुक्त करने में जरा भी समय नहीं लगाता। जिस प्रकार ज्योंही शस्त्रवैद्य के निरीक्षण में रोगी आता है, त्योंही वह अपनी छुरी लेकर घाव की चीरफाड़ में लग जाता है, और वह रोगी के रोने चिल्लाने तथा विरोध की ज़रा भी परवाह नहीं करता; उसी **प्रकार गुरू भी शिष्य की चित्त–शुद्धि कठोरता पूर्वक करता है।** किन्तु आगे चलके शिष्य को पता चलता है, कि गुरु की कठोरता उसके कल्याण के ही लिए थी अतः वह अपने गुरू से कभी विमुख नही होता और गुरू के द्वारा की गई अप्रिय तथा पीड़ादायक चित्त–शुद्धि की क्रिया से वह गुरु के अधिक निकट आता है।

**चित्त–शुद्धि की विधि।**

गुरु का साधारण तरीका बहुत प्रिय, मधुर तथा प्रभावशाली होता है। आध्यात्मिक दिशा में शिष्य की विशेष प्रगति से गुरु बहुत प्रसन्न होता है। **शिष्य की यथोचित प्रशंसा के द्वारा गुरु, शिष्य के उन आध्यात्मिक गुणों को स्थायी रूप देता है, जिन्हें वह प्राप्त कर रहा हो, तथा भविष्य में किसी भी परिस्थिति का सामना कर सकने का उसमें आत्म–विश्वास पैदा करता है।** किसी उदात्त भाव का उद्रेक, आत्म विसर्जन का भाव, वीरोचित बलिदान असाधारण धैर्य, प्रेम या श्रद्धा को प्रकट करने वाली घटना इन में से कोई भी बात गुरु को प्रसन्न करने तथा उनकी निर्मल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है; और वे शिष्यों के सद्गुणों को देखकर प्रायः उन सद्गुणों को प्रोत्साहित करने तथा स्थायी रूप देने के लिए शिष्यों की प्रगट रूप से प्रशंसा करते हैं। शिष्य गुरू की प्रशंसा की कीमत करने लगता है; और अन्य किसी की अपेक्षा गुरु की स्वीकृति से उसे अधिक आनन्द प्राप्त होता है। किसी दूसरी अवस्था में शिष्य के लिए जो करना असम्भव होता है, वह उस कार्य को सिर्फ़ यह जान कर करने में समर्थ होता है, कि उससे गुरु खुश होंगे। गुरु को प्रसन्न करने के लिये, वह कठिन से कठिन कष्ट झेलने के तथा बड़े से बड़े लोभ का सहर्ष सँवरण करने के लिए तैयार रहता है।

**प्रशंसा के द्वारा सहायता**

चूँकि गुरु जिज्ञासु के लिए सर्वव्यापी आत्मा का एक प्रतीक होता है, अतः गुरु के प्रति अपने आपको यथोचित, व्यवस्थित करने की (adjustment) उसकी समस्या,

तथा अपने अंतरात्मा की अनुभूति करने एवम् अन्य रूपों में विद्यमान आत्मा के प्रति अपने आपका व्यवस्थित करने की उसकी समस्या में कोई भेद नहीं है। गुरु की भक्ति करके वह मानो इन सभी समस्याओं की मौलिक एकता को बोधपूर्वक हृदयंगम कर रहा है। **और मानो मानसिक रणकौशल (Psychological Strategy) के दृष्टिकोण से वह उन्हें भिन्न भिन्न समस्या समझ कर एक दूसरे से अलग कर के उन्हें नहीं सुलझा रहा है। अतः वह विरोधी दावों के बीच कोई अस्थायी समझौता नहीं कर रहा है, किन्तु सच्चे समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है।** इस समन्वय (Integration) की प्राप्ति में शिष्य की सहायता करने के लिए गुरू को शिष्य के समस्त आदर्शवाद (Idealism) का आश्रय केन्द्र बनना पड़ता है, क्योंकि उसके लक्ष्य के बीच के व्यवधानो को छिन्न–भिन्न करने के लिए अंतःकरण कि शक्तियों की अनन्त एकाग्रता आवश्यक है। अपने गुरु के अतिरिक्त अन्य दूसरे गुरुओं के प्रति भी शिष्य स्वाभाविक रूप से सम्मान अनुभव करेगा ही। किन्तु इससे उसके स्वयं के गुरु के दावे की सर्व–श्रेष्ठता न तो सीमित ही होती और न भंग होती है। सभी सिद्धगुरु ज्ञान में एक ही हैं और उनके बीच श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का प्रतिपादन करना मिथ्या है। किन्तु यद्यपि इस दृष्टिकोण से एक गुरु दूसरे गुरु की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है, तथापि अपने निजी प्रेमी जनों के लिए शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने ही गुरु को तब तक सर्वश्रेष्ठ समझे जब तक वह द्वैत का अतिक्रमण करके समस्त जीवन की एकता का ज्ञान प्राप्त न कर ले। **जीवन पर अनेक विरोधी दावे हैं। इन दावों में से यदि कोई एक दावा अत्यन्त सर्वश्रेष्ठ रूप धारण कर ले, तो अंतःकरण की शक्तियों का अपव्यय होते देर न लगेगी।** अतएव गुरु का अनन्य ध्यान अंतःकरण की बिखरी हुई शक्तियों को इकट्ठा करने के लिए नितान्त आवश्यक है। कुछ बिरले प्रसंगो पर, कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण, स्वयं गुरू किसी ख़ास शिष्य से सम्बद्ध कार्य में भाग लेने का निश्चय करे, अतः एक ही शिष्य का दो या अधिक गुरुओं से अनुषक्त होने के भी उदाहरण पाये जाते हैं। किन्तु यह कोई नियम नहीं है, सिर्फ़ अपवाद है। **और जब एक ही शिष्य के एक से अधिक गुरु होते हैं, तो वे ऐसी सावधानी के साथ, शिष्य का कार्य विभाजन कर देते हैं, कि शिष्य विभिन्न दावों की खींचतान का शिकार नहीं होता।**

सभी समस्याओं का हल

गुरु का सर्वश्रेष्ठ दावा

# अहंकार का स्वभाव और उसका अंत

(भाग 1)

## अहंकार संघर्ष का केन्द्र है।

**अहंकार का उदगम**

पूर्व मानवीय अवस्था में चेतना को अनुभव होते हैं। किन्तु इन अनुभवों का केंद्रीय "अहम्" से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। कुत्ता क्रुद्ध होता है किन्तु वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं क्रुद्ध हूँ। कुत्ता भी अनुभवों के ही द्वारा सीखता है और एक अनुभव की दूसरे अनुभव पर होनेवाली क्रिया को स्पष्ट करता है। किन्तु यह क्रिया परस्पर सम्बद्ध चित्तचिन्हों या संस्कारों की अर्धयांत्रिक खींचतान का परिणाम होती है,। वह अनुभवों के बुद्धि सम्बन्ध समन्वय से भिन्न होती है। अनुभवों का सबोध समन्वय तो अहंभाव के विकसित होने पर ही सम्भव होता है। **विशिलष्ट अनुभव चिन्हों की पृथक क्रिया को बुद्धिपूर्वक व्यवस्थित करने का सर्व प्राथमिक क्रम उन्हें चेतना के केन्द्र से सम्बद्ध करना है।** चेतना का केन्द्र सीमित अहंकार के रूप में प्रकट होता है। मानवीय चेतना के आरम्भ के साथ ही साथ अहंभाव भी स्पष्ट, निश्चित तथा दृढ हो जाता है।

अहंकार केन्द्रित पूर्णता के सिद्धान्त से रहित होने पर मानवीय चेतना विभिन्न अनुभवों द्वारा अंकित संचित चित्त–चिन्हों का मात्र संग्रहालय बन जाती है। अहंकार–केंद्रित,

पूर्णता का सिद्धान्त अनुभवों का व्यवस्थापन करने के रूप में अपने आपको व्यक्त करता है। भिन्न–भिन्न अनुभव खंडो को एकत्रित करके उन्हें एक समावेशात्मक रूप में धारण करने तथा उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करके उनका मूल्य निरूपण करने की योग्यता ही अनुभव को समझने की विधि है।

**अहंकार–निर्माण की विधि।**

**प्रवृत्ति–मूलक तथा निवृत्ति मूलक अनुभवों के दासत्व से चेतना इस प्रकार आक्रान्त हो जाती है कि उनका मूल्य आँकना असम्भव हो जाता है। अतः द्वन्द्वात्मक अनुभवों का संयुक्त करना ही चेतना को प्रवृत्तियों और निवृत्तियों के घात–प्रतिघात से मुक्त करने का एक उपाय है। अतः अनुभवों को संयुक्त करने का आरम्भिक प्रयत्न अहंकार के निर्माण के द्वारा सम्पन्न होता है। अहंकार ऐसे संयोग का केन्द्र और आधार होता है।**

अहंकार मानसिक जीवन की समस्त घटनाओं के एक प्रकट तथा अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उत्पन्न होता है। **जहाज़ में बैलास्ट (Ballast), जहाज़ को स्थिर रखने के लिए उसकी पेंदी पर रखे हुए** पदार्थ का जो कार्य है वही कार्य मानव जीवन में अहंकार का है। बैलास्ट जहाज को बहुत ज्यादा डांवाडोल होने से बचाता है, और उसके बिना जहाज़ आवश्यकता से अधिक हल्का और अस्थिर हो जाय और संभव है कि आँधी, तूफानों के जोर से उलट भी जाय। इसी प्रकार अहंकार के अभाव में द्वैत–युक्त अनुभवों के प्रचुर वैषम्य के अनन्त प्रहारों से अंतःकरण की शक्तियाँ क्षत विक्षत तथा छिन्न–भिन्न हो जायँ। अहंकार वह **अस्थायी संकलन केन्द्र है,** जो समस्त अनुभवों को संगृहीत करता तथा पाशविक चेतना से उत्तराधिकृत सापेक्षतः स्वतंत्र तथा असंवर्ध स्वाभाविक ज्ञानो से उत्पन्न सक्रिय प्रवृत्तियों को एकत्रित करता तथा एक में बाँधता है। **अहंकार का निर्माण चेतना–युक्त क्रियाओं को एक हद तक स्थिर तथा समभार बनाता है जिससे क्रम–पूर्ण एवम् व्यवस्थित जीवन सम्भव होता है।**

**अहंकार एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उत्पन्न होता है।**

अतएव अहंकार की उत्पत्ति को निष्प्रयोजन समझना आवश्यक भूल है। यद्यपि वह अंतर्हित होने के लिए आर्विभूत होता है, तथापि वह अस्थायी रूप से एक आवश्यकता की पूर्ति करता है। आत्मा की लम्बी यात्रा में यह आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अहंकार कोई स्थायी विघ्न नहीं है। आध्यात्मिक प्रयत्न से उसका निवारण तथा अतिक्रमण किया जा सकता है। किन्तु अहंकार के निर्माण की अवस्था

अनिवार्य आपत्ति

को एक ऐसी **आवश्यक बुराई** समझना चाहिए जिसका कुछ समय तक अस्तित्व रहता ही है।

इस भाँति अहंकार एक आवश्यकता को सूचित और पूर्ण करता है। चेतना के आगे विकास के लिए अहंकार का जन्म आवश्यक हो जाता है। **किंतु अहंकार अपने को शरीर समझने के मिथ्या विचार का आश्रय होता है।** यह मिथ्या विचार उन नाना भ्रमों का जनक है जो चेतना को विकृत कर देते हैं। **यह अहंकार का स्वभाव है कि वह शेष अन्य जीवों से अपना वैषम्य अनुभव करके अपने को उनसे पृथक समझता है।** इस प्रकार यद्यपि वह वैयक्तिक अनुभव को पूर्ण और संयुक्त करने का भीतरी प्रयत्न करता है तथापि वह बाह्य तथा आंतरिक जीवन के बीच एक कृत्रिम भेद उत्पन्न करने में सफल होता है। यह उसके अपने निजी अस्तित्व का अनुभव करने तथा उसकी प्राप्ति करने के प्रयत्न का परिणाम है, और समस्त जीवन समष्टि में इस पार्थक्य के उत्पन्न होने से उस आभ्यंतर व्यक्तिक जीवन पर उसकी प्रतिक्रिया होती है, अहंकार जिसका निर्देश तथा नेतृत्व करता है।

**अहंकार–केन्द्रित पूर्णता का आधार भ्रम होता है।**

सदैव अनुभव की एकता तथा पूर्णता स्थापित करने का यत्न करते रहने पर भी अहंकार का यह उद्देश्य कदापि सिद्ध नहीं होता। और यद्यपि वह एक प्रकार की समभारता स्थापित करने में सफल होता है तथापि यह समभारता क्षणिक तथा अस्थायी हुआ करती है। **जब तक अनुभव अहंकार मूलक रहता है तब तक आंतरिक संघर्ष की सतत विद्यमानता रहती है।** और यह आंतरिक संघर्ष ही अहंकार की उपलब्धियों की अपूर्णता का द्योतक है। प्रतिक्षण मनुष्य का मन एक के बाद दूसरे संघर्ष से ग्रस्त होता रहता है।

सर्वसाधारण के मन ही नहीं किन्तु असाधारण महापुरूषों के मन भी परस्पर विरोधी इच्छाओं एवम् प्रवृत्तियों के द्वारा पीड़ित रहते हैं। कभी कभी अंतःकरण के उद्वेग का दबाव इतना उग्र होता है और मानसिक संघर्ष इतना प्रबल होता है कि मनुष्य उसे सहन न कर सकने के कारण उसके वशीभूत हो जाता है। जिसका परिणाम या तो आंशिक या सम्पूर्ण ध्वंस होता है अथवा पूर्ण पागलपन। साधारण समझदार मनुष्य तथा कथित पागल के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनो को एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। **किन्तु एक न्यूनाधिक सफलतापूर्वक अपनी समस्याएं सुलझाने में समर्थ होता है और दूसरा उन्हें सुलझाने में असमर्थ रहता हे।**

**अहंकार संघर्षो का आश्रय स्थल बनता है।**

अहंकार मिथ्या मूल्य निरूपण तथा ग़लत चुनाव के द्वारा अपने आंतरिक संघर्षो को सुलझाने की चेष्टा करता है। **अहंकार की यह विशेषता है कि वह समस्त–सार–शून्य पदार्थों को सार–पूर्ण तथा समस्त सार–युक्त पदार्थों को निस्सार समझता है।** सत्ता, ख्याति, सम्पत्ति, योग्यता तथा अन्योन्य सांसारिक सिद्धियाँ एवम् उपलब्धियाँ वास्तव में निःसार है किन्तु अहंकार उनका संग्रह कर के प्रसन्न होता है और 'मेरा' कहकर उनसे चिपक जाता है। इसके विपरीत, सच्ची आध्यात्मिकता आत्मा के लिए सर्वोच्च महत्व की वस्तु है किन्तु अहंकार उसे सारविहीन समझता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य आध्यात्मिक महत्व का कार्य करते करते शारीरिक या मानसिक सुख प्राप्त करना चाहता है, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट का अनुभव करता है, तो अहंकार बीच में ही कूद पड़ता है और महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कार्य को त्याग कर भी महत्व हीन शारीरिक मानसिक सुख प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक तथा मानसिक आराम तथा अन्य लौकिक सिद्धियाँ एवम् उपलब्धियाँ बहुधा आवश्यक होती हैं। किन्तु आवश्यकता और महत्ता में बहुत ही अंतर है; वे स्वयमेव महत्वपूर्ण नहीं है। अहंकार को अनावश्यक जंचनेवाली आध्यात्मिकता आत्मा के लिए वास्तव में महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि अहंकार अज्ञान के मौलिक एवम् गम्भीर सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है। **महत्वपूर्ण की अपेक्षा महत्वहीन की उसकी पसन्दगी ही उसके अज्ञान को ज़ाहिर करती है।**

**अहंकार ग़लत मूल्य निरूपण के द्वारा अपने संघर्षों को सुलझाने का यत्न करता है।**

**वास्तविक मूल्य निरूपण के द्वारा संघर्ष सुलझाया जा सकता है।**

ऐसे मन बहुत विरल हैं जिनकी क्रिया एकता–युक्त होती है क्योंकि अधिकाँश मनुष्यों के मन उपचेतनमन की शक्तियों के द्वारा संचालित तथा शासित होते हैं, और मानसिक जीवन की गति तथा दिशा को निर्दिष्ट करनेवाली गुप्त शक्तियों पर विजय प्राप्त करने का कष्ट उठानेवाले मनुष्य बहुत कम हुआ करते हैं। **उपचेतन मन की आंतरिक शक्तियों के सज्ञान नियमन के द्वारा ही संघर्ष का अन्त सम्भव है।** और मन में होनेवाले समस्त संघर्षों के सम्बन्ध में यथार्थ मूल्य निरूपण अर्थात् सतसद् विवेक का प्रगाढ़ अभ्यास करते रहने से ही ऐसे नियमन में स्थायी रूप से सफलता प्राप्त हो सकती है।

मन को संघर्ष से मुक्त करने के लिए ठीक चुनाव करना तथा महत्वहीन का बहिष्कार करके, बिना किसी भूल–चूक के, वास्तव में महत्वपूर्ण को पसन्द करना तथा उसे ग्रहण करना परम आवश्यक है। **हमारा चुनाव विवेक–सम्मत तथा दृढ़ होना**

**चाहिए, और हमारा चुनाव सभी प्रकार के संघर्षों में विवेक सम्मत तथा दृढ़ होना चाहिये चाहे संघर्ष महत्वपूर्ण हो या वह महत्वहीन हो।** हमारे चुनाव का विवेक सम्मत होना इसलिए जरूरी है कि सच्चे तथा स्थायी मूल्यों के ग्रहण के द्वारा ही ऐसी भारतुल्यता की प्राप्ति सम्भव है जो मानसिक जीवन के वैद्युतिक तथा विधायक प्रवाह को अवरूद्ध नहीं करती। विवेकरहित चुनाव यदि सबल हुआ तो थोड़े समय के लिए संघर्ष मिट जाता है। किन्तु इसका परिणाम आगे चलकर यह होता है कि जीवन का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है तथा समग्र व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है और इसका पूर्ण विकास अवरूद्ध हो जाता है इसके सिवा संघर्ष निश्चितः किसी दूसरे रूप में प्रकट होता है, यदि वह विवेकपूर्ण सुलझाया नहीं जाता। इसके विपरीत, विवेक सम्मत सुलझाव में, मिथ्या मूल्यों में से यथार्थ मूल्यों को छाँटना और अलग करने की अंतदृष्टि की ज़रूरत पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि इच्छाओं के संघर्ष की समस्या मूल्यों के संघर्ष की समस्या है। **अतः मानसिक संघर्ष के सुलझाव के लिए, जीवन के वास्तविक अर्थ का गम्भीर शोध आवश्यक है।** ज्ञान के ही द्वारा मन संघर्ष से मुक्त किया जा सकता है।

**सही चुनाव के प्रति निष्ठा।**

एक बार सही चुनाव कर चुकने पर उस चुनाव के प्रति दृढ़ निष्ठा रखना तथा स्थिरतापूर्वक उसे अपनाये रहना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि अन्य पर्यायों का बहिष्कार करके तथा किसी विशिष्ट जीवनक्रम का चुनाव करके मन की प्रतिद्वन्द्वी प्रवृत्तियाँ हटायी जरूर जा सकती है, किन्तु इस चुनाव की सक्रियता तथा सफलता में वे विघ्न डालना बन्द नहीं कर देतीं ओर अभी अभी तो, प्रतिस्पर्धाशील आंतरिक शक्तियों की प्रचण्डता के कारण, यह खतरा भी रहता है कि हमारा चुनाव चौपट हो जाय तथा हमारा निर्णय एकदम उलट जाय। पराजय की इस शक्यता के विवरण के लिए यह आवश्यक है कि मन का अनुभव सिर्फ यथार्थ मूल्य या सही चुनाव से दृढ़ निष्ठापूर्वक चिपका रहे। **इस प्रकार, मानसिक संघर्ष के हल के लिए न केवल सच्चे मूल्यों के ज्ञान किन्तु उन मूल्यों के प्रति अटल निष्ठा आवश्यक है।**

छोटे या बड़े सभी विषयों में विवेकयुक्त तथा दृढ़तापूर्ण चुनाव के लगातार अभ्यास की आवश्यकता है, क्योंकि **जीवन की साधारण "चिंताएं" उन गम्भीर "समस्याओं" से महत्व में किसी भी प्रकार कम नहीं हैं जो संकट के समय उपस्थित होती हैं।** विवेकपूर्ण तथा दृढ़ चुनाव के सविराम अभ्यास से मानसिक संघर्ष की जड़ें पूरी तरह नहीं उखड़ सकतीं। वास्तविक मूल्यों का जीवन तभी सहज होता

है, जब सही मूल्य चुनने का अटूट अभ्यास मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, और साधारण वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाला संघर्ष भले ही मानसिक क्लेश पैदा न करे, किन्तु तो भी वह एक क़िस्म की अस्थिरता का भाव, या कहीं कुछ कसर रह गयी है, – ऐसी भावना उत्पन्न करता है। सच तो यह है कि सामान्य वस्तुविषयक संघर्षों को चेतना की सतह में हम शायद ही कभी लाने का कष्ट करते हैं और ये संघर्ष मानो परदे की ओट से हमारे जीवन सम्बन्धी साधारण धारणा पर अपनी छाया डालते हैं। **हमें ऐसे संघर्षों को भी चेतना की सतह में लाना चाहिए और उनका सीधा सामना करके उन्हें यथोचित ढंग से सुलझाना चाहिये।**

**सभी विषयों में यथार्थ मूल्य निरूपण की आवश्यकता।**

संघर्ष को चेतना की सतह पर लाने का यह मतलब नहीं है कि जहाँ संघर्ष है ही नहीं वहाँ हम संघर्ष की कल्पना कर लें। **प्रस्तुत कार्यों या विचारों में हमारे समूचे ह्दय का न लगना या सम्पूर्ण ध्यान का न जमना किसी सच्चे गुप्त संघर्ष की विद्यमानता की निश्चित सूचना है।** ऐसा समय आने पर जीवन पर प्रतिबंध लगा सा लगता है या जीवन के संकीर्ण होने का भाव महसूस होता है। ऐसे अवसरों पर मानसिक अवस्था का अंतरावलोकन के द्वारा विश्लेषण करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा विश्लेषण विषय सम्बन्धी गुप्त संघर्षों को प्रकाश में ला देता है।

**गुप्त संघर्ष**

जब, संघर्ष इस प्रकार प्रकाश में लाये जाते हैं तब विवेक–युक्त तथा सही चुनाव के द्वारा उनका सुलझाया जाना सम्भव हो जाता है। किन्तु संघर्षो के संतोषप्रद सुलझाव के लिए प्रेरक शक्ति या प्रोत्साहन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। ऐसी प्रेरणा या प्रोत्साहन किसी व्यापक आदर्श को अपनाने की उत्कृष्ट आकाँक्षा से ही प्राप्त हो सकता है। निरा विश्लेषण चुनाव में सहायक हो सकता है, **किन्तु हमारा चुनाव एक शुष्क और निष्फल बौद्धिक पसन्दगी बना रहेगा यदि वह किसी ऐसे आदर्श के प्रति उत्साह के द्वारा सजीव न बनाया गया जो मानवीय व्यक्तित्व की गम्भीरतम तह तथा महत्वपूर्ण मर्मस्थलको प्रभावित करनेवाला न हो।** आधुनिक मनोविज्ञान ने संघर्ष के कारणों को ढूढ निकालने की दिशा में बहुत कुछ किया है, किन्तु, उत्साह को जाग्रत करने या जीवन को सरस बनाने का अनुसंधान करना तथा उन्हें खोज निकालना अभी भी उसके लिए बाक़ी है। यथार्थ में तो यह मानव–जाति के उद्धारकों का एक रचनात्मक कार्य है।

**आदर्श एक प्रेरक शक्ति है**

सच्चा आदर्श स्थापित करना सही मूल्य निरूपण की शुरूआत है। सच्चे मूल्य निरूपण की शुरूआत ग़लत मूल्य निरूपण के द्वारा अपने आपको प्रकट करने वाले अहंकार की रचनाओं को अन्यथा करना है। **जीवन के सच्चे मूल्यों को व्यक्त करने वाला कोई भी कार्य उस अहंकार के उच्छेद में सहायक होता है जो सदियों के अज्ञानपूर्ण कार्यों का परिणाम है।** जीवन अहंकार के पिंजड़े में सदैव के लिये क़ैद नहीं रह सकता, उसे मुक्ति की दिशा में, कभी न कभी, प्रयत्न करना ही होगा।

**अहंकार केन्द्र का उच्छेद सही मूल्य निरूपण के द्वारा सम्भव है।**

विकास की परिपक्व अवस्था में, यह महत्वशाली बोध प्राप्त होता है कि **अहंकार के विवर्तनकाल चारों ओर चक्कर काटने से न तो जीवन समझा जा सकता है और न पूर्णतः रहा जा सकता है, और अपने अनुभव के तर्क से प्रेरित होकर ही मनुष्य अनुभव के यथार्थ केन्द्र को खोजने के लिए और जीवन को सत्य में पुनर्व्यवस्थित करने के लिए उत्साहित होता है।** किन्तु इसके लिए अहंभाव को जर्जरीभूत करके उसकी जगह सत्य चेतना को प्रतिष्ठित करना पड़ता है। अहंकार का उच्छेद सत्यानुभूति की शर्त है। **जीवन की सच्ची पूर्णता तथा एकता प्राप्त करने के लिए दृढ़ीभूत संस्कारों की झूठी नींव को उखाड़ना आवश्यक है।**

# अहंकार का स्वभाव तथा उसका अंत

### (भाग 2)

**अहंकार पार्थक्य की स्वीकृति की घोषणा है।**

**अहंकार पार्थक्य की ''मैं'' स्वीकृति की घोषणा है।**

अहंकार पार्थक्य की स्वीकृति की घोषणा है। वह अनेक रूप धारण करता है। वह अविच्छित आत्म–चेतन स्मृति का रूप धारण करके इस प्रकार के स्मरणों के द्वारा व्यक्त हो सकता है जैसे ''मैने यह किया और मैंने वह किया, मैंने इसको अनुभव किया और मैंने उसको अनुभव किया, मैंने यह सोचा और मैंने वह सोचा''। वह ऐसी भविष्य–सम्बन्धी अहंकार केन्द्रित आशाओं का रूप भी धारण कर सकता है जो भावी कार्यक्रमों के द्वारा अपने को व्यक्त करती हैं जैसे, ''मैं यह करूँगा ओर वह करूँगा, मैं इसका अनुभव करूँगा, और मैं उसका अनुभव करूँगा, मैं यह सोचूँगा और मैं वह सोचूँगा''। और फिर वर्तमान काल में अहंकार औरों से भिन्न कोई विशिष्ट व्यक्ति होने की प्रबल भावना का अनुभव करता है ओर चेतना के अन्य केन्द्रों से अपनी विशिष्टता तथा पार्थक्य की घोषणा करता है। **यद्यपि अहंकार कुछ समय तक चेतना की उन्नति और वृद्धि के लिए उपयोगी होता है, तथापि पार्थक्य की**

**स्वीकृति घोषणा के रूप में आगे चलकर वह चेतना के आध्यात्मिक उद्धार स्वज्ञान–प्राप्ति के मार्ग का सबसे बड़ा विघ्न बन जाता है।**

तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय या ईर्ष्या के द्वारा अहंकार अपने पार्थक्य की घोषणा करता है। जब मनुष्य दूसरों के संग की तृष्णा करता है तो पृथक् होने का उसे तीव्रता–पूर्वक बोध होता है और इस प्रकार वह अपनी पृथकता का तीक्ष्ण अनुभव करता है। जब तृष्णा प्रबल और अटूट होती है तब दूसरे से पार्थक्य की भावना भी प्रचण्ड होती है। घृणा ओर क्रोध में भी मनुष्य मानो अपने खुद के अस्तित्व से बहिष्कृत कर देता है। और वह न केवल पराया माना जाता है, किन्तु अहंकार के संवर्धन का शत्रु समझा जाता है। भय भी पार्थक्य की घोषणा का एक सूक्ष्म रूप है और **द्वैत भाव का शमन न होने पर वह अस्तित्व में आता है।** घृणा "मैं" और "तुम" के बीच में एक घने आवरण का काम करती है। वह दूसरे के प्रति घोर अविश्वास की वृद्धि ही नहीं कर जाती किन्तु उसका परिणाम **भय की वस्तु को अपने जीवन प्रसंग से बहिष्कृत करने की गरज़ से उसकी ओर से चेतना का संकोच तथा उपक्रमण के रूप में प्रकट होता है।** अतएव अन्य जीवों से ही नहीं किन्तु ईश्वर से भी प्रेम करना चाहिए, भय नहीं। ईश्वर या उसकी अभिव्यक्तियों से भय करना द्वैत को मज़बूत करना है; उन्हें प्रेम करना द्वैत को कमजोर करना है।

**बहिष्कार मूलक भावना अहंकार की ख़ुराक है।**

पार्थक्य की भावना ईर्ष्या घृणा के रूप में उग्रतापूर्वक व्यक्त होती है। दूसरे आत्माओं को प्रेम करना तथा उनसे आत्मीयता स्थापित करना मानवीय आत्मा की एक गम्भीर एवम् अनिवार्य आवश्यकता है। तृष्णा, घृणा, क्रोध तथा भय के कारण वह आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती है। ईर्ष्या में दूसरों से तादात्म्य अनुभव करने की इस गम्भीर तथा अवारणीय आवश्कयता की पूर्ति नहीं होती और साथ ही विश्वास हो जाता है कि किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ ली है जिस के साथ दरअसल वह स्वयं आत्मीयता जोड़ता है। अतः ऐसे सम्बन्ध का, जो मन खास तौर से केवल उसी के लिए सुरक्षित था, दूसरों को उपयोग करते देखकर वह उन दोनो का घोर प्रतिवाद करता है। **तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय तथा ईर्ष्या जैसी समस्त बहिष्कार मूलक भावनाएं जीवन को संकुचित बनाती हैं। तथा चेतना को संकीर्ण और सीमाबद्ध करती हैं। वे पार्थक्य घोषणा के प्रत्यक्ष साधन हैं अतः परिणामतः अहंकार की पोषक है।**

**ईर्ष्या की जटिलताएं अहंकार को दृढ़ करती है।**

बहिष्कार–मूलक पृथक अस्तित्व से प्रभावित प्रत्येक विचार, भावना या कार्य बाँधते हैं। ऐसे छोटे या बड़े तमाम अनुभव तथा–अच्छे या बुरे सभी मनोरथ संस्कारों का एक बोझ पैदा करते हैं और "अहम" भाव का पोषण करते है। **अहंकार को क्षीण करने वाला एकमात्र अनुभव प्रेम है तथा पार्थक्य को नष्ट करने वाली एकमात्र आकाँक्षा ईश्वर मिलन की आकाँक्षा है।**

**प्रेम अहंकार को क्षीण करता है।**

तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय तथा ईर्ष्या सभी बहिष्कार मूलक रूख़ हैं जो अपने तथा शेष दूसरों के जीवन के बीच में एक खाई की सृष्टि करते हैं। **केवल प्रेम ही एक ऐसा समावेश कारक रूख़ है जो इस स्व–रचित तथा कृत्रिम खाई पर पुल बाँधता है और जो मिथ्या कल्पना कृत पार्थक्य मूलक अंतराल को तोड़ता है।** प्रेम भी लालायित रहता है, किन्तु वह प्रियतम से मिलने के लिए लालायित रहता है, और प्रियतम मिलन की खोज या अनुभव में अहं भाव दुर्बल होता है। प्रेम में, "मैं" आत्म–सुरक्षा का विचार नहीं करता, जैसे पतंगा आग में जल जाने का भय नहीं करता। **अहंकार दूसरे से पृथक होने का द्योतक है, और प्रेम दूसरे से एक होने का द्योतक है। अतः सच्चे प्रेम के ही द्वारा अहंकार का नाश हो सकता है।**

विभिन्न प्रकार की इच्छाएं अहंकार के उपकरण हैं। इच्छाओं की असफलता अहंकार की असफलता है और इच्छाओं की सफलता अहंकार की सफलता है। **पूर्ण इच्छाओं तथा अपूर्ण इच्छाओं दोनो के द्वारा अहंकार की वृद्धि होती है।** इच्छाओं के ज्वार में कभी कभी जो तुलनात्मक शान्ति आ जाती है वह भी अहंकार का पोषण ही करती है और ऐसे प्रसंगो पर अहंकार अपने को इच्छा–शून्य समझने लगता है। तथा इस प्रकार वह अपनी पृथक सत्ता की घोषणा करता है। **किन्तु यथार्थ में जब इच्छाओं का अन्त हो जाता है तब किसी भी प्रकार की पार्थक्यानुभूति की घोषणा की इच्छा का अन्त हो जाता है।** अतएव समस्त इच्छाओं से मुक्ति की प्राप्ति अहंकार के अस्तित्व की समाप्ति है। नाना–विध इच्छाओं से अहंकार का निर्माण होता है और इच्छाओं का ध्वंस अहंकार का नाश है।

**अहंकार का निर्माण इच्छाओं से होता है।**

अहंकार के उच्छेद या चेतना के उद्धार की समस्या बड़ी जटिल समस्या है क्योंकि अहंकार की सारी जड़ें, सुप्त प्रवृत्तियों के रूप में, उपचेतन मन के भीतर धँसी रहती हैं, और ये प्रसुप्त प्रवृत्तियाँ प्रकट चेतना की पहुँच के बाहर रहती हैं। प्रकट चेतना में व्यक्त होने वाला सीमित अहंकार, अहंकार के यथार्थ स्वरूप का केवल एक छोटासा खण्ड है। अहंकार

**अहंकार की जड़ें उपचेतन मन में रहती हैं।**

समुद्र में तैरती हुई विशाल हिम राशि के समान है। हिमराशि का लगभग आठवां हिस्सा पानी की सतह के ऊपर रहता है ओर शेष दर्शक को दिखाई नहीं देता। **इसी प्रकार असली अहंकार का एक छोटा अंश व्यक्त "मैं" के रूप में प्रकट होता है किन्तु उसका बड़ा भारी भाग उपचेतन मन के भीतर अव्यक्त तथा प्रच्छन्न रहता है।**

चेतना के प्रत्ययीभूत परिस्फुट अहंकार सम नहीं होता। यह विरूद्ध प्रवृत्तियों के संघर्ष का रण–क्षेत्र बन सकता तथा बन जाता है। किन्तु प्रवृत्तियों के कई द्वन्द्वों को एकसाथ प्रकट करने की योग्यता उसमें नहीं होती। वाक्कलह या खुले झगड़े के लिए दो मनुष्यों में कम से कम बोलचाल का होना आवश्यक है, किन्तु यदि उनमें बोलचाल ही बन्द है तो फिर दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले किसी समान विषय पर उनका झगड़े में पड़ना ही नामुमकिन हो जाता है। ठीक इसी प्रकार दो विरूद्ध प्रयुक्तियों के बीच प्रकट युद्ध के लिये दोनो से सम्बन्ध रखने वाले एक समान विषय का होना आवश्यक है। किन्तु यदि वे एक दूसरे से बिलकुल विषम हैं तथा उन दोनो में कुछ भी साम्य नहीं है तो फिर **विरोधी प्रवृत्तियों** की हैसियत से भी चेतना के रणक्षेत्र में उसका प्रविष्ट होना असम्भव हो जाता है, और वे उपचेतन मन में तब तक विलुप्त पड़े रहते हैं जब तक चेतन मन से सम्बद्ध विभिन्न क्रिया प्रतिक्रिया के अभाव से संशोधित नहीं हो जाते है।

**अहंकार का विधान विषम होता है।**

यद्यपि अहंकार का समूचा विधान सर्वथा विषम होता है, तथापि **उपचेतन मन के अस्फुट अहंकार की अपेक्षा चेतन मन का परिस्फुट अहंकार कम विषम होता है और चेतना में प्रकट होने का प्रयत्न करने वाली विच्छिन्न उपचेतन प्रवृत्तियों के विरूद्ध वह एक भयंकर बाधक के रूप में कार्य करता है।** इस प्रकार परिस्फुट चेतना का व्यवस्थित अहंकार एक ऐसा निरोधी विघ्न है जो अस्फुट अहंकार के नाना अवयवों के चेतना में प्रविष्ट होने में रूकावट पैदा कर देता है। अहंकार की सभी समस्यायें बुद्धि समेत एवम् चेतन कार्य के ही द्वारा सुलझाई जा सकती है। **अतः अहंकार का पूर्ण उन्मूलन सिर्फ़ तभी सम्भव है जब अहंकार के सभी अवयव बुद्धि की आग में प्रवेश करें।**

**परिस्फुट तथा अस्फुट अहंकार**

परिस्फुट अहंकार के अंग–प्रत्यगों पर बुद्धि की क्रिया महत्वपूर्ण है। किन्तु वह स्वयमेव पर्याप्त नहीं है। उपचेतन मन के अस्फुट अहंकार के अवयवों को भी येनकेनप्रकारेण चेतना की सतह पर लाया जाना तथा उनका परिस्फुट अहंकार का ही भाग बन जाना और उन पर बुद्धि की क्रिया का होना आवश्यक है। अस्फुट अहंकार

को चेतन मन में लाने के लिये परिस्फुट अहंकार को इस प्रकार निर्बल करना जरूरी है जिससे उपचेतन मन में निवास करने वाली इच्छाओं और प्रवृत्तियों को चेतना में प्रवेश पाने तथा प्रकट होने का अवसर प्राप्त हो। निषिद्ध या निरूद्ध प्रवृत्तियों के आगमन से परिस्फुट अहंकार की जटिलता तथा संघर्ष में वृद्धि हो जाती है। अतः अहंकार के नाश के पूर्व संघर्ष शान्त नहीं हो जाते, प्रत्युत अत्यधिक प्रचण्ड हो जाते हैं। **तथापि, उग्र एवं प्रचण्ड संघर्ष के समाप्त होने पर, अर्थात अहंकार की हिमराशि के पूर्णतः घुल जाने के पश्चात यथार्थ सम्भारता या अजेय समता की अवस्था उपलब्ध होती है।**

**अजेय समता की प्राप्ति के लिये संघर्ष का प्रवाह प्रचण्ड होना अनिवार्य है।**

उपचेतन मन के गहरे स्तरों के भीतर से अहंकार की गड़ी हुई जड़ों को खोद कर बाहर निकालना तथा उन्हें चेतना के प्रकाश में बाहर लाना अहंकार को छिन्नमूल करने की विधि का एक महत्वपूर्ण भाग है। दूसरा महत्वपूर्ण भाग है इच्छाओं के चेतना के रणक्षेत्र में प्रविष्ट होने के **पश्चात** उनका बुद्धि सम्मत सम्पादन करना। परिस्फुट चेतना के अवयवों से निपटने का तरीक़ा कोई सीधा और सरल तरीक़ा नहीं है, क्योंकि अनुभव द्वन्द्व के **किसी एक** पहलू पर आश्रित होने की अहंकार की प्रवृत्ति होती है और जब वह द्वन्द्व के एक पहलू से निकाल बाहर किया जाता है तो वह उसके दूसरे पहलू का आश्रय लेता है और उसी के सहारे जीता है। **इस प्रकार लगातार बारी–बारी से द्वन्द्व के एक से फिर दूसरे पहलू का आश्रय लेकर अहंकार विवेक के आक्रमण से छलपूर्वक बचता रहना है और अपनी सत्ता को स्थायी बनाने का उद्योग करता है।**

**अहंकार द्वन्द्व के सहारे जीता है।**

अहंकार असंख्य फन वाले जल सर्प के समान है और वह असंख्य प्रकार से प्रकट होता है। **किसी भी** प्रकार के अज्ञान के सहारे वह जीता है। अभिमान एक विशिष्ट भाव है जिसके द्वारा अहंकार व्यक्त होता है। मनुष्य अनेक महत्वशून्य एवं तुच्छ वस्तुओं का अभिमान कर सकता है इस बात की पुष्टि उन मनुष्यों के उदाहरणों से होती है जो अनेक असुविधायें झेल कर भी अपने नखों को ज़रूरत से ज्यादा बढ़ाते हैं। वे नाखून उनकी पार्थक्यानुभति की घोषणा के उपकरण का काम करते हैं। अहंकार हास्यास्पद ढंग से अपनी उपलब्धियों को बढ़ाचढ़ाकर ज़ाहिर करता है। समाज में आत्म–स्तुति के द्वारा अहंकार की प्रत्यक्ष तरीक़े से घोषणा तो एक बहुत मामूली बात है। किन्तु जहाँ–जहाँ एक ऐसी प्रत्यक्ष घोषणा शिष्टाचार के नियमों के विरूद्ध है वहाँ अहंकार

**अहंकार अंसख्य फनयुक्त जल–सर्प के समान है।**

स्वभावतः अप्रत्यक्ष रीति से, पर–निन्दा के रूप में अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। पर–भर्त्सना आत्म–श्लाघा का एक अप्रत्यक्ष तरीक़ा है। **दूसरों की बुराई** दिखलाना अपना बड़प्पन प्रकट करना है। छिद्रान्वेषण दूसरों के साथ अपनी तुलना की एकता की **सूचना है।** कुछ कारणों से जब मनुष्य खुले तौर पर दूसरों से अपनी तुलना कर नहीं सकता है तब वह पर–निन्दा में प्रवृत्त होता है।

**अहंकार की चालाकियाँ**

अहंकार **अपने को चिरस्थायी** करने के कार्य में सदैव तत्पर रहता है। किसी भी प्रकार के तथा प्रत्येक प्रकार के सम्भव साधनो के द्वारा जीवित रहना तथा बढ़ना उसका स्वभाव है। **यदि एक दिशा में उसका ह्रास किया जाता है तो वह उसकी कसर दूसरी दिशा में अपनी वृद्धि करके निकाल लेता है। यदि वह आध्यात्मिक विचारों और कार्यों के प्रवाह से ओतप्रोत होता है तब वह इसी शक्ति का आश्रय ग्रहण करके अपनी वृद्धि करता है। कहना न होगा कि इस शक्ति का उपयोग आरम्भ में अहंकार के लिये किया जाता है किन्तु परिणामतः अहंकार इसी के बल जीने लगता है।** अहमन्यता के विशाल कार्यभार से छुटकारा पाने के लिये यदि कोई मनुष्य अपने स्वभाव में नम्रता के गुण की वृद्धि करता है तो अहंकार आश्चर्य **जनक क्षिप्रता के साथ नम्रता के गुण को ही अपना आधाराश्रय बना लेता है।** वह लगातार मैं आध्यात्मिक हूँ– की घोषणाओं पर आसक्त हो जाता है। प्राथमिक अवस्था में वह अपनी इसी अहम्मन्यता का प्रदर्शन आध्यात्मिकता में रूचि नहीं है की घोषणाओं के द्वारा करता था। इस प्रकार **आध्यात्मिक अहंकार** की उत्पत्ति होती है। उच्च एवम् आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति के द्वारा अपनी पृथक्ता का अनुभव करने से इस आध्यात्मिक अहंकार की उत्पत्ति होती है। किन्तु सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि में इस प्रकार का आध्यात्मिक अहंकार यशलिप्साजन्य प्राथमिक तथा अपरिपक्व अहंकार के ही समान बंधनकारक है।

**गुरिल्ला युद्ध**

आध्यात्मिक पथ की अधिक उन्नत स्थितियों में, वस्तुतः अहंकार **प्रकट तरीक़ों** के द्वारा आत्म–चिरस्थायीकरण की चेष्टा नहीं करता। किन्तु उन्हीं वस्तुओं का आश्रय ग्रहण करता है जो उसके विनाश के लिये अपनायी जाती है। अहंकार की ये चेष्टायें युक्तिकौशल गुरिल्ला युद्ध के समान हैं और इनका प्रतिकार करना महा कठिन है। चेतना से अहंकार को खदेड़ने का कार्य बड़ा कठिन तथा विषम है। सदा किसी एक ही प्रकार की क्रिया के करने से अहंकार का नाश नहीं हो सकता। जैसा अहंकार का स्वभाव जटिल होता है, वैसा ही उसके नाश

का तरीक़ा भी जटिल होता है। चूँकि अपनी सत्ता को क़ायम रखने तथा आत्मप्रपंच पैदा करने की अहंकार के लिये असंख्य सम्भावनायें हुआ करती हैं; अतः अहंकार के चित्र विचित्र नवीन रूपों की अनन्त वृद्धि का मुक़ाबला करना जिज्ञासु के लिये असम्भव हो जाता है; और **वह सद्‌गुरु के अनुग्रह और सहाध्य के द्वारा ही स्वतः को अहंकार की भ्रमपूर्ण चालाकियों से सफलतापूर्वक निबाहने की आशा कर सकता है।**

**गुरु अन्तिम सहारा है।**

प्रायः यह देखा गया है कि जिज्ञासु के समस्त प्रयत्न जब निष्फल हो जाते है, तभी वह गुरु के पास जाता है। वह अपने प्रयत्नों से उस लक्ष्य की ओर प्रगति करने में असफल हो जाता है, अस्पष्टतः जिसे देखता है और जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। अहंकार को अधिकाधिक विकट रूप धारण करके प्रकट होते देखकर वह वृद्ध और क्षुब्ध हो उठता है; और **अपनी इस असहायता का स्पष्ट दर्शन करके ही वह गुरु को आत्मसमर्पण करता है।** गुरु उसका एक अन्तिम सहारा होता है। आत्म–समर्पण का अर्थ मानो यह स्वीकार करना है कि स्वयं अपने ही प्रयत्नों के द्वारा अहंकार की समस्या के सुलझाने की सारी आशायें जिज्ञासु ने त्याग दी हैं। और एक अन्तिम सहारे के बतौर वह गुरु की शरण में आया है। जिज्ञासु मानो यह कहता है, इस अहंकार के अधम अस्तित्व का अन्त करने मैं असमर्थ हूँ, अतः आपसे विनय करता हूँ कि आप मध्यस्थ हों और इसका वध करें। अहंकार को छिन्नमूल करने की अन्य अनेक चेष्टाओं और उपायों की अपेक्षा गुरु की शरणागति अधिक लाभदायक है। जब गुरु की अनुकम्पा से अहंकार रूपी अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है, तब सत्य की उषा का उदय होता है। सत्य ही सारी सृष्टि का लक्ष्य है।

# अहंकार का स्वभाव और उसका अंत

(भाग 3)

## अहंकार के रूप और उनका लोप

अहंकार सत्ता, यश, सामर्थ्य प्राप्तियों एवम् उपलब्धियों जैसे सांसरिक अधिकारों द्वारा पोषित होता है। ''मेरा'' का विशिष्ट अनुभव करने के लिये वह ''तेरा'' को उत्पन्न और स्वीकार करता है। तथापि सभी क़िस्म के सांसरिक पदार्थो को ''मेरा'' कहकर अपनाने के बावजूद वह सदैव अपने को रिक्त और अपूर्ण अनुभव करता है और अपूर्णता की पूर्ति करने के लिये वह अधिकाधिक संचय के द्वारा अपनी क़िले बन्दी करता है। वह अपने तमाम अधिकारों की सेनायें इकट्ठी करके तुलना करता है उनसे जो उससे किसी बात में हीन होते हैं। इस प्रकार दूसरों को हानि पहुँचाकर भी वह अपने अधिकारों का उपयोग अनियिंत्रित एवम् अनावश्यक आत्मप्रदर्शन करने के लिये करता है। इन भौतिक अधिकारों के प्रति अनासक्त होने **के बजाय** वह अपनापन का अधिक तीव्र अनुभव करके संतोष लाभ करता है और इस प्रकार तीव्र अनुभव करने के लिये वह दूसरों के अधिकारों के विरूद्ध अपने निजी अधिकारों की विषमता और विशिष्टता प्रकट करता है। **अहंकार पार्थक्यानुभूति की घोषणा है और वह ''मेरा'' के विचार पर जीता है।**

**अहंकार, ''मेरा'' के विचार पर जीता है।**

अहंकार अपने को औरों से पृथक् तथा अद्वितीय अनुभव करना चाहता है और वह या तो ऐसे व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है जो दूसरो की अपेक्षा निश्चिततः श्रेष्ठ है या ऐसे व्यक्ति के रूप में जो औरों से निश्चिततः हीन है। **जब तक अहंकार का अस्तित्व रहेगा तब तक द्वैत की अप्रत्यक्ष पृष्ठभूमि भी विद्यमान रहेगी** और द्वैत की पृष्ठभूमि जब तक कायम रहेगी तब तक दूसरों के सादृश्य निरूपण तथा वैषम्य– निर्धारण की मानसिक क्रियाओं की पूर्ण समाप्ति नहीं हो सकती। अतः वे बिरले मनुष्य, जो दूसरो से अपनी समानता का अनुभव करते हैं, इस नियम के अपवाद नहीं है क्योंकि इनकी समानता की भावना सुरक्षित एवम् दृढ़ नहीं होती। यह भावना "मैं" तथा "तुम" की विशिष्टता से सदैव के लिये छुटकारा पा जाना सूचित नहीं करती किन्तु अहंकार के इन दो रूख़ों के बीच के अवस्थांतर को प्रकट करती है।

**अहंकार के प्रकार**

समानता का भाव इस सूत्र के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है में औरों से किसी प्रकार न तो श्रेष्ठ हूँ और न हीन हूँ। **यह अहंकार की निषेधात्मक घोषणा है।** श्रेष्ठता की भावना के प्राधान्य या हीन की भावना के बीच की तुल्यभारता निरन्तर डाँवाडोल होती रहती है और इस खोई हुई समभारता को पुनः स्थापित करने के लिये समता के भाव का उदय होता है। **समानता के रूप में होनेवाली अहंकार की निषेधात्मक घोषणा एकता के भाव से सर्वथा भिन्न है।** एकता का भाव आध्यात्मिक स्वातंत्र्य के जीवन का लक्षण है। यद्यपि समानता के भाव को अनेक सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्शों का आधार बनाया जाता है **तथापि सच्चे सहयोग और यथार्थ सहकारिता के जीवन की शर्तें तभी पूरी होती हैं जब कोरी समानता के भाव की जगह समस्त जीवन की एकता की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है।**

**समानता का भाव**

श्रेष्ठता की भावना तथा हीनता की भावना मानो एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रियाएं हैं। और समानता की कृत्रिम भावना मानो दोनो के प्रति प्रतिक्रिया है। और इन तीनो पद्धतियों का आश्रय लेकर अहंकार औरों से अपनी पार्थक्यानुभूति की घोषणा करने में सफल होता है। **श्रेष्ठता की भावना (Superiority Complex) तथा हीनता की भावना (Inferiority Complex) अधिकाश में एक दूसरों से असंलग्न रहती हैं और उपर्युक्त प्रसंगों के द्वारा बारी–बारी से तथा अलग–अलग अपने को अभिव्यक्त करती हैं।** जैसे मनुष्य जिन्हें अपने से हीन समझता है उनपर अपना रोब गाँठता है तथा जिन्हें अपने से श्रेष्ठ समझता है उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। किन्तु इन विरोधी भावनाओं के बर्ताव वैषम्य के

दो भावनायें

द्वारा बारी–बारी से अभिव्यक्त होने से उनका ह्रास या लोप नहीं होता, प्रत्युत उनकी वृद्धि होती जाती है।

जब मनुष्य किसी ऐसे मनुष्य से मिलता है जो संसारिक अधिकारों में उससे विशेषतया हीन होता है तब उसकी श्रेष्ठता की भावना उत्तेजित होती है। **अनेक वस्तुओं को अधिकृत करने के बावजूद अहंकार को अपने भीतरी खोखलेपन का सदैव अनुभव हुआ करता है। अतएव दूसरों के अधिकारों की अपेक्षा अपने अधिकारों की श्रेष्ठता का अपने समक्ष तथा औरों के समक्ष प्रदर्शन करके वह अपनी सम्पन्नता के सुखद भ्रम पर आसक्त हो जाता है।** यह वैषम्य निर्धारण केवल मानसिक तुलना तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु बहुधा उपयुक्त प्रसंगो के बहाने प्रकट संघर्ष के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार आक्रमणशीलता अहंकारिक जीवन की दैन्यपूर्ति की आवश्यकता का स्वाभाविक परिणाम है।

**श्रेष्ठता की भावना**

जब मनुष्य किसी ऐसे मनुष्य से मिलता है जो भौतिक अधिकारों में उससे विशेषतः श्रेष्ठ होता है तब उसकी हीनता की भावना उत्तेजित होती है और वह उसकी वश्यता स्वीकार कर लेता है। किन्तु उसकी यह वश्यता या तो भय से उत्पन्न होती है या स्वार्थपरता से। वह स्वाभाविक या स्वेच्छामूलक हरगिज़ नहीं होती, क्योंकि दूसरे के प्रति उसके मन में प्रच्छन्न ईर्ष्या ही क्या, घृणा भी विद्यमान रहती है, इसीलिये कि उसके अधिकार में वे वस्तुयें हैं जो दरअसल स्वयं इसके अधिकार में रहना चाहिये थीं। दबाव से उत्पन्न होनेवाली बाहरी वश्यता हीनता की भावना का केवल परिणाम है। **अहंकार को रिक्तता का जो अनुभव होता है उसका कारण उसके उन अधिकारों के द्वारा पूर्ति खोजने की उसकी नितान्त दुष्टता ही है। अतः अपनी अधिकार हीनता की मिथ्या भावना के कारण वह अपने अधिकारों की जी–जान से अधिकाधिक वृद्धि करने के लिये प्रेरित होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह तमाम सम्भव साधनो का उपयोग करता है। इस प्रकार श्रेष्ठता तथा हीनता की दोनो प्रकार की भावनाएं स्वार्थपरता तथा सामाजिक उच्छृंखलता को बढ़ाने में सहायक होती हैं। इन दोनो के द्वारा जिस अनुपात में आत्मा की दरिद्रता बढ़ती है उसी अनुपात में अहंकार–मूलक अज्ञान बढ़ता है।**

**हीनता की भावना**

जब मनुष्य गुरु के सम्पर्क में आता है और उसकी अहंकारशून्य पूर्णता स्वीकार करता है तब स्वेच्छा से उसकी शरण में आ जाता है और उसके हाथों मे अपना आत्मसमर्पण कर देता है क्योंकि वह अहंकार को चिरस्थायी अज्ञान, अशान्ति और संघर्ष का मूल कारण समझता है और उसका अन्त करने में अपनी असमर्थता भी महसूस करता है। यह शरण

ग्रहण यह जानकर किया जाता है कि गुरु उसका आदर्श है। अतः गुरु की शिष्य के साथ मौलिक आत्मीयता है। इस प्रकार का आत्मसमर्पण किसी भी प्रकार से आत्म–विश्वास खो देने का सूचक नहीं है, प्रत्युत वह गुरु की सहायता से समस्त विघ्नो पर अन्तिम विजय प्राप्त करने के विश्वास का द्योतक है। **गुरु की दिव्यता को स्वीकार करके तथा उसका अनुभव करके शिष्य की अंतरात्मा अपने गौरव को प्रकट करती है।**

**गुरु का शरण ग्रहण करना हीनता भावना से सर्वथा भिन्न है।**

अहंकार के उपर्युक्त दो प्रधान रूपों को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट करने के इरादे से गुरु जानबूझकर इन दोनो भावनाओं को बारी–बारी से उत्तेजित करता है। यदि शिष्य हिम्मत हारकर अपनी खोज त्याग देने की सीमा तक पहुँच जाता है तब गुरु उसमें प्रबल आत्म–विश्वास जाग्रत करता है। तब वह इस नयी रूकावट को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करके नष्ट–भष्ट करता है, जिसमें शिष्य अपनी अयोग्यता या व्यर्थता को पहचानने तथा मानने को मजबूर हो। इस प्रकार गुरु **अपने प्रभाव से शिष्य को इस तरीक़े से प्रभावित करता है जिससे अहंकार के नष्ट होने की विधि शीघ्रगति से सम्पन्न हो जाय और अहंकार अन्त में पूर्ण रूप से नष्ट हो जाये।**

**गुरु की मध्यस्तता**

श्रेष्ठता की भावना तथा हीनता की भावना को चतुराई के साथ एक दूसरे से सम्बद्ध करना चाहिये ताकि वे एक दूसरे का प्रतिकार कर सकें। इसके लिये ऐसी आंतरिक व्यवस्था आवश्यक है जिससे दोनो भावनाएं एकही समय तथा एक ही साथ इस प्रकार अपने को अभिव्यक्त कर सकें कि एक की अभिव्यक्ति के लिये दूसरे का दमन न करना पड़े। जब गुरु के साथ वैद्युतिक एवम् सजीव सम्बन्ध स्थापित होता है तब श्रेष्ठता तथा हीनता की भावनाएं एक साथ ही अभिव्यक्त होती हैं और वे इतनी कुशलता के साथ एक दूसरे से सम्बद्ध की जाती हैं कि वे एक दूसरे का प्रतिकार करती हैं। शिष्य सोचता है कि वह स्वयं तो **कुछ भी नहीं है** किन्तु गुरु में तथा गुरु के द्वारा वह **सब कुछ है। इस प्रकार एकही आघात से दोनो भावनाओं में खींचतान पैदा हो जाती है और वे दोनो एक दूसरे को नष्ट करती हैं।** गुरु के प्रति अपने आपको व्यवस्थित करने के प्रयत्न से शिष्य इन दोनो वैषम्य मूलक भावनाओं को छिन्नमूल करने में समर्थ होता है। इन दोनो प्रतिकूल भावनाओं के नष्ट होने के साथ ही साथ अहंकार के प्रायः समस्त अंतराय नष्ट–भष्ट हो जाते हैं। पार्थक्य के अंतगयों के नष्ट–भष्ट होते ही दिव्य प्रेम का आविर्भाव होता है और दिव्य प्रेम के आविर्भूत होते ही "तुमसे" विशिष्ट "मै" की भेदमूलक भावना "तुम" एवम् "मैं" दोनों के ऐक्य की भावना में विलीन हो जाती है।

**गुरु के प्रति अपने को व्यवस्थित करने से श्रेष्ठता तथा हीनता की भावनाएं पारस्परिक खींचतान से नष्ट हो जाती है।**

गन्तव्य स्थान की ओर मोटर के चलते रहने के लिये ड्राइवर आवश्यक है। किंतु ड्राइवर चंचल मति का हो सकता है। वह राह की चित्ताकर्षक वस्तुओं पर इतना आसक्त हो सकता है कि न केवल बीच के स्थानों में अनिश्चित काल के लिये रुकता जाता है किन्तु अस्थायी सौदर्य वाले पदार्थों की खोज तलाश में बाजू के रास्ते में ही भटकता रह सकता है। इस अवस्था में भी उसकी मोटर तो चलती रहती है किन्तु लक्ष्य स्थान के समीप आना तो दूर होता जाता है। जब अहंकार मानवीय चेतना का सफल और पथप्रदर्शन का कार्य करता है तब क़रीब क़रीब ऐसा ही हुआ करता है। अहंकार उस ड्राइवर के समान है जिसकी मोटर पर कुछ न कुछ योग्यता रहती है किन्तु जिसे मोटर के अन्तिम लक्ष्य स्थान का ज़रा भी ज्ञान नहीं रहता।

**ड्राइवर का सादृश्य**

मोटर के गन्तव्य स्थान में पहुँचने के लिये एंजिन को व्यवस्थित रखने और संचालित कर सकने वाले ड्राइवर का होना ही पर्याप्त नहीं है। ड्रायवर में मोटर को लक्ष्यस्थान की ओर चलाने की योग्यता का होना भी निहायत ज़रूरी है। जब तक चेतना का एकमात्र संचालक अहंकार रहता है तब तक मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा ख़तरे से पूर्ण रहती है क्योंकि अहंकार स्वभावतः कल्पनाकृत मिथ्या पार्थक्य भाव को दृढ़ करता है। अतः अहंकार केन्द्रित क्रियाओं के बावजूद भी, चेतना अपने स्वनिर्मित अत्याधिक कारागार में क़ैद हो जाती है। बन्धनो से मुक्त करने में उसके समर्थ होने के लिये जिसके लिये वस्तुतः वह (चेतना) अस्तित्व में आई है, यह नितान्त आवश्यक है **कि वह अपना संचालक वेग अहंकार से प्राप्त न करे किन्तु किसी दूसरे सिद्धान्त से प्राप्त करे।** कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्य से अनभिज्ञ चंचल मति ड्राइवर की जगह कुशल और ज्ञानवान ड्राइवर की नियुक्ति हो, जिसे अन्तिम लक्ष्य का पूरा–पूरा ज्ञान है, जो राह के अस्थायी सौंदर्य के प्रति आकर्षित नहीं होता और जो स्टेशनों और पार्श्ववर्ती प्रलोभनों पर मुग्ध होकर रुक नहीं जाता, किन्तु जो अद्वैत के अपने अन्तिम लक्ष्य पर अपनी दृष्टि रखता है और जो वहाँ पहुँचे बिना कहीं नहीं ठहरता। **मन का महत्वशून्य पदार्थों की ओर से हटकर महत्वपूर्ण पदार्थों पर अनन्यभाव से केन्द्रित होना मानो अज्ञानी ड्राइवर की जगह में ज्ञानी ड्राइवर की नियुक्ति है और जिस अनुपात में** मन निस्सार वस्तुओं से हटता है उसी अनुपात से क्रमशः अहंकार का नाश होता जाता है और सत्य अधिकाधिक समीप आता जाता है।

यदि अहंकार मानवीय अनुभव की पूर्णता का मात्र साधन हुआ होता और इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी न होता, तो अहंकार की क्रिया को केवल अग्रसर करने से ही मनुष्य अन्तिम सत्य पर आरूढ़ होता। किन्तु चेतना के विकास में विशिष्ट भाग लेने

के साथ ही साथ अहंकार अज्ञान के एक ऐसे सक्रिय सिद्वान्त का प्रतिनिधित्व करता है जो आगे चलकर आध्यात्मिक उन्नति को अवरुद्ध कर देता है। **अहंकार अनुभव की पूर्णता के लिये प्रयत्न करता है किन्तु वह पार्थक्य के मिथ्या विचार से पूर्णता प्राप्त करता चाहता है। क्योंकि उसके भवन की नींव ही भ्रम होती है, अतः भ्रम के ऊपर भ्रम की रचना करके वह एक भ्रम की इमारत तैयार करने में सफल होता है।**

**अहंकार मिथ्या विचार से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है।**

अहंकार की क्रिया से सत्य की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती किन्तु यथार्थ में सत्य की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। सत्य की ओर तभी पहुँचा जा सकता है जब अहंकार की अध्यक्षता में पूर्णता की खोज न की जाय। **पार्थक्य मूलक अज्ञान को त्यागकर पूर्णता प्राप्त करने की क्रिया से ही सत्य की प्राप्ति सम्भव है।**

जब तक मानव जीवन द्वैत की सीमा के अन्तर्गत है तब तक अनुभव पूर्णता की खोज करता रहेगा। यह अनिवार्य है और यह बौद्धिक जीवन का लक्षण है। किन्तु अहंकार अज्ञान है अतः उसे पूर्णता का केन्द्र मानना ग़लत है उसे त्यागने पर ही सच्ची पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है। अहंकार का केन्द्र तभी त्यागा जा सकता है जब कोई **नया** केन्द्र प्राप्त हो। यह **नया** केन्द्र ऐसा होना चाहिये जो पार्थक्य के अज्ञान से रहित हो ओर जिसके आश्रय से जीवन के समस्त मूल्यों की उपलब्धि हो सके। कहना न होगा कि अहंकार केन्द्र के रिक्तस्थान की पूर्ति गुरु एक नवीन केन्द्र के रूप में करता है। गुरु अनन्त सत्य का प्रतिनिधि होता है और वह जीवन के तमाम वास्तविक मूल्यों को व्यक्त करता है। **गुरुनिष्ठा तथा गुरु शरणागति के द्वारा मन महत्वशून्य पदार्थों से हटकर महत्वपूर्ण पदार्थों पर केन्द्रित होता है। इस प्रकार, गुरु पूर्णता का नवीन केन्द्र बन जाता है।**

**गुरु पूर्णता का नवीन केन्द्र बन जाता है।**

**यदि ठीक से समझा जाय तो गुरु समस्त जीवन की एकता की एक प्रकट घोषणा है। अतः गुरु–निष्ठा के द्वारा क्रमशः पार्थक्य–मूलक अहंकार केन्द्र से सम्बन्ध विच्छेद होता जाता है।** गुरु के हाथों में आत्मसमर्पण कर देने की महान घटना के पश्चात् सीमित अहंकार केन्द्र नष्ट होता जाता है और गुरु का अहंकार शून्य अनन्त व्यक्तित्व शिष्य की समस्त मानसिक क्रियाओं का केन्द्र बन जाता है। शिष्य क्रमशः सीमित "मैं" को त्यागता जाता है और उस असीम "मैं" को अपनाता जाता है जिसका प्रतिनिधित्व उसका गुरु करता है। आत्मसमर्पण करने के पश्चात् शिष्य यह अनुभव करता है कि वह स्वयं कुछ भी विचार नहीं कर रहा है। किन्तु उसके विचारों और कार्यो के द्वारा वह सत्य हो रहा है जिसका प्रतिनिधि उसका गुरु है। वह अपने

स्वार्थ की या निजी कल्याण की ज़रा भी परवाह नहीं करता। वह अविभाज्य एवम् सार्वलौकिक जीवन की जीवित प्रतिमा, गुरु की ही नित्य कल्याण कामना करता है। वह अपने अच्छे और बुरे अनुभवों तथा अच्छी बुरी इच्छाओं को गुरु को समर्पित कर देता है। वह अपना सर्वस्व गुरु को सौंप देता है। इससे उसका अहंकार क्षीण हो जाता है। उसके अहंकार के इस प्रकार क्षीण होने से पूर्णता प्राप्त करने की उसकी क्रिया में कोई रूकावट नहीं आती। उसका नवीन केन्द्र गुरु बन जाता है। गुरु अनन्त सत्य का प्रतिनिधि होता है। अतः अहंकार केन्द्र को त्याग कर तथा इस नवीन केन्द्र का आश्रय लेकर पूर्णता प्राप्त करने की क्रिया का जारी रहना अनन्त सत्य की क्रमशः प्राप्ति करना है। **जब अहंकार पूर्णतः निर्जीव तथा बिल्कुल निष्प्राण हो जाता है तब गुरु का अनन्त सत्ययुक्त अस्तित्व शिष्य का व्यक्तित्व बन जाता है। कहने का आशय यह कि गुरु और शिष्य के व्यक्तित्व में कोई अंतर नहीं रह जाता। यह गुरु से युक्त होना तथा अनन्त सत्य का साक्षात्कार करना है।**

**विकास क्रम का पुनरावलोकन।**

नम्रता, निस्वार्थता, प्रेम पूर्ण आत्मसमर्पण आदि गुणों की वृद्धि से अहंकार का ह्रास होता है। ज्यों ज्यों इन अध्यात्मिक गुणों की वृद्धि हो आध्यात्मिक जीवन की वृद्धि होती है त्यों त्यों अहंकार दुर्बल होता जाता है तथा उनमें आध्यात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति का अविरोध करने की शक्ति नहीं रह जाती। साथ ही साथ इन गुणों की वृद्धि से अहंकार का अमूल रूप परिवर्तन भी होता जाता है। यह परिवर्तन अंततोगत्वा इतना महान होता है कि पार्थक्य–मूलक अहंकार पूर्णतः तिरोहित हो जाता है और उसकी जगह में एकता मूलक सत्य की स्थापना हो जाती है। अहंकार की आरम्भिक कतरब्योंत एक विशाल वन्य वृक्ष की शाखाओं को काटने और छाँटने के समान हैं तथा अहंकार का अन्तिम उच्छेद इस वृक्ष को जड़ समेत उखाड़ने के समान है। जब अहं वृत्ति का पूरा लोप हो जाता है तब सदात्मज्ञान का अविर्भाव होता है। **पाशविक चेतना क्रम क्रम से विकसित होती जाती है और सीमित "मै" के रूप में प्रगट होती हैं–फिर गुरु की सहायता से चेतना को इस सीमित "मैं" को भी त्यागना पड़ता है। सीमित "अहम्" का त्याग करने से चेतना "अहम् ब्रम्हास्मि" या "शिवोहम्" का ज्ञान प्राप्त करती है। "अहम् ब्रम्हास्मि" या "शिवोहम्" की इस चेतना में पार्थक्य नहीं रहता। इस ज्ञान में सब कुछ समाविष्ट रहता है।**

# नवीन मानवता

आज कल मानवता आध्यात्मिक पुनर्जन्म की दारूण प्रसव वेदना का अनुभव कर रही है। मानवीय इतिहास के संकट काल में ऐसी घटना कई बार हो चुकी है। संहार की भयानक शक्तियाँ विकट रूप धारण करके अपना कार्य करने में लगी हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन संहारक शक्तियों का संसार पर प्रभुत्व होनेवाला है। किन्तु अनेक दिशाओं से रचनात्मक एवम् विधायक शक्तियाँ भी प्रवाहित हो रही हैं और अपना कार्य कर रही हैं। ये रचनात्मक शक्तियां ही मानवता का उद्धार करेंगी। अभी तो अन्धःकार ही अन्धःकार दिखाई देता है। किन्तु प्रकाश की शक्तियाँ गुप्त रूप से अपना कार्य कर रही हैं। गुप्त रूप से कार्य करने वाली प्रकाश की शक्तियाँ ही अन्त में विजय लाभ करेंगी। और इस प्रकार मानवता का त्राण होगा। कई संकटापन्न परिस्थितियों से गुज़र कर मानवता यात्रा कर रही है। वर्तमान संघर्ष को पार करके मानव जाति अपनी आध्यात्मिक यात्रा के विश्राम–स्थान को पहुँचेगी। **यह दिव्य योजना ईश्वरीय लीला का ही एक अंग है। श्रांत एवम् क्षुधार्त संसार को अनन्त तथा अद्वितीय सत्य का युग युग में तथा समय समय पर नवीन ज्ञान प्रदान करना ही दिव्य योजना है।**

**दिव्य योजना**

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सभी प्रकार की प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता तथा पारस्परिक संघर्ष को दूर करने के उपाय तथा साधन ढूँढ निकालना मानवता के समक्ष आजकल एक बड़ी भारी समस्या है। सशस्त्र युद्ध उपद्रव तथा संहार का अत्यन्त बाह्य दृश्य है। तथापि स्वयम् युद्ध कोई वास्तविक **समस्या नहीं है। युद्ध आंतरिक रोग का**

**बाहरी लक्षण है। युद्ध आंतरिक तथा अस्पष्ट कारणों का बाह्य तथा स्पष्ट परिणाम है।** युद्ध के ख़िलाफ केवल प्रचार करने से ही युद्ध बन्द नहीं हो जायेगा।

**युद्ध आंतरिक कारणों का एक बाह्य परिणाम है।**

और न तज्जन्य पीड़ा दूर हो जायेगी। युद्ध तथा तज्जन्य यंत्रणा को दूर करने के लिये युद्ध के मूल कारण का अन्त करना आवश्यक है। सशस्त्र युद्ध के न छिड़ने पर भी व्यक्तियों के तथा राष्ट्रों के बीच आर्थिक संघर्ष तथा अन्य सूक्ष्म संग्राम निरन्तर होता रहता है। जब युद्ध के आन्तरिक कारण विकट रूप धारण कर लेते हैं अर्थात जब कलह और विग्रह के गुप्त कारण अत्यन्त उग्र हो जाते है; तभी निर्दयतापूर्ण सशस्त्र युद्ध छिड़ जाता है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक अहंकार तथा स्वार्थपरता ही युद्ध के मूल कारण हैं अनेक मनुष्य अहंकार तथा स्वार्थपरता के शिकार हो जाते हैं। उनकी **अहंवृत्ति तथा स्वार्थपरता** के परिणामस्वरूप अस्तव्यस्तता तथा युद्ध का जन्म होता है। अहंकार और स्वार्थ व्यक्तिगत भी होते हैं और राष्ट्रगत भी यह ऊपर बतलाया जा चुका है। **मनुष्य अहंकार और स्वार्थ के द्वारा जीवन का सार ढूँढना चाहते हैं, और इस प्रकार वे भ्रांत धारणा के शिकार हो जाते हैं।** सत्य का सामना करने का यह मतलब है कि यह स्वीकार किया जाय कि समस्त जीवन एक है; तथा नाना नाम, विभिन्न रूप तथा अनेक गुण एकता के सूत्र में गुँथे हुए हैं। इस एकता को स्वीकार करना, इस एकता की अनुभूति करने का अर्थ है अपने सीमित स्वार्थ को बिलकुल भूल जाना।

**वर्तमान अस्तव्यस्तता का मूल कारण है अहंकार तथा स्वार्थ**

मानव–जीवन की अंतर्भूत एकता का सच्चा ज्ञान होते ही युद्ध की समस्या तुरन्त दूर हो जाती है। **युद्ध इतना व्यर्थ और अनावश्यक है कि यथार्थ समस्या युद्ध को बन्द करना नहीं है। यथार्थ समस्या, उन कारणों के ख़िलाफ युद्ध छेड़ना तथा जारी करना है, जिनके फलस्वरुप निर्दयतापूर्ण तथा पीड़ादायक युद्ध होते हैं।** सभी प्राणियों के एकता का ज्ञान होने पर, तथा इस एकता की अनुभूति करने से सहयोगयुक्त, प्रेमपूर्ण, शान्त एवम् सम जीवन अनिवार्य और स्वाभाविक हो जाता है। अतएव मानवता के पुननिर्माण का चिंतन करनेवाले लोगों के समक्ष मुख्य कार्य यह है कि वे मनुष्यों के आध्यात्मिक अज्ञान को दूर करें।

**युद्ध व्यर्थ और अनावश्यक है।**

केवल आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए ही युद्ध नहीं छिड़ता। संकीर्ण स्वार्थ तथा 'मेरा' के प्रति अज्ञानपूर्ण ममता की वजह युद्ध की उत्पत्ति होती है। **आर्थिक व्यवस्था की स्थापना आध्यात्मिक व्यवस्था की स्थापना का एक अंग है। केवल आर्थिक क्षेत्र से स्वार्थपरता के दूर हो जाने से ही सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो जाएगी। यथार्थ व्यवस्था अर्थात् आध्यात्मिक व्यवस्था की स्थापना तभी होगी जब आर्थिक क्षेत्र, बौद्धिक क्षेत्र, भावना सम्बन्धी क्षेत्र एवम् सांस्कृतिक क्षेत्र, या यों कहें कि मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के स्वार्थपरता का अन्त हो जायगा।**

**जीवन के सभी क्षेत्रों से स्वार्थपरता को हटाना होगा।**

मनुष्य की समस्या को केवल रोटी की समस्या समझना मनुष्य को पशु समझना है। किन्तु आर्थिक व्यवस्था की स्थापना भी आध्यात्मिक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। संग्रह प्रधान स्वार्थ–परायणता की जगह त्याग–प्रधान मानव–प्रेम के बिना सहयोगपूर्ण संयत आर्थिक जीवन सम्भव नहीं है। यह बात जब तक मानव जाति महसूस नहीं करेगी, तब तक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना नहीं होगी। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भौतिक सामग्रियों, वैज्ञानिक आविष्कारों, उत्पत्ति के उत्तम से उत्तम साधनों के बावजूद पारस्परिक संघर्ष सम्भव है, लोगों में दरिद्रता तथा आय प्रियता का होना सम्भव है। पारस्परिक संघर्ष तथा दारिद्र्य तभी मिटाये जा सकते हैं जब मनुष्य स्वार्थ को त्याग कर प्रेम को अपनायें।

**पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए भी आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है।**

युद्धों और संघर्षों की प्रसव–यंत्रणा के पश्चात् जिस मानवता का जन्म होग, वह विज्ञान तथा विज्ञान के उपयोगी आविष्कारों की उपेक्षा नहीं करेगी। विज्ञान को आध्यात्मिक जीवन का शत्रु मानना भूल है। **विज्ञान के सदुपयोग या दुरूपयोग पर उसका आध्यात्मिक जीवन में सहायक या बाधक होना अवलम्बित है।** जिस प्रकार सदुपयोग करने पर कला, आध्यात्मिक जीवन के लिए सहायक हो जाती है; उसी प्रकार विज्ञान का सदुपयोग करने पर विज्ञान भी, आध्यात्मिक जीवन में सहायता पहुँचा सकता है। भौतिक शरीर सम्बन्धी तथा स्थूल जगत सम्बन्धी वैज्ञानिक सत्य आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा स्थूल–विश्व–सम्बन्धी अनुसंधानों को साध्य नहीं मान बैठना चाहिए। विज्ञान को आध्यात्मिक जीवन का केवल साधन मानना चाहिए। वैज्ञानिक तथा भौतिक सत्यों का क्रमशः अनुभव करते करते अन्त में आत्मा का अनुभव करना ही आध्यात्मिक विधान है। आध्यात्मिक अनुभव को भूल कर

**विज्ञान का उचित स्थान।**

अथवा आत्मा की उपेक्षा कर, भौतिक अनुभव में तल्लीन हो जाना घातक है। आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा भौतिक साधनो का उपयोग इन्द्रिय सुख तथा पारस्परिक संघर्ष के लिए किया जा सकता है। मानवता की सर्वांगीण उन्नति तभी हो सकती है, जब विज्ञान और धर्म साथ साथ चलें। न तो धर्म को विज्ञान की उपेक्षा करनी चाहिए और न विज्ञान को धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए।

**नवीन मानवता की भावी सभ्यता सूखे बौद्धिक सिद्धान्तों की सभ्यता नहीं होगी। बौद्धिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन सभ्यता का लक्षण नहीं है। सच्चा आध्यात्मिक अनुभव ही सभ्यता की पहचान है।** आध्यात्मिक सत्य बुद्धिगम्य नहीं है।

**आध्यात्मिक अनुभव की आवश्यकता।**

केवल बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक अनुभव की उपलब्धि नहीं हो सकती। बुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक सत्य का कथन तथा वर्णन हो सकता है। तथा आध्यात्मिक सत्य को समझने में बुद्धि कुछ अंशों में सहायक हो सकती है। किन्तु अकेली बुद्धि की सहायता से न तो आध्यात्मिक अनुभव ही प्राप्त किया जा सकता और न बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक अनुभव दूसरों को प्रदान किया जा सकता है। जब दो मनुष्यों को सिर की पीड़ा का अनुभव हो जाएगा तभी वे बुद्धि की सहायता से सिर की पीड़ा को स्वयम् समझ सकेगें, तथा एक दूसरे को समझा सकेंगे किन्तु जिस मनुष्य को सिर की पीडा का कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, उसके सामने आप–सिर पीड़ा का लाख बौद्धिक वर्णन कीजए, सिर–पीड़ा आख़िर क्या बला है, यह ख़ाक उसकी समझ में न आयगा। सिर–पीड़ा यथार्थ में कैसी होती है यह जानने के लिए मनुष्य को सिर पीड़ा का अनुभव करना जरूरी है। सिर–पीड़ा का उसे ज्ञान करने के लिए उसके सिर को चोट पहुँचाना आवश्यक हे। मार पड़ने पर उसे सिर–पीड़ा का अनुभव हो जायगा, और वह समझ जायगा कि सिर–पीड़ा कैसी होती है। इसी प्रकार बौद्धिक वर्णन या बौद्धिक स्पष्टीकरण से आध्यात्मिक सत्य नहीं समझा जा सकता। आध्यात्मिक सत्य का अनुभव करने से ही वह सत्य समझा जा सकता है। हाँ, बौद्धिक ज्ञान को आध्यात्मिक अनुभव की भूमिका कह सकते हैं।

बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा गम्भीरतर अनुभूति का नाम आध्यात्मिक अनुभव है। बहुधा आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण अनुभव के नाम से सम्बोधित किया जाता है। रहस्यवाद को बहुधा बुद्धिविरोधी, जटिल, गूढ़, अव्यवहार्य तथा जीवन से असम्बद्ध समझा जाता है। किन्तु यथार्थ में सच्चा रहस्यवाद ऐसा नहीं है। **सच्चे रहस्यवाद में अबौद्धिक कुछ भी नहीं है। सत्य वास्तव में जैसा है उसका वैसा ही ज्ञान**

**सच्चा रहस्यवाद है। सच्चा रहस्यवाद इतना व्यावहारिक है कि जीवन के प्रत्येक क्षण उसका अनुभव किया जा सकता है, प्रतिदिन के कार्यों और कर्तव्यों में वह प्रकट किया जा सकता है। और अनुभव से उसका सम्बन्ध इतना गहरा है कि एक प्रकार से वह समस्त अनुभवों का अन्तिम ज्ञान है।**

**आध्यात्मिक अनुभव का स्वभाव तथा स्थान।**

आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण अनुभव कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं समझ बैठना चाहिए कि आध्यात्मिक अनुभव प्रकृति–विरूद्ध है तथा वह मानवीय चेतना की पहुँच के परे है। आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण इसी लिए कहा जाता है कि वह मनुष्य की सीमित बुद्धि के द्वारा प्राप्य नहीं है। जब बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण किया जाता है तब अनन्तत्व का ज्ञान हो जाता है, तभी आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता है। जब ईसा ने कहा – "सब कुछ त्याग कर मेरा अनुकरण करो," तब उन्होनें आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने का मार्ग लोगों को दिखलाया। ईसा के इस कथन का अर्थ यह है कि अपनी समस्त सीमाओं को त्याग कर ईश्वर की अनन्तता में आरूढ़ हो जाओ। सच्चे आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ न केवल उच्चतर भूमिकाओं में आत्मानुभूति की प्राप्ति करना है, किन्तु दैनिक जीवन तथा सांसारिक कर्तव्यों को ठीक ढंग से करने का ज्ञान प्राप्त करना है। जिस आध्यात्मिकता का जीवन के दैनिक कार्यों तथा विभिन्न प्रकार के अनुभवों से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह सच्ची आध्यात्मिकता नहीं है, किन्तु एक प्रतिक्रियात्मक पागलपन है।

नवीन मानवता का भावी जीवन जिस आध्यात्मिक अनुभव से प्राण, प्रोत्साहन तथा स्फूर्ति प्राप्त करेगा वह जीवन की वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ लेगा। जो मानव जीवन के प्रवाह में अपने को व्यवस्थित करने की क्षमता नहीं रखते वे जीवन की वास्तविकता से पीठ फेर लेते हैं। जीवन से दूर भाग कर भ्रमों के स्वनिर्मित क़िले के भीतर वे आश्रय लेते हैं। और अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। यह प्रतिक्रिया है। यह जीवन की माँगों से मुँह मोड़कर तथा जीवन की आवश्यकताओं से जान बचा कर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने का प्रयत्न है। जीवन से पीठ फेर कर भागना जीवन की समस्याओं का मिथ्या सुलझाव है। जीवन से भाग कर जो आत्मपूर्णता तथा सुरक्षा हासिल की जाती है वह झूठी है। यह समस्या का यथार्थ तथा स्थायी हल तो है ही नहीं, प्रत्युत यथार्थ मार्ग को त्यागना है। **जीवन से पीठ फेर कर भागने तथा मुँह मोडने से वह अपने ऊपर नयी नयी विपत्तियाँ बुला लेगा। जीवन की प्रचण्ड**

**आध्यात्मिक अनुभव कायरता नहीं है।**

**लहरों की चोट खाकर वह बार बार अपने भ्रममूलक आश्रय–स्थल से च्युत होगा। जीवन से बचने का प्रयत्न करना निष्फल होगा।**

संसार से जान बचाकर जिस प्रकार मनुष्य अपनी पृथक सत्ता को बनाये रखने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार वह बाह्य पद्धतियों, रूढ़ियों, आचारों तथा परम्परागत विधियों का अज्ञानपूर्वक आश्रय लेकर अपनी पृथक सत्ता कायम रखने की कोशिश करता है। अधिकांश में ये बाह्य लोकाचार, रूढ़ि तथा परम्परागत विधियाँ अनन्त जीवन के प्रवाह में बेड़ियाँ हैं। यदि दिव्य जीवन के प्रवाह में वे साधक हैं तो वे ग्राह्य हैं यदि वे बाधक हैं तो त्याज्य हैं। किन्तु जिस सत्य को प्रकट करने के वे साधन होते हैं, उस सत्य को प्रकट न कर वे स्वयं साध्य बन जाते हैं और इस अवस्था में सर्वथा त्याज्य और हेय हैं। ऐसी संकीर्ण रूढ़ियों से जीवन सीमित होता है। **नवीन मानवता सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त रहेगी, और आत्मा के विधायक जीवन के लिए अनवरूद्ध क्षेत्र प्रदान करेगी। नवीन मानवता आत्मा को प्रधान तथा अन्य साधनो को गौण मानेगी।** मनुष्य भ्रमों तथा निःसार पदार्थों को त्याग कर सत्य तथा सारवान पदार्थों को अपनायेगा। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य अपनी पृथक सत्ता का परित्याग करेगा।

**नवीन मानवता बाह्य विधियों और रुढ़ियों पर आसक्त नहीं रहेगी।**

मनुष्य जीवन से पराङमुख हो कर या बाह्य रूपों पर आसक्त होकर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने की कोशिश करता है। उसी प्रकार कोई संकीर्ण वर्ग श्रेणी, मत, संप्रदाय या धर्म, स्त्री–पुरूष भेद से सम्बद्ध होकर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने से मालूम तो यह होता है कि व्यक्ति ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता सामूहिक सत्ता में विलीन कर दी है, किन्तु बहुधा वह समूह से सम्बद्ध हो कर अपनी व्यक्तिगत सत्ता को व्यक्त करता है। किसी ख़ास संघ या समूह से नाता जोड़ कर वह दूसरे संघ, समूह, राष्ट्र, श्रेणी के लोगों से अपने आप को अलग समझता है। और इस अलगाव के विचार से उसे आनन्द प्राप्त होता है।

**किसी संकीर्ण समूह से सम्बन्ध सीमित व्यक्तित्व का ही एक रूप है।**

**पृथक अस्तित्व द्वन्द्व के एक पहलू से साम्य प्राप्त करके तथा उसके दूसरे पहलू से अपना वैषम्य अनुभव करता है।** एक विचारधारा से सम्बद्ध होकर तथा दूसरी विचारधारा से अपने आपको अलग समझ कर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। **किसी संकीर्ण समुदाय, श्रेणी या किसी सीमित आदर्श से सम्बन्ध**

**सीमित व्यक्तित्व द्वन्द के आश्रय से जीता है।**

**स्थापित करने से पृथक सत्ता का एकता में विलीन हो जाना सा दिखाई देता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। सीमित व्यक्तित्व का सार्वलौकिक अस्तित्व में यथार्थतः विलीन होने का अर्थ यह है कि सभी प्रकार की पृथक सत्ता एकदम भगा दी जाय।**

विशाल मानव समूह पार्थक्य मूलक तथा अहंकार प्रदान प्रवृत्तियों में फँस गया है। और जो मनुष्य मानव जाति के इन बन्धनों के दृश्य से अभिभूत हो गया है, उसे मानवता के भविष्य के बारे में केवल निराशा ही निराशा दिखाई देगी। यदि मानवता की वर्तमान यंत्रणा का यथार्थ कारण जानना हो तो वास्तविकता की गहराई में उतरना चाहिए। संसार की वर्तमान परिस्थिति की सतह को ही जो देख सकते हैं वे भविष्य में उत्पन्न होनेवाली नवीन मानवता की संभाव्यताओं को देखने में असमर्थ हैं। किन्तु नवीन मानवता की संभाव्यताएं विद्यमान हैं और आध्यात्मिक ज्ञान की एक चिंगारी उन्हें पूर्ण रूप से प्रज्वलित कर देगी। वासना, घृणा और लिप्सा की शक्तियां मानव जति की अवर्णनीय पीड़ा और परिस्थिति की अस्तव्यस्तता के लिये ज़िम्मेवार हैं, **किन्तु मनुष्य के स्वभाव के सम्बन्ध में एक संतोषजनक बात यह है कि युद्ध की उसकी प्रवृत्तियों में भी किसी न किसी प्रकार का प्रेम अवश्य रहता है।**

**भविष्य के लिये आशा**

युद्धों के लिए भी सार्वजनिक सहयोग तथा पारस्परिक सहकारिता आवश्यक है। किन्तु इस पारस्परिक सहकारिता का क्षेत्र किसी सीमित समूह या आदर्श से सम्बन्ध स्थापित करके संकीर्ण बना दिया जाता है। **एक प्रकार के प्रेम के द्वारा ही युद्ध भी लड़े जाते हैं, किन्तु वह प्रेम अज्ञान–मूलक होता है। ज्ञानपूर्व प्रेम तभी हो सकता है जब प्रेम सीमामुक्त हो कर असीम हो।** मानवीय जीवन की समस्त अवस्थाओं में प्रेम विद्यमान रहता है, किन्तु वह सुप्त रहता है, सीमित होता है; और स्वार्थयुक्त व्यक्तिगत आकाँक्षा, जातीय अभिमान, संकीर्ण भक्ति तथा प्रतिस्पर्धा, स्त्री–पुरूष भेद, राष्ट्रीयता, मत, जाति तथा धर्मकी अंध आसक्ति के द्वारा दूषित और विषाक्त हो जाता है। मानवता का पुनरूद्धार तभी हो सकता है जब मनुष्य का रूँधा हुआ हृदय मुक्त कर दिया जाय, ताकि उसमें नवीन प्रेम प्रवाहित होने लगे, **ऐसा प्रेम जो निर्दोष हो तथा जो वैयक्तिक तथा सामूहिक लोभ से पूर्ण मुक्त हो।**

**प्रेम सीमा–मुक्त होना चाहिए।**

अमित मात्रा में प्रेम जब प्रवाहित किया जाएगा तभी नवीन मानवता का जन्म होगा। ऐसा प्रेम तभी प्रवाहित होगा जब गुरूओं के द्वारा मानव जाति की आध्यात्मिक

जागृति होगी। **प्रेम निरे निश्चय से उत्पन्न नहीं होता, इच्छाशक्ति से अधिक हुआ तो मनुष्य कर्तव्यशील हो सकता है।** संघर्ष और प्रयत्न से मनुष्य का कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से शुष्क और नीरस ही रहेगा, क्योंकि वह स्वेच्छा मूलक आंतरिक प्रेम के सौंदर्य से वंचित रहेगा। प्रेम तो भीतर से सहज और स्वाभाविक गति से उत्पन्न होता है। वह किसी भीतरी या बाहरी शक्ति पर निर्भर नहीं रहता। प्रेम और दमन दोनो साथ–साथ नहीं रह सकते। यद्यपि प्रेम किसी पर ज़बरदस्ती लादा नहीं जा सकता, किन्तु प्रेम प्रेम के द्वारा जागृत किया जा सकता है। **प्रेम स्वाभावतः प्रसरणशील है। जिनके पास प्रेम नहीं है वे उनके पास से उसे प्राप्त करते हैं जिनके पास प्रेम है।** जो दूसरों से प्रेम प्राप्त करते हैं वे बिना प्रतिदान दिए प्रेम के ग्राहक नहीं हो सकते, यह प्रतिदान प्रेम की ही तरह होता है। सच्चा प्रेम, अजेय और अदम्य होता। उसकी शक्ति बढ़ती जाती है, उसका प्रसार और विस्तार बढ़ता जाता है। जिसको वह स्पर्श करता है, उसे वह परिवर्तित कर देता है। **एक हृदय से दूसरे हृदय में प्रेम का अबाध प्रवाह होने से मानवता एक नवीन जीवन और नवीन अस्तित्व प्राप्त करेगी।**

**प्रेम प्रसरणशील होता है।**

**जब यह बात हृदयंगम कर ली जायगी, कि सार्वलौकिक दिव्य जीवन प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु को अपने भीतर धारण करता है तथा ऐसे जीवन से श्रेष्ठतर जीवन है ही नहीं, तब प्रेम न केवल सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय जीवन में शान्ति सुख तथा समता की स्थापना करेगा, किन्तु वह अपनी सुंदरता एवम् पवित्रता से प्रकाशमान होगा।** दिव्य प्रेम द्वैत के आक्रमणों से विचलित नहीं होता। दिव्य प्रेम दिव्यता की अभिव्यक्ति है। दिव्य प्रेम के ही द्वारा नवीन मानवता दिव्य योजना से स्वरैक्य तथा तालैक्य प्राप्त करेगी। दिव्य प्रेम व्यक्ति के जीवन में अमर माधुर्य तथा अनन्त आनन्द प्रवाहित तो करेगा ही साथ ही साथ वह नवीन मानवता के नवीन युग का भी प्रारम्भ करेगा। **दिव्य प्रेम की सहायता से नवीन मानवता सहयोगपूर्ण एवम् समतायुक्त जीवन की कला सीखेगी, वह निर्जीव रूढ़ियों से मुक्त होगी और, आध्यात्मिक ज्ञान का रचनात्मक जीवन व्यतीत करेगी। सभी भ्रमों को त्याग कर वह साथ में आरूढ़ होगी, वह शान्ति और स्थायी सुख का आस्वाद करेगी और वह अनन्त जीवन में प्रवेश करेगी।**

# आध्यात्मिक जीवन में गूढ़ विद्या का स्थान

(भाग 1)

## गूढ़ अनुभव का मूल्य

**असाधारण आंतरिक शक्तियाँ मुक्ति के लिए सहायक हैं और बाधक भी।**

मनुष्य की आत्मा के अन्दर आन्तरिक शक्तियाँ सुप्त रहती हैं। चेतना संस्कारों से जब क्रमशः मुक्त होती है, तो ये गुप्त तथा सुप्त शक्तियाँ, प्रकट एवम् जागृत होती हैं। इन शक्तियों का जब उद्घाटन होता है, तब नाना प्रच्छन्न तत्वों और तथ्यों की जानकारी से साधक को असाधारण आन्तरिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन शक्तियों का साधक सदुपयोग भी कर सकता है और दुरूपयोग भी। अतः चेतना की अन्तिम मुक्ति के लिए, ये शक्तियाँ सहायक भी हैं, और बाधक भी। साधक को जो गूढ़ (Occult) अनुभव होते हैं, वे ये हैं; अभूतपूर्व स्वप्न, असाधारण दृश्य, सूक्ष्म जगत का दर्शन, तथा पारलौकिक (Astral) यात्राएं इत्यादि। इन गूढ़ अनुभवों के सम्बन्ध में, साधक को दो बातें जानना आवश्यक है। पहली बात यह, कि इन गूढ़ अनुभवों का यथार्थ महत्व क्या है, तथा दूसरी बात यह, कि बुद्धिभ्रंश एवं चित्तविभ्रम में तथा गूढ़ अनुभवों में भेद क्या है।

गूढ़ अनुभवों के प्रति दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं : एक तो उनकी अतिश्योक्ति और दूसरी उनका तिरस्कार। गूढ़ अनुभवों को, आवश्यकता से अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति, जिस प्रकार अनुचित है उसी प्रकार, उनकी सच्चाई पर सन्देह करने की प्रवृत्ति, भी ग़लत है। सर्वसाधारण की यह मनोवृत्ति होती है, कि वह असाधारण एवम् दुर्ज्ञेय तथ्यों की सत्यता को न केवल अस्वीकार करता है, किन्तु उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। गूढ़ अनुभवों पर भी यही बात लागू होती है। **जो लोग गूढ़ विद्या की 'अ–आ इ–ई' भी नहीं जानते, वे ही लोग गूढ़ अनुभवों की सत्यता को पूर्णतः अस्वीकार करते एवम् इनका बिलकुल तिरस्कार करते हैं।** यह स्वीकार करना, कि ऐसे तथ्यों का भी अस्तित्व है जिनका ज्ञान कुछ इनेगिने लोगों को प्राप्त है, और वे उन तथ्यों के ज्ञान से वंचित हैं, उनके अहंकार को क्लेश पहुँचाता है। गूढ़ विद्या क्या है, तथा वह कैसी होती है, इस सम्बन्ध में लोग कुछ भी नहीं जानते। इस अज्ञान के ही कारण, वे गूढ़ अनुभवों की निन्दा एवम् भर्त्सना करते हैं। बिना समझे–बूझे, गूढ़ विद्या की अकारण निंदा करना एक बात है; तथा उसकी सत्यता या मिथ्यात्व को जानने की उत्कण्ठा रखना, एवम् उसके प्रति आलोचनात्मक रूख़ धारण करना, बिलकुल दूसरी बात है। **जो लोग सतर्क परीक्षणात्मक रूख धारण करते हैं, वे नम्र होते हैं, तथा वे गूढ़ तथ्यों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये तैयार रहते हैं, बशर्ते कि ऐसे तथ्य उनके अनुभव में आयें।**

**गूढ़ अनुभवों का तिरस्कार अज्ञान जन्य है।**

सद्‌गुरू साधक को प्रायः साधारण तरीक़ों से ही मदद करता है; और उसकी आँखों पर आवरण डालकर ही, उसे आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाना पसन्द करता है। किन्तु, आवश्यक होने पर, वह गूढ़ साधनों का उपयोग करके भी, साधक की सहायता करता है। साधक के अंतःकरण के गम्भीर तार को झंकृत करने के लिए, वह उसे विशेष प्रकार के स्वप्नों का दर्शन कराता है। **यह बहुधा देखा गया है, कि सद्‌गुरु पहले साधक के स्वप्न में प्रकट हुए हैं और इस प्रकार, उन्होनें साधक से अपना सम्पर्क स्थापित किया है।** इन विशेष स्वप्नों तथा सामान्य स्वप्नों का भेद समझना आवश्यक है। सामान्य स्वप्नों में, सूक्ष्म शरीर सक्रिय ढ़ंग से देखने, चखने, सूँघने, तथा छूने की क्रियाएं करता है–किन्तु आत्मा पूर्णज्ञानपूर्वक सूक्ष्म शरीर का उपयोग नहीं करता। चूँकि ये सामान्य स्वप्न **उपचेतन** (Subconscious) मन की उत्पत्तियाँ हैं, वे अधिकांशतः **मनोभासस्वरूप** (Subjective) होती है। ये इन्द्रियजन्य स्थूल अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं। ये स्वप्न मन में संचित उदयोन्मुख संस्कारों के परिणाम होते हैं। कुछ स्वप्न ऐसे भी

**कुछ स्वप्न आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं।**

होते हैं, कि जो साधारण स्वप्न के सदृश ही मालूम होते हैं किन्तु पूर्णतः आभासरूप नहीं होते हैं। इन स्वप्नों तथा सामान्य स्वप्नों का अंतर समझना कठिन होता है। ये स्वप्न सूक्ष्म शरीर के किसी वस्तुनिष्ठ (Objective) अनुभव के प्रतिबिम्ब होते हैं, और वे स्वप्न के रूप में उपचेतन मन में प्रकट होते हैं। ऐसे स्वप्न केवल कल्पना के परिणाम नहीं होते।

अधिकाँश स्वप्न पूर्णतः भासमात्र होते हैं। वे सूक्ष्म शरीर के उपचेतन (Subconscious) अनुभव होते हैं। इन स्वप्नो के द्वारा, या तो नवीन संस्कारों की सृष्टि होती हैं, या प्राचीन संस्कारों का व्यय होता है इन स्वप्नो से व्यक्ति की अस्पृष्ट समस्याओं की विषमता का तथा गढ़े हुए संस्कारगंड़ (Complexes) का पता चलता है। इनके अतिरिक्त, सामान्य स्वप्नो का और कोई महत्व नहीं है। इन स्वप्नो में ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई देती, जो विगत जागृत अवस्था में न देखी जा चुकी हो। बीते जीवन में देखी गई बातें ही, नये नये रूप धारण करके नये नये प्रकार से, सामान्य स्वप्नों में प्रकट होती है। **बिरले प्रकार के स्वप्न वे स्वप्न हैं, जिनके विषय इस जन्म में नहीं, किन्तु पूर्वजन्म में देखे गए रहते हैं। इन स्वप्नो से भी विलक्षण, उन मनुष्यों या पदार्थों के स्वप्न होते हैं जो न तो वर्तमान जन्म में देखे गए रहते हैं और न पूर्वजन्म में देखे गये रहते हैं, किन्तु जो भावी जीवन में दिखाई देनेवाले होते हैं।** इससे ज्ञात होगा, कि सामान्य स्वप्न उन स्वप्नो से सर्वथा भिन्न होते हैं, जिनका गूढ़ महत्व होता है।

**बिरले प्रकार के स्वप्न।**

बहुधा जब साधक की आंतरिक शक्तियों का उद्घाटन होता है, तो उसे कई प्रसंगो पर, सूक्ष्म संसार के अनुभव प्राप्त होते हैं महत्व–पूर्ण दृश्य, असाधारण प्रकाश, विचित्र वर्ण, विलक्षण ध्वनि, अद्भुत सुगंध तथा अनोखे संसर्ग इत्यादि के रूप में ये अनुभव प्राप्त होते हैं। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है, कि ये अनुभव यथार्थ होते है, तथा साधक उन्हें भ्रमात्मक समझने लगता हैं। **भले ही साधक उन्हें बुद्धिभ्रंश समझे, किन्तु वे इतने प्रबल और प्रभावशाली होते हैं, कि उनकी मार्गदर्शन–शक्ति को वह रोक नहीं सकता।** ऐसे गूढ़ अनुभवों के प्रति, सही रूख धारण करना, तथा उनका ठीक मूल्य आँकना, यदि साधक सीख ले, तो उसकी आध्यात्मिक यात्रा सहज और सुगम हो जाती है। किन्तु आरम्भ में ऐसे अनुभवों के प्रति सही रूख़ धारण करना ही साधक के लिए कठिन होता है।

**गूढ़ अनुभव का आरम्भ।**

जिसे पहले–पहले गूढ़ अनभव होते हैं, अर्थात् जिसे अन्तर्गत के ऐसे तथ्य मालूम होते हैं, जो अब तक उसे मालूम नहीं थे, वह ऐसे अनुभव या तथ्यों को, आवश्यकता से अधिक महत्व देते देखा जाता है, **या तो ऐसे तथ्यों को बार बार अनुभव करने**

**की उसकी लालसा अदम्य हो जाती है, क्योंकि वह उन्हें आवश्यकता से अधिक महत्व देता है; या वह उन्हें असत्य तथा असाधारण घटनाएं समझ कर, उन्हें कुछ महत्व ही नहीं देता।** इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों में, गूढ़ तथ्यों को अनावश्यक महत्व देने की प्रवृत्ति अधिकतः देखी जाती है। गूढ़ तथ्यों की असाधारणता, तथा विरलता के ही कारण, उन्हें अनावश्यक महत्व दिया जाता है।

बहुत थोड़े लोग गूढ़ अनुभव के प्रति सही रूख़ धारण करते हैं।

सच तो यह है, कि साधक का अहंकार गूढ़ तथ्यों के ज्ञान से बहुधा बढ़ता है। वह यह सोचने लगता है कि उसे ऐसे तथ्यों को जानने का सौभाग्य या विशेषाधिकार प्राप्त है, जिनकी जानकारी से, अन्य लोग वंचित है। इन तथ्यों का जितना ही अधिक उसे अनुभव होता है, उतना ही अधिक वह इन तथ्यों को अनुभव करना चाहता है। आध्यात्मिक पथ पर, प्रत्येक कदम बढ़ाने के लिए, गूढ़ अनुभव का प्रोत्साहन प्राप्त करने की उसको उसी प्रकार आदत पड़ जाती है, जिस प्रकार, नशे का व्यसन हो जाने पर, मनुष्य को ऐसे कामों के करने के लिए भी नशे की उत्तेजना की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिन कामों को पहले वह बिना नशे की उत्तेजना के कर सकता था। साधक ऐसी आदत का शिकार न हो जाय, इसलिए सद्‌गुरू इस बात का विशेष ध्यान रखता है, कि उसकी गूढ़ अनुभवों की तृष्णा न बढ़ने पाये। **चाहने, या अपेक्षा करने से गूढ़ अनुभव नहीं प्रदान किये जाते। ये अनुभव सद्‌गुरू द्वारा शिष्यों को तभी प्रदान किये जाते हैं, जब सद्‌गुरू को ऐसा करने की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होती है।**

गूढ़ अनुभवों की तृष्णा

जब गुरू यह देखता है, कि साधक गूढ़ अनुभवों को आवश्यकता से अधिक महत्व दे रहा है, तथा ऐसे अनुभव को बार–बार प्राप्त करने की उसकी तृष्णा अदम्य होती जा रही है, तो वह साधक को ऐसे अनुभवों से वंचित कर देता है, जिससे उसकी तृष्णा दूर हो, और उसे वह मालूम हो जाय, कि ये गूढ़ अनुभव उसका लक्ष्य नहीं है, बल्कि ये उसकी लक्ष्य की ओर बढ़ने के साधन हैं। यह मानो रोग के मूल कारण को शल्यक्रिया से दूर करके, रोगी को आराम देने के समान है। इस प्रकार, सद्‌गुरू जिज्ञासु को नवीन बन्धनो से बचाता है। सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त हो कर, अनन्त सत्य को प्राप्त करना, साधक का लक्ष्य होना चाहिये। उसे, साधनो के लोभ में, इतना नहीं पड़ जाना चाहये, कि वह उन पर आसक्त हो कर, साध्य को ही भूल बैठे। साधनो पर ही रीझ जाने से, लक्ष्य तक पहुँचने में अनावश्यक विलम्ब होगा। साधक बहुत धीरे–धीरे ही समस्त गूढ़ तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। **सद्‌गुरू साधक को इन**

**गूढ़ अनुभवों की तृष्णा दूर कैसे की जाती है।**

**तथ्यों का ज्ञान कराने में शीघ्रता नहीं करता, क्योंकि इन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, बहुत थोड़े ही मनुष्य वास्तव में अधिकारी होते हैं।**

**गूढ़ अनुभवों का प्रामाण्य या विश्वसनीयता।**

शुरूशुरू में, गूढ़ अनुभव बहुत ही अस्थिर और क्षणिक होते हैं। वे इतने अल्प काल के लिए प्रकट होते हैं, कि साधक कभी–कभी उनकी सत्यता पर सन्देह करने लगता है। वह उन पर विश्वास करने में, बड़ी सावधानी से चलता है। क्योंकि चित्त–विभ्रम की भी सम्भावना रहती है। **किन्तु गूढ़ अनुभव इतने प्रामाणिक और विश्वसनीय होते हैं, कि उनकी सच्चाई पर सन्देह करना मुश्किल हो जाता है। उनकी प्रामाणिकता (Validity) तथा विश्वसनीयता भले ही पहले पहले प्रकट न हो, किन्तु उनका परिणाम इतना असाधारण, आनन्ददायक, शान्तिजनक तथा प्रभावशील होता है, कि ऐसे अनुभव के प्रति आदर तथा ध्यान उत्पन्न हुए बगैर नहीं रह सकता।** गूढ़ अनुभवों की प्रभावसम्बन्धी परिणामविषयक इन्हीं विशेषताओं के कारण, साधक गूढ़ अनुभवों की बुद्धिभ्रंश एवम् चित्तविभ्रम से भिन्नता मालूम करता है।

**उद्‌भ्रान्ति तथा चित्तविभ्रम से गूढ़ अनुभव भिन्न होते हैं।**

बिना आवाज़ से ही आवाज़ सुनना, या बिना किसी वस्तु के अस्तित्व के ही, वस्तु को देखना चित्तविभ्रम (Hallucinations) के लक्षण है। चित्तविभ्रम उद्‌भ्रान्ति (Delusion) तथा कोरी कल्पना से यद्यपि भिन्न है, तथापि चित्तविभ्रम की अवस्था में, सुनी या देखी गई वस्तुओं का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु ये वस्तुएं उसी प्रकार दिखाई देती हैं, जिस प्रकार सचमुच में विद्यमान वस्तुएं हमें दिखाई देती हैं। उद्‌भ्रान्ति में यद्यपि ऐसी वस्तुएं देखी जाती हैं, जिनका अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु उनपर इतना निश्चयात्मक विश्वास हो जाता है, कि उनके अस्तित्व पर लेश मात्र संशय नहीं रह जाता। किन्तु उद्‌भ्रान्ति (Delusion) तथा विभ्रम (Hallucination) दोनों से, उद्‌भ्रांत तथा विभ्रमित मनुष्य को आनन्द या शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। एक यही कसौटी है, जिस पर कसने से गूढ़ अनुभव एवम् उद्‌भ्रान्ति और चित्तविभ्रम का भेद समझा जा सकता है, और वह यह, कि **गूढ़ अनुभव परिणामतः आनन्ददायक एवं शान्तिप्रद होते हैं; उद्‌भ्रान्ति और चित्तविभ्रम न तो आनन्ददायक होते हैं और न शान्तिप्रद। उद्‌भ्रान्ति तथा चित्तविभ्रम जागृत के विकार हैं।**

उद्‌भ्रांति, चित्तविभ्रम तथा सब प्रकार के भ्रमों से, गूढ़ अनुभव की विभिन्नता सिद्ध हो जाने पर भी, गूढ़ अनुभव अपनी शक्ति तथा प्रभाव उत्पन्न करने में, असमर्थ हो जाता है, और महान् संदेह का विषय बन जाता है। ऐसा अक्सर तब होता है, जब गूढ़ तथ्य (Occult Reality) का अनुभव करनेवाला व्यक्ति औरों के साथ उस तथ्य के

सम्बन्ध में बहस करता है। अन्य लोग ऐसे तथ्यों को समझने में असमर्थ होते हैं; अतः पूर्ण सदाशयता के साथ, उसके सम्बन्ध में, प्रतिकूल विचार प्रकट करके, वे साधक की निजी धारणा को डाँवाडोल कर देते हैं। इसी वजह, पुराने ज़माने में सद्गुरु शिष्य को अपने गूढ़ अनुभवों को गुप्त रखने, तथा किसी के समक्ष उन्हें प्रकट नहीं करने की सलाह देते थे। **जब तक, साधक दूसरों के कथन की परवाह न करके, अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा पर अटल विश्वास करना नहीं सीखेगा, तब तक उसके गम्भीर अनुभव का अन्य शंकाशील मनुष्य खन्डन करेंगें, और उसके प्रबल विश्वास को डिगा कर उसको शिथिल कर देंगे।** यदि साधक शीघ्र उन्नति करने का इच्छुक है, तथा सद्गुरु की गूढ़ सहायता का लाभ उठाना चाहता है, तो उसे अपने आप पर तथा अपने सद्गुरु पर अटल विश्वास रखना चाहिए। दूसरे मनुष्यों से पथ–प्रदर्शन की उसे आशा नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसकी **समस्याओं तथा, उसके अनुभवों को समझनेवाले लोग संसार में** थोड़े ही रहेंगे। साधक को वास्तव में इस सम्भावना का भी सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए, कि उसके सारे मित्र तथा उसके सारे परिवारवाले एवम् सम्बन्धी न तो उसे ठीक से समझते हैं, और न उन्हें उसकी विचारधारा तथा उसके जीवन की दिशा का ज़रा भी ज्ञान रहता है।

**गूढ़ सहायता से आत्मविश्वास की वृद्धि करना उससे लाभ उठाना है।**

गूढ़ अनुभव का यदि यह फल हुआ, कि उसके द्वारा आध्यात्मिक उद्यम को नया बल और उत्साह प्राप्त हुआ, तो कहना चाहिए, उसका वांछित प्रयोजन सिद्ध हो गया। फिर विश्लेषण सिंहावलोकन करके, भले ही साधक उसे एक प्रकार का भ्रम ही समझे। तथापि, **कुछ गूढ़ अनुभव ऐसे भी दिये जाते हैं, जो साधक को असंदिग्ध प्रोत्साहन और प्रेरणा देते हैं, तथा उसका निश्चयतात्मक पथ–प्रदर्शन करते हैं।** ये खास प्रकार के अनुभव, साधक के लाभ के लिए, जानबूझ कर, कृपा कर प्रदान किये जाते हैं। ये अनुभव इतने प्रामाणिक तथा विश्वसनीय होते हैं, कि साधक को सच्चाई तथा महत्ता के प्रति शंकाशील नहीं होना चाहिए। किन्तु गूढ़ अनुभवों के सम्बन्ध में, बार–बार प्रमाण तथा समर्थन खोजना, निश्चिततः अनुचित है। सद्गुरू उनके प्रामाणिकता का (Validity) समर्थन तभी देता है, जब वह आवश्यक समझता है। परिस्थिति की आवश्यकता का निर्णय करके, वह स्वंय अपनी इच्छा से ऐसा करता है। वह जो कुछ भी करता है, अपने **मुक्त ज्ञान** की प्रेरणा से सहजरूप से करता है। गुरु का कार्य, साधक की अज्ञान–मूलक इच्छा या अपेक्षा पर, निर्भर नहीं रहता। सद्गुरु आध्यात्मिक आवश्यकता के अनुसार, गूढ़ अनुभव की उपयुक्तता बढ़ाने के लिए, **ऐसे समर्थन तथा प्रमाण भी व्यक्ति के प्रत्यक्ष तथा साधारण अनुभव से उपस्थित करता है, जिससे ऐसे**

**गूढ़ अनुभव तथा उनके प्रति संशय**

**गूढ़ अनुभवों के सच्चाई पर विश्वास उत्पन्न हो सके,** और इन अनुभवों से लाभ उठा कर साधक को, पथ पर अग्रसर होने में, नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो।

पथ में उन्नत साधक, सूक्ष्म–जगत् की शक्तियों का, स्वतंत्रतापूर्वक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से, उपयोग करने का अधिकारी हो जाता है। अपने स्थूल शरीर को जागृत या निद्रित अवस्था में, छोड़ कर वह अपने सूक्ष्म शरीर की सहायता से सूक्ष्म अंतर्जगत् की

**सूक्ष्म अंतर्जगत् की यात्राएं।**

यात्राएं (Astral Journeys) करने में अभ्यस्त हो जाता है। सूक्ष्म अंतर्जगत् की यात्रा अज्ञानतः भी की जा सकती है, तथा सज्ञानतः भी। ज्ञानपूर्वक तथा संकल्प की प्रेरणा से की जानेवाली यात्रा अधिक महत्वपूर्ण होती है। ऐसी यात्रा में सूक्ष्म शरीर का सज्ञान उपयोग किया जाता है। स्थूल शरीर से जब सूक्ष्म शरीर का सज्ञान अलगाव होता है, तो यह आत्मा का स्थूल शरीर से अपने पृथकत्व का विशेष अनुभव है, तथा इस प्रकार आत्मा स्थूल शरीर को जब चाहे, तब उतार सकती है, और जब चाहे, तब पहन सकती है। स्थूल शरीर को उतार कर सूक्ष्म शरीर के आश्रय से ही, वह सूक्ष्म जगत् की सैर करती है। सूक्ष्म जगत् की वह इच्छानुसार तथा आवश्यकतानुसार यात्रा कर सकती है।

सूक्ष्म शरीर का सज्ञान उपयोग करने पर, जिन दृश्यों, सुगन्धों, रसों, संसर्गों तथा ध्वनियों के अनुभव होते, हैं, वे वैसे ही स्पष्ट और सत्य होते हैं, जितने स्थूल अनुभव।

**कार्यक्षेत्र का विस्तार।**

सामान्य स्वप्नो के समान वे अस्पष्ट तथा भ्रमात्मक (Subjective) नहीं होते, किन्तु जागृत अवस्था के अनुभवों के समान, सत्य प्रभावपूर्ण होते हैं। सूक्ष्म जगत् की यात्रा करने की शक्ति मिलने पर, अनुभव तथा कार्य के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है, जिससे न केवल निजी उन्नति का अपेक्षाकृत अधिक अवसर प्राप्त होता है, किन्तु आध्यात्मिक पथ में पदार्पण न किये रहनेवालों की सहायता करने का भी, अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है।

गूढ़ शक्तियों को निजी आध्यात्मिक चेष्टा का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए। साधक की आंतरिक चेष्टा पूर्ववत् जारी रहनी चाहिए। **सद्‌गुरु प्रदत्त गूढ़ अनुभव**

**गूढ़ अनुभव अंतःप्रज्ञा का साधन है, न कि उसका पर्याय।**

**आवरणाच्छन्न अंतः प्रज्ञा (Intuition) को प्रकट करते हैं, पथ की कुछ मुश्किलों को दूर करते हैं, तथा साधक को उत्साह तथा आत्मविश्वास से युक्त करते हैं, जिनके बल पर वह पथ की शर्तें संभाल सके। किन्तु साधक अपने हृदय की अंतः प्रज्ञा के अनुसार आचरण करने से ही उन्नति करता है। केवल गूढ़ अनुभवों को प्राप्त करने से उसकी उन्नति नहीं होती।**

# आध्यात्मिक जीवन में गूढ़ विद्या का स्थान

## (भाग 2)

## आध्यात्मिक जीवन का गूढ़ तत्व–सम्बन्धी आधार

अंतर्जगत् की रचना और नियमों का जिन्हें आरम्भिक ज्ञान भी प्राप्त है, उन्हें विदित है, कि मनुष्य का शेष मनुष्यों से असम्बद्ध होना असम्भव है। ऐसा सोचना कि मनुष्य अन्य मनुष्यों से पूर्णतः असंलग्न है, कोरी कल्पना है। भले ही मनुष्य अन्य मनुष्यों से न मिले, तो भी वह औरों पर अपने विचारों का प्रभाव ड़ालता रहता है, तथा औरों के विचारों से प्रभावित होता रहता है। मनुष्य का जीवित रहना ही इस बात का साक्षी है, वह चाहे या न चाहे, वह अन्य मनुष्यों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, और, अन्य मनुष्यों के विचारों से, स्वयं प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मनुष्यों के बीच विचारों के निरन्तर आदान–प्रदान को कोई भी व्यवधान रोक नहीं सकता। अंतर्जगत् के वैद्युतिक प्रभाव के प्रवाह का प्रतिरोध असम्भव है। देश, काल, तथा दूरी या अन्य भौतिक रूकावटें विचारों के आंतरिक यातायात को रोकने में, असमर्थ हैं। अच्छे विचार भी तथा बुरे विचार भी, आनन्दित मनःस्थिति, भव्य और उदात्त भाव तथा क्षुद्र और संकीर्ण भावनाएं, निःस्वार्थ प्रवृत्तियाँ तथा स्वार्थ–युक्त

**अंतर्जगत् में मनुष्यों के बीच विचारों का निरन्तर आदान–प्रदान जारी रहता है।**

आकाँक्षाएं, — ये सब फैलते तथा औरों पर अपना असर डालते हैं। ये शब्दों और कार्यों में प्रकट न होने पर भी, एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। **जिस प्रकार, स्थूल संसार संयुक्त तथा सम्बद्ध अस्तित्व है, उसी प्रकार, सूक्ष्म मानसिक संसार भी, संयुक्त तथा एकतामय अस्तित्व है।** स्थूल संसार आध्यात्मिक जीवन का एक माध्यम है, और उसका बड़ा भारी महत्व है, यह एक असंदिग्ध सत्य है। स्थूल संसार में, मनुष्यों के बीच कार्यों और विचारों का जो बाह्य आदान–प्रदान होता है, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण मनुष्यों का आंतरिक तथा मानसिक सम्बन्ध एवम् सम्पर्क है। मनुष्यों के बाह्य सम्बन्ध उसके अदृश्य आन्तरिक सम्बन्ध की स्थूल अभिव्यक्तियां हैं।

सूक्ष्म जगत् की आंतरिक भूमिकाओं के ज्ञान के बिना, सन्तो, और सद्‌गुरुओं के दर्शन का यथार्थ महत्व नहीं समझा जा सकता। प्राचीन ऋषिओं, ने सन्तो तथा सद्‌गुरुओं के दर्शन को विशेष महत्व दिया है, **क्योंकि उनसे प्रेम और प्रकाश निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। सद्‌गुरु और सन्त भले ही मुख से न बोलें, और दर्शक को कोई शाब्दिक उपदेश या आज्ञा न भी दें, तो भी, वे दर्शनमात्र से साधक के अंतःकरण पर, प्रचण्ड प्रभाव डालते है।** दर्शन का प्रभाव साधक की ग्रहण शक्ति तथा प्रत्युत्तर पर निर्भर रहता है। साधक का सद्‌गुरु के दर्शन से प्रभावित होना, उसके संस्कारों पर निर्भर रहता है। बहुधा साधक सद्‌गुरु के दर्शनमात्र से संतुष्ट हो जाता है, और वह सद्‌गुरु के दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु की चाह नहीं करता। सद्‌गुरु के दर्शन–भाव से ही आनन्द और संतुष्टि प्राप्त करना स्तुत्य है, क्योंकि इससे साधक की इच्छा–शून्यता और प्रेम का परिचय मिलता है। इच्छाशून्यता और प्रेम ही तो आध्यात्मिकता के वास्तविक लक्षण हैं। परम प्रियतम का दर्शन प्राप्त करके, साधक बार बार दर्शन चाहता है। दर्शन के अतिरिक्त, वह और किसी बात की इच्छा नहीं रखता। इस भाँति, सद्‌गुरू के अधिक **सहवास** प्राप्त करने की आध्यात्मिक इच्छा से साधक प्रेरित होता है। दर्शन के उपरान्त, गुरुसहवास दर्शनप्रभाव को गहरा और बलिष्ठ बनाता है। परिणामतः साधक अंतर्लोक में सद्‌गुरु के अधिकाधिक निकट खिंचता जाता है।

**दर्शन और सहवास का महत्व।**

दर्शन की तरह सद्‌गुरु के चरणों पर साष्टांग दण्डवत भी लाभदायक होता है। पाँव शरीर के निम्नतम भाग है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से पाँव सर्वोच्च भाग है। शारीरिक दृष्टि से, पाँव अच्छा और बुरा, सुरूप और कुरूप, स्वच्छ और मलिन सभी का स्पर्श प्राप्त करके भी, सबसे अलग रहते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से सद्‌गुरु के पाँव संसार की सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ हैं। संसार

**सद्‌गुरु के चरण**

तो सद्गुरु के चरण की धूल की तरह है। **जब मनुष्य सद्गुरु के पास पहुँचते हैं, और उसके चरणों को अपने हाथों से छूते हैं, तो वे अपने संस्कारों का बोझ उन पर डाल देते हैं।** जिस प्रकार, साधारण मनुष्य चलते फिरते अपने पाँवों पर संसार की धूल संचित करता है, उसी प्रकार, सद्गुरु सारे संसार–भर से संस्कारों को बटोरता है। एक प्राचीन प्रथा है, कि सद्गुरु का दर्शन करके, उसके चरणों पर गिरने के पश्चात् साधक उसके चरणों को दुग्ध और मधु से धोता है, और उसके चरणों के निकट एक नारियल अपनी भेंट की तरह रख देता है। शहद लाल संस्कारों का प्रतिनिधित्व करता है; दूध सफेद संस्कारों का प्रतिनिधित्व करता है; और नारियल मन का प्रतिनिधित्व करता है। कई स्थानों में यह प्रथा स्थायी हो गई है। यह प्रथा अपने संस्कारों का भार सद्गुरु पर डालने, तथा अपने मन को उन्हें अर्पित करने का प्रतीक है। सद्गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण करना आध्यात्मिक जीवन की महत्वपूर्ण शर्त है। आध्यात्मिक पथ में, शिष्य तभी प्रवेश करता है, जब वह यह प्राथमिक शर्त पूरी करे।

एक बार जब साधक सद्गुरु का दर्शन कर लेता है, तो फिर गुरु का वह दृश्य उसके मन में अंकित हो जाता है। गुरु का बार–बार शारीरिक संपर्क प्राप्त न कर सकने पर भी, उसका मन बार–बार गुरु की ओर फिरता है, और वह गुरु के महात्म्य को हृदयंगम करने का प्रयत्न करता है।

**मानसिक सम्पर्क**

बीती हुई घटनाओं की काल्पनिक स्मृति, तथा गुरु से मानसिक सम्पर्क स्थापित करने में बड़ा भारी फ़र्क है। विगत बातों की याद करने में कोई निश्चित प्रयोजन का होना आवश्यक नहीं है। किन्तु गुरु से मानसिक सम्पर्क स्थापित करने में एक निश्चित प्रयोजन रहता है। **प्रयोजनमूलक निर्देशक शक्ति** की विद्यमानता के कारण गुरु–स्मरण मन में विचारों मात्र का काल्पनिक चक्कर नहीं हुआ करता। ऐसा स्मरण गुरु के पास पहुँचता है, और उनसे आंतरिक सम्पर्क की स्थापना हो जाती है। गुरु से ऐसा मानसिक सम्पर्क स्थापित करना उतना ही लाभदायक है, जितना उनका साक्षात् दर्शन करना। भीतर ही भीतर गुरु का इस प्रकार बार–बार स्मरण करना, गुरु और शिष्य के बीच में ऐसे प्रवाह–पथ की रचना है, जिसके सहारे दोनो के बीच की दूरी के बावजूद गुरु के पास से निःसृत होने वाले अनुग्रह, प्रेम और प्रकाश का स्त्रोत शिष्य तक पहुँचता है; **इस भाँति, गुरु की सहायता उनके शारीरिक सम्पर्क में रहने वालों को ही प्राप्त नहीं होतीं, उनके पास भी पहुँचती है, जो उनसे दूर रह कर भी, मानसिक संपर्क स्थापित करते हैं।**

शिष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर, गुरु का सर्वप्रथम ध्यान जाता है। यह सर्वप्रथम शिष्य को ऐसे प्रभावों से बचाता है, जो उसका ध्यान आध्यात्मिक पथ से अन्यत्र खींचते हैं, और उसकी आध्यात्मिक उन्नति में हस्तक्षेप करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति में विघ्न डालने वाले संस्पर्शों से, शिष्य की रक्षा के लिए गुरु शिष्य को कुछ काल तक एकान्त में रहने की आज्ञा देता है। अपने गुरू की आज्ञा अनुसार, प्राचीन काल के योगी अपना भोजन अपने हाथ से ही पकाते थे, और भोजन करते समय किसी भी मनुष्य को अपने पास नहीं रहने देते थे। इसका कारण यह था, कि वे बुरे विचार के लोगों की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से, अपने आपको दूर रखना चाहते थे। जिस प्रकार, स्वच्छ वस्त्र गन्दगी से दूषित हो सकता है, उसी प्रकार शिष्य का मन अन्य मनुष्य की वासना के संस्कार से प्रभावित हो सकता है। जो लोग पथ में नहीं है, उनकी संगति करने से, तथा उनसे संसर्ग स्थापित करने से शिष्य को हानि की सम्भावना रहती है। अतः ऐसे लोगों से अलग रहना ही, शुरू शुरू में श्रेयस्कर होता है। **किन्तु विशेष परिस्थिति में ही, विशेष आवश्यक होने पर, गुरु कुछ सम्बन्धों और संपर्कों को तोड़ने, या उनसे बिल्कुल दूर रहने की विशेष आज्ञा देता है।** गुरु के सहवास से, ऐसी कठिनाइयाँ आप ही आप दूर हो जाती हैं। गुरु का सहवास करने पर, औरों से सम्बन्ध या दूर रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु, शिष्य के संसार में रहते हुए भी उसका मन संसार से अलिप्त तथा अनासक्त रह सकता है, क्योंकि उसका मानसिक संपर्क गुरु से रहता है।

**कुछ गूढ़ अवस्थाओं के लिए विशेष चेतावनी दी जाती है।**

जिस प्रकार, गुरु अपने निकटवर्ती शिष्य को उसके कुछ अवाँछनीय सम्पर्कों तथा सम्बन्धों से अलग रहने के लिए कहता है, उसी प्रकार, वह उसे कुछ नये व्यक्तियों से नवीन सम्बन्ध स्थापित करने, और उनकी संगति करने के लिए कहता है, जिससे शिष्य को लाभ पहुँचे। गुरु को सभी मनुष्यों के कर्म–बंधनों तथा संस्कारों का पूर्ण ज्ञान रहता है। अतः वह ऐसे लोगों से संग और संसर्ग करने के लिए कहता है, जिनका संग संसर्ग और पारस्परिक लाभ के लिए उत्तम होता है। गुरु की आज्ञा के अनुसार संग और संगति करने से, शिष्य को, आध्यात्मिक यात्रा करने में, अत्यन्त सुविधा और सुभीता रहता है। **दूसरे लोगों के पूर्वजन्मों, उनके संस्कारों तथा गुणावगुणों का गुरु को पूर्ण ज्ञान रहता है। अतः वह ऐसे ही संसर्गों और संपर्कों को प्रोत्साहित करता है, जिनसे आध्यात्मिक शक्ति का अपव्यय और दुरूपयोग न हो, तथा उसका सर्वोत्तम उपयोग किया जा सके।**

**सहायक संसर्ग तथा संग।**

अंतर्जगत् की एकता तथा संलग्नता के सबब, गुरु शिष्य को माध्यम बनाकर अपना आध्यात्मिक कार्य करता है, यद्यपि शिष्य यह नहीं जानता, कि उसके द्वारा कौनसा कार्य कराया जा रहा है। शिष्य गुरु को समझता है तथा उसे प्रेम करता है। इस ज्ञान प्रेम, आज्ञापालन तथा आत्म समर्पण के द्वारा, गुरु और शिष्य के बीच में, आध्यात्मिक सम्बन्ध हो जाता है। और शिष्य का गुरु के साथ स्वरसंगति तथा तालैक्य (Rapport) बँध जाता है। जो गुरू के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं, वे गुरु की प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करते हैं; तथा जो गुरु के शिष्यों के सम्पर्क में आ जाते हैं वे गुरु की अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करते हैं।

**शिष्य गुरु का माध्यम होता है।**

आध्यात्मिक कार्य में भाग लेना एकांगी नहीं होता। वे शिष्य भी जो गुरुचिंतन तथा गुरूध्यान करते हैं, गुरु के उस आध्यात्मिक तथा सार्वलौकिक कार्य में भाग लेते हैं, जिसमें वह उस समय लगा रहता है। अनन्त से युक्त होने के कारण गुरु कालातीत होता है। किन्तु मानवता के उद्धारचिंतन के कारण, वह काल की सीमायें अपने ऊपर धारणा करता है। इस दृष्टि से, शिष्य गुरु की स्वेच्छापूर्वक सेवा करके, गुरु को सहायता पहुँचाते हैं। शिष्यों का प्रेम गुरु का भोजन है। **शिष्यों से गुरु के प्रति जो प्रेम प्रवाहित होता है, उसका गुरु अपने सार्वलौकिक कार्य में उपयोग करता है।** इस दृष्टिकोण से, गुरु उस **वितरण केन्द्र** (Relaying Station) के समान है, जो गति को सिर्फ इसी लिये ग्रहण करता है, क्योंकि वह उसे संसार में वितरण करना चाहता है। गुरु को प्रेम करना वस्तुतः समस्त संसार को प्रेम करना है। गुरु जितना भी प्रेम सूक्ष्म जगत् में प्राप्त करता है, उसे वह आध्यात्ममय बनाकर, संसार में बाँट देता है। इस प्रकार, शिष्यों का प्रेम प्राप्त करके, वह व्यक्तिगत सम्बन्ध ही दृढ़ नहीं करता, किन्तु वह शिष्यों को अपने दिव्य कार्य में हाथ बँटाने का विशेष अधिकार भी प्रदान करता है।

**गुरु मानो एक वितरण केन्द्र है।**

असंख्य उपायों के द्वारा, गुरु शिष्य को अपनी सत्ता में समाविष्ट करने की चेष्टा करता है। लाखों ढंग से, वह शिष्य की सांसारासक्ति भंग करने का प्रयत्न करता है, ताकि शिष्य वास्तव में ईश्वराप्राप्ति की इच्छा करें। ईश्वर प्राप्ति की लालसा साधक में पूर्व से ही विद्यमान रहती है, किन्तु साधक के अन्तर्चक्षु को खोल गुरु इस प्रारम्भिक आकाँक्षा को तीव्र और सुस्पष्ट करता है। **अंतर्चक्षु के खुलने पर, शोध और आकाँक्षा का विषय अर्थात् ईश्वर, प्रत्यक्ष दिखाई देता है।** जब आत्मा की दृष्टि अंतर्मुख होती है, और परम सत्य पर केन्द्रित होती है, तब उससे युक्त होने की आकाँक्षा अपेक्षाकृत अत्यन्त प्रचण्ड और तीक्ष्ण हो

अंतर्चक्षु।

जाती है। आरम्भ में यह इच्छा एक अन्दाज या कल्पना मात्र होती है। योग्य समय के आने पर, गुरु अन्तर्चक्षु को एक क्षण से भी कम समय में खोल देता है।

**ऊँ बिंदु**

शिष्य को यह महसूस करना पड़ता है, कि ईश्वर ही परम सत्य है और वह उस ईश्वर से युक्त है। इसका यह अर्थ है, कि नाना नामरूपात्मक संसार के जंजाल से, उसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। **यथार्थ में सारा संसार आत्मा के भीतर है; और आत्मा के भीतर विद्यमान एक लघु बिन्दु ऊँ से ही संसार अस्तित्व में आता है।** किन्तु आत्मा को, किसी आधार के आश्रय से अनुभव प्राप्त करने की आदत हो जाती है। अतः वह संसार को अपने से बाहर समझता है; और उसे अपना भयंकर प्रतिद्वंन्द्वी मानने लगता है। **ईश्वर का जिसे ज्ञान है वे निरन्तर यह देख रहे हैं कि समस्त संसार इस लघु ऊँ बिंदु से उत्पन्न हो रहा है।** यह ऊँ बिंदु प्रत्येक के अन्दर विद्यमान है।

**इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की उलट प्रक्रिया (Reversing the process of Perception)**

इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) की प्रक्रिया सृष्टि की प्रक्रिया के साथ ही साथ चलती है। चेतना को मिटाये बिना, इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की उलट प्रक्रिया (reversing) सृष्टि की पृथक सत्ता को शून्यवत् समझना है। आत्मा पहले मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, फिर सूक्ष्मचक्षु के द्वारा, और अन्त में दहचक्षु के द्वारा। **किन्तु आत्मा जितना ज्ञान प्राप्त करता है या जिस संसार का ज्ञान प्राप्त करता है स्वयम् वह उससे विशाल और महान है।** आत्मा की तुलना में महासमुद्र तथा विशाल आकाश अत्यन्त लघु है। **आत्मा जिसका बाहरी ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुतः सादि और सान्त किन्तु स्वयम् आत्मा अनादि ओर अनन्त है।** पूर्ण चेतना साथ में रख कर भी, जब आत्मा बाहर कुछ भी नहीं देखता, तब वह स्वरचित संसार को पार कर जाता है, और वह अपने को सब कुछ जानने का महत्वपूर्ण पग उठाता है।

**सिद्धियां**

संसार से चेतना ज्यों–ज्यों वापिस खींची जाएगी, और अंतर्मुख चेतना ज्यों ज्यों आत्मा का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करती जाएगी, त्यों–त्यों चेतना के साधनो पर, अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हो जायगा। चेतना के अर्न्तमुख होने से, वे नियामक केन्द्र (चक्र) सजीवी तथा क्रियाशील हो जाते हैं, जिनका अब तक चेतना ने उपयोग नहीं किया है। इन केद्रों के सजीव तथा क्रियाशील होने से, चेतना को चेतना के साधनो पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। इन नवीन

केन्द्रों के जागृत होने से अनेक गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये शक्तियाँ सामान्यतः सिद्धियाँ कहलाती हैं। साधक के आध्यात्मिकता में पूर्ण होने के पहले ही ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। इन सिद्धियों के प्राप्ति से, अहंकार के बढ़ने की सम्भावना रहती है। साधक इन गूढ़ शक्तियों की प्राप्ति से, न केवल गर्वित और आह्लादित होता है, किन्तु सांसारिक उद्देश्यों की प्राप्तियों के लिये, वह इन सिद्धियों का दुरूपयोग कर सकता है। कहना न होगा कि सांसारिक वासनाओं से वह इस अवस्था में मुक्त नहीं हुआ रहता। अतः सिद्धियाँ ईश्वरानुभूति में बाधा डालती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। ईश्वरानुभूति हो जाने पर, इन सिद्धियों या गूढ़ शक्तियों का महत्व नहीं रह जाता। **सिद्धियाँ शून्य स्वरूप संसार से ही सम्बन्ध रखती हैं, अतः ईश्वर का जिसे ज्ञान हो जाता है वह इन सिद्धियों का कुछ भी मूल्य नहीं समझता।** ईश्वर–ज्ञान की तुलना में ये सिद्धियाँ कुछ नहीं के तुल्य होती हैं। ईश्वर–वेत्ता पुरुष यद्यपि संसार को शून्य के सदृश मानता है, तथापि संसार के बद्ध जीवों को मुक्त करने के लिये, वह स्वयं सीमाएं ग्रहण करता है; और इस हालत में, वह दूसरों के आध्यात्मिक कल्याण के लिये स्वतंत्र तथा उचित ढंग से, गूढ़ शक्तियों और सिद्धियों का सदुपयोग करता है।

**दैवी योजना को कार्यान्वित करना।**

ज्ञानी गुरुओं के वश के बाहर कुछ भी नहीं रहता। जिन उच्च भूमिकाओं पर वे स्थित रहते हैं, वहाँ की शक्तियों को प्रवाहित करके वे युद्ध, क्रान्ति संस्पर्शजन्य रोग, भूकम्प, बाढ़, तथा अन्यान्य परिवर्तनों का निर्देश और संचालन करते रहते हैं। **संयुक्त तथा सहयोगपूर्ण आध्यात्मिक कार्य** को सम्पन्न करने के लिये, गुरु अपनी गूढ़ शक्तियों का भी उपयोग कर सकते हैं। मानवता के उत्कर्ष के लिये वे उच्च भूमिकाओं पर कभी कभी सभाएं भी करते हैं। **सर्वगत, तथा सर्व–व्याप्त परमात्मा एक तथा अद्वितीय है। और एकतापूर्वक ही वह कार्य करता है।** जिन्हें इस एकता का ज्ञान हो जाता है, वे अनन्त उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के योग्य हो जाते हैं, चूँकि वे मानवीय मन सीमाओं से मुक्त हो चुके रहते हैं, तथा उनका भाव इतना स्वार्थ–शून्य एवम् सार्वलौकिक हो जाता है, **कि वे पृथ्वी पर दैवी योजना को कार्यान्वित करने के लिये, उपयुक्त माध्यम बन जाते हैं।**

# गूढ़ विद्या का आध्यात्मिक जीवन से संबंध

## (भाग 3)
## गूढ़ विद्या तथा आध्यात्मिकता

**गूढ विद्या (Occultism) एक भौतिक शास्त्र है।**

गूढ़ विद्या (Occultism) अन्य भौतिक शास्त्रों के समान ही एक शास्त्र है। वह जगत तथा मानवीय व्यक्तित्व के अध्ययन से सम्बन्ध रखती है। अन्य शास्त्र भी भौतिक विषयों का अध्ययन करते हैं। अन्य विद्याओं तथा गूढ़ विद्याओं में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं। अन्य विद्याओं तथा गूढ़ विद्या में फ़र्क केवल इतना ही है, कि अन्य विद्याएं संसार के उन विषयों का अध्ययन करती हैं, जिनका चिंतन अवलोकन तथा प्रयोग करना सामान्य लोगों के लिये सम्भव होता है तथा **गूढ़ विद्या उन आंतरिक भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध रखती है, जिनका चिन्तन अवलोकन तथा बौद्धिक विशलेषण करना सामान्य लोगों के लिये सम्भवनीय नहीं होता।** जिस अनुपात में आत्मा की सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, उसी अनुपात में गूढ़ विद्या का ज्ञान बढ़ता है।

आधुनिक साइकिकल रिसर्च सोसाइटियाँ (Psychial Research Societies) अर्थात अंतःकरण की गुप्त शक्तियों का अनुसंधान करने वाली सभाएं, अन्य विद्याओं की ही

भाँति, गूढ़ विद्या को भी समझती हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से, गूढ़ विद्या, अन्य भौतिक विद्याओं की अपेक्षा, न तो कम उपयोगी है, और न अधिक उपयोगी। ये सभाएं, सहयोगपूर्वक, एवम् संगठित रूप से गूढ़ विद्या का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, सूक्ष्म एवम् कारण शरीर का अस्तित्व, अंतर्जगत् की विभिन्न भूमिकाएं, विकासवाद के नियम तथा कर्मसम्बन्धी नियम, इत्यादि कुछ मुख्य गुप्त तथ्यों का, समय–समय पर, रहस्योद्‌घाटन करके, सद्‌गुरुओं ने भी गूढ़ विद्या का थोड़ा सा शास्त्रीय ज्ञान, सर्व साधारण लोगों को प्रदान करना, आवश्यक समझा है। ऐसे रहस्योद्‌घाटन से, आध्यात्मिक आकाँक्षा तथा साधना को उचित प्रोत्साहन मिलता है; तथा औसत दर्जे के मनुष्य को भी अनन्त सत्य की शोध करने का उत्साह प्राप्त होता है। किन्तु सद्‌गुरुओं ने गूढ़ विद्या का तत्वविषयक केवल साधारण ज्ञान का ही उद्‌घाटन किया है। उन्होंने मानव जाति को गूढ़ तथ्यों का विस्तृत ज्ञान देना उचित नहीं समझा है। **उन्होंने मानवता के कल्याण को ही ध्यान में रख कर गूढ़ विद्या के प्रसार को अत्यन्त सीमित रखा है।** उन्होंने केवल सिद्धान्त सम्बन्धी संक्षिप्त ज्ञान ही सर्वसामान्य को विदित होने दिया है। विशेष गुप्त शक्तियों को उन्होंने रहस्य–गर्भित ही रहने दिया है; क्योंकि उनका उपयोगक्षम कलात्मक ज्ञान, सर्वसामान्य को प्राप्त होने पर, मानव जाति का अनिष्ट हो सकता है।

**गूढ़ विद्या के प्रसार की सीमाएँ**

दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा, गूढ़ विद्या में, जाननेवाले तथा न जाननेवाले में, महान अन्तर है। अन्य विद्याओं का अप्रत्यक्ष ज्ञान, अंशतः उन विद्याओं के प्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान ले सकता है। किन्तु गूढ़ विद्या के सैद्धान्तिक एवम् अप्रत्यक्ष ज्ञान के और उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्व में महदंतर है। गूढ़ तत्वों के सैद्वान्तिक ज्ञान का न तो कुछ महत्व और न उसका कुछ उपयोग है। महत्व और उपयोग तो गूढ तत्वों के केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का है। यद्यपि गूढ विद्या एक महत्वपूर्ण शास्त्र है तथापि उसका कोरा सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान कुछ भी महत्व नहीं रखता। जिन्हें गूढ़ तथ्यों का स्वयम् प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं है, उनका गूढ़ विद्या का सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान, ऐसे देशों के वर्णन और समाचार के तुल्य है, जिन्हें उन्होंने अपनी आँखों से कभी नहीं देखा है। गूढ़ विद्या का सैद्धान्तिक ज्ञान वास्तविक गूढ़ तथ्यों की निरी कल्पना है।

**जाननेवाले तथा न जाननेवाले**

**शास्त्र की हैसियत से, गूढ़ विद्या अन्य विद्याओं की भाति ही एक शास्त्र है। किन्तु कला की हैसियत से वह निरूपम है।** गूढ़ तथ्यों के सैद्धांतिक ज्ञान के

प्रसार से भी कभी—कभी अनिष्ट एवम् अनर्थ की संभाव्यता रहती है; क्योंकि ऐसे ज्ञान के प्रसार से लोगों की व्यर्थ उत्सुकता बढ़ जाती है। गूढ शक्तियों को प्राप्त करना आध्यात्मिकता नहीं है। गूढ़ शक्तियों को प्राप्त करने तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में महान अन्तर है। जिस प्रकार अन्य भौतिक या वैज्ञानिक आविष्कारों का सदुपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार गूढ़ या गुप्त शक्तियों का भी सदुपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है। गूढ़ शक्ति की सहायता से, अंतर्जगत् की उच्चतर भूतिकाओं में सहयोगपूर्वक आध्यात्मिक कार्य करने का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐसा सहयोग—पूर्ण आध्यात्मिक कार्य तभी किया जा सकता है। जब गूढ़ शक्तियों का उपयोग, अपने तथा औरों के आध्यात्मिक कल्याण करने के उद्देश्य से किया जाय। कुछ लोग अपने गम्भीर आध्यात्मिक उत्तरदायित्व को नहीं समझते; तथा अपनी गुप्त शक्ति का दुरुपयोग करके अपना तथा औरों का महान् अहित करते हैं।

**गूढ़ विद्या का व्यवहारापयोगी या कलात्मक ज्ञान**

नौसिखुआ साधक गूढ़ शक्तियों की साधना कर सकता है। और, निश्चित सीमा के भीतर, कुछ शक्तियाँ प्राप्त भी कर सकता है। नवीन शक्तियों के प्राप्त होने पर, उसे नवीन आध्यात्मिक उत्तरदायित्व भी प्राप्त होता है। यदि वह इस नवीन आध्यात्मिक उत्तरदायित्व का पालन करने के योग्य नहीं है, तो उसकी नवीन गुप्त शक्ति, उसके लिये वरदान न होकर अभिशाप सिद्ध होगी। गूढ़ शक्ति का ज़रा भी दुरुपयोग करने से महान घातक परिणाम होता है। और आत्मा का बन्धन और भी दृढ़ हो जाता है। गूढ़ शक्ति का दुरुपयोग करने से कभी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बिल्कुल अवरुद्ध हो जाता है; और उन्नत आध्यात्मिक अवस्था से महान अधःपतन हो जाता है। **गूढ़ शक्तियों के प्राप्त होने से, साधकों को औरों के ऊपर भयानक विशेषाधिकार मिल जाता है; और वह यदि अपनी शक्तियों का अविचारपूर्वक दुरुपयोग करे, तो वह अपना आध्यात्मिक सर्वनाश तो करता ही है, और साथ ही साथ औरों को भी कुछ कम नुकसान नहीं पहुँचाता।**

**गूढ़ शक्ति का दुरुपयोग**

आध्यात्मिक ज्ञान—सम्पन्न गुरु—जनों के हाथों मे, गूढ़ शक्ति सुरक्षित रहती है; तथा वे उसका उपयोग मानव जाति का हित करने के लिये करते हैं। किन्तु वे लोग भी उसका अत्यन्त परिमित एवम् अल्प उपयोग करते हैं। गूढ़ विद्या के व्यवहारोपयोगी ज्ञान को विस्तृत उपयोग करने में स्वाभाविक कठिनाइयाँ हैं। मानव जाति की लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने, तथा उसका भौतिक स्वार्थ पूरा करने में, गुप्त शक्तियों

का अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता। **कर्म के नियम, संसार में, समान रूप से और निर्विघ्न तभी चल सकते हैं, जब लोग उसी नियम के द्वारा शासित सम्भावनाओं के भरोसे छोड़ दिये जायें। कर्म के नियम में हस्तक्षेप करने से, सामान्य मानवीय व्यापार, अनिश्चित, अर्थहीन एवम् अस्त–व्यस्त हो जायेगा।** यही कारण है कि कारण कार्य सत्ता से शासित विश्व के क्षेत्र में, या कर्म के नियम के अधीन मानव जाति के प्रदेश में किसी अनिश्चित अलौकिक तथा दुर्ज्ञेय तत्व का प्रचार नहीं किया जाता। यही वजह है; कि **गूढ़ शक्ति का उपयोग, केवल आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि तक, सीमित है।**

गूढ़ शक्ति से केवल आध्यात्मिक कल्याण करना चाहिये।

सन्त–गण, कभी–कभी, अपने भक्तों की कुछ सांसारिक इच्छा भी पूरी करते हैं। किन्तु सांसारिक विषयों मे; उनकी खुद की रूचि नहीं रहती। किन्तु दर असल; वे अपने भक्तों को; संसार से विरक्त करना चाहते हैं। उन्हे संसारविमुख करके आध्यात्मिकता की ओर खींचने के ही उद्देश्य से, वे उनके समक्ष सांसारिक प्रलोभन रखते हैं। छोटे–छोटे बच्चे, स्लेट पर लिखे हुए अक्षरों पर ध्यान नहीं जमाते। अक्षरों पर बच्चों का ध्यान खींचने के लिए, उनके मां–बाप उन्हें लोभ देते है; और मिठाई से बने हुए अक्षर उनको देते हैं। अक्षरों के लोभ के कारण नहीं, किन्तु मिठाई के लोभ के सबब, बच्चों का ध्यान मिठाई के अक्षरों पर तुरन्त जम जाता है। ज्योंही बच्चों का ध्यान अक्षरों पर जमने लगता है; और वे अक्षरों में दिलचस्पी लेने लग जाते हैं, त्योंही मिठाई निकाल बाहर कर दी जाती है। सांसारिक मनुष्य, इसी प्रकार के नन्हें बच्चे हैं। अच्छी बातें सीखने में प्रोत्साहन देने के लिये, जिस प्रकार पिता अपने बच्चों को चॉकलेट देता है, उसी प्रकार, सन्तगण अपने संसारसक्त भक्तों की कुछ हानि–शून्य सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करके उन इच्छाओं को छोड़ने तथा सच्ची आध्यात्मिकता को ग्रहण करने का उनका उत्साह बढ़ाते हैं।

सांसरिक लोभ देकर आध्यात्मिकता की ओर खींचना।

संसारी मनुष्य, भौतिक भोग–विलास की तृष्णाओं में, ऐसे डूबे रहते हैं, कि इन तृष्णाओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी नहीं सूझता। सम्भव है, कि अपनी सांसारिक इच्छा पूर्ण करने का इरादा रख कर, वे सन्तो के पास जाएँ एवम् उनकी सेवा तथा सम्मान करें। **जब कोई व्यक्ति, किसी सन्त के पास सम्मान–पूर्वक पहुँचता है, तो संत का यह कर्त्तव्य हो जाता है, कि सांसारिक इच्छा लेकर आये हुए मनुष्य की वह आध्यात्मिक सहायता करें।** सन्त को मनुष्य के मन का

पूरा–पूरा ज्ञान रहता है। अतः सम्भव है, कि सन्त, उस मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर आसानी से खींचने के इरादे से, उसकी सांसारिक इच्छा पूरी कर दें। किंतु आध्यात्मिकता की ओर खींचने के उद्देश्य से, भौतिक प्रलोभन देना कोई नियम नहीं है। यह नियम का एक अपवाद है। ज़्यादातर, भौतिक लाभ के लिये आने वाले लोगों को, सन्त निरुत्साहित करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सन्तों को किसी स्वार्थपूर्ण गरज से प्रेम करने की अपेक्षा, उन्हें बिना किसी स्वार्थ के प्रेम करना लाख दर्जे बेहतर है। उन्हें सिर्फ इसलिये प्रेम करना चाहिये कि वे प्रेम करने योग्य हैं। **सच्ची आध्यात्मिक सहायता प्राप्त करने के ही इरादे से, सन्तो के पास जाना चाहिए। कोई दूसरा इरादा लेकर उनके पास पहुँचना उचित नहीं है।** सच्ची आध्यात्मिक आकाँक्षा लेकर, सन्तो के पास जाने तथा उनका सहवास करने से ही परम कल्याण की प्राप्ति होती है।

**सांसारिक इच्छा लेकर सन्तो के पास नहीं जाना चाहिये।**

गूढ़ विद्या का कलात्मक औचित्य इस बात में है, कि उसके व्यावहारिक उपयोग से आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि होती है। आध्यात्मिक उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से, गूढ़ शक्ति का उपयोग वस्तुतः उसका दुरुपयोग है। सांसारिक लाभ के लिये, गूढ शक्ति का कदापि अवलम्ब नहीं करना चाहिये। उसके द्वारा मनुष्य अपनी सांसारिक तृष्णाओं की पूर्ति कर सकता है। किन्तु ऐसा करने में उसकी वास्तविक उपादेयता नष्ट हो जाती है। हृदय को पवित्र करने के लिये, उसका उपयोग करने में ही, उसकी वास्तविक उपादेयता है। **मानव जाति की निम्नतर इच्छाओं को दूर करने, तथा उसके हृदय को शुद्ध करने के लिये, गूढ़ शक्ति एक महान् एवम् अत्यन्त प्रभावशाली साधन है।**

**मानव जाति की शुद्धि करने के लिये गूढ़ शक्तियाँ काम में लायी जाती हैं।**

जो लोग इतनी उन्नति कर चुके हैं, कि उनकी अंतःकरण की प्रसुप्त शक्तियाँ अब–तब जागृत होने ही वाली हैं, या जिन लोगों की आंतरिक शक्तियाँ काफी जागृत हो चुकी हैं, किन्तु उच्चतर भूमिकाओं में उनकी चेतना के खिंच जाने के कारण, जिन्हें, स्थूल संसार का पूर्ण ज्ञान नहीं है, खास ऐसे लोगों के लिये गुप्त शक्तियों का उपयोग करना, अत्यन्त आवश्यक एवम् उपयुक्त हुआ करता है। ऐसे लोगों के साथ, उसी भाषा में बात करना पड़ता है, जिस भाषा को वे समझ सकते हैं। बहुत से ऐसे होंते हैं, जिन्हें अनेक गुप्त शक्तियाँ प्राप्त हो चुकी रहती हैं किन्तु उन्हें भी आध्यात्मिक सहायता की उसी प्रकार जरूरत

**गूढ़ शक्तियों के उपयोग के लिये विशेष क्षेत्र**

रहती है, जिस प्रकार सामान्य मनुष्य को। चूँकि उन्हें बहुत सी गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त हो चुकी रहती हैं, अतः गुरु जन उनसे दूर रहकर भी, आसानी के साथ एवम् प्रभावपूर्ण ढंग से उनको सहायता पहुँचा सकते हैं। **उच्चतर भूमिकाओं पर गुरुजनों की ज्ञानपूर्वक सहायता प्राप्त करना, केवल स्थूल माध्यम के द्वारा सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा, अधिक फलदायक होता है।**

आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ना तो कठिन हुआ ही करता है, साथ ही साथ, अत्यधिक साधकों का यह भी लक्षण होता है, कि उच्च भूमिका के आनन्द में, वे इतने मग्न रहते हैं, कि सेवाकार्य के लिये, स्थूल क्षेत्र में उतरना, वे ज़रा भी पसन्द नहीं करते। सिद्ध

**अवतरण**

पुरुषों का, सातवीं भूमिका में पहुँच कर ईश्वर ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात, जो अवतरण होता है, उसमें तथा उन्नत साधकों के नीचे उतरने में, अन्तर है। सिद्ध पुरुषों का अवतरण एवम् ईश्वरानुभूति के पश्चात, उनका किसी निम्नतर विशेष भूमिका में, कार्य के लिये स्थित होना प्रारब्ध का परिणाम है। पारमार्थिक हेतु से प्रेरित होकर, मानव जाति का आध्यात्मिक कल्याण करने के लिये ही, सिद्ध सद्‌गुरु प्रारब्ध का उपयोग करते हैं; और अवतरित होते हैं। वे, जिस प्रकार की आध्यात्मिक सत्ता से सम्पन्न होते हैं, उसी के अनुसार वे किसी विशिष्ट भूमिका में स्थित होते हैं। उदाहरणार्थः मोहम्मद ईश्वरानुभूति के पश्चात् सातवीं भूमिका में, बुद्ध पाँचवी भूमिका में, तथा अजमेर के मोएनुद्दीन चिस्ती, पाँचवी भूमिका में, क्रमशः स्थित थे।

जब साधक दो भूमिकाओं के बीच अटक जाते हैं, तब आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने के लिये, उन्हें थोड़ा पीछे हटना पड़ता है। दूसरी भाषा में यों कहा जा सकता है कि उच्च्तर भूमिका में प्रवेश करने के लिये उन्हें निम्नतर भूमिका में उतरना पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब साधक तीसरी भूमिका और चौथी भूमिका के बीच में, फँस जाता है, तब ऐसे साधक को, चौथी भूमिका पर चढ़ाने के लिये सद्‌गुरु उसे तीसरी भूमिका में उतार देता है। उच्च भूमिका में साधकों का इस प्रकार दूसरों के लिये नीचे उतरना, उन साधारण लोगों के लिये, लाभदायक होता है, जो आध्यात्मिक पथ में प्रविष्ट नहीं हुए रहते; तथा जो संसार के गहन वन में ही भटकते रहते हैं। **सद्‌गुरु कभी कभी, किसी साधक के द्वारा, कोई आध्यात्मिक कार्य कराना चाहते हैं; अतः जिज्ञासु को अपनी वैयक्तिक उन्नति का प्रयत्न स्थगित करने के लिये कहते हैं।** आध्यात्मिक पथ की अगली अवस्था को, शीघ्रता तथा सरलतापूर्वक पार करने के लिये, इस प्रकार नीचे उतरना, मानो एक तैयारी है। यह, मानो, दो कदम पीछे हटने के समान है। इस प्रकार नीचे उतरना, लाभदायक होने पर भी, साधक के लिये, दूसरों की सहायता करने

के लिये अपनी उच्च अवस्था से नीचे उतरना, बड़ा कठिन प्रतीत होता है। पाँचवी भूमिका पर स्थित जिज्ञासु के लिये, नीचे उतरना खासतौर पर कठिन होता है, क्योंकि पाँचवी भूमिका पर से, अनन्त सत्य दिखाई देने लगता है और उसकी ज्योति प्राप्त हो जाती है। सूफी वाद में यह स्थिति हैरत कहलाती है। इस अवस्था में, अनन्त की ज्योति को छोड़ कर, नीचे उतरने में साधक को महान कठिनाई का अनुभव होता है। किन्तु, कभी कभी, अनन्त के प्रकाश में डूबने का लोभ–त्याग कर, संसार के अन्य जीवों के उद्धार के लिये; साधक का नीचे उतरना ज़रूरी हो जाता है। सद्‌गुरु ऐसे उन्नत साधकों को नीचे लाने के लिये, अपने ख़ास तरीक़े का उपयोग करता है। सच तो यह है, कि गुरु जनकल्याण के लिये, साधक को किसी भी अप्रिय अवस्था में नीचे उतार सकते हैं।

**गंज–ए–शक्कर की कहानी।**

अजमेर के सुप्रसिद्ध वली के क़िस्से से मालूम होगा, कि सद्‌गुरु किस प्रकार अपने उच्च स्थित शिष्य को नीचे लाता है। अजमेर में इस वली की समाधि अभी तक है, जो एक विख्यात तीर्थस्थान है। इस वली की आँखे चौंधिंया गई थीं। वे निर्विशेष विस्फारित तथा स्फटिक तुल्य दिखाई देती थीं। उसकी आँखे हमेशा खुली रहती थीं। वह अपनी आँखे बंद नहीं कर सकता था। उसे खाने–पीने की सुध नहीं थी पाँचवी भूमिका में था अजमेर का ख़्वाजा इस वली का गुरु था। गुरु अपने शिष्य को नीचे उतारना चाहता था। वली के लिये अपने गुरु की आज्ञा मानना कठिन था। इस पर गुरु को चाबी ऐंठनी पड़ी। निम्नलिखित तरीक़े से गुरु ने शिष्य के होश दुरुस्त किये। उन्होंने पाँच चोरों को, इस वली के निवास–स्थान में आने के लिये, प्रेरित किया। पाँचों चोर वली से पाँच कदम दूर बैठ गये। और वे अपनी चोरी का माल बाँटने लगे। तुरन्त ही उनमें झगड़ा होने लगा। दो चोरों ने शेष तीन चोरों को जान से मार डाला। इन दोनों ने, लूट के माल को आपस में बाँट लिया, और भाग गये। भागते समय, वे वली के निवास स्थान के पास ही निकले। ज्योंही वे वली के निवास स्थान के अत्यन्त पास आये, त्यों ही वली को साधारण चेतना प्राप्त हुई। इन दुष्टों का सान्निध्य, वली को होश में लाने के लिये, काफ़ी था। चोरों के दुष्ट संस्कार से प्रभावित होकर, वली होश में आया, और उसे दुनिया का ज्ञान हुआ, तब उसे सर्वप्रथम कुछ गौरैये दिखाई दिये। अपनी जागृत शक्तिओं को आजमाने की उसकी प्रवृत्ति हुई। उसने कहा, "ओ गौरेयों, मर जाओ"। गौरेयों नीचे गिरे, और मर गये। फिर वह बोला, "गौरैयों उठ जाओ"। गोरेये जी उठे। दोनो चोर, वली का यह चमत्कार देख कर, विस्मित हुए। उन्होंने वली से उन तीन चोरों को भी ज़िन्दा करने की प्रार्थना की, जिनको उन्होंने गुस्से में आकर मार डाला था। इस पर वली ने उन तीन मुर्दे चोरों को लक्ष्य करके कहा, "जी उठो"। किन्तु वे

जीवित नहीं हुए। वली के आश्चर्य की सीमा न रही। उसे ऐसा लगा, कि उसकी शक्तियाँ नष्ट हो गयी। अपनी शक्ति का निरर्थक उपयोग करने के कारण, उसे महान पश्चाताप हुआ; और वह रोता हुआ अपने गुरु के पास पहुँचा। जब वह गुरु के पास पहुँचा, तो उसने देखा, कि वे तीनो चोर गुरु के पैरों की मालिश कर रहे हैं। यह देख कर, वली अपने निवास स्थान को वापिस लौट गया। खाने–पीने की उसने परवाह न की। वह बहुत दुबला हो गया। वह दस वर्षों तक उसी स्थान पर पड़ा रहा। उस पर सफेद चीटियाँ झूमने लगीं। और उसके शरीर को खाने लगीं। लोग वली के पास शक्कर लाया करते थे जिसे चीटियाँ खाती थीं। वली का शरीर शक्कर के ढेर से घिर गया था, अतः वह गंज–ए–शक्कर (शक्कर का ख़ज़ाना) के नाम से विख्यात हुआ। इस कहानी से यह विदित होता है, कि उन्नत साधकों को भी, आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने के लिये सद्‌गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है।

गंज–ए–शक्कर की कथा से विदित होता है, कि कैसे प्रसंगों पर गूढ़ शक्तियों और गूढ़ तरीकों का उपयोग किया जाता है। किन्तु यह जान लेना आवश्यक है, कि किसी भी गूढ़ दृश्य और गूढ़ शक्ति का कोई वास्तविक निजी महत्व (Intrinsic Value) नहीं है। **गूढ़ या अगूढ़ घटनाओं का महत्व या तो पूर्णतः भ्रामक होता है या सापेक्ष।** जब किसी वस्तु को मिथ्या महत्व दिया जाता है, तब वह भ्रामक मूल्य धारण कर लेती है, क्योंकि वह वस्तु, अज्ञानजन्य सीमित उद्देश्यों या चंचल तृष्णाओं को उत्तेजित करती है; या उनकी पूर्ति करती हुई सी दिखाई देती है। इन सीमित उद्देश्यों और चंचल तृष्णाओं को अलग करके यदि इन गुप्त चमत्कारपूर्ण दृश्यों या शक्तियों को देखा जाय तो उन पर आरोपित समस्त महत्व तथा अर्थ नष्ट हो जाता है। सत्य की अभिव्यक्ति या सत्य की अनुभूति की पूर्ति के लिये, कोई साधनस्वरूप वस्तु या अद्‌भुत घटना, (Phenomenon) जब महत्व प्राप्त कर लेती है। तब सापेक्ष मूल्य का उदय होता है। अद्‌भुत चमत्कारों को महत्व तब प्राप्त होता है, जब वे दैवी लीला के ही आधारभूत होते हैं। दैवी लीला के साधन होने के नाते, सापेक्ष होने पर भी, वे अर्थपूर्ण रहते हैं।

**गूढ चमत्कारपूर्ण घटनाओं का निजी महत्व कुछ भी नहीं है।**

अज्ञानपूर्वक या सज्ञानूपर्वक, अनेक मनुष्य, गूढ़ चमत्कारों को अनावश्यक महत्व देते हैं। गूढ़ चमत्कारों को ही वे आध्यात्मिकता समझने की भूल करते हैं। उनके लिये चमत्कार तथा भूत प्रेत के दृश्य ही अत्यन्त दिलचस्प विषय हैं। चमत्कारों और भूतप्रेतों में दिलचस्पी रखने वाले, आध्यात्मिक विषयों में दिलचस्पी रखने वाले लोग समझे जाते

हैं। किन्तु **गूढ़ विद्या (Occultism)** तथा रहस्यवाद **(Mysticism)** एवम् भूतशास्त्र **(Spiritualism)** तथा आध्यात्मिकता **(Spirituality)** में महान **अंतर है।** रहस्यवाद या आध्यात्मिकता को साध्य समझना चाहिये, तथा गूढ़ विद्या को एक भौतिक साधन। गूढ़ विद्या और आध्यात्मिकता का भेद नहीं समझने से, जटिलताएँ पैदा होती हैं।

**गूढ़ विद्या एवम् आध्यात्मिकता में अन्तर है।**

सभी किस्म के चमत्कार, दृश्य भौतिक संसार से, सम्बन्ध रखते हैं। और, भौतिक संसार भ्रम या प्रपंच है। मिथ्या दृश्य (Phenomena) होने के कारण, वे परिवर्तन के अधीन हैं; और कोई भी परिवर्तनशील वस्तु या घटना स्थायी महत्व नहीं रख सकती। अनन्त वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही परम सत्य को जानना है। गूढ़ जगत् का ज्ञान, या गूढ़ शक्तियों के संचालन का वह महत्व और मूल्य नहीं है, जो महत्व और मूल्य, ईश्वरानुभूति का है। स्थूल संसार के अन्य दृश्य, जिस प्रकार, मिथ्या और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार, गूढ़ शक्ति के चमत्कार भी, मिथ्या और काल्पनिक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से, मुख्य बात, केवल दैवी जीवन स्वयं प्राप्त करना है तथा अन्य लोगों को, दैवी जीवन प्राप्त करने में, सहायता करना है। दिव्य जीवन को प्राप्त करके, प्रतिदिन के कार्यो में उसे व्यक्त करना ही सबसे महत्वपूर्ण बात है। **सर्वश्रेष्ठ सत्ता, एवम् परम सत्य के सार और महात्मय में प्रवेश करना, और इस आन्तरिक महिमा की श्री और सुरभि को अन्य मनुष्यों के कल्याण एवम् पथप्रदर्शन के लिये, व्यक्त करना ही मानव–जीवन का लक्ष्य है। नाम–रुप मय संसार में, सत्य, शिव, सौंदर्य तथा पवित्रता को अभिव्यक्त करना ही यथार्थ जीवन है, और इसी का अक्षय महत्व है। अन्यान्य घटनाओं, दृश्यों एवं सिद्धियों का स्वयंमेव कोई स्थायी महत्व नहीं है।**

**असली महत्वों का विषय**

# सात मुख्य तत्त्व

## अस्तित्व, प्रेम, आत्मसमर्पण त्याग, ज्ञान संयम और शरणागति

(1) **सच्चा अस्तित्व** केवल परमात्मा का ही है, जो आत्मरूप से भूतों में व्याप्त है।

(2) **सच्चा प्रेम** वही है जो इस अनन्त तत्व पर स्थित है। इस प्रेम से परमात्मारूपी सत्य देखने की, अनुभव करने की, और उसी से एकरूप होने की तीव्र आकाँक्षा जाग्रत होती है।

(3) **सच्चा आत्मसमर्पण** वही है जो इस प्रेम से प्रेरित होकर सर्वस्व—तन, मन, पद, स्वार्थ और प्राण भी होम देता है।

(4) **सच्चा त्याग** वही है जो संसार के अनेक कर्त्तव्य पालन करते हुए भी स्वार्थमय भावनायें और वासनायें छोड़ देता है।

(5) **सच्चा ज्ञान** वही है जो भले और तथाकथित बुरे, संत और तथाकथित पापी जनो में परमात्मा को ही अन्तर्यामी देखता है। यह ज्ञान सब को समानभाव से परिस्थिति के अनुरूप निष्काम सहायता करने का आदेश देता है। और अनिच्छा से

यदि किसी को झगड़े में शरीक होना पड़े तो वह बताता है कि अपना कर्त्तव्य निबाहते हुए निबैर और द्वेषरहित रहो; दूसरों के प्रति बन्धुभाव और भगिनीभाव रखते हुए सबको आनन्द पहुँचाओ; और मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को नुकसान मत पहुँचाओ; उन्हें भी नहीं जो तुम्हारा नुकसान करते हैं।

**(6) सच्चा संयम** वही है जो नीच वासनाओं से निवृत्त होकर जितेन्द्रिय हो। इस संयम के बिना शील पूर्णरूप से निर्लिप्त नहीं रह सकता।

**(7) सच्ची शरणागति** वही है जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी मन के संतुलन को अस्थिर नहीं होने देती, और सब प्रकार के संकटों में ईश्वर की इच्छा को ही पूर्ण शान्ति से स्वीकार करती है।

**नोट** – श्री मेहरबाबा के उपदेशों में पन्थ, कट्टर मतमतान्तर, जाति व्यवस्था और कर्मकाण्ड का कोई भी महत्व नहीं है, केवल इन सात महान तत्वों के यथार्थ ज्ञान को ही वे प्रधानता देते है।

**–प्रकाशन समिति**

# ध्यान के प्रकार

## (भाग 1)
## ध्यान का स्वरूप और उसकी आवश्यकताएं

**मन की सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिये व्यक्ति जो पथ निर्माण करता है, वह पथ ही ध्यान है।** मान लो, कि एक मनुष्य किसी सघन वन में फँस गया है, और वहाँ से निकल कर, खुले मैदान में आना चाहता है। अपने चारों ओर की जटिल झाड़ियों के बीच से, जब वह बाहर निकलेगा, तो वह अपने पीछे अपने पथ–चिन्ह छोड़ जायेगा। कोई भी दर्शक, इन पथ–चिन्हों को देखकर, यह जान जायेगा कि वह किस मार्ग को अवलम्बन करके जंगल के बाहर निकला है। जंगल में फँसे हुए आदमी की यात्रा तथा रेलवे एंजिन की यात्रा में फर्क है। जंगल में फँसे हुए आदमी का पूर्वनिर्मित पथ नही रहता; वह स्वयं अपना मार्ग तैयार करता है। किंतु रेलगाड़ी पूर्व निर्मित रेल–पथ पर यात्रा करती है। रेलगाड़ी का रास्ता, यात्रा के पहले ही तैयार रहता है। किन्तु, उस आदमी का मार्ग, उसकी यात्रा करने के पश्चात बनता है। ठीक इसी प्रकार, मन की सीमाओं के भीतर फँसे हुए आदमी का पूर्व निश्चित पथ नहीं होता; किन्तु **यात्रा के बाद वह पथ निर्माण होता है।** मन के गहन वन से निकलने के लिये, जब वह गम्भीर विचार एवम् ध्यान करता है, तब वह जंगल में फँसे हुए आदमी के ही समान, अपनी जटिल सीमाओं को पार करने का प्रयत्न करता है; और इस प्रकार, वह स्वयं अपना मार्ग तैयार

**जिस पथ के द्वारा व्यक्ति मन की सीमाओं को लाँघता है वह पथ ध्यान है।**

करने की कोशिश करता है। वह, किसी ऐसे पथ का अनुसरण नहीं करता, जो उसके मानस प्रदेश में पहले से ही, बनाया तैयार रहता है।

जिस मनुष्य को, भूगर्भ के घनीभूत बाह्यवरण की रचना का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त है, वे प्रायः पहले से, यह बतला सकता है, कि ज्वालामुखी किस जगह फूटेगा। ठीक इसी भाँति, जिस मनुष्य को, व्यक्ति के मन की रचना के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष आंतरिक ज्ञान प्राप्त है, वह पहले से ही, उसके ध्यान के विकासक्रम को जान सकता है। जब भूगर्भ की प्रचण्ड शक्तियाँ फूट निकलने की चेष्टा करती है, तो वे सबसे अधिक सुविधाजनक मार्ग ढूँढ़ती हैं। यह मार्ग, पृथ्वी की उन अन्य अभ्यंतर परिस्थितियों पर अवलम्बित रहता है, जिनका सामना करके, उन शक्तियों का विस्फोट होता है, और वे बाहर उमड़ आती हैं। ज्वालामुखी की शक्तियों, तथा आध्यात्मिक आकाँक्षा की शक्तियों में भेद केवल इतना ही है, कि वे अचेतन होती हैं, और ये चेतन होती हैं। **ध्यान में विवेक का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। सद्‌गुरु जब साधक को ध्यान सम्बन्धी कुछ पूर्व सूचनायें एवम् संकेत देता है, तो वह साधक के विवेक को जाग्रत करता है या उसकी चेतना को उद्दीप्त करता है।**

**ध्यान के सामान्य मार्गों का पूर्व ज्ञान हो सकता है।**

ध्यान के सम्बन्ध में कई लोगों की भ्रान्त धारणा है। वे समझते हैं, मन को किसी वस्तु या विचार पर ज़बरन लगाने का नाम ध्यान है। बहुतेरे मनुष्यों में, ध्यान के प्रति, स्वाभाविक अरूचि या विरक्ति उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि मन को किसी ख़ास दिशा में ज़बरदस्ती मोड़ने, या किसी ख़ास वस्तु पर बलपूर्वक लगाने में, उन्हें कठिनाई का अनुभव होता है। **मन के बलपूर्वक दमन या यंत्रतुल्य नियंत्रण का क्लेशदायक होने के साथ ही असफल होना अवश्यम्भावी है।**

**विवेकपूर्ण ध्यान आनन्ददायक होता है।**

अतः साधकों को, यह प्रथम सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिये, कि मन की रचना के जो आन्तरिक नियम हैं, उन्हीं नियमों के अनुसार, मन का नियमन किया जा सकता है; तथा, उसे ध्यान में लगाया जा सकता है। ज़ोर ज़बरदस्ती के साथ, बलपूर्वक मन का यंत्र तुल्य नियंत्रण क्लेशबाधक होने के साथ ही असंभव है।

बहुत से लोग, ध्यान विधि के अनुसार, तथाकथित ध्यान यद्यपि नहीं करते, तो भी वे बहुधा किसी व्यावहारिक समस्या, या सैद्धान्तिक विषय के व्यवस्थित एवं स्पष्ट चिंतन में, गंभीरतापूर्वक अनन्य भाव से निमग्न रहते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक क्रिया, एक

प्रकार से ध्यान करने में ही लगी रहती है, क्योंकि अन्य समस्त वस्तुओं का पूर्ण विस्मरण एवम् किसी ख़ास विषय का अनन्यमनस्क चिन्तन या तीव्र स्मरण ही ध्यान है। जिन विषयों में रूचि रहती है, तथा जो बातें अधिकाधिक समझ में आती हैं उन विषयों में मन सहज ही लग जाता है एवम् उन बातों का ध्यान करना स्वाभाविक होता है। किन्तु ऐसे सामान्य मनन चिन्तन तथा ध्यान के सम्बन्ध में दुःखद बात यह है; कि सार विषयों तथा आध्यात्मिक महत्व की बातों पर मन नहीं लगाया जाता। ध्यान के विषय को सावधानी के साथ चुनने की आवश्यकता है। यह विषय आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होना चाहिये। ध्यान का विषय, या तो दिव्य व्यक्ति, या दिव्य विषय होना चाहिए; या कोई महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तथ्य या सत्य। आध्यात्मिक तथ्यों और सत्यों में दिलचस्पी रखने से ही ध्यान में सफलता की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु उनको समझने एवम् उनके स्वरूप को ग्रहण करने की कोशिश करने से ही ध्यान में सफलता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार का विवेक मूलक ध्यान मन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आध्यात्मिक तथ्यों और तत्वों में रस लेने और उनको समझने एवम् उनके स्वरूप को हृदयगम करने से न तो मन पर और ज़बरदस्ती करनी पड़ती है, और न कठोरता पूर्वक मन पर बलात्कार ही किया जाता है। सहज और सरस ध्यान आनन्ददायक तथा यंत्र तुल्य ध्यान क्लेशकारक होता है। **रुचि के साथ विवेकपूर्वक जो चिन्तन किया जाता है वह सहज और स्फूर्तिदायक ही नहीं होता किन्तु सरल तथा सफल भी होता है।**

**चिन्तन तथा एकाग्रता**

चिन्तन स्वरूप ध्यान एकाग्रता से भिन्न है। चिन्तन प्राथमिक स्थिति है। चिन्तन क्रमशः विकसित होकर, एकाग्रता का रूप धारण कर लेता है। अन्य प्रत्येक वस्तुओं को भूल कर, किसी विशिष्ट वस्तु का चिन्तन, ध्यान है। विशिष्ट वस्तु का अनन्य मन से, चिन्तन करने पर, मन का उस वस्तु से एकाकार या युक्त हो जाना, एकाग्रता है। एकाग्रता में, मन स्थिर हो जाता है किन्तु चिन्तन युक्त ध्यान में, एक प्रस्तुत विषय के बीच में, मन चलायमान होता रहता है। एकाग्रता में, मन किसी एक रूप या किसी संक्षिप्त सारगर्भित सूत्र पर केन्द्रित हो जाता है। एकाग्रता में, मन चिन्त्य विषय का विस्तृत वर्णन नहीं करता; किन्तु ध्यान में मन उस रूप, या उस सूत्र के विभिन्न गुणों, एवम् विभिन्न अर्थो का चिन्तन करके, उन्हें समझने तथा हृदयंगम करने का प्रयत्न करता है। किन्तु ध्यान तथा एकाग्रता दोनो में चिन्त्य दिव्य विषय या सिद्धान्त के प्रति प्रेम, और उत्कण्ठा का शान्तिमय मिश्रण होता रहता है। यंत्रतुल्य मानसिक क्रिया में कठोर नियमबन्धन, तथा नीरस एवम् अरुचिजनक दमन के द्वारा, मन नियंत्रण  किया जाता है। बाह्य नियमबन्धनो के द्वारा, तथा कठोर विधि निषेधों के द्वारा, मन पर बलपूर्वक शासन यंत्रवत् क्रिया है।

जो लोग एकदम तीव्र एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें शुरू–शुरू में चिन्तनयुक्त ध्यान का अभ्यास करना चाहियें जो चित्त को एकदम एकाग्र कर सकते हैं, उनके लिये चिन्तन अनावश्यक है। उनके लिये परमात्म–पुरुष के रूप, पर या **''मैं न तो स्थूल शरीर हूँ, न सूक्ष्म शरीर हूँ** (सूक्ष्म शरीर तृष्णाओं तथा प्राण शक्तियों का निवास स्थान है और मानसिक शरीर (कारण शरीर) मन का निवास स्थान है) **किन्तु मैं आत्मा हूँ''** जैसे किसी संक्षिप्त सूत्र पर चित्त को एकाग्र करना पर्याप्त है।

ध्यान वस्तुतः एक व्यक्तिगत विषय है; क्योंकि समाज में आत्मप्रदर्शन करने के लिये, ध्यान नहीं किया जाता, किन्तु अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति के लिये, ही ध्यान किया जाता है। सामाजिक वातावरण से, व्यक्ति के पूर्णतः अलग हो जाने से, ध्यान, बिना किसी विघ्न, या बाधा के सम्पन्न होता है।

**ध्यान में मौन एवम् एकान्त सहायक होते हैं।**

निर्जनता की खोज में, प्राचीन योगी पर्वतों और गुफाओं में चले जाया करते थे। ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये शान्त तथा एकान्त वातावरण में नितान्त आवश्यक है। और, पर्वतों तथा गुफाओं में, ऐसी निर्जन शान्ति आसानी से प्राप्त हो जाती है। तथापि निर्जनता एवम् सूनापन खोजने के लिये पर्वतों और गुफाओं में ही जाना जरूरी नहीं है। जरा सा कष्ट करने पर तथा सावधानी रखने से साधकों को शहरों में भी मौन एकान्त तथा सूनेपन की प्राप्ति हो सकती है। मौन, एकान्त तथा शान्त वातावरण के बिना विभिन्न प्रकार के ध्यान में उन्नति नहीं की जा सकती।

ध्यान के लिये अन्धकार का होना, या आँखों का मूँदना अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। साधक के सन्मुख ध्यान के विषय के उपस्थित रहने पर, आँखे खुली रख कर भी वह सफलतापूर्वक ध्यान कर सकता है। किन्तु कई लोगों के लिये सभी प्रकार के स्थूल दृश्यों से दूर हो जाना, तीव्र ध्यान **के लिये, उतना ही लाभदायक है, जिस प्रकार सभी किस्म के शोरगुल या आवाज़** से दूर हो जाना। वातावरण की पूर्ण शान्ति प्राप्ति करने के लिये, ध्यान को उपयुक्त स्थान, सावधानी के साथ चुनना चाहिये। किन्तु दृश्यों के उपद्रव से, मन को प्रभावित न होने देने के लिये, केवल आँखों को मूँद लेना पर्याप्त है। कभी–कभी प्रकाश के रहने से, दृष्टि पर प्रकाश का प्रभाव पड़ता है। प्रकाश के द्वारा आँखों पर पड़नेवाली उत्तेजना को दूर करने के लिये, बिल्कुल अन्धकार में ध्यान करना आवश्यक है। अन्धकार में ध्यान करने से, ध्यान में उन्नति करना सरल हो जाता है।

**अन्धकार का महत्व**

उपयुक्त आसन ध्यान में सहायक होता है; किन्तु आसन के लिये, कोई निश्चित नियम नहीं है। आरोग्य की दृष्टि से, जो आसन आपत्ति रहित है, तथा जो आसन

आरमदायक है, वही आसन ग्रहण करना चाहिए। उस आसन का आश्रय नहीं चाहिए, जिससे नींद लगने की समभावना हो। जिस आसन से मन जागरूक रहे, वह आसन सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा आसन ग्रहण करना ठीक नहीं है, जिससे शारीरिक कष्ट या परिश्रम का अनुभव हो, क्योंकि वैसा करने से, मन का ध्यान शरीर की ओर खिंचेगा। नींद लेते समय, जिस प्रकार शरीर को आराम (Relaxation) दे दिया जाता है, उसी प्रकार, ध्यान के समय भी, शरीर को आरामपूर्ण तथा कष्टरहित आसन में रखना चाहिये। किन्तु सोने का सामान्य आसन, ध्यान के लिये, ठीक नहीं है, क्योंकि उस आसन में नींद आने की सम्भावना है। ज्यों ही शरीर सुविधाजनक एवम् उपयुक्त आसन ग्रहण कर ले, त्यों ही सिर पर तुरन्त ध्यान फेरना चाहिए। सिर को शरीर का केन्द्र स्थल समझना चाहिये। सिर को केन्द्र मानने से, शरीर को भूलना, तथा शरीर से मन को खींच कर उसे ध्यान के विषय पर लगाना आसान हो जाता है।

**ध्यान के लिये आसन**

साधक को चाहिये, कि वह प्रत्येक ध्यान में वही आसन ग्रहण करे, जो आसन एक बार अपना लिया है। जिस आसन में, एक बार ध्यान किया जाता है, उस आसन का, पहले के ध्यान से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वही आसन ग्रहण करने से, पहले जैसा ध्यान करने का विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जब शरीर, पहले का चुना हुआ आसन ग्रहण करता है, तब उपचेतन (Subconscious) मन को यह संकेत प्राप्त करने में सुविधा मिलती है, कि उसे अब पूर्ववत ध्यान में लगना है। एक ही आसन ग्रहण करना, उस आसन से सम्बद्ध ध्यान का सहज आह्वान करना है। ताकि आसन ग्रहण करते ही, मन ध्यान के लिये, सहज ही सन्नद्ध हो जाता है। एक ही आसन चुनना, जिस प्रकार लाभदायक होता है, उसी प्रकार एक स्थान तथा एक समय निश्चित कर लेना भी अत्यन्त लाभदायक होता है। आसन, स्थान तथा समय का पहले किये गये ध्यान से संसर्ग रहता है। और उसी आसन, स्थान तथा समय को अपनाने से, ध्यान तुरन्त सधता है। अतएव, ध्यान करने के लिये, एक ही आसन, एक ही स्थान तथा एक ही समय निश्चित करने में, साधक का विशेष आग्रह रहना चाहिये। जिस स्थान, तथा जिस भूमि में, सद्गुरु ने ध्यान या निवास किया हो, उस स्थान तथा उसी भूमि में, ध्यान करना विशेष लाभदायक होता है; क्योंकि ऐसे स्थान, तथा ऐसी भूमि का गूढ़ संसर्गो तथा गूढ़ सम्भाव्यताओं से पूर्वसम्बन्ध रहता है।

**ध्यान का स्थान, आसन तथा समय निश्चित करने का महत्व।**

ध्यान के स्थान, आसन, तथा समय सभी का सापेक्ष महत्व है। व्यक्ति की विशेषताओं, तथा जीवन–इतिहास के अनुसार, वे भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। अतः सद्गुरु

प्रत्येक शिष्य को , उसकी व्यक्तिगत आवश्यकता एवम् योग्यता के अनुसार; भिन्न–भिन्न आदेश देता है। हाँ, ध्यान, जिन लोगों के लिए लगातार अभ्यास के सबब से स्वाभाविक हो गया है, उनके लिये, एक ही स्थान, एक ही आसन, तथा एक ही समय की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसे साधक किसी भी समय, किसी भी परस्थिति में ध्यान कर सकते हैं। चलते–चलते भी, वे ध्यानमग्न रह सकते हैं।

**ध्यान आनन्ददायक साहसकार्य के सदृश होना चाहिये।**

एरंडी का तेल जैसे भारी दिल से पिया जाता है, वैसा भारी दिल लेकर, ध्यान नहीं करना चाहिये। गम्भीरता के साथ, ध्यान करना जरूरी है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि साधक को मनहूसी मुहर्रमी सूरत धारण करनी चाहिये। श्मशान की तरह शोकपूर्ण होना भी साधक के लिये शोभा की बात नहीं है। विनोदभाव तथा उल्लासवृत्ति धारण करने में, ध्यान सरल हो जाता है। ध्यान अरुचिकर तथा पीड़ादायक कार्य बनाना ठीक नहीं है। **ध्यान के सफल होने पर, जो स्वाभाविक आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द में प्रवृत्त होने में, कोई हानि नहीं।** हाँ, उसकी लत नहीं पड़नी चाहिये। ध्यान को उच्च भूमिकाओं की सुखद सैर समझनी चाहिये। **सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों की ही भाँति, ध्यान करने से भी उत्साह, साहस, शान्ति तथा उलहास की प्राप्ति होती है।** ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये, सभी प्रकार की उदासी, एवम् चिन्ता का पूर्ण परित्याग कर देना जरूरी है।

**सामूहिक ध्यान**

यद्यपि ध्यान वस्तुतः एक व्यक्तिगत विषय है, तथापि सामूहिक ध्यान भी कुछ कम लाभदायक नहीं है। जिन साधकों का आपस में प्रेम है, यदि वे सामूहिक रूप से, एक ही प्रकार का ध्यान करें, तो उनके विचार एक दूसरों के विचार को प्रोत्साहन और बल प्रदान करते हैं। जब एक ही सद्गुरु के शिष्य अपने गुरु पर सामूहिक ध्यान करते हैं, तब ख़ास कर ऐसा होता है। सामूहिक ध्यान में भाग लेने वाले प्रत्येक साधक को चाहिये, कि वह अपने ही ध्यान विषय का चिन्तन करे। उसी समूह में, उसके अन्य साथी क्या कर रहे हैं, इसका चिन्तन उसे न करना चाहिये। इसी सामूहिक ध्यान का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सकता है। साधक, समूह में ध्यान शुरु करे, किन्तु, वह समूह के बारे में बिल्कुल भूल जाय, तथा अपने ध्येय विषय में निमग्न हो जाय। उसे सारे संसार को, तथा स्वयं अपने शरीर को, पूर्णतः भूल जाना चाहिये। ध्यान के पूर्व जो ध्येय विषय सब ने चुना था, प्रत्येक को, उसी विषय में, सब कुछ भूल कर, अनन्य भाव से; तल्लीन हो जाना चाहिये। यद्यपि उन्नत साधक स्वयं अकेले ध्यान करे, तथापि ठीक से यदि किया जाय, तो सामूहिक ध्यान, नये अभ्यासी के लिये, विशेष लाभदायक सिद्ध होता है।

साधारण विचार करने के समय, आवश्यक तथा सुसम्बद्ध विचारक्रम का निर्विघ्न आगमन एक मामूली बात है। किन्तु **व्यवस्थित ध्यान करने के लिये, जब मन सन्नद्ध होता है, तब अनेक अनावश्यक तथा असबंद्ध और विरूद्ध विचार उत्पन्न होते हैं, और उपद्रव मचाते हैं। यह प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति मन का नियम है।** जब ऐसे अप्रिय एवम् प्रतिकूल विचार, जो कभी नहीं उठते थे, उत्पन्न हों, तो साधक को उदिग्न नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार, जादूगर तरह तरह की अप्रत्याशित तथा अद्‌भुत वस्तु पैदा करता जाता है, उसी प्राकर, ध्यानक्रम भी, विभिन्न क्षुद्र मिथ्या एवम् अवाँछनीय विचारों को **उपचेतन मन से चेतना में लाता है।** साधक को ऐसे उपद्रवी विचारों की अपेक्षा ही करना चाहिये; तथा उनके लिये उसे तैयार रहना चाहिये। साधक को उन्नत ध्येय धारण करना चाहिये। और उसे निश्चित आत्मविश्वास होना चाहिए कि अन्ततः वह इन उपद्रवों पर विजय प्राप्त करेगा।

असम्बद्ध विचारों का उपद्रव।

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये, अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण आवश्यकता है, अप्रिय तथा उपद्रवी विचारों से निपटने की ठीक रीति अपनाना। अवाँछनीय विचारों से प्रत्यक्षतः युद्ध करके तथा उनका मुक़ाबला करके, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना मानसिक शक्ति व्यर्थ नष्ट करना है। ऐसा प्रयत्न करना, उन अप्रिय तथा अवाँछनीय विचारों को ध्यान और महत्व देना है। ऐसे असम्बद्ध विचारों का निग्रह करने के लिये, उनको जो ध्यान और महत्व मिलता है, उस ध्यान और महत्व की वजह, वे पोषित और बलिष्ठ हो जाते हैं। उनसे निपटने की सर्वोत्तम रीति है, उनकी अपेक्षा करना, और उन पर लेश मात्र भी ध्यान दिये बिना, शीघ्रातिशीघ्र ध्येय विषय की ओर ध्यान को लगा देना। **असम्बद्ध विचारों को अनुचित महत्व देने से और भी प्रोत्साहन मिलता है। उपद्रवी विचारों की अनावश्यकता तथा सारशून्यता, एवम् ध्येय विषय के सापेक्ष सार तथा महत्व को स्वीकार करने से उपद्रवी विचार स्वयंमेव अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।** उन पर ध्यान न देना, या उनकी उपेक्षा करना, उन्हें मौत के मुँह में डालना है; तथा मन को ध्यान के विषय पर केन्द्रित और स्थिर करना है।

**उपद्रवी तथा अप्रिय विचारों से निपटने की रीति**

# ध्यान के प्रकार

## (भाग 2)

### ध्यान के मुख्य प्रकार तथा उनका सापेक्ष महत्व

ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं। सुविधा के लिए, ध्यान के मुख्य प्रकार, **तीन स्पष्ट तत्वों** के आधार पर एक दूसरे से विभक्त किये जा सकते हैं। **आध्यात्मिक उन्नति करने में, ये जो कार्य करते हैं,** उसके आधार पर, श्रेणी–बद्ध किया जा सकता है, या **ध्यानावस्था मे व्यक्तित्व का जो भाग प्राधान्य को प्राप्त होता है, उसके आधार पर इन्हें श्रेणी–बद्ध किया जा सकता है। या व्यक्ति अनुभव के जिन विषयों को समझने का प्रयत्न करता है,** उनके आधार पर, इन्हें श्रेणी–बद्ध किया जा सकते है। ध्यान के मुख्य प्रकारों को श्रेणीबद्ध करने के लिए, इन तीन तत्वों में से, किसी एक तत्व का आधार लिया जा सकता है। ध्यान के विभिन्न रूपों का सविस्तार वर्णन करने के लिए, तीसरे तत्व की, बाद में चर्चा की जायेगी। क्योंकि ध्येय विषयों की गणना करने, या संख्या निश्चित करने में तीसरा तत्व सहायक होता है। इस भाग में प्रथम दो तत्वों का ही उपयोग किया जाएगा, क्योंकि ध्यान के विभिन्न रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध, एवम् उनका सापेक्ष महत्व समझने में इन दोनो तत्वों से सहायता मिलती है।

**ध्यान के प्रकार तीन तत्वों के अनुसार श्रेणी–बद्ध किये जा सकते हैं।**

प्रथम तत्व के अनुसार, ध्यान दो प्रकार का हो सकता है :– (1) संयोग कारक (Associative) तथा (2) वियोग कारक (Dissociative)। अनन्त सत्य से चेतना को संयुक्त करने के लिए, संयोगकारक ध्यान की आवश्यकता होती है। तथा विश्वप्रपंच की मिथ्या एवम् सार शून्य वस्तुओं से चेतना को वियुक्त करने के लिये वियोगकारक ध्यान की ज़रूरत पड़ती है। ध्यान की क्रिया पद्धति के अनुसार, ध्यान के दो प्रकार होते हैं। संयोगकारक ध्यान में मन की समन्वय (Synthesis) की क्रिया प्रधानता को प्राप्त होती है; तथा वियोगकारक ध्यान में मन की व्यतिरेक (Analystic) की क्रिया प्रधान रहती है। "मैं अंत हूँ" इस प्रकार का ध्यान संयोगकारक ध्यान है। "मैं मन या देह नहीं हूँ", इस प्रकार का ध्यान वियोगकारक ध्यान है।

**संयोगकारक ध्यान तथा विनियोग कारक ध्यान**

**साधक जिस आध्यात्मिक आदर्श का अपने मन में सृजन करता है, उस आदर्श से, संयोगकारक ध्यान के द्वारा युक्त होने को, वह चेष्टा करता है; तथा वियोग कारक ध्यान के द्वारा, अध्यात्म–विरोधी सीमाओं से सम्बन्ध विच्छेद करने का प्रयत्न करता है।** संयोगकारक ध्यान आध्यात्मिक सारों को ग्रहण करने की प्रक्रिया है; तथा वियोगकारक ध्यान आत्मविरोधी असार वस्तुओं को त्यागने की प्रक्रिया है।

**संयोगकारक तथा वियोगकारक ध्यान की क्रिया पद्धतियाँ।**

संयोगकारक ध्यान का उन वस्तुओं से सम्बन्ध है, जो ज्योति के जगत से चुनी जाती हैं। तथा वियोगकारक ध्यान का उन पदार्थों से सम्बन्ध है, जो छायामय संसार के ही भाग होते हैं। भ्रममय संसार का वैसा ही मुग्ध–कारी आकर्षण होता है, जैसा छाया–संसार का होता है। यदि कोई मनुष्य, भ्रममय संसार से निकल कर, सत्य को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे, जगत प्रपंच के प्रलोभनों की निःसारता का निरन्तर ध्यान करके, उनसे विरक्त होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार ज्योति जगत में, जाने की अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य का छाया संसार से असन्तुष्ट होना आवश्यक है। अतः वियोगकारक ध्यान संयोगकारक ध्यान की प्रवेशिका है। वियोगकारक ध्यान का प्राथमिक महत्व है; और वह संयोगकारक ध्यान में प्रवेश करने का मार्ग है।

**वियोगकारक ध्यान करने से संयोगकारक ध्यान करना सरल हो जाता है।**

यों तो संयोगकारक ध्यान तथा वियोगकारक ध्यान, दोनो एक प्रकार से आवश्यक हैं; किन्तु अंत में, वियोग कारक ध्यान की अपेक्षा, संयोगकारक ध्यान अधिक फलदायक तथा महत्वशाली सिद्ध होता है। छाया से मनुष्य यदि घिर गया है, तो छाया से लगातार दुःखी और उदिग्न रहने से, उसका कुछ कल्याण नहीं होगा। छाया के प्रति

केवल क्षुब्ध एवम् क्रुद्ध होने से, उसकी चिन्ताओं का अन्त नहीं हो सकता। किन्तु, यदि छाया के विरूद्ध क्षोभ और क्रोध करने के बदले, वह सूर्य के नीचे आने के महत्वपूर्ण कार्य में, अपने को लगाये, तो उसे मालूम होगा, कि सूर्य के उज्जवल प्रकाश के नीचे उसके पहुँचते ही छाया का लोप हो चुका है। **अतएव, बन्धनो एवम् सीमाओं से बेमतलब सदैव असन्तुष्ट रहने में, समय नष्ट करना व्यर्थ है। असली महत्व का विषय तो अपने स्थिर किये गये आदर्श की ओर पहुँचने का सक्रिय उद्योग करना है।** जब तक मनुष्य का मुँह सूर्य की ओर मुड़ा हुआ है, और जब तक, वह सूर्य के प्रकाश में चलने का प्रयत्न कर रहा है, तब तक, वह छाया उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती, जिससे वह आक्रान्त है, या जिससे वह घिरा हुआ है। ठीक उसी प्रकार, जब तक, साधक अपने आध्यात्मिक आदर्श को प्राप्त करने के लिये, दृढ़ प्रतिज्ञा तथा कृतसंकल्प है, तब तक, उसे अपनी दुर्बलताओं और असफलताओं की अत्याधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। उसकी तीर्थयात्रा के समाप्त होते ही, उसकी असफलताओं का कहीं नामो निशान नहीं मिलेगा।

**संयोगकारक ध्यान वियोगकारक ध्यान की अपेक्षा अधिक फलदायक है।**

शरीर के लिए, भोजन के पाचन का जो महत्व है, आत्मा के लिए, संयोगकारक ध्यान का भी वही महत्व है। स्वास्थ्य–प्रद भोजन के पाचन से, शरीर की न्यूनताओं की पूर्ति हो जाती है। इसी प्रकार, आध्यात्मिक सत्यों को पचाकर, आत्मा स्वस्थ ही रह सकता है। आध्यात्मिक सत्यों पर ध्यान करने से, वे अपनाये जाते हैं। संयोगकारक ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं, और अपने–अपने ढंग से सभी लाभदायक हैं। भोजन के विभिन्न तत्वों, एवम् उनके पोषक तत्वों को जानना ही काफी नहीं है। इन तत्वों एवं सत्वों की उचित मात्रा स्थिर करना, और इस प्रकार, भोजन को समभार करना (balancing) आवश्यक होता है। इसी प्रकार, ध्यान को समभार करना जरूरी हो जाता है। मन के विषम विकास से, उन्नति में, बाधा पहुँचती है; क्योंकि विषम मानसिक विकास से आंतरिक संघर्ष की उत्पत्ति होती है। तथा **ध्यान के विभिन्न प्रकारों के समतोल या सम्मिश्रण से, शीघ्र उन्नति होती है, क्योंकि उससे मन शान्त तथा समभार होता है।** साधक की निजी विशेष कठिनाइयों को दूर करने के लिये सत्य के जिन अंशों पर ज़ोर देने की जरूरत रहती है, उनपर ज़ोर देते हुए ध्यान का जो सम्मिश्रण तैयार किया जायेगा उसी से मन की समता तथा स्थिरता की वृद्धि होगी।

**भोजन का सादृश्य**

आत्मविरोधी वस्तुओं का बहिष्कार तथा निराकरण करना ध्यान का दूसरा प्रकार है। भोजनवाला उक्त सादृश्य इस पर भी लागू किया जा सकता है। दोष–पूर्ण भोजन

जैसे शारारिक स्वास्थ्य को बिगाड़ देता है। वैसे ही ग़लत ढंग का ध्यान मन को अव्यवस्थित कर देता है। अनुचित भोजन स्वास्थ्य को पोषित करने के बदले, उसे नष्ट कर सकता है; उसी भाँति, भोग विषयों नैसर्गिक ध्यान मन के बन्धनों को छिन्न करने के बजाय और नए बन्धनों की सृष्टि करता है। अतएव, **जिस प्रकार दूषित भोजन त्याज्य है, उसी प्रकार अनुचित ध्यान भी त्याज्य है;** और जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के लिये मल त्याग आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये अवाँछनीय विचारों एवम् भावनाओं का बहिष्कार जरूरी है।

**सादृश्य का विस्तार**

आध्यात्मिक उन्नति करने में, मन की जो दो विशिष्ट क्रियाएं हैं, और उनके आधार पर, ध्यान जिन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है, अब तक उन्हीं क्रियाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। दूसरे तत्व के अनुसार, ध्यान के जो भेद किये जा सकते हैं, उन्हें जानना भी अत्यन्त ज़रूरी है। **ध्यान क्रम के समय, व्यक्तित्व (Personality) का जो भाग प्रधान कार्य करता है, उसी के अनुसार, ध्यान, विभिन्न श्रेणियों में, विभक्त किया जा सकता है।** इस द्वितीय तत्व के आधार पर, ध्यान के तीन भेद हैं।

**दूसरे तत्व के अनुसार ध्यान तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।**

पहले प्रकार के ध्यान में, बुद्धि प्रमुख रूप से, कार्य करती है; अतः उसे **विवेक–प्रधान ध्यान** (Discriminative Meditation) कहना युक्ति संगत होगा। दूसरे प्रकार के ध्यान में, हृदय का प्रमुख कार्य होता है। अतः उसे **हृदय–प्रधान ध्यान** (Meditation of the heart) कहा जा सकता है। तीसरे प्रकार के ध्यान, में मनुष्य के कार्य करने के स्वभाव की प्रधानता रहती है; अतः उसे (Meditation of Action) कह सकते हैं। "मै शरीर नहीं हूँ किन्तु अनन्त हूँ" इस प्रकार का ध्यान विवेकप्रधान ध्यान है। साधक के हृदय से, दैवी प्रियतम के प्रति, सतत–भाव प्रवाह रहना, हृदय प्रधान ध्यान है सद्‌गुरु तथा मानव जाति की निःस्वार्थ सेवा के लिये, अपना सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देना, **कृतिप्रधान ध्यान** है। ध्यान के इन तीन प्रकारों में, हृदय प्रधान ध्यान सर्वोच्य तथा सर्वोत्तम है। किन्तु ध्यान के अन्य दो प्रकार भी अपने ढंग से, महत्वपूर्ण हैं; और उनकी उपेक्षा करने से साधक की आध्यात्मिक उन्नति में रुकावट पहुँच सकती है।

**विवेक प्रधान ध्यान, हृदय प्रधान ध्यान तथा कृति प्रधान ध्यान।**

उपर्युक्त तीन प्रकार के ध्यान यथार्थ में एक दूसरे के पूर्णतः बहिष्कारक नहीं है। उनका, हर प्रकार से, सम्मिश्रण किया जा सकता है। कभी–कभी एक प्रकार का ध्यान

अनिवार्यतः दूसरे प्रकार के ध्यान में परिणित होता है। एवम् एक प्रकार के ध्यान का विकासक्रम, तब तक अवरूद्ध हो जाता है जब तक दूसरे प्रकार के ध्यान में भी, उसी सीमा तक उन्नति न की जाय। साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिये, तीनो प्रकार के ध्यान आवश्यक हैं। वे प्रायः सदैव मानसिक न्यूनता की पूर्ति करते है; तथा परस्पर विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं।

**उक्त तीन प्रकार के ध्यान परस्पर विरोधी नहीं किन्तु परस्पर पूरक हैं।**

किन्तु , एक प्रकार का ध्यान, दूसरे प्रकार के ध्यान की उन्नति में, बाधा भी डाल सकता है, यदि अनुचित समय पर उसका अवलम्बन किया जाय। तीनो प्रकार के ध्यान, जीवन के उन विभिन्न भागों को विकसित करते हैं, जो समानतः सत्य है। किंतु, **व्यक्ति की आंतरिक अवस्था की अपेक्षा, जीवन के किसी एक सत्य को ग्रहण करना दूसरे सत्य को ग्रहण करने से, बहुधा अधिक ज़रूरी हुआ करता है।** यही वजह है, कि सद्गुरु सभी साधकों के लिए, एक ही तरह के ध्यान की आज्ञा नहीं देते; किन्तु, साधक की व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार वे विशेष आदेश दिया करते हैं।

**एक प्रकार का ध्यान दूसरे प्रकार के ध्यान में हस्तक्षेप कर सकता है।**

किसी ख़ास परिस्थिति में किस प्रकार के ध्यान की ज़रूरत है, इसे साधक ठीक–ठीक निश्चित नहीं कर सकता। एक खास तरह के ध्यान का अभ्यास करते–करते, साधक को उसका व्यसन हो जाता है। वह उस पर इतना आसक्त हो जाता है, कि दूसरे किस्म का ध्यान करना, उसके लिए असम्भव हो जाता है। दूसरे किस्म के ध्यान की उपेक्षा करने के कारण, वह अपने खोदे हुए गर्त में ऐसा गिर जाता है, कि उससे बाहर निकलना, उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरे प्रकार के ध्यान के महत्व को वह नहीं समझता; और न वह उन्हें ज़रूरी समझता है। सम्भव है, किसी ख़ास दिशा में वह अपनी न्यूनता को महसूस करे। किन्तु रोगी को, जिस प्रकार अनेक औषधियाँ अरूचिकर मालूम होती हैं, उसी प्रकार साधक को, जिस प्रकार के ध्यान की दर असल आवश्यकता है, वह अप्रिय मालूम होता है, और ऐसे ध्यान को स्वीकार करने की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। किसके लिए किस प्रकार का ध्यान जरूरी है, इस विषय पर सद्गुरु की सहायता तथा सलाह अनिवार्य है। साधक को अपनी आवश्यकता का जो ज्ञान है, उसकी अपेक्षा सद्गुरु को साधक की आन्तरिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक आवश्यकता का, अनन्त गुना अधिक ज्ञान रहता है। साधक ने एकांगी ध्यान के कारण, उसके व्यक्तित्व के जिस

**सद्गुरु के विशिष्ट आदेशों की आवश्यकता।**

भाग की उपेक्षा हो गयी रहती है, और इस उपेक्षा की वजह से उस भाग को जो क्षति पहुँची रहती है, उस क्षति की पूर्ति करने, एवम् उस भाग की उन्नति को ध्यान में रख कर ही, सद्‌गुरु साधक को विशिष्ट आदेश देता है।

**ध्यान के अभ्यास से ही ध्यान का यथार्थ महत्व समझा जा सकता है।**

सद्‌गुरु साधक को ध्यान की जिस विशिष्ट पद्धति की आज्ञा प्रदान करता है, वह शुरू शुरू में, उसे पसन्द नहीं आती। भले ही अरुचिपूर्वक वह शुरू करे, किन्तु अभ्यास करने पर, उसे उसका यथार्थ महत्व तथा उसका यथार्थ अभिप्राय समझते देर नहीं लगती। धीरे धीरे, उस विशिष्ट प्रकार के ध्यान में उसकी रुचि बढ़ने लगती है। उस ख़ास तरह के ध्यान का पूरा अभ्यास कर लेने पर ही साधक उसका महत्व एवम् उद्देश्य समझ सकता है। किसी भी प्रकार के ध्यान की क़ीमत तथा सम्भावनाएं, उसके सम्बन्ध में पहले से अनुमान और अंदाज़ लगाने से नहीं जानी जा सकती है। ऐसे सैद्धान्तिक अनुमान से, कुछ थोड़ा फ़ायदा हो सकता है; किन्तु कोरे अनुमान से, ध्यान की वास्तविक उपयोगिता की थाह मिलना असम्भव है। **आध्यात्मिक महत्व की अन्यान्य अनेक वस्तुओं की ही भांति, ध्यान का पूरा लाभ, उसका पूरा अभ्यास करने पर ही, प्राप्त होता है, न कि पहले से उसके महत्व को समझने का प्रयत्न करने से।**

**ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय की आवश्यकता।**

किसी भी प्रकार के ध्यान में, सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिए, उसकी समस्त सम्भाव्यताओं का शोध करने का निश्चय करके, उसका अभ्यास करना आवश्यक है। पहले से ही, मन में सीमित अपेक्षाएं गढ़ कर उसे ध्यान शुरू नहीं करना चाहिए। उसे चेतना की अनपेक्षित अवस्थाओं का अनुभव करने के लिए तैयार रहना चाहिए। एक खास तरह की ध्यान विधि, उसे जहाँ पहुँचावे, वहाँ तक जाने के लिए, उसे सहर्ष तैयार रहना चाहिए। उसे कठोर पूर्व प्रतीक्षा तथा पूर्वा–पेक्षा नहीं बाँध लेनी चाहिए। एकाग्रता तथा अनन्यता ही ध्यान के सार हैं। अतः **ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य समस्त विचारों और अनुमानो, एवम् प्रतीक्षाओं और अपेक्षाओं का पूर्णतः बहिष्कार कर देना चाहिए।**

सद्‌गुरु के पथप्रदर्शन तथा देखरेख के अभाव में, साधक यदि अपनी ही जिम्मेदारी पर, किसी विशिष्ट ध्यानक्रम का अवलम्बन करता है, तो वह उसमें इतनी दूर चला जा सकता है, कि उसके सम्यक् दृष्टि खो बैठने की तथा वापस न लौटने की सम्भावना रहती है। अत्यन्त आवश्यक होने पर भी, उस ध्यानक्रम को त्याग कर, किसी दूसरी

लाभदायक ध्यानपद्धति को अपनाना, उसके लिए असम्भव हो सकता है। सद्‌गुरु की आज्ञा के अनुसार, किसी विधि का अनुसरण करने से, यह ख़तरा नहीं रहता। सद्‌गुरु की देखरेख तथा पथप्रदर्शन के अनुसार, ध्यान करने में, यह लाभ रहता है, कि सद्‌गुरु साधक को उपयुक्त समय पर रोक सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु पहले की ध्यानपद्धति से, जो हानि हो चुकी रहती है, उस हानि की सद्‌गुरु पूर्ति कर सकता है, तथा साधक को उसके लिए सबसे अधिक लाभदायक ध्यान मार्ग भी सुझा सकता है।

**सद्‌गुरु की देखरेख अनिवार्य है।**

इस सम्बन्ध में, एक दृष्टान्त कथा का उल्लेख आनुषंगिक होगा। एक अत्यन्त बुद्धिमान मनुष्य था। वह व्यक्तिगत अनुभव से यह जानना चाहता था, कि फाँसी लगाने से साँस रूँधते समय कैसा मालूम होता है। उस अवस्था के अनुमान मात्र से उसे सन्तोष नहीं होता था। वह स्वयं उस अवस्था का अनुभव करना चाहता था। उसने अपने एक मित्र को, अपने साथ चलने, तथा वह प्रयोग अपने खुद पर करने में, उसकी सहायता करने के लिए कहा। उसने उससे कहा, कि वह एक रस्से से लटक जायगा, और साँस रूंघने का अनुभव ले कर, खतरनाक सीमा पर पहुँचते ही, वह उसे इशारा करेगा। उसने अपने मित्र को यह भी कहा, कि जब तक, उसे संकेत न मिले, तब तक वह उसकी फाँसी न खोले। उसके मित्र ने, यह सब स्वीकार कर लिया; और वह आदमी अपने गले के चारों और रस्सा बाँध कर लटक गया। किन्तु, साँस रूँधते ही, वह बेहोश हो गया; और वह अपने कहे अनुसार अपने मित्र को संकेत नहीं दे सका। किन्तु, उसका मित्र समझदार था। यह जान कर, कि उस मनुष्य का श्वासरोध खतरनाक सीमा तक पहुँच गया है, वह राज़ीनामे की हद लाँघ गया, और उसकी जान बचाने के लिए उसने उसके गले का रस्सा खोल दिया। उस मनुष्य की जान, उसकी खुद की दूरदर्शिता तथा पूर्व सावधानी की वजह से नहीं बची, किन्तु उसके मित्र की बुद्धिमत्ता की वजह से बची। ठीक उसी प्रकार, **साधक का अपनी बुद्धि और विचार पर निर्भर रहने की अपेक्षा, अपने सद्‌गुरु पर निर्भर रहना अधिक हितकर सिद्ध होता है।**

**एक दृष्टान्त**

# ध्यान के प्रकार

(भाग 3)

## ध्यान के रूपों का सामान्य श्रेणिविभाजन

**ध्यान अनुभव को समझने का एक प्रयत्न है।**

ध्यान क्रम का लक्ष्य है अनुभव के भिन्न–भिन्न तथा विस्तृत क्षेत्र को समझना, तथा उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करना। ध्यान की इस व्याख्या से मालूम होगा, कि वह कतिपय इने–गिने साधकों का ही कार्य नहीं है। **प्रत्येक जीवित प्राणी किसी न किसी प्रकार के ध्यान में मग्न रहता है।**

**ध्यान सार्वलौकिक है।**

शेर जब मेमने को देखता है और उसका भक्षण करना चाहता है, तब वह मेमने का 'ध्यान' करता है। और शेर को देखते ही, मेमना भी शेर का 'ध्यान' करने लग जाता है। प्लेटफार्म पर, ट्रेन की प्रतीक्षा करने वाला मनुष्य ट्रेन का 'ध्यान' करता है, तथा अगले स्टेशन में पहुँच कर विश्राम की अभिलाषा करने वाला ड्रायवर स्टेशन के 'ध्यान' में लगा रहता है। किसी उलझी हुई समस्या को सुलझाने में लगा हुआ वैज्ञानिक, उस समस्या के 'ध्यान' में मग्न रहता है। अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक डाक्टर की बाट जोहते रहने वाला रोगी; डाक्टर पर 'ध्यान' करता है, और अपने बिल की प्रतीक्षा करने वाला डॉक्टर, बिल पर 'ध्यान' करता रहता है। पुलिस, जब चोर को पकड़ने के प्रयत्न से लगी रहती है, तब वह चोर

के 'ध्यान' में संलग्न रहती है; और चोर पुलिस के 'ध्यान' में तल्लीन रहता है। जो मनुष्य प्रेम में फँस जाता है, वह अपनी प्रेयसी के 'ध्यान में डूबा रहता है। जो मनुष्य ईर्ष्यापूर्वक अपने प्रतिद्वन्दी के प्रति चौकन्ना रहता है, वह अपने प्रतिद्वन्दी का 'ध्यान' करता रहता है। जो मनुष्य अपने मित्र की मृत्यु पर दुःखी रहता है। वह अपने मित्र पर 'ध्यान' करता है। और जो मनुष्य अपने शत्रु से बदला लेने का अवसर ताकता रहता है। जो मनुष्य सुन्दर पोशाक से अपने शरीर को सजाने में भूला रहता है, वह अपने को शरीर समझने के 'ध्यान' में मग्न होता है; और जो मनुष्य अपनी बौद्धिक प्रतिभा या मानसिक योग्यता की शेखी बघारता है, वह अपने को मन समझने के 'ध्यान' में खोया रहता है।

**आध्यात्मिक ध्यान अपने लक्ष्य को जानता रहता है।**

ये सभी, एक प्रकार से, 'ध्यान' के ही रूप हैं। किन्तु आध्यात्मिक उपदेशों में, 'ध्यान' शब्द का प्रायः ध्यान के उन्हीं रूपों से तात्पर्य रहता है जो अनुभव को गम्भीरता–पूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से समझते और सुलझाते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में विषयों में मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ध्यान किया जाता है। अर्थात् उपस्थित विषय पर, मन की स्वाभाविक क्रिया के कारण, उस विषय का ध्यान किया जाता है; और ध्यान करने वाला ध्यान के अंतिम उद्देश्य से अज्ञात रहता है। उपर्युक्त 'ध्यान–क्रम' में, जिस विषय का साधक चिन्तन करता है, उसका अन्तिम उद्देश्य क्या है, यह बात वह प्रायः नहीं जानता किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में, कम से कम उसकी आरम्भिक अवस्था में, ध्यान सोच विचार कर के किया जाता है; और ध्यान करने वाले को, ध्यानकाल में, ध्यानक्रम के अन्तिम लक्ष्य का ज्ञान अधिक स्पष्टतः रहता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न ध्यान, चेतना के संसार में पाये जाने वाले अन्यान्य ध्यान के विकसित रूप हैं; वे अन्य प्रकार के ध्यानो से विशिष्ट तथा भिन्न होते हुए भी, उनसे विछिन्न एवम् असम्बद्ध नहीं है। **अन्य सामान्य प्रकार के ध्यानो के परिणामस्वरूप, जब मनुष्य संकटापन्न परिस्थिति में फँस जाता है, या किसी विपत्ति से आक्रान्त हो जाता है, तब आध्यात्मिक ध्यानो की ओर उसकी दृष्टि जाती है।** वह, अपनी कृतपूर्वध्यान पद्धति में, संशोधन करने के लिए, विवश होता है; ओर अपनी स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवृत्ति का संयम करने, तथा चेतना को अन्तर्मुख करने का प्रयत्न करता है। अब वह किसी आध्यात्मिक आदर्श के अनुसार, ध्यान के विषयों को विवेकपूर्वक चुनने के लिए, बाध्य होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ध्यान पद्धतियाँ दो प्रकार की हैं (1) सामान्य ध्यान, अर्थात् दिव्य सत्यों को ग्रहण करना, तथा (2) विशिष्ट ध्यान, अर्थात् अनुभव के किसी निश्चित विषय को चुन लेना, तथा अन्य समस्त विषयों का बहिष्कार करके उसी का अनन्य ध्यान करना। सामान्य विचारक्रमों को गम्भीरतापूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से करना ही सामान्य ध्यान है। आध्यात्मिक साधना शुरू करने के पूर्व किये जाने वाले ध्यान से वह इन बातों में भिन्न है :— (1) विचारक्रमों को, अब आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सत्यों की ओर निर्दिष्ट किया जाता है तथा (2) परीक्षणात्मक वृत्ति तथा सत्य के प्रति अनुराग का न्यास किये बिना, बुद्धि, ज्ञानी पुरूषों के द्वारा वर्णित दिव्य सत्यों के विवरण का विवेक पूर्वक उपयोग कर लेती है।

**सामान्य ध्यान तथा विशिष्ट ध्यान।**

इसके विपरीत, विशिष्ट ध्यान में सत्य की ओर केवल बौद्धिक पहुँच नहीं की जाती; किन्तु उसकी अपेक्षा, अधिक गम्भीर अनुभव प्राप्त किया जाता है। सामान्य ध्यानपद्धति की ही भाँति, विशिष्ट ध्यान पद्धतियों में भी, मन को, ध्यान विषय का बौद्धिक अनुभव करने का अवसर रहता है। किन्तु, इसके अतिरिक्त **विशिष्ट ध्यान–पद्धतियों के द्वारा, मानसिक संयम तथा अनुशासन प्राप्त किया जाता है; अब तक निष्क्रिय तथा निद्रित रहने वाली अन्तःकरण की योग्यताओं की उन्नति की जाती है, तथा व्यक्तित्व की सुप्त तथा गुप्त सम्भाव्यताओं का उद्‌घाटन किया जाता है।**

**विशिष्ट ध्यान का लक्ष्य बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक गम्भीर अनुभव प्राप्त करना होता है।**

सामान्य ध्यान के सम्मुख सिद्धान्त सम्बन्धी समस्या होती है; किन्तु विशिष्ट ध्यान के सम्मुख कृतिप्रधान (Practical) समस्या होती है। सामान्य ध्यान, सत्य के सिद्धान्तों को, विवेकपूर्वक समझता है; किन्तु **विशिष्ट–ध्यान, सत्य के सिद्धान्तों को समझते हुए, समझे हुए, सिद्धान्तों को आचरण में लाता है। ज्ञान एवम् अनुभूति के मार्ग में उपस्थित कुछ विशेष विघ्नों पर, विजय प्राप्त करने में विशिष्ट ध्यान पद्धतियाँ सहायक होती हैं।** विशिष्ट ध्यान पद्धतियों के अवलम्बन से, मन वश में किया जा सकता है; तथा मन की सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सकता है; विशिष्ट ध्यान पद्धतियाँ, कारागार की दीवारों को जी जान से तोड़ फोड़ कर बाहर निकालने की चेष्टा है। वे बन्दीगृह की दीवारों की मज़बूती के बारे में, ख़याली अंदाज़ लगाना,

**विशिष्ट ध्यान के सम्मुख कृतिप्रधान (Practical) समस्या होती है।**

तथा 'राय' कायम करना नहीं है; और न क़ैद में बन्द रह कर, आलस्यपूर्वक यह कल्पना करना है, कि बाहर निकलने पर, कौन कौन सी चीज़ें देखी जा सकती है।

**सैद्धान्तिक सत्य (Formal and theorectical truth) के प्रति निरूत्साहयुक्त निष्ठा की अपेक्षा, सच्ची भूल करना, तथा उससे गम्भीर सबक सीखना, आध्यात्मिक जीवन में, अधिक लाभदायक होता है।** विशिष्ट ध्यान पद्धतियों में, आध्यात्मिक कार्य–सिद्धि के लिए सैद्धान्तिक सत्य को त्यागने की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार, सत्य के किसी एक रूप या सूत्र पर चित्त को एकाग्र करते समय, सत्य के किसी अन्य रूप या सूत्र के मन में प्रवेश का पूर्णतः निषेध कर देना चाहिए, फिर चाहे यह अन्य रूप या सूत्र का उतना ही आध्यात्मिक महत्व हो, या उससे अधिक आध्यात्मिक महत्व हो। जब साधक किसी एक सद्गुरु पर ध्यान कर रहा हो, उस समय, उसे अन्य गुरुजनों के विचार को मन में ज़रा भी स्थान नहीं देना चाहिए, यद्यपि ये गुरुजन उतने ही पहुँचे हुए हों, जितना पहुँचा हुआ वह गुरू है, जिस पर वह ध्यान कर रहा है। इसी प्रकार, मन को सब विचारों से शून्य करते समय, तीव्र आत्मचिंतन नहीं किया जा सकता, यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, तीव्र आत्मचिंतन उतना ही सहायक है, जितना मन को चिंतनशून्य करने का क्रम।

**आध्यात्मिक कार्य सिद्धि के लिए सौद्धान्तिक सत्य को पीछे रखना पड़ता है।**

नियमानुसार, अपवादों को छोड़ कर, विभिन्न विशिष्ट ध्यान पद्धतियों को मिश्रित करना वाँछनीय नहीं है, यद्यपि सिद्धान्ततः वे सत्य के विभिन्न अंगो को अपनाने में सहायता पहुँचाती हों। **सत्य के विभिन्न कणों का संग्रह करना, तथा जीवन के सम्बन्ध में, सर्वांगीण तथा पूर्ण दृष्टि तैयार करना, सामान्य ध्यान का लक्ष्य है।** सामान्य ध्यान में, विचार, सत्य के सभी अवयवों के प्रति स्वतन्त्र, ग्रहणशील तथा व्यापक होता है। इस प्रकार के सामान्य ध्यान का अपना निजी महत्व एवम् औचित्य है। **सामान्य ध्यान विशिष्ट ध्यान के पहले भी लाभदायक होता है, तथा बाद में भी।** किन्तु सामान्य ध्यान विशिष्ट ध्यान का स्थानापन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट ध्यान पद्धतियों के उद्देश्य एवम् क्रियाएं, बिलकुल भिन्न होती हैं।

**सामान्य ध्यान की क्रिया।**

विशिष्ट ध्यान के विभिन्न रूपों की तुलना, व्यायाम के ख़ास रूपों से, की जा सकती है। व्यायाम के ख़ास रूप का एक खास उद्देश्य तथा खास औचित्य होता है। माँसपेशियों का व्यायाम केवल माँसपेशियों को मजबूत करने के लिए होता है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है, कि अंतड़ियाँ शरीर का महत्वपूर्ण अंग नहीं है। शरीर के

सामान्य स्वास्थ्य के लिए, दोनो प्रकार के व्यायाम महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि दोनो व्यायाम एक ही समय, तथा एक ही साथ, नहीं किये जा सकते। अंतड़ियों का व्यायाम करते समय, माँसपेशियों के सम्बन्ध में, अनावश्यक चिन्ता नहीं होनी चाहिए। तथा माँसपेशियों का व्यायाम करते समय, अंतड़ियों की व्यर्थ चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

**विशिष्ट ध्यान ख़ास व्यायाम के सदृश हैं।**

जिस प्रकार, वास्तविक स्वास्थ्य, अर्थात् शरीर के समतोल विकास को, ध्यान में रखकर, विभिन्न विशिष्ट व्यायाम पद्धतियाँ चुनी, तथा परस्पर सम्बद्ध की जा सकती हैं, उसी प्रकार, सामान्य ध्यान काल में बनाये हुये पूर्ण तथा सर्वांगीण आदर्श को ध्यान में रख कर, विभिन्न विशिष्ट ध्यान पद्धतियों को चुनना, तथा अन्योन्यान्वित करना चाहिए। सामान्य ध्यान का कोई नियम नहीं रहता। सामान्य ध्यान स्वतन्त्र विचार है। सत्य के सभी अंगों का अनुसन्धान ही उसका लक्ष्य होता है। **किन्तु जिस प्रकार, सामान्य ध्यान का स्थान विशिष्ट ध्यान नहीं ले सकता, उसी प्रकार, विशिष्ट ध्यान का स्थान, सामान्य ध्यान नहीं ले सकता।** दोनो अपने अपने स्थान, में आवश्यक हैं; और दोनो का अपना अपना महत्व है।

**सामान्य ध्यान तथा विशिष्ट ध्यान एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते।**

अनुभव के जिन विषयों को मन समझना चाहता है, उन विषयों के आधार पर, विशिष्ट ध्यानपद्धतियों को श्रेणिबद्ध करने से, उनकी गणना करने में सुविधा होगी। समस्त मानवीय अनुभव का यह लक्षण है, कि उसमें एक अनुभव करनेवाला होता है, तथा दूसरा अनुभव का  का विषय होता है। कुछ ध्यान पद्धतियाँ **अनुभव करने वाले** (Subject) से सम्बन्ध रखती हैं; कुछ ध्यान पद्धतियाँ **अनुभव के विषय** (Object) से सम्बन्ध रखती हैं; एवम् कुछ  ध्यानपद्धतियाँ, अनुभव करनेवाले और अनुभव के विषय के बीच होने वाले **मानसिक व्यापार** (Mental Operations) से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार, तीन विशिष्ट ध्यान पद्धतियाँ है।

**विशिष्ट ध्यान की विभिन्न पद्धतियाँ।**

सभी ध्यान का लक्ष्य है सहजसमाधि की उपलब्धि। सहजसमाधि सिद्ध पुरूषों को प्राप्त रहती है। साधक जिन ध्यान–पद्धतियों का अवलम्बन करता है, वे सभी ध्यान पद्धतियाँ, अन्ततोगत्वा, सहजसमाधि की प्राप्ति में सहायक होती है। सहजसमाधि दो प्रकार की होती है। (1) निर्वाण समाधि तथा (2) निर्विकल्प समाधि। निर्वाण समाधि का अर्थ है ईश्वरत्व में निमग्न रहना तथा निर्विकल्प समाधि का अर्थ है ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करना।

**ध्यान के प्रकारों की सामान्य श्रेणियों की सूची।**

<table>
<tr><td></td><td colspan="5">मनुष्य के साधक बनने के पहले किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के 'ध्यान'</td></tr>
<tr><td rowspan="6">ब</td><td rowspan="6">साधक के किए जाने वाले ध्यान के रूप</td><td rowspan="3">(1)</td><td rowspan="3">सामान्य ध्यान या दैवी सत्य को ग्रहण करना।</td><td>(1)</td><td>दार्शनिक चिन्तन (Philosophical thinking)</td></tr>
<tr><td>(2)</td><td>गुरुजनो से उपदेश –श्रवण</td></tr>
<tr><td>(3)</td><td>गुरुजनो द्वारा लिखित ग्रंथो का पठन</td></tr>
<tr><td rowspan="3">(2)</td><td rowspan="3">विशिष्ट ध्यान जिसमें अनुभव के कुछ निश्चित विषय चुन लिए जाते हैं।</td><td>(1)</td><td>अनुभव के विषय (Object of Experience) से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान</td></tr>
<tr><td>(2)</td><td>अनुभव करनेवाला (Subject of Experience) से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान</td></tr>
<tr><td>(3)</td><td>मानसिक व्यापार (Mental Operations) से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान।</td></tr>
<tr><td rowspan="2">क</td><td rowspan="2"></td><td rowspan="2"></td><td rowspan="2">पहुँचे हुये पुरूषों का ध्यान या सिद्धों की सहज समाधि</td><td>(1)</td><td>निर्वाण या निमग्नता</td></tr>
<tr><td>(2)</td><td>निर्विकल्प समाधि या ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति</td></tr>
</table>

ध्यान के प्रकारों की सामान्य श्रेणियों की जो सूची (Table) दी गई है, वह इस लेख के सारांश का संक्षेप है। सामान्य श्रेणियों की इस सूची में, साधनावस्था के पहले जिन ध्यानों का अवलम्बन किया जाता है ('अ'), उनका उल्लेख, आरम्भ में, स्पष्टतापूर्वक किया जा चुका है। सामान्यध्यान के विभिन्न रूपों (ब) की चर्चा, भाग 4 में, की जायगी। विशिष्ट ध्यान के विभिन्न रूपों (ब!!) तथा उनके उप रूपों में प्रत्येक का अलग, स्पष्टीकरण, भाग 5 तथा 6 में किया जायगा। सहजसमाधि (क) और उसके रूपों का विवरण, भाग 7 तथा 8 में किया जाएगा।

**सामान्य श्रेणियों की सूची।**

# ध्यान के प्रकार

## (भाग 4)

## दिव्य सत्यों का ग्रहण

## (कक्षा–अ)

## सामान्य ध्यान की विधियाँ

सामान्य ध्यान आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ है। सामान्य ध्यान से आरम्भिक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में सहायता मिलती है। वह कुछ चुने हुए अनुभव के खास विषयों से सम्बन्ध नहीं रखता। उसका क्षेत्र विस्तृत होता है। जीवन एवम् संसार से सम्बन्ध रखनेवाले दिव्य सत्यों को समझने, तथा ग्रहण करने का वह प्रयत्न करता है। जब जीवन तथा विश्व के अंतिम स्वरूप तथा लक्ष्य–विषयक गम्भीरतर समस्याओं में, वह रूचि लेना शुरू करता है, और उनके विषय में चिन्तन करना आरम्भ करता है, तो वह सामान्य ध्यान में प्रवेश करता है। **दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत जो कुछ भी है, उसका अधिकांश, जीवन तथा संसार के अन्तिम स्वरूप समझने के लिए बौद्धिक पहुंच के प्रयत्न का परिणाम है।** किन्तु दिव्य सत्यों का केवल बौद्धिक ज्ञान दुर्बल, अपूर्ण एवम् अनिर्णित रहता है, क्योंकि तर्क के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सीमाबद्ध है। स्वतन्त्र चिन्तन तथा एकमात्र तर्क के द्वारा जो दार्शनिक ध्यान (Philosophical thinking) या तत्वविचार किया जाता है, उससे सत्यसंबंधी निश्चित निष्कर्षों की प्राप्ति

**स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन की सीमाएं।**

नहीं होती है। बहुधा, ऐसे चिन्तन से, विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं, मतों तथा दृष्टि–कोणों की उत्पत्ति होती है। किन्तु दार्शनिक ध्यान महत्व से खाली नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा, साधक कुछ सीमा तक ज्ञान के प्रदेश में प्रवेश करता है, तथा उससे साधक को कुछ विचारसंयम (Intellectual Discipline) की प्राप्ति होती है, जिसके कारण तथा जिसके बल पर, ज्ञानियों के द्वारा वर्णित दिव्य सत्यों को प्राप्त करने, एवम् ग्रहण करने में वह समर्थ होता है।

सामान्य ध्यान की अधिक लाभदायक रीति है, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा वर्णित जीवन तथा संसार सम्बन्धी स्पष्टीकृत सत्यों का अध्ययन। ज्ञानी पुरुषों द्वारा दिव्य सत्यों के

**ज्ञानियों द्वारा वर्णित सत्यों का अध्ययन।**

विवरण के पठन तथा श्रवण से यह शुरु किया जा सकता है। जीवित सिद्ध गुरुओं अथवा समाधित्थ सिद्ध गुरुओं द्वारा लिखित धर्मोपदेश का श्रवण, पठन, अध्ययन तथा मनन के द्वारा सामान्य ध्यान किया जा सकता है। क्योंकि ईश्वरदर्शी पुरुषों के ग्रंथों के अध्ययन, मनन तथा उनमें वर्णित दिव्य सत्यों को ग्रहण करने से, साधक अपने जीवन को ईश्वरीय प्रयोजन के अनुकूल बना सकता है।

जब साधक जीवित गुरु के मुख से दिव्य सत्यों को सुनता है, तब वह उन्हें आसानी से, समझता तथा ग्रहण करता है। जीवित गुरु के मुख से श्रुत वचन प्रभाव–पूर्ण एवम्

**श्रवण का महत्व।**

शक्ति–शाली होता है। अन्य प्रकार से प्राप्त सत्य में, वह बल नहीं होता, जो गुरु से श्रुत सत्य में होता है। **जीवित गुरु का वचन, उसके जीवन एवम् व्यक्तित्व के कारण, सजीव तथा प्रभावयुक्त होता है।** यही कारण है, कि अनेक धर्मग्रंथों ने दिव्य सत्यों को साक्षात् गुरुमुख से सुनने पर जोर दिया है। जीवित गुरु के सम्पर्क में आना, तथा उनके मुख से सत्य वचनों को श्रवण करना, अन्य प्रकार के सामान्य ध्यान से निःसंदेह श्रेष्ठ है।

जीवित गुरु से सम्बन्ध स्थापित करना, तथा उनके मुख से सत्य का विवरण सुनना, सदैव सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में ही, पठन से कुछ लाभ प्राप्त किया जाता है।

**पठन के द्वारा ध्यान से लाभ।**

सर्वसामान्य साधकों के लिए पठन से बढ़ कर और अन्य कोई सामान्य ध्यान का उपयुक्त साधन नहीं है। सत्य का लिखित वर्णन उन्हें कहीं भी प्राप्त हो सकता है, ओर वे उसका पठन किसी भी समय, सुविधानुसार कर सकते हैं। जो ध्यान वर्णित सत्य के पठन से शुरु होता है, उनसे यह विशेष लाभ है, कि वह अधिकांश साधकों को अत्यन्त आसानी से प्राप्त हो जाता है। पठन सम्बन्धी ध्यान *'कक्षा–ब' में समझाया जाएगा* तथा पठनसामग्री 'कक्षा –क' में प्रस्तुत की जायगी।

(कक्षा ब)

# पठन का ध्यान

पठन के द्वारा ध्यान करने में, कुछ व्यावहारिक अड़चने हैं, क्योंकि दिव्य सत्यों के अधिकांश लिखित विवरण, केवल बौद्धिक अध्ययन के लिए होते हैं, ध्यान द्वारा ग्रहण करने के लिए नहीं होते। पठन के द्वारा ध्यान करने में, मुख्य कठिनाइयाँ ये हैं :– (1) ध्यान का तरीक़ा ध्यान के विषय के लिए पर्याप्त नहीं होता। (2) ध्यान के तरीक़े में कोई त्रुटि होने के कारण ध्यान उत्साहरहित तथा यंत्रतुल्य हो जाता है। तथा (3) ध्यान का विषय संदिग्ध, अनिश्चित तथा दुर्बोध्य होता है।

**पठन के द्वारा ध्यान करने में सामान्य कठिनाइयाँ।**

उक्त जिन कारणों से, पठन का ध्यान विकृत तथा निष्फल हो जाता है, उन्हें दूर करने के उद्देश्य से, पठन के लिए ध्यान का एक विशिष्ट रूप इस लेख में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें ध्येय विषय स्पष्टतः वर्णित है। उसका पठन और ध्यान करने की राय दी जाती है। न केवल पठन द्वारा ध्यान करने की रीति को ही समझाने के लिए यह लेख लिखा गया है, किन्तु इस प्रकार के ध्यान की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, दिव्य सत्यों का विवरण प्रस्तुत करने का उद्देश्य है पठन के द्वारा ध्यान करने में, जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, वे दूर कर दी जाय। कठिनाइयाँ इस तरह दूर कर दी गई हैः– **(1) ध्यान की विधि तथा ध्यान का विषय एक दूसरे के लिए पर्याप्त और उपयुक्त है, जिससे विवेक पूर्वक ध्यान करना सम्भव हो**

**पठन के लिए ध्यान का एक विशिष्ट रूप प्रस्तुत करने से कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।**

**जाता है। (2) पठन के द्वारा ध्यान करने की जो विभिन्न अवस्थाएं हैं, उनका पूर्णतः स्पष्टीकरण कर दिया गया है। तथा (3) दिव्य सत्यों का संक्षिप्त विवरण खास तौर से प्रस्तुत कर दिया गया है, जो ध्यान करने के लिए, एक उपयुक्त तथा महत्वपूर्ण पाठ्य सामग्री है।**

दिव्य सत्यों के पठन से आरम्भ होने वाले ध्यान की तीन अवस्थाएं हैं —

**पठन द्वारा जो ध्यान आरम्भ होता है उसकी अवस्थाएं।**

(1) प्रथम अवस्था में, साधक को दिव्य सत्यों के विवरण को प्रतिदिन पढ़ना चाहिए। और साथ ही साथ, उनका आद्यन्ततः चिंतन मनन करना चाहिए। (2) द्वितीय अवस्था में, पठन अनावश्यक हो जाता है; किन्तु विवरण के विषय का निरन्तर स्मरण तथा अनुशीलन करना चाहिए। (3) तीसरी अवस्था में, विवरण के विचार, जिन शब्दों में व्यक्त किये गये हैं, उन शब्दों का स्वतंत्र रूप से स्मरण करना भी अनावश्यक है, तथा विचारों को मन में लाते समय भी, शब्दों का स्मरण करना अनावश्यक है। इसी प्रकार, विषय का तर्कशील चिन्तन भी, सर्वथा समाप्त हो जाना चाहिए। ध्यान की इस अवस्था में, मन विचारराशि से शून्य, तथा तर्क–वितर्क से रहित हो जाना चाहिए, तथा उसे, विवरण में वर्णित परम सत्य का स्पष्ट, सहज तथा आन्तरिक ज्ञान हो जाना चाहिए।

**पठन द्वारा ध्यान करने के लिए विशिष्ट पाठ्य सामग्री की प्रस्तुति।**

**किसी विशिष्ट विषय का अनन्य चिन्तन ही विवेकयुक्त ध्यान है।** अतः ध्येय विषय के स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवरण ('कक्षा–क' में देखिये) के भीतर सृष्टि का सम्पूर्ण इतिहास तथा आध्यात्मिक पथ और ईश्वरानुभूति का पूर्ण वर्णन आ जाता है।

साधकों को चाहिए, कि वे विवेकपूर्वक विवरण को पढ़ें, तथा उसमें वर्णित परम सत्यों को ग्रहण करें।

**ध्यान के लिए विशिष्ट पाठ्य सामग्री के लाभ।**

ध्यान के लिए, जो विशिष्ट पाठ्य सामग्री तैयार की गई है, वह अत्यन्त सरल तथा उपयोगी है। क्योंकि उसके द्वारा पाठ्य विषय का पठन तथा चिन्तन, साथ ही साथ, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, विषय के विवरण को सरल तथा संक्षिप्त बनाते समय, इस बात का ध्यान रखा गया है, कि उसके पढ़ने से अनावश्यक तथा असंलग्न विचारों के उत्पन्न होने की सम्भावना न रहे। किसी लम्बे लेख, या स्थूलकाय ग्रंथ के विषय का चिन्तन करने से असंलग्न विचारों के उपद्रव को दूर करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, फिर चाहे उस विषय को कण्ठस्थ भी क्यों न कर लिया जाय। अतः ऐसे जटिल तथा विस्तृत

विषय का सहज ध्यान असम्भव हो जाता है। अमूर्त (abstract) विचारों के दीर्घकालीन ध्यान करते समय ही, मन में असंलग्न विचारों की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु अनुभव के किसी स्थूल विषय का लम्बा और लगातार ध्यान करने में ही, मन में अनावश्यक विचार उदय होते हैं, इसके विपरीत, इंद्रियातीत सत्य के संक्षिप्त विवरण का पठन, तथा चिन्तन करने से, असंलग्न विचारों के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। दिव्य सत्यों के निम्नलिखित विवरण के विषय का यदि साधक ध्यान करेंगे – (ध्यान करने की जो रीतियाँ सविस्तार तथा स्पष्टतः ऊपर वर्णित हैं, उन्हें रीतियों से) – तो उनके लिए, ध्यान करना न केवल सहज सरल, सुखद तथा उत्साहदायक होगा, किन्तु सहायक एवम् सफल भी होगा। इस प्रकार ध्यान करने से, जीवन के लक्ष्य की ओर वे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम बढ़ायेंगे।

(कक्षा–क)

# दिव्य सत्य

### (पठन द्वारा ध्यान करने के लिए)

### आत्मा की विश्वात्मा की ओर यात्रा

आत्मा एक अद्वितीय, तथा अनादि तथा अनन्त एवम् सीमारहित परमात्मा से वस्तुतः एकरूप (Identical) है। यथार्थ में, आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, तथा मानसिक (कारण) संसारों से परे है, किन्तु शरीर (स्थूल देह), प्राण (सूक्ष्म देह, जो इच्छाओं तथा जीवन की शक्तियों का वाहन है) तथा मनोदेह एवम् कारण शरीर (जो मन का निवासस्थान है) से तादात्म्य अनुभव करने के कारण, वह अपने को सीमित समझता है। आत्मा अपनी इन्द्रियातीत अवस्था में एक रूप रहित सीमातीत एवम् अनन्त तथा नित्य है; किन्तु तो भी, वह अनेक नामरूपात्मक, सीमित (Finite) अनित्य तथा नश्वर संसार से युक्त हो जाता है। यह माया या सांसारिक भ्रम है।

**आत्मा तथा उसका प्रेम।**

नामरूपात्मक भासमान (Phenomenal) संसार पूर्णतः भ्रामक एवम् मिथ्या हैं। इस संसार की तीन अवस्थाएं हैं :– (1) स्थूल (2) सूक्ष्म (3) मानसिक। यथापि संसार की ये तीनो अवस्थाएं मिथ्या है, तथापि उनके मिथ्यात्व के अंशो में भिन्नता है। स्थूल संसार (Gross World) सत्य (ईश्वर) से अत्यधिक दूर है, सूक्ष्म संसार (Subtle World) सत्य से निकटतर है, तथा

**भासमान (Phenomenal) संसार की अवस्थाएं।**

मानसिक संसार (Mental World) सत्य से निकटतम है। किन्तु इन तीनो संसारों का अस्तित्व भ्रम के कारण दिखाई देता है। सत्य से साक्षात्कार करने के लिए, आत्मा को संसार की इन तीनो अवस्थाओं को पार करना पड़ता है।

सृष्टि का एक मात्र प्रयोजन यह है, कि आत्मा, विश्वात्मा (Oversoul) एवं परमात्मा की अनन्त अवस्था का चेतनापूर्वक (Consciously) अनुभव कर सके, **यद्यपि आत्मा का परमात्मा में नित्य निवास है, तथा उससे उसकी अटूट एकता है, तथापि वह देश–काल–निमित्त की सीमाओं में बद्ध सृष्टि से अलग रह कर, स्वतंत्रतापूर्वक उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।** अतः, एक, अद्वितीय तथा अनादि अनन्त परमात्मा से अपनी एकता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उसे चेतना (Consciousness) का विकास करना पड़ता है। चेतना विकसित करने के लिए, द्रष्टा (Subject) एवम् चेतना का केन्द्र, तथा दृश्य (Object) एवम् चेतना के विषय अर्थात वस्तुजगत के द्वैत की आवश्यकता हुई।

**सांसारिक भ्रम या विश्व प्रपंच का कारण।**

आत्मा भ्रम में कैसे फँस जाती है ? नामरूपरहित, सीमातीत (Infinite) तथा अनन्त, अनश्वर आत्मा अपने को नामरूपवान, सीमित तथा अनित्य और नश्वर कैसे समझने लगती है ? पुरुष अपने को प्रकृति कैसे मानने लगता है ? दूसरे शब्दों में, आत्मा सांसारिक भ्रम में क्यों फँस जाती है ?

एक, अखण्ड, सत्य, अनादि, तथा अनन्त परमात्मा की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, आत्मा को चेतना की आवश्यकता हुई। आत्मा को चेतना अवश्य प्राप्त हुई; किन्तु उसे ईश्वर की चेतना प्राप्त नहीं हुई; उसे संसार की ही चेतना प्राप्त हुई। परमात्मा की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किन्तु परमात्मा की छाया की चेतना प्राप्त हुई। एक की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किन्तु अनेक की चेतना प्राप्त हुई। सीमारहित अनन्त की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किन्तु आदिअन्त युक्त तथा सीमित की चेतना प्राप्त हुई। नित्य और अक्षर की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किन्तु अनित्य और क्षर की चेतना प्राप्त हुई। इस भाँति, आत्मा अपने को परमात्मा अनुभव करने के बजाय, सांसारिक भ्रम में, फँस गयी। यही कारण है, कि यथार्थ में असीम होने पर भी, अपने को वह सीमावान समझने लगी। दूसरे शब्दों में, **जब आत्मा चेतना का विकास करती है, तो उसे अपने वास्तविक स्वभाव की चेतना प्राप्त न हो कर, दृश्य संसार (जो उसी की छाया है,)** की चेतना प्राप्त होती है।

भासमान संसार से चेतन होने के लिए, आत्मा को कोई ना कोई रूप एवम् उसका उपकरण (Medium) धारण करना पड़ता है। तभी तो वह संसार का अनुभव

कर सकता है। उपकरण की तरह, वह जिस रूप को ग्रहण करता है, उसके गुणधर्म के द्वारा ही अब आत्मा की चेतना का प्रकार और अंश (Degree) निश्चित होता है। आत्मा प्रथमतः स्थूल शरीर धारण करके, स्थूल संसार का अनुभव करती है। आरम्भ में स्थूल संसार की जो चेतना उसे प्राप्त होती है, वह अत्यन्त आंशिक तथा प्राथमिक प्रकार की होती है। और तदनुसार, आत्मा अत्यन्त अविकसित रूप (पाषाण का रूप) धारण करता है। पाषाण की अवस्था से सृष्टिविकास आरम्भ होता है।

**प्राणियों का विकास (Organic Evolution) तथा उसमें चेतना के अंश।**

**भिन्न–भिन्न इच्छाओं या संकल्पों द्वारा चिन्हित संस्कारों के संचय के कारण, चेतना को जो वेग प्राप्त होता है, वही विकास की संचालक शक्ति है। इस प्रकार** एक विशिष्ट रूप में जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, वे एक उच्चतर रूप या श्रेष्ठतर उपकरण के द्वारा तथा तदनुसार स्थूल संसार की श्रेष्ठतर चेतना के द्वारा, कार्य में परिणत किये जाते हैं। अतएव आत्मा क्रमशः उच्चतर रूप (जैसे धातु, वनस्पति, कीड़े, मछली, पक्षी, तथा पशु) धारण करता जाता है। तथा अन्त में, मानवीय रूप धारण करता है। मानवीय रूप में, उसे स्थूल संसार की विचार, भाव तथा क्रिया सम्बन्धी **पूर्ण चेतना** (Full Consciousness) प्राप्त हो जाती है।

चेतना के विकास में संस्कार किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, और उन्हें कार्य में परिणत करने के लिए, संस्कारों के अनुसार रूपों का कैसा सृजन होता है, — यह बात समझने के लिए, एक उपयुक्त सादृश्य से सहायता मिल सकती है। यदि एक मनुष्य नाट्य मंच पर राजा का अभिनय करने की इच्छा रखता है, तो वह इस इच्छा का तभी अनुभव कर सकता है, जब वह यथार्थ में, राजा की पोशाक पहने, तथा मंच पर उपस्थित हो। अन्य इच्छाओं और आकाँक्षाओं पर भी, यह बात लागू होती है। इच्छाएं तथा आकाँक्षाएं, तभी कार्य में परिणत की जा सकती हैं, या उनकी पूर्ति की जा सकती है, जब कि समूची परिस्थिति में परिवर्तन हो, तथा उस उपकरण या रूप में भी परिवर्तन हो, जिसके द्वारा वह परिस्थिति पर्याप्ततः अनुभव की जा सके। विकासक्रम की संचालन शक्ति को समझने के लिए, यह सादृश्य अत्यन्त सांकेतिक है। विकास की **संचालक शक्ति *यंत्रतुल्य नहीं है, किन्तु प्रयोजनात्मक है।***

**विकास की संचालक शक्ति।**

संस्कार केवल रूप (शरीर), तथा रूप के अनुसार चेतना का ही विकास करने के लिए, ज़िम्मेदार नहीं है; किन्तु चेतना को दृश्य संसार से बद्ध करने के लिए, भी ज़िम्मेदार हैं। संस्कारों के कारण चेतना की मुक्ति – (चेतना को दृश्य संसार से खींच

कर आत्मा की ओर मोड़ना) उप मानवीय (Subhuman) अवस्था में असम्भव, तथा मानवीय स्थिति में कठिन हो जाती है। चूँकि चेतना पूर्व संचित संस्कारों से चिपक जाती है, तथा दृश्य संसार का अनुभव, उपकरण के उपयोग में लाये जाने वाले रूप (शरीर) के कारण, सीमित हो जाती है, अतएव आत्मा, विकासक्रम की प्रत्येक स्थिति में, अपने को रूप (पत्थर, धातु वनस्पति, पशु) इत्यादि से सम्बद्ध कर लेती है, अर्थात् अपने को आत्मा न समझ कर, रूप समझने लगती है। इस प्रकार, आत्मा, जो वास्तव में अनादि अनन्त तथा रूपरहित है, अपने को आदि–अन्त –युक्त अनुभव करती है, तथा अपने को पत्थर, धातु, वनस्पति, कीट, मछली, पक्षी तथा पशु समझने लगती है। इन सभी स्थितियों में, आत्मा की चेतना का अंश (Degree) उस रूप पर निर्भर रहता है, जो रूप वह धारण करता है। **अन्त में, आत्मा जब मानवीय रूप धारण करके स्थूल संसार का अनुभव करने लगती है, तब वह अपने को मनुष्य समझने लगती है।**

**रूप से तादात्म्य अर्थात् देहात्मभाव।**

मानवीय रूप में, आत्मा की चेतना पूरी तरह विकसित हो जाती है। अतएव, स्थूल रूप (शरीर) के अधिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः मानवीय रूप के प्राप्त होते ही, रूपों का विकास समाप्त हो जाता है; तथा मानवीय रूप में, जो संस्कार संचित हो गये रहते हैं, उन्हें अनुभव करने, तथा कार्य में परिणत करने के लिए, आत्मा को बार–बार जन्म धारण करना पड़ता है। आत्मा का असंख्य मानवीय रूपों में बार–बार जन्म लेना, कर्म के नियम के द्वारा, निर्दिष्ट होता है। अर्थात् जैसे पूर्वसंचित संस्कार – (सद्गुण या दुर्गुण के संस्कार, सुख या दुःख के संस्कार ) होते हैं, उन्हीं के अनुसार, मानवीय रूप प्राप्त होते हैं। आत्मा जब बार –बार मानवीय रूप धारण करके, जीवन व्यतीत करती है, तब **वह अपने को नाशवान स्थूल शरीर समझती रहती है।**

**पुनर्जन्म तथा कर्म का नियम।**

मानवीय रूप धारण करके, स्थूल संसार की पूर्ण चेतना विकसित करते समय, **आत्मा, साथ ही साथ, सूक्ष्म (Subtle) और मानसिक (Mental) एवम् कारण शरीर भी विकसित करती है।** किन्तु, चूँकि उसकी चेतना केवल स्थूल संसार तक सीमित रहती है, अतः वह इन सूक्ष्म एवम् मानसिक शरीरों का उपयोग, जागृत अवस्था में, चेतनतः नहीं कर सकती। वह सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों, तथा उनसे सम्बद्ध सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों में, तब चेतन होती है, जब उसकी पूर्ण चेतना अन्तर्मुख होती है, या खुद की ओर मुड़ती है। जब आत्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा, सूक्ष्म संसार से चेतन होती है, तब वह अपने को सूक्ष्म

**सूक्ष्म शरीर तथा मानसिक शरीर।**

शरीर समझने लग जाती है, और जब वह मानसिक एवम् कारण शरीर के द्वारा, मानसिक संसार से चेतन होती है, तब वह अपने को मानसिक शरीर समझने लगती है। ठीक वैसे ही जैसे, जब वह स्थूल शरीर के द्वारा, स्थूल संसार से चेतन होती है, तब वह अपने को स्थूल शरीर समझने लगती है।

स्थूल शरीर तथा मानसिक शरीर से अपना तादात्म्य अनुभव करने के भ्रम से, अपने आपको मुक्त करना, आत्मा की स्वगृहयात्रा है। जब आत्मा का ध्यान आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति की ओर आकृष्ट होता है, तब दृश्य संसार की ओर चेतना को खींचने वाले, तथा दृश्य संसार से चेतना को बद्ध करनेवाले संस्कार धीरे–धीरे लुप्त तथा शिथिल होते हैं। ज्यों–ज्यों, संस्कारों का **लोप होता जाता है, त्यों–त्यों सांसारिक भ्रम का आवरण हटता जाता है।** और इस प्रकार, आत्मा केवल दृश्य संसार की विभिन्न अवस्थाओं का ही अतिक्रमण नहीं करती है, किन्तु वह अपने को अपने विभिन्न शरीरों से भिन्न समझने लगती है। जब आत्मा अपने आप को जानने का प्रयत्न करती है, तथा अपनी पूर्ण चेतना सत्य (ईश्वर) की ओर मोड़ती है, तब उसके आध्यात्मिक साधना पथ का आरम्भ होता है।

**आध्यात्मिक साधना पथ।**

साधना पथ की प्रथम अवस्था में, आत्मा अपने स्थूल शरीर तथा स्थूल संसार से पूर्णतः अचेतन हो जाती है, और अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म संसार को अनुभव करती है, और अपने को सूक्ष्म शरीर, समझती है। द्वितीय अवस्था में, आत्मा अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, तथा सूक्ष्म संसार से भी बिल्कुल अचेतन हो जाती है। और मानसिक एवम् कारण शरीर के द्वारा, मानसिक संसार को अनुभव करती है, और वह अपने को मानसिक शरीर समझती है। इस अवस्था में, **आत्मा ईश्वर अर्थात् परमात्मा के बिल्कुल सम्मुख आ जाती है,** और परमात्मा की अनन्तता का अनुभव करने लग जाती है। **किन्तु यद्यपि वह परमात्मा की अनन्तता का अनुभव करती है, तथापि वह अपने को दर्शक तथा परमात्मा को दर्शनीय समझती है।** आत्मा अपने को मन या मानसिक शरीर समझती है, अतः वह अपने को मर्यादित (Finite) मानती है।

यहाँ यह विरोधाभासा (Paradox) उत्पन्न होता है कि **आत्मा, जो यथार्थ में सीमारहित (Infinite) है, अपनी सीमातीत (Infinite) अवस्था का दर्शन करती है, किन्तु, तो भी, वह अपने को सीमित समझती है, क्योंकि दर्शन करते समय वह अपने को मन समझती है।** वह अपने को मन समझती है तथा मन के विषय को

परमात्मा एवम् विश्वात्मा समझती है। इसके अतिरिक्त, वह दर्शनीय परमात्मा से युक्त या एक होने की ही आकाँक्षा नहीं करती, किन्तु उस आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए, कठोर प्रयत्न करती है।

तृतीय अवस्था में, आत्मा की पूर्ण चेतना और भी अंतर्मुख या आत्माभिमुख हो जाती है, और वह अपने को मानसिक एवम् कारण शरीर से भी भिन्न समझने लगती है। इस प्रकार, तृतीय तथा अन्तिम अवस्था में, (यह अवस्था ध्येय है,) **आत्मा अपने को अपने उन तीनों भी शरीरों से भिन्न समझती है** जिन्हें पूर्ण चेतना विकसित करने के लिए, उसने निर्मित किया था। और वह अब अपने को रूपरहित तथा सभी शरीरों और संसारों से केवल परे ही नहीं समझती, किन्तु वह अपने को पूर्ण चेतनापूर्वक एक, अद्वितीय, अखण्ड, सत्य तथा सीमातीत विश्वात्मा से एकरूप जानती है। अर्थात् आत्मा अपने को परमात्मारूप ही जानती है। इस सत्य की अनुभूति होने पर, आत्मा परमात्मावस्था के अनन्त, आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त शान्ति, तथा अनन्त ज्ञान का निरन्तर अनुभव करती है।

**ध्येय**

आरम्भ में, आत्मा को विश्वात्मा के साथ अपनी एकता का ज्ञान नहीं था। अतः परमात्मा का अविभाज्य अंग होते हुए भी, वह परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव नहीं कर सकती थी, और परमात्मावस्था की अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, तथा अनन्त ज्ञान का आस्वादन नहीं कर सकती थी क्योंकि उसकी चेतना विकसित नहीं हुई थी। चेतना के विकसित हो जाने पर भी, वह परमात्मावस्था की अनुभूति नहीं कर सकती – (यद्यपि सदा सर्वदा वह विश्वात्मा में तथा विश्वात्मा के साथ हैं) – क्योंकि उसकी चेतना उक्रान्ति जन्य संस्कारों के कारण, दृश्य संसार से सम्बद्ध हो जाती है। आध्यात्मिक साधनापथ पर भी, आत्मा आत्मचेतन नहीं होती है, किन्तु वह केवल उन स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से चेतन हो जाता है, जो उसकी भ्रममयी छायाएं हैं। किन्तु **साधनापथ के अन्त में, आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से सम्बद्ध समस्त संस्कारों तथा इच्छाओं से मुक्त हो जाती है, और उसके लिए, अपने आप को सीमित (Finite) होने के उस भ्रम से मुक्त करना सम्भव हो जाता है, जो उसके स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक कारण शरीरों से तादात्म्य (Identification) के कारण उत्पन्न हो जाता है।** इस स्थिति में, आत्मा भासमान (Phenomenal) संसार से पूर्णतः परे हो जाती है, तथा आत्मचेतन (Self-conscious) तथा आत्मप्राप्त (Self-reasised) हो जाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, आत्मा को अपनी पूर्ण चेतना

**सारांश**

कायम रखनी चाहिए, तथा साथ ही साथ, उसे अपने को शरीर (स्थूल देह) प्राण, (सूक्ष्म शरीर, जो इच्छाओं और आन्तरिक शक्ति का वाहन है), तथा मन (मानसिक एवम् कारण शरीर जो मन का निवास स्थान है ) से भिन्न जानना चाहिए, तथा उसे अपने को स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से भी परे जानना चाहिए।

अपने को सीमित समझने के भ्रम से, आत्मा को, धीरे–धीरे, इस प्रकार, मुक्त होना चाहिए। **(1) उसे अपने आपको संस्कारों के बन्धन से मुक्त करना चाहिए और (2) उसे अपने को अपने शरीर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण) से भिन्न जानना चाहिए।** इस प्रकार, आत्मा अपना मिथ्या अहंकार एवम् भ्रम (जैसे 'मैं स्थूल शरीर हूँ' 'मैं सूक्ष्म शरीर हूँ'; या 'मैं मानसिक शरीर हूँ' ) नष्ट करती हैं आत्मा, इस प्रकार, भ्रम–मुक्त हो कर भी, अपनी पूर्ण चेतना को बनाये रखती है। अब यह चेतना आत्मज्ञान तथा सत्यानुभूति प्राप्त करती है। **सांसारिक भ्रम से मुक्त होना, तथा पूर्ण चेतनापूर्वक अनन्त एवम् सीमारहित विश्वात्मा से अपनी एकता का ज्ञान प्राप्त करना आत्मा की लम्बी यात्रा का लक्ष्य है।**

# ध्यान के प्रकार

**(भाग 5)**

## विशिष्ट ध्यान जो व्यक्तिपरक होते हैं।

भाग 3 में बतलाया जा चुका है, कि विशिष्ट ध्यान तीन प्रकार के होते हैं। (1) **अनुभव के विषय** (Objects of Experience) से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान, (2) **अनुभव करनेवाले** (Subject of Experience) से सम्बन्द्ध रखनेवाला ध्यान, (3) **मानसिक व्यापार** (Mental Operations) से सम्बन्ध रखने वाला ध्यान। ध्यान के ये तीनो प्रकार परस्पर सम्मिश्रित है। क्योंकि अनुभव करनेवाला, तथा अनुभव के विषय, तथा उनके बीच होने वाली क्रिया–प्रतिक्रिया से उत्पन्न मानसिक व्यापार परस्पर अविच्छेद रूप से संग्रथित हैं। **अतएव, ध्यान के ये तीनों प्रकार एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न तथा स्वतंत्र नहीं हैं; किन्तु उनमें परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध है।** इस प्रकार, अनुभव के विषय सम्बन्धी ध्यान का बहुधा न्यूनाधिक सम्बन्ध अनुभव करनेवाले तथा तद्विषयक मानसिक व्यापारों से रहता है; अनुभव करनेवाला सम्बन्धी ध्यान बहुधा अनुभव के विषय तथा तद्विषयक मानसिक व्यापारों से सम्बन्ध रखता है; और विभिन्न मानसिक व्यापार सम्बन्धी ध्यान, अनुभव करनेवाला तथा अनुभव के विषय दोनो से, बहुधा सम्बन्ध रखता है। तथापि एक प्रकार के विशिष्ट ध्यान में, किसी एक तत्व की **प्रधानता** होने के कारण, वह दूसरे प्रकार के विशिष्ट ध्यान से भिन्न होता है। अतः पहले प्रकार का ध्यान प्रधानतः अनुभव के विषय

**विशिष्ट प्रकार के ध्यान।**

से सम्बन्ध रखता है; द्वितीय प्रकार का ध्यान प्रधानतः अनुभव करनेवाले से सम्बन्ध रखता है; और ध्यान के तीसरे प्रकार का विभिन्न मानसिक व्यापारों से सम्बन्ध रहता है।

ध्येय के विषय के विशिष्ट धर्म तथा ध्यान की विशिष्ट पद्धति के अनुसार, उपर्युक्त तीनो प्रकार के ध्यानों में से प्रत्येक के अनेक उपविभाग भी किये जा सकते हैं। ध्यान के अनेक विशिष्ट रूपों के उप–विभागों में से केवल प्रतिनिधिक तथा प्रधान उपविभाग ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः गणनात्मक श्रेणियों की सूची में विशिष्ट ध्यान के बारह रूप शामिल किये गये हैं।

**गणनात्मक श्रेणीकरण की सूची।**

स्मरण रहे, विशिष्ट ध्यान के बारह रूप जिनका उल्लेख श्रेणीकरग की गणनात्मक सूची पृष्ठ में किया गया है, में से प्रथम चार **व्यक्तिपरक** (Personal) ध्यान के रूप हैं; तथा शेष आठ तत्वपरक एवम् व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonai) ध्यान के रूप हैं (श्रेणियों की गणनात्मक सूची देखिये)। ध्यान व्यक्तिपरक तब होता है, जब उसका संबंध व्यक्ति से होता है; तथा ध्यान तत्वपरक तब होता है, जब (अ) मानवीय व्यक्तित्व (Human Personality) के अवयवों से उसका सम्बन्ध होता है, या (ब) उसका सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से होता है, जो मानवीय व्यक्तित्व (जैसा कि साधारणतः समझा जाता है) के परे होता है। विशिष्ट ध्यान के व्यक्तिपरक रूपों में से प्रत्येक का स्पष्टीकरण इसी लेख में किया जायगा, तथा तत्वपरक विशिष्ट ध्यान के रूपों में से प्रत्येक का अलग–अलग स्पष्टीकरण भाग 6 में किया जाएगा।

**व्यक्तिपरक ध्यान तथा व्यक्तिनिरपेक्ष एवम् तत्वपरक ध्यान।**

तत्वपरक ध्यान के विरूद्ध, व्यक्तिपरक ध्यान में, कुछ विशेष सुविधाएं एवम् लाभ हैं। नये अभ्यासियों के लिए, व्यक्ति सम्बन्धी ध्यान सरल तथा सुखद होता है; किन्तु तत्वपरक ध्यान बहुधा शुष्क एवम् कठिन होता है। केवल कुछ ऐसे लोगों के ही लिए, वह सरल होता है, जिनमें उसकी ओर विशेष प्रवृत्ति, तथा उसे करने की विशेष क्षमता होती है। इसके अतिरिक्त, तत्वपरक ध्यान के रूप, अधिकांशतः मन या बुद्धि के अनुशासन हैं; किंतु व्यक्तिपरक ध्यान के रूप; मन या बुद्धि के लिए केवल अनुशासन नहीं है, किन्तु हृदय को भी प्रवाहित और विकसित करते हैं। मन तथा हृदय दोनो की पूर्णोन्नति तथा समभारता (Balance) ही सच्ची आध्यात्मिक पूर्णता है।

**व्यक्तिपरक ध्यान के विशेष लाभ।**

व्यक्तिपरक ध्यान मन तथा हृदय को समानतः उन्नत तथा दोनो को समभार करता है; अतएव उसका विशेष महत्व है। व्यक्तिपरक ध्यान के रूपों के द्वारा, जब

साधक पर्याप्त रूप से तैयार हो जाता है, तभी तत्वपरक ध्यान के रूप, उसके लिए, यथार्थतः फलदायक तथा प्रभावशाली सिद्ध होते हैं।

**आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण व्यक्तियों का ध्यान व्यक्तिपरक ध्यान है।** नेपोलियन के चरित्र की प्रशंसा करने वाले, तथा नेपोलियन के विषय में निरन्तर सोचनेवाले मनुष्य की उसी के समान बनने की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार, जो साधक किसी सिद्ध आध्यात्मिक पुरुष की प्रशंसा करता है, तथा उसके विषय में सदैव सोचता है, उसकी उसी के समान आध्यात्मिकता में सिद्ध होने की प्रवृत्ति होती है। **जीवित सद्गुरु या जीवित अवतार अथवा भूतकालीन सद्गुरु या अवतार** व्यक्तिपरक ध्यान के उपयुक्त ध्येय विषय हैं। मुख्य बात है ध्येय विषय का आध्यात्मिकता में पूर्ण होना। **यदि ध्यान के लिये चुना गया मनुष्य, आध्यात्मिकता में पूर्ण या सिद्ध नहीं हुआ, तो ऐसे ध्येयविषय के दोष, दौर्बल्य, ध्यान करनेवाले साधक के मन में प्रविष्ट हो जाएंगे,** किन्तु ध्यान के लिए चुना गया पुरुष आध्यात्मिकता में सिद्ध और पूर्ण है, तो समझना चाहिए साधक ने सुरक्षित तथा निश्चित पथ पर पदार्पण किया है।

**आध्यात्मिकता में पूर्ण पुरुषों या सिद्ध व्यक्तियों का ध्यान व्यक्तिपरक ध्यान है**

गुरु में, जब साधक कोई दिव्य गुण देखता है, तो उस गुण के प्रति उसके ह्रदय में सहज भाव से प्रशन्सा उत्पन्न होती है। गुरु के दिव्य गुण की प्रशंसा से ही, व्यक्तिपरक ध्यान आरम्भ होता है। **गुरु के जीवन में अभिव्यक्त दिव्य गुणों का मन में चिन्तन करके साधक उन गुणों को स्वंय ग्रहण करता है।** अन्ततोगत्वा गुरू का जो अस्तित्व होता है, वह तो अच्छे बुरे सभी गुणों से परे होता है। वह गुणों के द्वारा बद्ध नहीं होता है। किन्तु अपने चारों ओर के जीवन से व्यवहार करते हुए, उसके जो गुण प्रकट होते है, वे गुण कार्य में परिणत व्यक्तित्व के विभिन्न अवयव होते हैं। और गुणों के द्वारा उसकी दिव्यता की अभिव्यक्ति, उसके प्रशंसक तथा उसके प्रतिग्रहणशील व्यक्तियों की सहायता करने के लिये, एक साधन होती है। गुरु में दिखाई देनेवाली दिव्यता के प्रति ग्रहणशील होने के परिणामस्वरूप, ध्यान के उन रूपों की उत्पत्ति होती है, जिनमें साधक निरन्तर तथा परिश्रमपूर्वक गुरु का चिंतन करता है, तथा उन्हें विश्व प्रेम (universal love), पूर्ण अनासक्ति, अहंकारशून्यता, निश्चलता, अनन्त ज्ञान तथा निःस्वार्थ कर्म की सजीव प्रतिमा समझता है। कभी कभी, मन इन गुणों में से किसी एक का ध्यान करता है, तथा कभी कभी, इन गुणों को सम्मिश्रित करके, उनका एक साथ चिन्तन करता है। वस्तुतः, गुरु के इन गुणों का अन्योन्य सम्बन्ध तो रहता ही है। जब

**गुरु के दिव्य गुणों पर ध्यान।**

गुरु के दिव्य गुणों का ऐसा ध्यान सहज से उत्पन्न होता है, तो वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। **ऐसे सहज स्फूर्त गुणचिंतन से, गुरु का माहात्म्य अधिकाधिक समझ में आता है, और क्रमशः साधक का चरित्र, गुरु के ही दिव्य चरित्र की भाति, संगठित होता जाता है।** इस प्रकार, साधक सत्यानुभूति के लिए, स्वयं तैयार होता जाता है।

**गुरु के रूप पर ध्यान।**

गुरु के गुणों पर ध्यान करना गुरु के रूप पर ध्यान करने में सहायक होता है। इस प्रकार के ध्यान में, साधक को गुरु की आध्यात्मिक पूर्णता का ज्ञान रहता है; और उसकी पूर्णता के विभिन्न अंगों या विभिन्न गुणों का **बिना विश्लेषण** (Analysis) किये ही, उसका ध्यान सहजतः गुरु के रूप पर केन्द्रित हो जाता है। तथापि यद्यपि गुरु के गुण मन में अलग अलग दोहराये नहीं जाते, किन्तु साधक की, उन गुणों के विषय में, जो कुछ भी धारणा बंध गयी रहती है — (गुरु के विभिन्न गुणों से सम्बन्ध रखने वाले प्रारम्भिक ध्यान के द्वारा) वह धारणा, ऐसे एकाग्र ध्यान की अनाशंकित पृष्ठभूमि हुआ करती है। इस प्रकार, रूप पर ध्यान करने से भी, साधक गुरु के गुणों को ग्रहण करता है; तथा इस प्रकार का ध्यान भी फलोत्पादक तथा मूल्यवान है। इस प्रकार के ध्यान में, गुरु के रूप तथा आध्यात्मिक आदर्श पूर्णतः युक्त कर दिये जाते हैं; अर्थात् गुरु और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं माना जाता।

**हृदयप्रधान ध्यान।**

गुरु तथा आध्यात्मिक आदर्श (परमात्मा) को पूर्णता एक समझने से साधक तथा गुरु के बीच का अंतराल दूर हो जाता है, जिससे गुरु के प्रति अबाध प्रेम–प्रवाह उमड़ने लगता है। ऐसे प्रेम प्रवाह के उमड़ने से हृदयप्रधान ध्यान का उदय हो जाता है। असीम प्रेम के अजस्त्र प्रवाह के द्वारा, गुरु का निरन्तर चिन्तन हृदयप्रधान ध्यान है। ऐसा प्रेम गुरु और शिष्य को वियुक्त करनेवाले भेद के भ्रम को नष्ट करता है। **हृदय प्रधान ध्यान में, जो स्वाभाविकता होती है उसका ध्यान के अन्य रूपों में पाया जाना कठिन है।** हृदय के ध्यान की अन्तिम स्थिति से अपार आनन्द तथा पूर्ण स्वत्व विस्मरण का अनुभव होता है।

गुरु के प्रति प्रेम, ज्यो–ज्यों बढ़ता है, त्यों–त्यों साधक गुरु से अधिकाधिक युक्त होता जाता है। परिणामतः **साधक अपने सीमित व्यष्टिजीवन के लिए नहीं, किन्तु गुरु में, तथा गुरु के लिए जीवित रहने की इच्छा करता है।** इस इच्छा के परिणामस्वरूप, (कृतिप्रधान ध्यान की उत्पत्ति होती है।) कृतिप्रधान ध्यान की

प्रारम्भिक रीतियाँ निम्नलिखित रूप धारण करती हैं :—(अ) **साधक, मन ही मन, अपने समस्त गुणावगुण गुरु को समर्पित करता है।** इस प्रकार, वह अपने सदगुण तथा दुर्गुण सब कुछ का त्याग कर देता है। फलतः वह अच्छे बुरे सभी प्रकार के अहंकार से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के ध्यान से, **वह द्वंद्वों से ही मुक्त नहीं होता, किन्तु गुरु के सीमारहित व्यक्तित्व में वह स्थायी तथा सच्ची पूर्णता प्राप्त करता है।** (ब) साधक स्वेच्छापूर्वक गुरु की सेवा करता है; अथवा गुरु के आध्यात्मिक कार्य की सिद्धि के लिए, स्चेच्छा से सेवाकार्य करता है। निःस्वार्थ सेवाभाव से, गुरु के लिए कार्य करना उतना ही अच्छा है, जितना ध्यान। (क) साधक अपने को अपने किसी भी छोटे या बड़े, अच्छे बुरे कार्य का कर्ता नहीं मानता, जिससे उसके अहंकार की वृद्धि न हो कर, उसका लोप होता है। वह यह नहीं सोचता "मैं यह कर रहा हूँ, किन्तु इसके विपरीत, वह व्यवस्थित ढंग से, इस विचार की उन्नति करता है, कि वह जो कुछ भी कार्य कर रहा है, वास्तव में, वह कार्य, उसके द्वारा, उसके गुरु ही कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, जब वह देखता है, तब वह सोचता है, 'गुरु देख रहा है' जब वह खाता है, तब वह सोचता है, 'गुरु खा रहा है'; जब वह सोता है, तब वह सोचता है, 'गुरु सो रहा है'; जब वह मोटर चलाता है, तब वह सोचता है, 'गुरु मोटर चला रहा है;' यदि कभी वह कोई ग़लती भी कर बैठता है, तब वह सोचता है 'गुरु यह कर रहा है'। इस प्रकार, वह अपने कार्य का स्वकर्तापन पूर्णतः त्याग देता है; और जो कुछ भी वह करता है, उसे वह प्रत्यक्षतः गुरुकृत ही समझता है। **ऐसा करने से, स्वभावतः तथा आवश्यकतः, गुरु में देखे गये आध्यात्मिक आदर्श के प्रकाश में, प्रत्येक कार्य का निर्देश होता है।**

कृतिप्रधान ध्यान की रीतियाँ

गुरु पर किये जाने वाले व्यक्तिपरक ध्यान के चार रूप, चार उर्ध्वगामिनी स्थितियों (Ascending Stages) का प्रतिनिधित्व करते हैं। (1) **आध्यात्मिक आदर्श गुरु में देखना** (2) गुरु को आध्यात्मिक आदर्श का सजीव रूप समझ कर, **गुरु पर चित्त को एकाग्र करना,** (3) गुरु को आध्यात्मिक आदर्श की अभिव्यक्ति समझ कर, उन्हें **प्रेम** करना, तथा (4) **गुरु में देखे गए आध्यात्मिक आदर्श को अपने निजी जीवन में व्यक्त करना।** गुरु सम्बन्धी व्यक्तिपरक ध्यान के विभिन्न रूप, आध्यात्मिक पूर्णता के निर्मितिक्षम (Creative) जीवन की मुक्तिप्राप्ति के लिये सहायक होते हैं। गुरु पर ध्यान करना जीवित आदर्श पर ध्यान करना है। यह ध्यान पूर्णता की कोरी कल्पना पर ध्यान करना नहीं है। अतः, इस ध्यान में संचालक शक्ति उत्पन्न होती है; तथा उसमें, अन्त में साधक सिद्धान्त (Theory) और व्यवहार की

**व्यक्तिपरक ध्यान के चार रूप चार उर्ध्वगामिनी स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।**

(Pratice) खाई को मिटाने में सफल होता है। तथा अपने आध्यात्मिक आदर्श को अपने दैनिक कार्य तथा निजी जीवन में व्यक्त कर सकता है। **उस आध्यात्मिक आदर्श, गुरु जिसका मूर्त सजीव रूप है, के द्वारा प्रेरित, उत्साहित तथा जाग्रत जीवन को पाना व्यक्तिपरक ध्यान रीतियों की अन्तिम परासीमा है।**

**विशिष्ट ध्यान के रूपों की श्रेणियों की सूची।**

<table>
<tr><td rowspan="4">अ</td><td rowspan="4">अनुभव के विषय (Object of Experience)</td><td>1. गुरु के दिव्यगुणों पर ध्यान</td><td rowspan="4">व्यक्तिपरक (Personal) ध्यान के रूप</td></tr>
<tr><td>2. गुरु के रूप पर ध्यान</td></tr>
<tr><td>3. हृदयप्रधान ध्यान–(भक्तियोग)</td></tr>
<tr><td>4. कृतिप्रधान ध्यान–(कर्मयोग)</td></tr>
<tr><td colspan="2" rowspan="3"></td><td>5. अभिव्यक्ति जीवन के नाना रूप का ध्यान</td><td rowspan="8">व्यक्ति निरपेक्ष एवम् तत्व परक (Impersonal) ध्यान के रूप</td></tr>
<tr><td>6. अपने निजी शरीरों से सम्बन्ध रखने वाला ध्यान</td></tr>
<tr><td>7. ईश्वर के निराकार तथा अनन्त स्वरूप का ध्यान</td></tr>
<tr><td rowspan="2">ब</td><td rowspan="2">अनुभव करनेवाले (Subject of Experience) से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान</td><td>8. कर्ता (Agent of Action) की खोज</td></tr>
<tr><td>9. अपने को साथी समझना</td></tr>
<tr><td rowspan="3">क</td><td rowspan="3">मानसिक व्यापारों (Mental Operation) से सम्बन्ध रखने वाला ध्यान</td><td>10.विचारों को लिखना</td></tr>
<tr><td>11.मानसिक व्यापारों का निरीक्षण करना।</td></tr>
<tr><td>12.मन को शून्य बनाना।</td></tr>
</table>

# ध्यान के प्रकार

(भाग 6)

## तत्व परक विशिष्ट ध्यान

भाग 5 में, व्यक्तिपरक विशिष्ट ध्यानों के स्पष्टीकरण के लिये, उन पर विवेचन किया गया है। इस भाग में, उन विशिष्ट ध्यानों का स्पष्टीकरण किया जाएगा, जो तत्वपरक एवम् व्यक्ति निरपेक्ष (Impersonal) हैं। स्मरण रहे, कि व्यक्तिपरक ध्यान वह ध्यान है, जो एक मनुष्य या व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है; तथा तत्वपरक ध्यान वह ध्यान है, जो या तो (1) व्यक्तित्व के अंगो से सम्बन्ध रखता है, या (2) उस वस्तु से सम्बन्ध रखता है, जो मानवीय व्यक्तित्व– (जैसा कि प्रायः समझा जाता है)– की सीमा के बाहर है। विशिष्ट ध्यानों के सूची में, (भाग 5 में देखिये) ध्यान के प्रथम चार रूप व्यक्ति पर ध्यान है, तथा ध्यान के शेष आठ रूप तत्वपरक ध्यान हैं। व्यक्ति पर ध्यान के रूपों की ही भाँति, तत्वपरक ध्यान के रूपों में से, प्रत्येक का अलग अलग स्पष्टीकरण करने, तथा उस पर टीका करने की आवश्यकता है।

**व्यक्तिपरक (Personal) तथा तत्वपरक (Impersonal) ध्यान**

मनुष्य की रुचि तथा ध्यान, अपने खुद के शरीरों या अन्य शरीरों (रूपों) पर, केन्द्रित तथा बद्ध हो जाते हैं। उस आत्मा की ओर उनका ध्यान नहीं जाता है, जिसे ये रूप व्यक्त करते हैं। अपने या औरों के शरीरों से ऐसी आसक्ति होने के कारण, भ्रमों, बन्धनों तथा अन्य जटिलताओं की उत्पत्ति होती है; और ऐसा ध्यान आवश्यक होता है, जिसके द्वारा, अनेक रूपों के यथार्थ अर्थ तथा वास्तविक पद (Status) का सही ज्ञान प्राप्त किया जा सके, तथा रूपों के प्रति यथार्थ रुख़ धारण किया जा सके।

**अभिव्यक्त जीवन के अनेक रूप से सम्बद्ध ध्यान।**

***संसार के सभी रूपों को, एक सर्वव्यापक आत्मा की समान अभिव्यक्ति, समझने के निरन्तर अभ्यास में, आरूढ़ होना ही, ऐसा ध्यान है।** ऐसे ध्यान में रूपों का पृथक् तथा स्वतंत्र अस्तित्व शून्यस्वरूप समझा जाता है। इस प्रकार के ध्यान के द्वारा, सृष्ट संसार तथा उसके रूपों से अनासक्त होने में, सहायता मिलती है, तथा ऐसा ध्यान सर्वोच्च प्रकार के विश्वव्यापक प्रेम की वृद्धि करने में भी, सहायक होता है। **ऐसा सार्वलौकिक प्रेम, समस्त मानवों तथा संसार के अन्य जीवों को एक ही कुटुम्ब के विभिन्न प्राणी मानता है।**

**अपने खुद के शरीरों से सम्बन्ध रखने वाला ध्यान।**

किन्तु जीवन के अनेक रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले ध्यान का प्रकार तब तक अधूरा रहता है, जब तक अपने खुद के शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले एक दूसरे प्रकार के ध्यान के द्वारा, उसकी पूर्ति नहीं की जाती*। अपने खुद का स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक कारण शरीर, दूसरों के शरीरों की ही भाँति, एकमेव सर्वव्यापक जीवन का ही, एक रूप है। किन्तु **चेतना अपने खुद के शरीरों से इतनी अधिक आसक्त हो जाती है, कि वह उनसे अपना तादात्म्य अनुभव करने लगती है;** अर्थात् अपने को स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक शरीर समझने लगती है। अपने शरीरों से अनासक्त होने, अर्थात अपने को अपने शरीरों से परे समझने का निरन्तर अभ्यास करने से, चेतना की मुक्ति तथा सच्चे आत्मज्ञान की प्राप्ति में, सहायता मिलती है। और इस प्रकार का ध्यान, साधक के लिये, अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। ऐसे ध्यान के द्वारा, अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर ऐसे वस्त्रों के सदृश प्रतीत होते हैं, जो कभी भी, पहने या उतारे जा सकते हैं।

अभिव्यक्त जीवन के अनेक रूपों से सम्बन्ध रखने वाला ध्यान, तथा अपने खुद के शरीरों से सम्बन्ध रखनेवाला ध्यान, दोनों ध्यान, तत्व पर ध्यान* के लिये, प्राथमिक तैयारियाँ हैं। तत्व पर ध्यान में (अ) चेतना को, अभिव्यक्त जीवन के समस्त रूपों से तथा अपने स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक, शरीरों से खींच कर, **अन्तमुर्ख** करने का प्रयत्न किया जाता है, तथा (ब) **चेतना को ईश्वर के निराकार एवं अनन्त स्वरूप पर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया जाता है।** इस प्रकार के तत्व पर ध्यान की आरम्भिक अवस्थाओं में, अनन्त के किसी न किसी चिन्ह का आधार लिया जाता है।

---

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. (भाग 5)

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 6 (भाग 5)

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 7 भाग 5

अनन्त का निराधार तथा अस्पष्ट विचार के द्वारा, ऐसा ध्यान शुरू करने की अपेक्षा, किसी ऐसे प्रतीक (Symbol) का आधार लेना वस्तुतः अधिक सहायक होता है, जिससे अनन्तता का संकेत या सूचना मिले। आकाश, समुद्र या व्यापक रिक्तता (Emptiness) के साकार रूप पर, मन को स्थिर करना चाहिए; किन्तु एक बार कोई ख़ास प्रतीक या रूप चुन लेने पर, साधक को पूरे ध्यानकाल में उसी से चिपके रहना चाहिए। अर्थात् किसी अन्य प्रतीक या रूप के द्वारा उसे बदलना नहीं चाहिए।

**ईश्वर के निराकार तथा अनन्त स्वरूप पर ध्यान।**

उपर्युक्त चिन्हों या प्रतीकों द्वारा, पूर्ण तथा असीम रिक्तता की कल्पना करना कठिन होता है, किन्तु यदि असीम रिक्तता की कल्पना कोई कर सके, तो वह अनन्तता का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। अनन्तता के लाक्षणिक चिन्हों के बतौर साधक असीम रिक्तता की कल्पना का भले ही आश्रय ले किन्तु इस प्रकार के ध्यान में उसे मन को पूर्णतः शून्य नहीं करना चाहिए। मन की पूर्ण शून्यता का अर्थ है, समस्त मानसिक क्रियाओं को समाप्त करना, अर्थात् मन को पूर्णतः विचारविहीन करना। किन्तु, इस प्रकार के ध्यान में मन इस अर्थ बोधक चिन्ह की सहायता से, ईश्वर के निराकार तथा सीमातीत स्वरुप को समझने तथा अनुभव करने का प्रयत्न करता है।

तत्वपरक ध्यान का वह एक महत्वपूर्ण रूप है। इसमें, अनन्तता की जो कल्पना की जाती है, वह मन ही मन बहिर्भूत नहीं कर दी जाती, मानो वह अनन्तता साधक से **बाहर** किसी वस्तु का असीम विस्तार हो। अनन्त को अपने **अन्दर** चित्रित करना अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। अनन्त को अपने अन्दर चित्रित करके, अपने आप को, उससे युक्त अनुभव करना चाहिये। अपने अन्दर चित्रित अनन्तत्व से अपनी एकता की अनुभूति करने के लिये स्वंय को सम्बोधित करके, इस प्रकार प्रबल आत्मसूचना (Auto-Suggestion) देनी चाहिये, 'अन्तर स्थित प्रकाश की तरह, मैं अनन्त हूँ', या 'अन्तर–स्थित रिक्तता की भाँति, 'मैं अनन्त हूँ',। 'अनन्त मेरे अन्दर है,' या 'मैं अनन्त हूँ', केवल ऐसा ही अनुभव करना कहीं अधिक लाभदायक होता है। मन ही मन उक्त सूत्रों को दोहराते समय अनन्तता के अर्थ तथा महत्व को, चुने हुए चिन्ह की सहायता से, समझना तथा अनुभव करना चाहिए। सूत्र को बहुत से शब्दों में, दोहराना आवश्यक नहीं है। सूत्र, जिस विचार को प्रकट करता है, उस **विचार** से चिपके रहना पर्याप्त है।

**अनन्त की कल्पना अपने अन्दर करना।**

''मैं अनन्त हूँ, के ध्यान के द्वारा, साधक ईश्वर के निराकार तथा अनन्त स्वरूप में, मग्न हो सकता है। कुछ साधक इतने पूर्णतः मग्न हो जाते हैं, कि मच्छड़ो के झुण्ड

के झुण्ड उनके पास निकल जाते हैं, किन्तु वे उनकी आवाज़ नहीं सुनते। सम्भव है, कि कुछ साधक चित्त को इस प्रकार स्थिर न कर सकें, तथा उनका ध्यान शीघ्र ही भंग हो जाय। ध्यान में असफल होने पर, उन्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए, किन्तु उन्हें दृढ़तापूर्वक ध्यान जारी रखना चाहिए। उन्हें मग्नता कि प्राप्ति हो या न हो। ढीला या आरामदायक आसन, ध्यान मग्नता के लिये, सहायक होता है; किन्तु ईश्वर के अनन्त स्वरूप में अन्तिम निमग्न्ता की प्राप्ति, गुरु सहायता के बिना असम्भव है।

ध्यान के जिन विभिन्न रूपों का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है, वे प्रधानतः अनुभव के तत्व पर विषयों से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु ध्यान के कुछ तत्वपरक रूप अनुभव के कर्ता से सम्बन्ध रखते हैं। ध्यान का ऐसा एक महत्वपूर्ण रूप, निरन्तर इस प्रश्न का सही उत्तर खोज निकालना है, कि 'वह कौन है, जो ये सब कार्य करता है'। * साधक अपने आप को इस प्रकार विचार करता हुआ पाता है, 'मै सोता हूँ' 'मैं चलता हूँ', 'मैं खाता हूँ', 'मैं बोलता हूँ, 'मैं देखता, सुनता, छूता, चखता, तथा सूंघता हूँ' 'मैं सोचता हूं, अनुभव करता तथा इच्छा करता हूं', इत्यादि। किन्तु यह ध्यान जिस प्रश्न का उत्तर चाहता है, वह है, "यह 'मैं' कौन हूँ" ? **आत्मा इनमें कुछ भी अनुभव नहीं करती।** आत्मा न तो सोती, चलती, खाती, बोलती, देखती, सुनती, छूती, चखती तथा सूंघती है और न वह सोचती अनुभव करती और इच्छा करती है। तो फिर, इन कार्यो को करनेवाला कौन है। इन तमाम कार्यो के कर्ता को खोज निकालना चाहिए, तथा समस्त जीवन का रहस्योद्‌घाटन करना चाहिए।

**कार्य के कर्ता की खोज**

कोई एक शक्ति है, जो ये तमाम कार्य करती है। साधक को अपने आपको उस शक्ति से भिन्न भी समझना चाहिए; तथा उस शक्ति का आसक्ति रहित होकर उपयोग भी करना चाहिए। साधक सोचता है, कि 'वह चलता है', किन्तु यथार्थ में, उसका **शरीर** चलता है। साधक सोचता है, कि 'वह सोचता है' अनुभव करता है, या इच्छा करता है; किन्तु यथार्थ मे, उसका **मन** किसी सुविधाजनक उपादान के द्वारा ये सब कार्य करता है। **साधक आत्मा है; और वह सर्वत्र है, तथा वस्तुतः यह कुछ नहीं करता।** किन्तु वह आत्मा है; 'वह सर्वत्र है' तथा वह कुछ भी नहीं करता', यह **सोचना** ही, उसके लिये पर्याप्त नहीं है, उसे यह **जानना** भी अवश्य चाहिए।

ध्यान का एक दूसरा प्रकार, ध्यान के उपर्युक्त प्रकार से थोड़ा ही भिन्न है। यह भी अनुभव के कर्ता से सम्बन्ध रखता है; तथा उसके द्वारा, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 8 (भाग 5)

का लक्ष्य रहता है। इस प्रकार के ध्यान में, **साधक अपने को समस्त शारीरिक तथा मानसिक कार्यों का साक्षी समझता है।** * स्वप्न से जागने के पश्चात्, मनुष्य को यह ज्ञान होता है, कि स्वप्न में किये गये कार्यो का वह कर्ता नहीं था, किन्तु केवल साक्षी था। जिस प्रकार, स्वप्न के कार्यो का वह अपने को कर्ता नहीं मानता, उसी प्रकार, जागृत अवस्था में, अनुभव होने वाले तमाम शारारिक एवम् मानसिक कार्यो का, साधक अपने आपको, सिर्फ साक्षी समझने के अभ्यास की निरन्तर वृद्धि करे, तो उसे ऐसी पूर्ण अनासक्ति प्राप्त होगी, जिससे सांसारिक कार्यो से सम्बद्ध समस्त चिंताओं तथा दुःखों से उसे मुक्ति मिल जाएगी। इस ध्यानपद्धति का उद्देश्य है, साधक को काल के बन्धनों से छुटकारा दिलाना, तथा सीमा–बद्ध प्राण शक्ति की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्तियों से उत्पन्न होनेवाली अशान्ति एवम् यंत्रणा से उसको छुड़ाना। साक्षी की हैसियत से आत्मा कालगत समस्त कार्यो से परे रहती है, तथा **कार्यो के फल उसे बाँधते नहीं हैं।** किन्तु उसका केवल विचार नहीं, किन्तु **अनुभव** करना आवश्यक है।

**अपने आप को साक्षी समझना।**

अनुभव करने वाले से सम्बन्ध रखनेवाली ध्यान विधियों की एक असुविधा यह है, कि **अनुभव का यथार्थकर्ता, साधारण अर्थ में, चिंतन या ध्यान का विषय कदापि नहीं हो सकता।** अतः, ऐसे ध्यान विषयों का अभ्यास करने से, अधिक हुआ तो साधक आत्मज्ञान के बहुत समीप आ सकता है। किन्तु पूर्ण आत्मज्ञान की अनुभूति तो तभी हो सकती है, जब मन का सीमाक्षेत्र पूर्णतः पार किया जाय। अतः, विशिष्ट ध्यान के कुछ तत्वपरक रूप **मानसिक क्रियाओं** से सम्बन्ध रखते हैं। **मन का स्थिर करना** ही ऐसे ध्यान का अन्तिम लक्ष्य होता है।

**चित्त को स्थिर करने का महत्व।**

विचारों को वश करने का एक उपाय, पूर्णतः यह जानना है, कि वे यथार्थ में हैं क्या ? अतः, उन पर विजय प्राप्त करने के पूर्व, उनका अवलोकन करना आवश्यक है। सामान्य अन्तःदर्शन (Introspection) में, नये अभ्यासी के लिये, मन में भ्रमण करने वाले सभी छायात्मक (Shadow) विचारों पर, पर्याप्त ध्यान दे सकना बहुधा सम्भव नहीं होता। अतः, प्रसंग पर, मन मे आनेवाले विचारों को, उसी क्रम से लिखते जाना; * तथा अवकाश के समय समाधानीपूर्वक उनका निरीक्षण करना, साधक के लिये, अधिक सुविधाजनक सिद्ध

**विचारों को लिखते जाना।**

---

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 9 (भाग 5)

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 10 (भाग 5)

होता है। विचारों को लिखने की यह विधि पूर्व–चिन्तित लेख लिखने से भिन्न है। इस ध्यानविधि में, विचार बिना किसी निर्देश या संयम के लिखे जाते हैं। उन पर, किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता; तथा वे जैसे उदित होते हैं, वैसे ही वे लिख लिये जाते हैं। विचारों को इस प्रकार लिखने से, उपचेतना मन के प्रतिरूद्ध अर्थात दबे हुए विचार भी चेतन में प्रवेश करते हैं।

**मानसिक व्यापारों का निरीक्षण करना।**

ध्यान की अधिक उन्नत अवस्था में, चेतना में विचारों के प्रकट होते समय होनेवाली मानसिक क्रिया की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त की जा सकती है; तथा विचारों को लिखना आवश्यक हो जाता है। मानसिक व्यापारों का निरीक्षण * करने के साथ ही साथ, उनका आलोचना पूर्वक विवेचन अर्थात् मूल्यनिरूपण भी करते जाना चाहिये। विचारों की तुच्छता या महत्ता, अर्थात् विचारों के सदसद्विवेक के द्वारा ही, विचार वशीभूत किये जा सकते हैं। जब मन पर आक्रमण करने वाले विभिन्न विचारों की सारासारता की विवेकपूर्वक समालोचना की जाती है, तथा संस्कारों के आन्तरिक संचालन का सामना किया जाता है, तभी उन विचारों को समझा जाता है, तथा उनके मूल्यामूल्य के अनुसार उनका ग्रहण या त्याग किया जाता है; और तभी उन विचारों के अत्याचार तथा उत्पीड़न (Obsessions and Compulsions) से, मन मुक्त होता है।

**मन को शून्य करना।**

उपर्युक्त ध्यान विधि का अभ्यास करने से एक दूसरे प्रकार का ध्यान करना सरल हो जाता है, जिसमें मन को विचार शून्य करने * का प्रयत्न किया जाता है। मन को विचार–विहीन करना सबसे अधिक कठिन कार्य है। निद्रावस्था में यद्यपि मन में किसी प्रकार के विचार नहीं रहते, तथापि चेतना सुप्त रहती है। किन्तु, जब चेतना सुप्त न रहे, और तब मन यदि विचारविहीन होने के लिए, किसी विचार की सहायता लेते हैं, तो वह उस विचार का चिन्तन है, और वह इस प्रकार, विचार–शून्य नहीं होता है। किन्तु एक ऐसी युक्ति है, जिसके द्वारा, मन को विचार–शून्य करने का यह अति कठिन कार्य सम्भव हो जाता है और वह है, दो परस्परविरोधी ध्यान विधियों का क्रम–क्रम से अवलम्बन करते जाना, जिससे मन एकाग्रता तथा विक्षेप के बीच में फँस जाता है।

---

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 11 (भाग 5)

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. 12 (भाग 5)

इस प्रकार, साधक को पहले पाँच मिनट तक, गुरु का ध्यान करना चाहिए। तदनन्तर, मन ज्यों ही गुरु के रूप पर, एकाग्र हो रहा हो, त्योंही 'मैं अनन्त हूं', जैसे तत्व पर ध्यान के द्वारा, दूसरे पाँच मिनट तक चित्त को एकदम एकाग्र कर देना चाहिए। इन दो विरूद्ध ध्यान रूपों की विषमता, इन ध्यानक्रमों को करने की विधि–वैषम्य के द्वारा और भी बढ़ायी जा सकती है। जैसे गुरु के रूप पर ध्यान करते समय, आँखे खुली रखी जा सकती हैं; तथा तत्वपर ध्यान करते समय, आँखे बन्द की जा सकती हैं। इस प्रकार भिन्न ध्यानक्रमों को, बारी–बारी से बदलकर करने से मन को शून्य बनाने में, सहायता मिलती है। किन्तु, इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये, यह आवश्यक है, कि जिस समय तक एक ध्यान किया जाय, उस समय तक सच्चाई के साथ वही ध्यान किया जाय, अर्थात एक तरह का ध्यान करते समय दूसरे तरह के ध्यान का ज़रा भी ख़्याल न किया जाय; यद्यपि पाँच मिनट के बाद परिवर्तन होने का है, तथा दूसरे प्रकार का ध्यान किया जाने वाला है, तथापि पहले प्रकार का ध्यान करते समय, इसका ज़रा भी विचार नहीं करना चाहिए। किन्तु परिवर्तन कर लेने के बाद, अर्थात, दूसरे प्रकार का ध्यान करते समय, पहले प्रकार के ध्यान के बारे में ज़रा भी नहीं सोचना चाहिए। जब ध्यान की एकाग्रता नहीं होगी, तो ध्यान का विक्षेप कैसे होगा? पूर्ववर्ती एकाग्रता जिस प्रकार पूर्ण होनी चाहिए, उसी प्रकार परवर्ती विक्षेप भी पूर्ण हो जाना चाहिए। **एकाग्रता तथा विक्षेप के बीच में शीघ्रतापूर्वक पयार्यक्रिया करना, मानो मानसिक व्यापारों को, आगे बढ़नेवाली तथा पीछे हटनेवाली आरी से चीरना है;** और सभी प्रकार के मानसिक व्यापार का लोप होने से चेतना की जाग्रत अवस्था में, मन बिल्कुल स्थिर या विचार शून्य हो जाता है।

**ध्यान की एकाग्रता तथा विक्षेप के बीच पर्यायक्रिया**

साधक के मन में, उत्पन्न होनेवाले विचार उसके मन के उद्वेग के द्योतक हैं। विचार संचित संस्कारों के वेग से उत्पन्न होते हैं। मन की उद्विग्नता तभी दूर हो सकती है, जब साधक मन पर इतना वश प्राप्त कर ले, कि वह इच्छानुसार मन के विचारों को निकाल बाहर करने में सफल हो। **केवल पूर्ण आन्तरिक मौन में ही, सत्य का उदय होता है।** जब झील की सतह स्थिर रहती है, तभी उसमें तारे प्रतिबिंबित हो सकते हैं; इसी प्रकार, **जब मन प्रशान्त होता हैं, तभी उसमें, आत्मा का वास्तविक रूवरूप प्रतिबिम्बित होता है।**

**सत्य प्रशान्त मन में प्रतिबिम्बित होता है।**

# ध्यान के प्रकार

(भाग 7)

## सहज समाधि

आध्यात्मिक साधना पथ में ज्ञानपूर्वक प्रवेश करने के पूर्व, जो विभिन्न प्रकार के ध्यान मनुष्य करता है, तथा साधक बनने के पश्चात् वह जिन विभिन्न, सामान्य तथा विशिष्ट ध्यान पद्धतियों का आश्रय लेता है, वे सब ध्यान सहज समाधि के सर्वोच्च साध्य की सिद्धि के साधन हैं। जीवन के परम साध्य या परम लक्ष्य की उपलब्धि होने पर, साधक सहज समाधि में नित्य के लिये आरूढ़ हो जाता है। ध्यान के अन्यान्य पूर्व रूपों से सिद्ध अर्थात ईश्वरप्राप्त पुरुष की सहजसमाधि **अविच्छिन्न** होती है। तथा वह उन ध्यानों की पराकाष्ठा है। एक अर्थ में, **सहजसमाधि पूर्ववर्ती समस्त ध्यानों की पूर्णता और पूर्ति है।** किन्तु साथ ही साथ अन्य सभी ध्यानों तथा सहज समाधि में प्रकार भेद हैं। सहजसमाधि अन्य ध्यानों से, पूर्णतः भिन्न श्रेणी का ध्यान है।

**सहज समाधि निरुपम है।**

आध्यात्मिक साधनापथ में पर्दापण न करने वाले संसारी मनुष्य के सामान्य "ध्यानों" में जो सहजता (Spontaneity) का मिथ्या रूप दिखाई देता है, उससे सहज–समाधि की सहजता या आयास–शून्यता बिल्कुल भिन्न है। यह बात सावधानी के साथ समझ लेनी चाहिये। संसारी मनुष्य का ध्यान इन्द्रिय के विषयों या अन्य

सांसरिक विषयों तथा वस्तुओं में जम जाता है; और इन विषयों के सम्बन्ध में, वह जो विभिन्न प्रकार के ध्यान करता है, उनमें किसी आयास का अनुभव नहीं होता। उन विषयों में, उसकी स्वाभाविक रुचि होने के कारण उसका मन उनका चिन्तन करता है। चेष्टापूर्वक प्रयत्न करके, वह उन विषयों का चिन्तन नहीं करता।

**संसारी मनुष्य के अध्यात्मपूर्व ध्यान।**

नाना सांसारिक विषयों पर मन को लगाने में, प्रयत्न का सवाल नहीं उठता; किन्तु मन को उन पर से हटाने में प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है, कि साधनापथ पर पदार्पण करने से पहले किये जाने वाले सांसारिक विषयों के ध्यान की सहजता तथा सिद्ध की सहज समाधि की सहजता में बहुत कुछ समानता है। किन्तु ध्यान की आरम्भिक अवस्था तथा ध्यान की अन्तिम अवस्था के बीच दिखाई देने वाली यह समानता कोरी बाह्य समानता है, क्योंकि सहज समाधि तथा आध्यात्मिकतापूर्व (Prespiritual) ''ध्यानों'' के बीच में महान् एवम् मौलिक भेद है।

सासांरिक विषयों एवम् वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले अध्यात्मपूर्व (Prespiritual) ध्यानों में सहजता का जो भाव दिखाई देता है, वह संस्कारजन्य रुचियों के कारण है। **अध्यात्मपूर्व 'ध्यान' भूतकालीन संचित संस्कारों के वेग का, कार्य में परिणत होने का परिणाम है। और उन ध्यानों में स्वतंत्रता का अनुभव तो दूर ही रहता है; किन्तु वे, वास्तव में आध्यात्मिक परतंत्रता के लक्षण हैं।** अध्यात्मपूर्व अवस्था में, मनुष्य को अनन्त स्वतंत्रता का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं रहता है; और वह घोर अज्ञान से निरन्तर ग्रस्त रहता है। उसका सुखी और सन्तुष्ट होना तो दूर रहा, वह अपनी सांस्कारिक रुचि के विषयों से ऐसा जकड़ जाता है, कि वह संस्कार–बन्धनों की वृद्धि में ही आह्लाद का अनुभव करता है भोगपदार्थों से उसे जो सुख मिलता है, वह द्वन्द्वात्मक तथा अस्थिर होता है; और भोगविषयों के ''ध्यान'' में उसे जो सहजता का अनुभव होता है, वह भ्रामक है, क्योंकि विषय चिन्तन की क्रिया में उसका मन, संस्कार के वेग से विवश होकर, द्वन्द्व के भीतर कार्य करता है। **भ्रम की वजह से उसके मन की विवशता सहजता–सदृश्य प्रतीत होती है।**

**अध्यात्मपूर्व ध्यानों की भ्रामक सहजता सांस्कारिक रुचियों से होती है।**

जब मन सांस्कारिक ग्रन्थियों तथा आसक्तियों, इनसे पूर्णतः मुक्त होगा, तभी वह सच्ची स्वतंत्रता एवम् सहजता के साथ कार्य कर सकेगा। सांस्कारिक बन्धन से तन तभी मुक्त होता है, जब वह सिद्ध की सहजसमाधि में मग्न होता है। अतः, यह महत्वपूर्ण बात स्मरण रखनी चाहिए, कि यद्यपि सिद्ध पुरुष की सहज–समाधि तथा संसारी मनुष्य के

अध्यात्मपूर्व ध्यानों के बीच जो बाह्य साम्य दिखाई देता है, वह दिखाई देने वाला साम्य मिथ्या सहजता तथा सच्ची सहजता के बीच के भेद पर, परतंत्रता और स्वतंत्रता के भेद

**सहजसमाधि में सच्ची स्वतंत्रता तथा सहजता की अनुभूति होती है।**

पर, तथा क्षणभंगुर सुख तथा अमर सुख के अन्तर पर परदा डाल देता है। **अध्यात्मपूर्व 'ध्यानों' में, मानसिक व्यापार अज्ञात पराधीनता एवम् विवशता (Compulsion) के द्वारा बाध्य होता है; एवम् सहजसमाधि में, मानसिक व्यापार ज्ञात एवम् बन्धनरहित स्वेच्छा से प्रेरित होता है।**

**साधक का ध्यान मुक्ति प्राप्ति के लिये उसके संग्राम का एक भाग है।**

आध्यात्मिक साधक, विभिन्न ध्यान पद्वतियों के द्वारा, जो साधना करता है, वह संसारी मनुष्य के अध्यात्मपूर्व ध्यान तथा सिद्ध पुरुष की अन्तिम सहजसमाधि का मध्यवर्ती भाग है। साधक की साधना, असाधक की आदिम अवस्था तथा सिद्ध की अन्तिम अवस्था की जोड़नेवाली कड़ी है। प्रारम्भिक अवस्था में, जब संसारासक्त मनुष्य, संस्कारों के वेग से विवश होकर, भोग के विषयों में प्रवृत्त होने के लिये, बाध्य होता रहता है, तब उसे बारम्बार, असफलता, पराजय, तथा पीड़ा का अनुभव होता है; अथवा आध्यात्मिक विवेक की चिंगारी के प्राप्त होने पर, उसकी विषयाधीनता को जबरदस्त धक्का लगता है, जिसके परिणामस्वरूप, उसे अपनी बद्वता तथा भौतिक सुखों के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है। और, **सांस्कारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिये वह जिन प्रकार की ध्यान पद्धतियों का अवलम्बन करता है, वे सांसारिक इच्छाओं की प्रवंचना के पाश से मुक्तिप्राप्ति के उसके संग्राम के ही विभिन्न भाग हैं।** जो ध्यान विधियाँ आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, उनके अभ्यास का आरम्भ तभी होता है, जब मनुष्य साधक बन जाता है।

साधक के सभी प्रकार के ध्यान प्रयत्न प्रेरित या चेष्टायुक्त होते हैं, क्योंकि वह, मन की अभ्यास–जन्य या अन्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने के उद्देश्य से, तरह–तरह

**साधक का ध्यान प्रयत्न प्रेरित करता है।**

के ध्यानों का आश्रय लेता है। साधक के विभिन्न ध्यान स्वयमेव साध्य नहीं होते। वे केवल साधन होते हैं, क्योंकि साधक उन ध्यानो को, सत्य के लक्ष्य तक पहुँचाने वाले मार्ग समझता है। ध्यान करना किसी अभ्यासजन्य या किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कार्य में परिणत होने के समान नहीं है। ध्यान एक विवेकसम्मत तथा प्रयत्नमूलक चेष्टा है। किन्तु ध्यान यद्यपि आरम्भ में चेष्टापूर्वक ही किया जाता है, तथापि मन, उसे करते करते, क्रमशः अभ्यस्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, ध्यान के विभिन्न रूपों का लक्ष्य होता है, सत्य की विभिन्न्न अवस्थाओं का अनुभव करना; और मन ऐसे अनुभवों को प्राप्त करने में रुचि रखता है।

यही कारण है, कि विभिन्न प्रकार के ध्यान भी, अधिकाधिक सहज होते जाते हैं। व्यक्तिपरक ध्यान के जिन रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए क्षेत्र रहता है, तथा उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है, उनमें सहजता के भाव का जितना अधिक प्राधान्य होता है, उतना ध्यान के अन्य किसी भी रूप में नही होता। किन्तु ध्यान के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के पहले, पूर्ण सहजता एवम् सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव असम्भव है। जब तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक प्रायः चेष्टाशीलता तथा सहजता का मिश्रण ही रहता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए, की जानेवाली यात्रा में, चेष्टा, (effort) का कुछ न कुछ अंश तब तक रहता है, जब तक समस्त भ्रम–बाध्यों पर, विजय न मिल जाय। **शान्ति के अगाध सागर की अन्तिम थाह मिलने पर ही चेष्टा का पूर्ण लोप होता है। उसके पहले चेष्टा का भाव तो रहेगा ही, चाहे किसी अवस्था में वह अधिक रहे, तथा किसी अवस्था में कम।**

सहजसमाधि में चेष्टा नहीं रहती। उस अवस्था में, विजय प्राप्त करने के लिए, न तो कोई बाधा बाकी रहती, और न उपलब्ध करने के लिए कोई असीमित वस्तु बाकी रहती। **सहज–समाधि में अनिर्बन्ध स्वतंत्रता की अनन्त सहजता होती है, तथा सत्यानुभूति की असीम शान्ति तथा अनुपमेय आनन्द।** मनुष्य प्रथम संस्कारों के वेग की विवशता एवम् अधीनता की अवस्था को पार करके, साधक की अवस्था की ओर अग्रसर होता है; तथा सांस्कारिक परतंत्रता के विरूद्ध घोर संग्राम की अवस्था में प्रवेश करता है। अन्त में, इस अवस्था को पार करके, फिर वह पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार, मनुष्य क्रमशः सहजसमाधि की ओर अग्रसर होता है। **इस अन्तिम अवस्था में प्रवेश करने पर, चेतना भूत काल के सन्चित संस्कारों के द्वारा, निर्दिष्ट नहीं होती; किन्तु अनन्त सत्य के निर्मल ज्ञान से प्रेरित होकर, क्रियाशील रहती है।**

**सहजसमाधि की ओर अग्रसर होना।**

सिद्ध की सहजसमाधि साधक के ध्यान से, केवल स्वतंत्रता तथा सहजता के ही सम्बन्ध में भिन्न नहीं है, किन्तु अनेक अन्य मुख्य विषयों में भी। अनन्य सत्य में मन को पूर्णतः विलीन करने के ही उद्देश्य से, साधक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, विभिन्न प्रकार के ध्यानों की साधना करता है। किन्तु ऐसे ध्यानों में मन का केवल आंशिक लोप ही होता है; वैयक्तिक मन का पूर्ण नाश नहीं होता। विभिन्न ध्यानक्रमों के द्वारा, भिन्न–भिन्न अंशों में, सत्यसामीप्य का अनुभव होता है; सत्य की अनुभूति नहीं होती। इसके विरुद्ध, सहजसमाधि में, अंतिम लक्ष्यसिद्धि, अर्थात् सत्यानुभूति हो जाती है; क्योंकि मन पूर्णतः नष्ट हो जाता है, और अनन्त सत्य में वह पूर्ण रूप से विलीन हो जाता है।

**वैयक्तिक मन का लोप सहजसमाधि में ही होता है।**

साधक का ध्यान अपनी उच्च अवस्थाओं में, बहुधा उसे विशालता (Expansion) तथा स्वतंत्रता का भाव देता है, तथा उच्चतर भूमिकाओं (Higher planes) का आनन्द एवम् ज्ञान भी प्रदान करता है। किन्तु न तो साधक को अनुभव होनेवाली विशालता तथा स्वतंत्रता के भाव की, और न उसके आनन्द एवम् ज्ञान की अवस्थिति स्थायी होती है। क्योंकि, **ज्योंही वह ध्यान की उच्च अवस्था से नीचे उतरता है, त्योंही वह वैसा ही हो जाता है, जैसा वह पहले था** – अर्थात् संस्कारों की मज़बूत श्रृंखलाओं से जकड़ा हुआ एक साधारण मनुष्य। बहुतेरे साधकों की यही हालत होती है।

**ध्यान में अस्थायी उत्कर्ष।**

ग्वालियर के एक योगी की कहानी से साधक की विभिन्न समाधियों की अपूर्णता स्पष्टतः समझ में आ जायगी। यह योगी बड़ा लोभी था। किन्तु योग के अभ्यास से, उसने समाधिस्थ होने की कला सीख ली थी। एक दिन, वह राजा के महल के सामने बैठा। समाधिस्थ होने के पहले उसने सोचा कि राजा से मैं एक हजार रुपया लूँगा। इसके पश्चात् वह समाधिस्थ हुआ। तथा पूरे सात दिनो तक, वह उसी अवस्था में रहा। उस बीच में, न तो उसने भोजन किया, न पानी पीया। वह ध्यान समाधि में तल्लीन हो कर, एक ही स्थान में बैठा रहा। लोगों ने उसे एक सन्त समझा; और जब राजा ने इसके बारे में सुना तो वह भी उसके दर्शन के लिए पहुँचा। राजा योगी के निकट आया; और अनायास योगी की पीठ उससे छू गयी। किन्तु, इस हल्के स्पर्श से ही, योगी की समाधि भंग हो गयी। ज्योंही अपनी ध्यानसमाधि से वह जागा, त्योंही उसने राजा से एक हज़ार रुपये माँगे।

**एक योगी की कहानी।**

जिस प्रकार, एक क़ैदी, कारागार की कोठरी की खिड़की से विशाल आकाश की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता है, तथा आकाश की असीम व्यपकता के दर्शन में वह निमग्न हो जाता है, उसी भाँति ध्यानतन्मयता (Trance) में प्रविष्ट होनेवाला साधक, समाधि–अवस्था की ज्योति एवम् आनन्द में तल्लीन रहते समय तक, अस्थायी रुप से, अपनी सारी सीमाओं को भूल जाता है। किन्तु यद्यपि क़ैदी अपने कैदखाने को भूल जाता है, किन्तु उससे वह छूट नहीं जाता। इसी प्रकार, **ध्यान तन्मयता में मग्न साधक की आँखों से भ्रम–मय जगत् की वे श्रृंखला ओझल हो जाती है, जिनसे वह बद्ध रहता है, किन्तु, वह छिन्न नहीं हो जाती।** और जिस प्रकार, चारों ओर की वस्तुस्थितियों पर नज़र पड़ते ही, क़ैदी को अपनी कैद का स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार सामान्य चेतना की प्राप्ति होते ही, साधक को अपनी सारी दुर्बलताओं का ज्ञान हो जाता है। उच्चतर ध्यान–पद्धतियों के द्वारा, साधक की गुप्त शक्तियों की वृद्धि हो सकती है। किन्तु ऐसी ध्यानावस्था में,

**ध्यानतन्मयता का विश्लेषण।**

उसे अनन्त ज्ञान, एवम् असीम आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। माया के बन्धनों को तोड़ कर, अन्तिम मुक्ति प्राप्त करनेवाले सिद्ध पुरुष की सहजसमाधि में ही, अनन्त ज्ञान, एवम् असीम आनन्द की निरन्तर अनुभूति होती है।

साधक की ध्यानतन्मयता तथा सिद्ध की सहजसमाधि में एक और महत्वपूर्ण अन्तर है। साधक की ध्यानतन्मयता प्रायः किसी अत्यन्त मोहक या आकर्षक भासमान दृश्य विषय पर आश्रित रहती है। सांसारिक विषयासक्ति से मन को खींच कर, तथा उसे ध्यानतन्मयता की शान्ति की ओर आकृष्ट करने में, **सूक्ष्म जगत् के प्रकाश, रंग, सुगन्ध, ध्वनि तथा स्वाद इत्यादि का महत्वपूर्ण हाथ रहता है।** इससे स्पष्ट है, कि साधक की ध्यानतन्मयता स्वतंत्र या स्वावलम्बी नहीं रहती और अधिकांशतः, वह उस वस्तु पर आश्रित रहती है, जिस पर मन आसक्त हो जाता है।

**ध्यान तन्मयता किसी दृश्य विषय पर आश्रित रहती है।**

इसके विपरीत, **सिद्ध की सहजसमाधि आत्मनिर्भर रहती है; तथा वह चित्त के किसी विषय पर अवलम्बित नहीं रहती।** साधक की ध्यानतन्मयता बहुत कुछ मादक द्रव्य से उत्पन्न उन्माद के समान है। मादक द्रव्य का प्रभाव जब तक रहता है, तब तक उन्माद रहता है। इसी प्रकार, साधक की ध्यानमग्नता तब तक रहती है, जब तक मन उस विषय के वश में रहता है, जिस पर यह आश्रित है। इसके विपरीत, सहजसमाधि किसी विषय के वशीभूत नहीं रहती। **वह एक ऐसी पूर्ण जागृत अवस्था है, जिसमें उतार–चढ़ाव अथवा –ह्रास–वृद्धि के लिए, ज़रा भी स्थान नहीं रहता। सहजसमाधि में ज्ञान की निश्चल स्थिरता रहती है।**

**सहजसमाधि आत्मनिर्भर है।**

साधक जिन सामान्य तथा विशिष्ट ध्यानों का आश्रय लेता है, वे **अपनी–अपनी सीमाओं के भीतर** उपयोगी तथा लाभदायक हैं। यह नहीं समझना चाहिए, कि सभी के लिए उनका एकसा महत्व है, या सभी के लिए वे एक समान आवश्यक है। वे साधक को दिव्य मन्जिल में ले जाने–वाले भिन्न–भिन्न रास्ते हैं। आध्यात्मिक अवस्था में उन्नत कुछ थोड़े व्यक्तियों के लिए, अधिकांश सामान्य ध्यान–क्रम अनावश्यक है। इसी प्रकार, ईश्वरप्राप्त गुरु के निकट सम्पर्क में रहनेवालों के लिए, अनेक विशेष ध्यान बहुधा आवश्यक नहीं होते। उनके लिए, गुरु की आज्ञा का पालन, तथा गुरु के प्रति प्रेम पर्याप्त है। किन्तु वे बिरले पुरुष, जिन्हें आत्मानुभूति हो चुकी है, **तथा जो सदैव सहजसमाधि की अवस्था में रहते हैं, साधकों के लिए स्वंय ध्येयविषय हैं।** उन्हें किसी प्रकार के ध्यान की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसे ब्रह्मज्ञ सिद्ध पुरुषों पर ध्यान करने से, उनकी सर्वोत्तम सहायता प्राप्त होती है।

**सहजसमाधिस्थ पुरुष ही उचित ध्येय विषय है।**

# ध्यान के प्रकार

(भाग 8)

## सहजसमाधि में आरोहण तथा सहजसमाधि का स्वरूप

जब मन सही ढंग से ध्यान के विषय से एकीभूत होता है, तब वह सत्य में निमग्न हो जाता है, और सहजसमाधि अर्थात् अविच्छिन्न आत्मज्ञान के सहज आस्वादन की अवस्था का अनुभव करता है। सहजसमाधि में, साधक की सीमित सत्ता विलीन हो जाती है; और उसे यह ज्ञान होता है, कि वह उस ईश्वर से युक्त है, जो प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। सहजसमाधि पूर्वोक्त व्यक्तिपरक तथा तत्वपरक ध्यानो की उपज (Product) नहीं है, किन्तु उनकी परासीमा (Culmination) है।

**सहजसमाधि पूर्वतर ध्यान विधियों की परासीमा है।**

साधक जिन क्रमों का अनुसरण करता है, तथा जिन आध्यात्मिक साधनाओं का आश्रय लेता है, उन सब का एक ही लक्ष्य होता है; और वह लक्ष्य है, अनन्त से युक्त होने की आकाँक्षा की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति। जब वह एकता प्राप्त हो जाती है, तब साधक सिद्ध हो जाता है। सिद्ध अनन्त से जो ऐक्य करता है, उसे सूफी लोग "वस्ल" के नाम से पुकारते हैं। ईश्वरैक्य की इसी अवस्था को ईसा ने इन शब्दों में व्यक्त किया,– "मैं और मेरे पिता एक हैं" ("I and my father are one")। चेतना

**अनन्त से एकता की प्राप्ति के पश्चात् सहज समाधि की अनुभूति होती है।**

की सर्वोच्च अवस्था के विषय में, बहुतों ने लिखा है; किन्तु वह वस्तुतः अनिर्वचनीय है। शब्दों के द्वारा, यह अवस्था व्यक्त नहीं की जा सकती; अतः, वह अवर्णनीय है। किन्तु, **यद्यपि एक व्यक्ति यह अवस्था दूसरे व्यक्ति को नहीं समझा सकता, तथापि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इस अवस्था का अनुभव कर सकता है।** सिद्ध की इस अवस्था का नाम सहजसमाधि है।

सहजसमाधि में निवास करना उस ईश्वरावस्था का ज्ञान प्राप्त करना है, जिसमें आत्मा अपने आपको परमात्मा अनुभव करती है। क्योंकि उसके स्वरूपविषयक भ्रामक अज्ञान उत्पन्न करनेवाले समस्त बन्धन छिन्न हो चुके हैं। सिद्ध की **ईश्वरावस्था,** (God state) संसारी मनुष्य के **देहभाव** (Body state) से, मूलतः भिन्न होती है। संसारी मनुष्य अपने को शरीर समझता है; और वह उस अवस्था में रहता है, जो देह तथा दैहिक इच्छाओं के वश में रहती है। उसकी चेतना देहासक्त हो जाती है; तथा देह के चारों ओर केन्द्रित हो जाती है। खाने, पीने, सोने तथा अन्य दैहिक इच्छाएं पूरी करने से ही, उसे, मतलब रहता है। **वह देह के लिए जीता है, तथा देह के ही द्वारा, वह तृप्ति का अनुभव खोजता है।** उसकी चेतना देह से परे विस्तृत नहीं हो सकती। जब वह किसी वस्तु के विषय में सोचता है, तब वह देह के ही दृष्टिकोण से सोचता है। वह ऐसी किसी वस्तु के विषय में नहीं सोच सकता, जो देहरहित या रूप–रहित हो। जब वह किसी वस्तु के बारे में सोचता है, तो सदैव ही, उसके विचार का कुछ न कुछ सम्बन्ध देह से या रूप से रहता है। **उसके जीवन का सकल क्षेत्र रूपसृष्टि का रहता है;** और उसके जीवन, कर्म एवम् सत्ता का प्रदेश (Space) स्थानमय होता है।

**शरीर निष्ठ जीवन**

देहभाव को पार करना ईश्वरावस्था, अर्थात् सहज समाधि की ओर प्रथम पग बढ़ाना है। देहावस्था को त्यागना, जीवन के उस क्षेत्र में प्रविष्ट होना है, जो शक्तिमय है। शक्तिमय जगत् में प्रविष्ट होने पर, साधक देहों या रूपों के वशीभूत नहीं रहता। वह शक्ति (Energy) के प्रदेश में उठ जाता है। **देह या रूप शक्ति की ही एक प्रकार की घनीभूत अवस्था है। और रूप–मय जगत् से प्राणमय जगत् में उठना, अस्तित्व की अधिक मौलिक तथा पवित्रतर अवस्था में, पदार्पण करना है।** शक्तिमय जगत् रूप–मय जगत् की अनेक सीमाओं से मुक्त है। इस अवस्था में, चेतना प्राण से आसक्त हो जाती है; और वह सर्वदा शक्ति में, तथा शक्ति के ही द्वारा, स्पन्दन करती है। प्राणावस्था में शक्ति का ग्रहण और पाचन, देहावस्था के खाने और पीने के समान है। इस अवस्था में,

**शक्ति पर जीवन।**

आत्मा का शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है; और शक्ति के उपयोग के ही द्वारा, वह तृप्ति खोज की करती है। किन्तु आत्मा के कार्य, कितने भी प्राण–पूर्ण क्यों न हो, वे सीमित ही होते हैं। वे ऐसी अनेक वस्तुएं देख, सुन तथा सूंघ सकती है, जो देहावस्था में दुर्लभ हैं। और वह ऐसे अनेक कार्य कर सकता है – (जैसे अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न करना, या हज़ारों वर्षों तक जीवित रहना) – जो देहावस्था में रहनेवालों को **चमत्कारसदृश** मालूम होते हैं। किन्तु उसके अस्तित्व का समग्र क्षेत्र शक्तिमय ही रहता है; और उसका जीवन चक्र शक्ति के वशीभूत रहता है। वह जो भी विचार या कार्य करता है, वह सब शक्ति के ही दृष्टिकोण से करता, तथा शक्ति के ही द्वारा, उनकी पूर्ति करता है। प्राणावस्था, आध्यात्मिकता में उन्नत आत्माओं की अवस्था है; किन्तु सिद्ध की सहजसमाधि की पूर्णतः से वह काफी दूर है।

**मनोभूमि का जीवन।**

जब शक्तिक्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण करके, आत्मा मन के जगत् में प्रवेश करता है, तब वह सहजसमाधि की ओर दूसरा क़दम बढ़ाता है। **समस्त शक्ति अन्ततोगत्वा मन की अभिव्यक्ति है।** अतः शक्तिमय जीवन से मनोमय जीवन में अवस्थांतर ईश्वरावस्था या सहजसमाधि की ओर अधिक अग्रसर होना है। मनोभूमि के जीवन में, चेतना सीधे मन से सम्बद्ध हो जाती है, और वह देह तथा प्राण के बन्धनों से मुक्त हो कर मन से लद जाती है। मनावस्था (mind-state) में रहनेवाले सन्तो का देह और प्राण पर पूर्ण अधिकार रहता है। वे दूसरें के मन की बात जान सकते हैं; तथा दूसरों के मनों को वे प्रभावित कर सकते हैं। मुर्दे को भी वे जिला सकते हैं। तो भी मन–मय अवस्था द्वैत और भ्रम की सीमा के ही अन्तर्गत रहती है। और अनन्त से युक्त होने के पूर्व यह अवस्था भी पार करनी पड़ती है।

**मन सत्य पर आवरण डाल देता है।**

पहले से ही सहजसमाधि की ओर समग्र अग्रगति, वैयक्तिक मन की क्रिया को क्रमशः कम करते जाना तथा उसका अतिक्रमण करना है। मन देहावस्था में तथा प्राणावस्था में क्रियाशील रहता है। किन्तु **देहावस्था में, मन शरीर की दृष्टि से सोचता है, प्राणावस्था में, मन शक्ति की दृष्टि से सोचता है; तथा मनावस्था में, मन अपनी ही दृष्टि से सोचता है।** मन यद्यपि खुद की दृष्टि से सोचता है, तथापि उसे अनन्त का ज्ञान तथा अनुभूति की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वंय अपने विचार तथा सत्य के बीच का परदा बन जाता है। यद्यपि मन देहाक्रान्त तथा प्राणाग्रस्त नहीं रहता तथापि वह अभी भी पृथकत्व की चेतना से सीमित रहता है। इस अवस्था में, वह धूल

से ढँके हुए दर्पण की भाँति होता है। अतः ईश्वरावस्था या सहजसमाधि का अनुभव करने के लिए, मन का अनन्त में पूर्ण घुल जाना तथा निमग्न हो जाना आवश्यक हो जाता है। **रूप धनीभूत शक्ति है, शक्ति मन की अभिव्यक्ति है, मन अनन्तता (Eternity) का धूलि–धूसरित दर्पण है, और अनन्तता वह सत्य है, जो मन के आवरण को फेंकने पर अनुभव में आता है।**

बन्धनकारक मन को उतार फेंकना कोई सरल कार्य नहीं है। मुख्य कठिनाई यह है, कि मन के द्वारा मन का नाश करना पड़ता है। मन का अतिक्रमण करने की एक शर्त है, अनन्त में सत्य से युक्त होने की तीव्र आकाँक्षा। किन्तु मन को पार करते समय, अनन्त धैर्य धारण करना उतना ही आवश्यक है। एक गुरु ने अपने शिष्य से कहा कि जब तुम्हें एक तख़्ते से बाँध दिया जाये, और तुम्हारे हाथ पैर भी रस्से से कस कर बाँध दिये जायें, और इस प्रकार, तुम एक नदी में फेंक दिये जाओ, और तुम जब इस अवस्था में, अपने कपड़े को ज़रा भी गीला न होने देने का प्रयत्न करो, तभी तुम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो सकते हो। शिष्य गुरु की इस शिक्षा का मर्म नहीं समझ सका। वह इसका अर्थ समझने के लिए, एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकता रहा। किन्तु आख़िर वह एक दूसरे सन्त के पास पहुँचा। और उनसे अपनीं गुरु की शिक्षा का अर्थ पूछा। सन्त ने बतलाया कि उस शिक्षा का अर्थ यह है, कि ईश्वर मिलन के लिए, उसमें ऐसी तीव्र उत्कण्ठा होनी चाहिए, कि दूसरे क्षण ईश्वर को मिले बिना जी नहीं सकता, और साथ ही साथ, ईश्वर मिलने के लिए, अपार तितिज्ञा भी आवश्यक है, ऐसी तितिज्ञा जो करोड़ों वर्षों तक प्रतीक्षा करते करते भी न थके। यदि ईश्वर से मिलने के लिए प्रचण्ड लालसा का अभाव होगा, तो मन संस्कार के अधीन हो कर, त्रुटियाँ करेगा; और यदि अपार तितिज्ञा का अभाव होगा, तो मन की उत्कट लालसा ही मर्यादित मन का व्यापार जीवित रखेगी **अनन्त आकाँक्षा तथा अनन्त तितिज्ञा के समभार होने पर ही, साधक सीमित मन के आवरण को बेधने में सफल होगा। और इन दो गुणों के अतिरेकों (Extremes) का सम्मिश्रण गुरु के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।**

**उत्कट आकाँक्षा तथा असीम तितिक्षा से ही मन का अतिक्रमण किया जा सकता है।**

सहजसमाधि में निवास करना सत्य के ज्ञान में निवास करना है। जिसका मन क्रियाशील है वह इस अवस्था का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वरावस्था मनातीत है, क्योंकि ईश्वरावस्था की अनुभूति तभी होती है, जब मन के लोप हो जाने पर अनन्तता से एकता की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में **आत्मा अपने को अपने ही**

**द्वारा जानती है, मन के द्वारा नहीं।** संसारी मनुष्य जानता है कि वह मनुष्य है, कुत्ता नहीं है। इसी प्रकार, सहजसमाधि में आत्मा यह जानती है, कि वह ईश्वर है, न कि कोई सीमित वस्तु। संसारी मनुष्य मन ही मन यह नहीं रटता रहता, कि वह कुत्ता नहीं है, किन्तु मनुष्य है; किन्तु बिना किसी विशेष प्रयत्न के वह अपने आप को मनुष्य समझता है। इसी प्रकार, सहजसमाधि में, आत्मा में ईश्वर–चैतन्य का आव्हान करने के लिए, कोई कृत्रिम आत्मसूचना (autosuggestion) नहीं देनी पड़ती। वह सहज एवम् **अनायास अन्तः प्रज्ञा** के द्वारा अपने को ईश्वर जानता है।

**सहजसमाधि का आत्म–ज्ञान अनायास अंतःप्रज्ञा से स्फुरित होता है।**

सहजसमाधिस्थ सिद्ध पुरुष आत्मज्ञान में आरुढ़ रहता है। इस ज्ञान की ह्रास–वृद्धि नहीं होती रहती; यह ज्ञान स्थायी होता है। अज्ञानावस्था में, साधक अपने को मनुष्य या स्त्री समझता है। वह अपने को सीमित कार्यों का कर्ता तथा सुख–दुःख का भोक्ता समझता है। किन्तु ज्ञानावस्था में, वह अपने को आत्मा समझता है, जो इन कार्यों के बन्धन के परे तथा सुख दुःखों से अलिप्त रहता है। अपने सच्चे स्वरूप का एक बार ज्ञान होते ही, साधक का ज्ञान सदैव के लिए, स्थिर रहता है। फिर वह कभी अज्ञान में नहीं फंसता। ईश्वरचेतना की यह अवस्था, सभी प्रकार से अनन्त होती है। असीम ज्ञान, पवित्रता, प्रेम तथा आनन्द ईश्वर–ज्ञान के लक्षण हैं। **सहजसमाधि में प्रवेश करना अनन्त जीवन की असीमता में पहुँचना है।**

**अनन्त जीवन**

सहजसमाधि के दो रूप हैं – (1) निर्वाण अर्थात् ईश्वरत्व में निमग्नता, तथा (2) निर्विकल्प, अर्थात् ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति। जब समस्त शरीरों तथा सृष्टि–जगत् से चेतना बिल्कुल खींच कर हटा ली जाती है, तब निर्वाण या अतीतावस्था (beyond-state) की प्राप्ति होती है। किन्तु जब बिना आसक्ति या बन्धन के, चेतना को शरीरों के द्वारा कार्य करने दिया जाता है, तब निर्विकल्प समाधि या सद्गुरु अवस्था की प्राप्ति होती है। **निर्विकल्प समाधि में चेतना शरीरों का उपयोग उपकरणों की भाँति करती है। उनसे लिप्त न हो कर, वह उनसे अनासक्त रहती है।** मन का अतिक्रमण करना, संसार से चेतना को पूर्णतः खींच लेना है, तथा चेतना का ईश्वर में संपूर्णतः निमग्न होना है। इस अवस्था में संसार शून्य की भाँति हो जाता है। यह निर्वाण है। निर्वाण की प्राप्ति होने पर अनेक पुरुष संसार की चेतना में वापस नहीं लौटते। जो थोड़े से पुरुष पुनः

**सहजसमाधि के दो प्रकार।**

संसार की चेतना में लौटते हैं, वे भी संसार को ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं समझते। और निर्विकल्प स्थिति में रहते हैं। निर्विकल्प अवस्था में, मिथ्या–कल्पना–जन्य मानसिक व्यापार समाप्त हो जाते हैं; और **नित्य सत्य की उपलब्धि में, सीमित मन की चंचलता विलीन हो जाती है।**

निर्विकल्प अवस्था की सहजसमाधि उन आत्माओं को प्राप्त होती है, जो सप्तम भूमिका से अवतरित होते हैं। जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों का क्रियाशील प्रत्युत्तर देते समय भी, इस अवस्था की समता तथा स्थिरता भंग नहीं होती। जिसे यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसे सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता है; तथा प्रत्येक वस्तु ईश्वरमय दिखाई देती है। सांसारिक कार्यों से सम्बन्ध रखने से, उसकी ईश्वरावस्था का ह्रास नहीं होता। तीर खींचते समय, युद्ध–क्षेत्र में तलवार चलाते समय, वायुयान पर बैठ कर उड़ते समय, या लोगों से बातचीत करते समय या किसी ऐसे कार्य को करते समय, जिसमें उसके एकाग्र ध्यान की आवश्यकता होती है, – अर्थात् हर समय जीवन के प्रत्येक क्षण में, तथा प्रत्येक परिस्थिति में, वह अनन्त सत्य का ज्ञान–पूर्वक अनुभव करता है।

**सद्गुरुओं तथा अवतारों की अवस्था।**

जीवात्मा परमात्मा में मग्न होने, तथा पराचेतना (Super-consciousness) का अनन्त ज्ञान और आनन्द प्रदान करने की दृष्टि से, निर्वाण और निर्विकल्प की अवस्थाएं, मुक्ति या मोक्ष की ही अवस्था के समान है। किन्तु देहावसान के पश्चात् ही आत्मा को मुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति होती है। निर्वाण और निर्विकल्प अवस्था का अनुभव देहावसान के पूर्व किया जाता है। यद्यपि निर्वाण और निर्विकल्प अवस्था शरीर रखने की दृष्टि से, एक दूसरे के समान हैं, तथा मूलतः एक ही हैं, तथापि दोनो में थोड़ा भेद है।

**मोक्ष, निर्वाण तथा निर्विकल्प अवस्था।**

जब आत्मा अहंकार–कोष से बाहर निकल कर, ईश्वर के अनन्त जीवन में प्रवेश करती है, तो उसके सीमित व्यक्तित्व का स्थान उसका असीम अस्तित्व (Unlimited Individuality) ग्रहण कर लेता है। आत्मा यह जानती है, कि वह ब्रह्मचेतन है और इस प्रकार, उसका असीम व्यक्तित्व बना रहता है। महत्व की बात यह है, कि व्यक्तित्व का पूर्ण नाश नहीं हो जाता; किन्तु आध्यात्मिक रूप (Spiritualised form) में वह सुरक्षित रहता है। यद्यपि अनन्त से एकता के ज्ञान के द्वारा, असीम व्यक्तित्व कायम रहता है, तथापि **वह स्वंयपूर्ण ईश्वरत्व की निरन्तर अनुभूति में, सदैव के लिए, निमग्न रह**

**निर्वाण अवस्था तथा निर्विकल्प अवस्था में भेद।**

सकता है। निर्वाण या निमग्नता की इस अवस्था से, कोई भी संसारज्ञान में अवतरित नहीं होता। तथापि कुछ आत्मा, ईश्वर के अनन्त जीवन में निमग्न होते ही, संचालनशील ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति के द्वारा, अपना असीम व्यक्तित्व प्रस्थापित करते हैं। यह निर्विकल्प अवस्था की सहजसमाधि है।

भाग 3
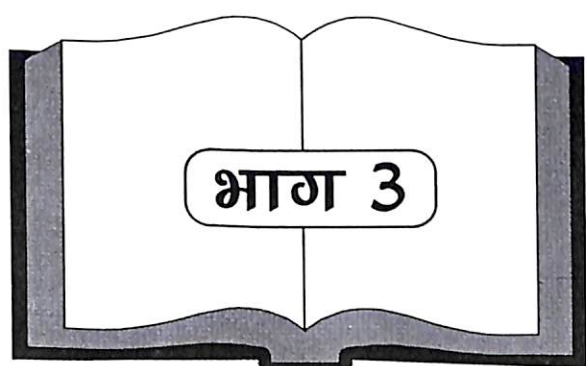
अवतार मेहेरबाबा

# हमें ईश्वर के लिए ही जीना तथा ईश्वर के लिये ही मरना चाहिए

यह युद्ध एक आवश्यक बुराई है; युद्ध ईश्वरीय योजना का एक भाग है। मानवता को सत्य के लिए जाग्रत करना ही ईश्वरीय योजना है। यदि युद्ध से प्राप्त होने वाली शिक्षा से मानवता ने लाभ नहीं उठाया तो उसकी यंत्रणा व्यर्थ सिद्ध होगी। वर्तमान युद्ध यह सिखा रहा है कि सड़क पर चलनेवाला साधारण व्यक्ति भी निःस्वार्थ हेतु की सिद्धि के लिए महान से महान बलिदान कर सकने की क्षमता रखता है। इसके अतिरिक्त युद्ध यह शिक्षा भी दे रहा है कि संसार की समस्त भौतिक वस्तुएं–धन, अधिकार, सत्ता, कीर्ति, कुटुम्ब तथा सांसारिक जीवन क्रम भी, नश्वर तथा सार शून्य है। युद्ध की घटनाओं से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं के परिणामस्वरूप मनुष्य एक मात्र सत्य अर्थात् ईश्वर की ओर अन्तर्मुख होगा। युद्ध की शिक्षाओं के फलस्वरूप मानव–जाति सच्ची तथा स्थायी मूल्य की चीज़ों को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त करेगी। अपने देश अथवा राजनैतिक आदर्श के लिए मनुष्य असीम आत्मबलिदान कर रहे हैं तथा अकथनीय कष्ट सहन कर रहे है। इसी से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर या सत्य के लिए भी इसी प्रकार आत्मबलिदान तथा कष्ट सहन कर सकने की क्षमता उनमें विद्यमान है। सभी धर्मों ने असन्दिग्ध रूपसे सत्यपर सभी मनुष्यों का समान अधिकार बतलाया है; अतएव धर्मों के नाम पर युद्ध करना निरी मूर्खता है। समय आ चुका है जब मनुष्य सत्य का नवीन दिग्दर्शन करे और यह स्वीकार करे कि समस्त जीवन एक है और **ईश्वर ही एकमात्र सत्य तथा सार है।** ईश्वर ही के लिए हमारा जीना सार्थक है तथा ईश्वर ही के लिए हमारा मरना सार्थक है। अतः हमें ईश्वर के लिए ही जीना चाहिए तथा ईश्वर के लिए ही मरना चाहिए। अन्य वस्तुओं के लिए जीना व्यर्थ है क्योंकि वे सार–शून्य तथा तुच्छ हैं; उनका मूल्य अस्थायी एवम् भ्रामक है।

# मानवता की आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए कार्य

सारे संसार में मनुष्य की आत्मा स्वतंत्रता का आह्वान कर रही है। **सभी जातियों में, तथा सभी परिस्थितियों में, सभी देशों में तथा सभी कालों में अन्धकार में भटकने वाली युद्धनिरत मानवता का ज्योति–स्तम्भ रहा है– स्वातंत्र्य।**

**स्वतंत्रता के लिए पुकार**

स्वातन्त्र्य–प्रेम तथा स्वतन्त्रता की खोज मानवता के मुख्य लक्षण हैं। किन्तु सच्ची तथा निर्विकार स्वतंत्रता के पूर्ण अर्थ और महत्व को यथार्थ में समझने वाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसके विपरीत, ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिन्हें वास्तविक सत्य का केवल आंशिक ज्ञान रहता है और अपने इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वे ऐसे जीवन की खोज करते हैं जिसके द्वारा उन्हें सापेक्ष स्वतन्त्रता का आभास प्राप्त होता है। **इस भाँति भिन्न भिन्न लोग, अपनी–अपनी मूल्य–सम्बन्धी–धारणा के अनुसार, भिन्न भिन्न प्रकार की स्वतंत्रता की आकाँक्षा करते हैं।**

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जीवन–स्वातन्त्र्य की खोज की जाती है। तथा **स्वतंत्रता की यह माँग अक्सर किसी बाह्य वस्तुस्थिति की आसक्ति पर आश्रित रहती है।** मनुष्य जिस प्रकार के जीवन की इच्छा करता है उस इच्छा की पूर्ति के लिए जिन बाह्य सामग्रियों या अवस्थाओं की उसे आवश्यकता होती है, उन सामग्रियों को जुटाना या उन अवस्थाओं को प्राप्त करना ही उसके लिए स्वातन्त्र्य होता है। जो

मनुष्य अपने अस्तित्व को अपने देश से युक्त कर लेते हैं वे राष्ट्रीय या राजनैतिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; जो आर्थिक उद्देश्य से प्रेरित होते हैं वे आर्थिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; जो धार्मिक आकाँक्षाओं से प्रोत्साहित होते हैं वे धार्मिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; तथा जो किसी सामाजिक या सांस्कृतिक विचार धारा से उत्साह प्राप्त करते हैं वे उन विचार धाराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिए कार्य और विचार की स्वतंत्रता की खोज करते हैं। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो यह जानते हैं कि इन विभिन्न क्षेत्रों तथा इन विभिन्न दिशाओं की सापेक्ष स्वतंत्रता को वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाली मौलिक स्वतंत्रता आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। स्वतंत्र जीवन की बाह्य शर्तों तथा आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर भी मनुष्य की आत्मा तबतक दुखद बन्धन से बद्ध रहेगी जबतक वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में असफल रहेगी।

**स्वतंत्रता के प्रकार**

किसी न किसी बाह्य शर्तपर अवलम्बित रहने वाली समस्त विभिन्न प्रकारों की स्वतंत्रता स्वभावतः कुछ न कुछ सीमाओं के अन्तर्गत रहती है क्योंकि एक व्यक्ति, या समाज, या राज्य को जैसी स्वतंत्रता चाहिये वैसी ही स्वतंत्रता की अन्य व्यक्ति या समाज या राज्य को भी आवश्यकता रहती है। राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक या सांस्कृतिक स्वतन्त्रता अपने आपको अस्तित्व के द्वैत द्वारा व्यक्त करती है; वह द्वैत पर आश्रित तथा द्वैत के द्वारा पोषित होती है। अतः ऐसी स्वतंत्रता आवश्यक रूपसे सापेक्ष और सीमित होगी तथा वह **अनन्त** नहीं हो सकती। ऐसी स्वतंत्रता का अस्तित्व भिन्नभिन्न अन्शो में होगा, और अनवरत उद्योग के द्वारा उसे प्राप्त करने पर भी वह एक स्थायी प्राप्ति न होगी क्योंकि एक बार प्राप्त की जाने वाली बाह्य शर्तें सदैव के लिए प्राप्त नहीं हो जातीं। समय बीतने पर उनमें विकार अवश्य आ जाता है।

**स्वतन्त्रता की सीमाएं**

केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता ही नित्य तथा अनन्त है और जब अनवरत उद्योग के द्वारा वह प्राप्त की जाती है तो वह सदैव के लिए प्राप्त हो जाती है; क्योंकि, यद्यपि आध्यात्मिक स्वतंत्रता अस्तित्व के द्वैत में, तथा अस्तित्व के द्वैत के द्वारा प्रकट होती तथा अपने को प्रकट कर सकती है तथापि वह समस्त जीवन की **अविच्छेद्य** एकतापर अधिष्ठित तथा उस एकता के द्वारा पोषित होती है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता की एक आवश्यक शर्त है समस्त चाहों से स्वतंत्रता–समस्त इच्छाओं से मुक्ति। चाह से उन बाह्य शर्तों पर आसक्ति हो जाती है जो उस चाह को पूरी करते हैं और इस प्रकार चाह

**केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता ही अनन्त हो सकती है।**

के द्वारा जीवन सीमित हो जाता है। यदि चाह न रहे तो परतंत्र, परावलम्बी तथा सीमित रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। चाह के द्वारा आत्मा दासत्व को प्राप्त होती है। जब आत्मा चाह की श्रृंखलाओं को तोड़ती है तो वह शरीर की दासता, मन की दासता तथा अहंकार की दासता से मुक्त हो जाती है। यही वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता है जिससे समस्त जीवन की एकता की अन्तिम अनुभूति होती है तथा जिससे समस्त शंकाओं और चिन्ताओं का अन्त होता है।

**आध्यात्मिक स्वतंत्रता का महत्व**

आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही मनुष्य को अमर सुख तथा निर्विकार आत्म–ज्ञान प्राप्त होगा। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही सत्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही दुखों और बन्धनो का अन्त होता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता के ही द्वारा एक व्यक्ति सभी व्यक्तियों के लिए जी सकता है तथा समस्त कर्मों को करता हुआ भी अनासक्त रह सकता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से कम कोई भी स्वतन्त्रता रेत पर बने घर के सदृश है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राप्ति एक न एक दिन नाश को प्राप्त हो जायगी। अतएव आध्यात्मिक स्वतंत्रता से बढ़कर कोई उपहार नहीं है तथा औरों को आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में स्वतंत्रता देने के कार्य से अधिक महत्वपूर्ण कोई कार्य नहीं है। जो आध्यात्मिक स्वतंत्रता के परम महत्व को समझ चुके हैं उनको चाहिये कि वे न केवल स्वयम् आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करें किन्तु उसे प्राप्त करने में औरों के प्रयत्न में भी सहायक हों। औरों के आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक होना उनका ईश्वर–प्रदत्त कर्तव्य है।

**सच्ची सेवा**

निःस्वार्थ सेवा–भावसे प्रेरित व्यक्ति मानव जाति की समस्त सम्भव सेवाएं करने में विलम्ब नहीं करते। वे वस्त्र, आश्रय, भोजन, औषधि, शिक्षा तथा सभ्यता–जन्य अन्य सुविधाएं उन लोगों को प्रदान करते हैं जिन लोगों को जीवन की इन आवश्यकताओं की ज़रूरत रहती है। वे अपने लोक–सेवा के कर्तव्य का पालन करने के लिए आक्रमण तथा निष्ठुर अत्याचार से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए युद्ध करने को तैयार रहते हैं। इतना ही नहीं औरों के लिए वे अपने प्राणों का बलिदान करने के लिए भी तैयार रहते हैं। ये सब प्रकार की सेवाएं महान और महत्वपूर्ण हैं किन्तु अन्तिम ऐसी सेवा महत्व में सर्वोत्तम है।

अन्यान्य प्रकार की सेवा करने की रीति से औरों को, आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में, सहायता देने की सेवा की रीति बहुत भिन्न है। भूखों को आप भोजन दे सकते

हैं और उन्हें केवल उसे खाने का कार्य करना पड़ता है। नंगों को आप कपड़े दे सकते है और उन्हें केवल पहनना बाकी रह जाता है, और गृह–रहित व्यक्तियों को आप मकान दे सकते हैं और उनमें रहना ही उनका काम रह जाता है किन्तु आध्यात्मिक बन्धनों की यंत्रणा से ग्रस्त लोगों के लिए ऐसी कोई बनी–बनायी सामग्री नहीं है जिसे देने से उनकी कठिनाई तुरन्त दूर हो जाय। आध्यात्मिक स्वतंत्रता स्वयम् अपने द्वारा, स्वयम् अपने लिए प्राप्त करनी पड़ती है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने अहंकार तथा अपनी निम्नतर इच्छाओं के विरुद्ध कठोर तथा जागरूक युद्ध करना पड़ता है। जो सत्य के लिये सैनिक होना चाहते हैं उन्हें सभी व्यक्तियों को, आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की रोमान्चकारी साधना के लिए प्रवृत्त होने में, सहायता पहुँचानी चाहिए। सत्य के लिए जो योद्धा बनना चाहते हों उनका कर्तव्य है कि वे समस्त मनुष्यों को ऐसी सहायता पहुचायें जिससे वे आत्म–विजय के युद्ध के क्षेत्र में पदार्पण कर सकें और जब वे आत्म–विजय प्राप्त करने के लिए समरांगण में पदार्पण करें तो उनके प्रत्येक पग में उनकी सहायता करें। उन्हें बोझ–मुक्त करने का और कोई उपाय नहीं है।

**आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में औरों को सहायता देने का तरीक़ा**

मेरे भक्तों, मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानवता का यह बोझ हल्का करने में तुम उसकी सहायता करोगे। तुममें से अनेक ने मेरे प्रति प्रेम और मुझमें विश्वास रखा, बरसों मेरी आज्ञाओं का पालन किया है तथा मेरे आदेशों के अनुसार कार्य किया है तुम लोग आँधी–तूफानो तथा सुविधाओं और संकटों के समक्ष मेरे साथ रहे तथा मेरे आध्यात्मिक कार्य की सहायता करते रहे। अब वह समय आ गया है कि ईश्वरानुभूति के लिये आध्यात्मिक पथ पर पदार्पण करने में मानवता की सहायता करने के मेरे धर्म–कार्य में तुम लोग अपनी सारी सेवाएं अर्पित करो। ईश्वर ही एकमात्र वास्तविकता है– इस अनन्त सत्य को स्पष्टतः समझने, निष्कपट भाव से स्वीकार करने तथा असन्दिग्ध रूप से शब्दों में व्यक्त करने की महान आवश्यकता है। सत्य की परम अनुभूति में मनुष्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। मनुष्य को आध्यात्मिक दासता से मुक्त करने के लिए कैसा भी बलिदान कोई बड़ा बलिदान नहीं है। उस सत्य की प्राप्ति में मानवता की सहायता करने से बढ़कर कोई सहायता नहीं है जिसकी प्राप्ति हो जाने पर तुम्हें परम शान्ति मिलेगी, जिसके प्राप्त होने से विश्व–प्रेम का अजेय भाव उत्पन्न होगा। उस सत्य की अनुभूति हो जाने पर मनुष्य को यह अनुभव होगा कि सभी मनुष्य एक ही सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह अनुभव होने पर वह सभी मनुष्यों को स्वाभाविक रूप से प्रेम करेगा। मानवता को ऐसी

**आव्हान**

आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा उसे प्राप्त करने में उसकी सहायता करना उसकी सर्वश्रेष्ठ सहायता है।

**प्रत्येक के लिए विशेष आदेश की आवश्यकता**

इस इश्वरेच्छित, पूर्व–आयोजित दिव्य–विधान–प्रेरित कार्य में अर्थात् मानवता को आध्यात्मिक स्वतंत्रता देने के दिव्य कार्य में, मेरे भक्तों, तुम्हें प्राणों की बाज़ी लगाकर भी मेरी सहायता करनी है। तुम्हें हर प्रकार के कष्ट तथा बलिदान का स्वागत करना होगा। इस दिशा में जो कार्य करना चाहता हो उसे किस प्रकार करना चाहिए तथा उसकी व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुसार उसीके लिए कौनसा कार्य अत्यन्त उपयुक्त होगा, इस सम्बन्ध में जिन्हें पथ–प्रदर्शन की आवश्यकता हो, वे मुझसे पत्रव्यवहार करें।

# आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के लिए कार्य

मुझे हर्ष है कि मेरे आव्हान के उत्तर में तुम सब मेरा सन्देश प्राप्त करने के लिए इकट्ठे हुए हो। साधना पथ में शिष्यत्व की मुख्य शर्त है मानवता को ईश्वर–ज्ञान की ओर बढ़ाने के आध्यात्मिक कार्य को करने के लिए कृतसंकल्प तथा तत्पर रहना। मुझे इस बात से प्रसन्नता हो रही है कि मेरे प्रति श्रद्धा तथा प्रेम से प्रेरित होकर, संसार को आध्यात्ममय बनाने के मेरे सार्वलौकिक कार्य में हाथ बटाने के लिए तुम लोगों ने सर्वान्तः–करण से अपने आपको समर्पित कर दिया है; और मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम लोग, मैं जो सत्य लाया हूँ उसके उत्तराधिकारी बनोगे तथा, साथ ही साथ, तुम लोग घोर अज्ञान से आवृत मानवता के उत्साही तथा पराक्रमी पथ–प्रदर्शक भी बनोगे।

**मानवता के पथ प्रदर्शक बनो।**

आध्यात्मिक उन्नति में ही मानव जाति का वास्तविक कल्याण सन्निहित है। अतः आध्यात्मिक कार्य का सर्वोच्च महत्व है। मानवता के प्रेमियों का यह स्वभाविक तथा अनिवार्य कर्तव्य है कि वे मानव–जाति की आध्यात्मिक सेवा करें। अतः मानव–जाति के सेवकों को यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक सेवा का प्रकार क्या है और उसे किस रीति से करना चाहिए। सारा संसार पृथकता के मिथ्या भाव के वशीभूत हो गया है तथा द्वैत के भ्रम में फँस गया है। आध्यात्मिक सेवकों तथा कार्य कर्ताओं का यह कर्तव्य है कि

**आध्यात्मिक कार्य का प्रकार**

मानव–जाति को द्वैत के काल्पनिक कारागार से मुक्त करें तथा समस्त जीवन की एकता के सत्य का उन्हें ज्ञान कराकर उसके अज्ञान को दूर करें।

**अनेकत्व की उत्पत्ति**

अनेकत्व के भ्रम का मूल कारण यह है कि आत्मा, अपने अज्ञान के कारण अपने शरीरों तथा अपनी अहंकार–बुद्धि से युक्त हो जाती है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर तथा मानसिक शरीरों की अहंकार बुद्धि–द्वैत–जगत् की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करने के साधन हैं किन्तु आत्मा के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान इन साधनो के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों और संस्कारों तथा अहंकार बुद्धि से परे है। अपने शरीर तथा अहंकार बुद्धि से युक्त होकर आत्मा अनेकता के अज्ञान में फँस जाती है। समस्त शरीरों तथा समस्त अहंकार–बुद्धियों में व्याप्त आत्मा वस्तुतः एक अविभाज्य सत्ता है; किन्तु वह इन शरीरों तथा अहंकार बुद्धियों से, जो केवल उसके उपकरण हैं, युक्त हो जाती है और अपने को सीमित समझने लगती है और इस प्रकार आत्मा अपने आपको एक तथा अद्वितीय समझने की जगह, अनेक के बीच में अपने को केवल एक समझती है।

**चेतना की अवस्थाएँ**

अविभक्त तथा अविच्छेद्य परमात्मा ही एक मात्र सत्य है तथा प्रत्येक आत्मा उस परमात्मासे अविभाज्यतः नित्य युक्त है; किन्तु आत्मा अपने को विभिन्न शरीर समझकर एकता में अनेकता तथा पृथक्ता की मिथ्या कल्पना करती है। वस्तुतः आत्मा की एकता में किसी भी प्रकार के पार्थक्य के तथा द्वैत के लिए तिल–भर भी स्थान नहीं है। विभिन्न शरीर तथा अहंकार बुद्धियाँ चेतना के केवल उपकरण या उपादान हैं तथा अपने विभिन्न उपकरणों या उपादानों के द्वारा संसार की विभिन्न भूमिकाओं को अनुभव करने के कारण आत्मा को चेतना की विभिन्न अवस्थाओं से गुज़रना पड़ता है।

**ईश्वरानुभूति**

परमात्मा समस्त जीवात्माओं की एकता तथा वास्तविकता है। परमात्मा और जीवात्मा में वस्तुतः कोई भेद नहीं है किन्तु अनेक जीवात्माओं को अपने परमात्मस्वरूप या अपने परमैश्वर्य का चेतनापूर्वक ज्ञान नहीं है। उनमें ईश्वरानुभूति केवल सुप्तरूप से विद्यमान है [illegible] क्योंकि वह उनके द्वारा चेतनापूर्वक अनुभूत नहीं हुआ है। किन्तु जिन्होंने [illegible] का आत्मा [illegible] उन्होंने द्वैत के बाह्यावरण को उतार फेंका है उन्हें आत्मा [illegible] आत्मा के ही द्वारा, बिना किसी उपकरण या उपादान की सहायता के ज्ञान हो चुका है। इस ज्ञान के द्वारा उन्हें समस्त आत्माओं की एकता तथा वास्तविकता की, अर्थात् परमात्मा की, चेतना पूर्वक अनुभूति हो चुकी है। वे यह अनुभव कर चुके हैं कि

उनमें तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं है अर्थात् वे ही परमात्मा हैं। इस सर्वैक्य–ज्ञान अर्थात् इस परमात्मानुभूति से समस्त सुख–दुखादि द्वन्द्वों तथा बन्धनो से स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। यह ईश्वरानुभूति अनन्त की सज्ञान घोषणा है कि वह अनन्त है। आध्यात्मिक सम्पूर्णता तथा स्वतंत्रता की इस अवस्था में अहंकार का विशेष नाश हो चुकता है तथा सत्य के दिव्य जीवन की अनुभूति होती है; इस अवस्थामें एक तथा अद्वितीय ईश्वर से अपनी एकता का ज्ञान होता है। ईश्वरानुभूति इस सत्य की घोषणा है कि ईश्वर ही एक तथा अद्वितीय सत्य है और हमें सत्य की प्राप्ति के लिए ही जीवित रहना चाहिए।

ईश्वरानुभूति प्राप्त करना अनन्त में निवास करना है, ईश्वरानुभूति समयशून्य अनुभव है। किन्तु सृष्टि की अनेकता के पाश में फँसे हुए तथा समय के बन्धन से बाँधे हुए जीवात्माओं को मुक्त करना आध्यात्मिक कार्य कहलाता है। सृष्टि में समय का जो तत्व विद्यमान है उसकी उपेक्षा आध्यात्मिक कार्यकर्ता नहीं कर सकते। समय की उपेक्षा करना मानो आध्यात्मिक कार्य की ही उपेक्षा करना है। समय की गति का विवेक–पूर्ण ज्ञान रखना अनिवार्यतः आवश्यक है, तथा निकट भविष्य के उस आने वाले क्षण के परम महत्व को समझना खास तौर से आवश्यक है। निकट भविष्य के उस शुभ क्षण में समस्त संसार दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान की नवीन दीक्षा ग्रहण करेगा।

**समय का महत्व**

पीड़ित मानव–जाति को आध्यात्मिक सत्य की नवीन दीक्षा देने के मेरे कार्य में आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं को मेरी सहायता करनी चाहिये। इस आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने तथा इस सत्य पर आरूढ़ होने के लिए तुम्हें मानवजाति को तैयार करना होगा। किन्तु यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि तुम आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा द्वैत के भ्रम से मुक्त होने में औरों की सहायता तभी कर सकते हो जब मिथ्या भेद उत्पन्न करने वाले तथा आध्यात्मिक कार्य–कर्ताओं को ज़रा भी अवकाश न देनेवाले लोगों के बीच काम करते समय तुम स्वयं एकता के भाव को भूल न जाओ या छोड़ न बैठो।

**आध्यात्मिक कार्य–कर्ताओं को चेतावनी**

मैं जो अनन्त जीवन लाया हूँ उसकी अनुभूति मनुष्यगण तभी कर सकते हैं जब वे अपने मस्तिष्क तथा हृदय से सब प्रकार की स्वार्थ–परता तथा संकीर्णता को निकाल कर बाहर फेंक दें। मनुष्यों को स्वार्थ–परता तथा संकीर्णता छोड़ देने के लिए राजी करने का कार्य कोई सरल कार्य नहीं है। धनवान तथा गरीब, पोषित तथा शोषित, शासक तथा शासित, नेता तथा जनता, अत्याचारी तथा अत्याचार पीड़ित, एवम्

प्रतिष्ठित तथा तिरस्कृत में– मनुष्य–जाति का विभक्त हो जाना कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं है। यह भेद–भाव उन लोगों ने पैदा किया है तथा इस भेद–भाव को उन लोगों ने बढ़ाया है जो आध्यात्मिक अज्ञान के कारण इन भेद–भावों पर आसक्त हो गये हैं तथा जिनके विकृत विचार तथा विकृत भाव इतने दृढ़ हो गये हैं कि उन्हें अपने विकार और भ्रम का पता तक नहीं है। वे जीवन को विभक्त तथा भेद–भाव युक्त देखने के आदी हो गये हैं और इस भेद–भाव एवम् पृथक व्यवहार को त्यागने के लिए वे तैयार नहीं है। जब तुम अपना आध्यात्मिक कार्य शुरू करोगे तो तुम उन भेद–भावों की दुनिया में प्रवेश करोगे जिनसे मनुष्य बुरी तरह चिपके हुए हैं तथा जिन भेद–भावों को बढ़ाने, कायम रखने, एवम् ज्ञान–पूर्वक या अज्ञान–पूर्वक उन्हें चिरस्थायी रखने की लोग कोशिश करते हैं।

**आध्यात्मिक कार्य की कठिनाइयाँ**

इन भेद–भावों का खण्डन करने से ही वे नष्ट नहीं हो जाएंगे। भेदबुद्धि तथा भेद–भावना से ये भेद–भाव बढ़ाये जा रहे हैं। भेद–बुद्धि तथा भेद–भावना प्रेम और ज्ञान के स्पर्श से ही दूर हो सकती है। तुम्हें सत्य के जीवन के लिए या एकता के जीवन के लिए मनुष्यों के हृदय पर विजय प्राप्त करनी होगी। तुम उन्हें ज़बरन, जोर ज़बरदस्ती करके, आध्यात्मिकता की तरफ नहीं घसीट सकते। अपने कार्य में सफल होने के लिए केवल इतना ही काफी नहीं है कि तुम उन मनुष्यों के प्रति शुद्ध मैत्री का भाव रखते हो तथा अपने हृदय से उनकी निर्मल कल्याण–कामना चाहते हो किन्तु तुम्हें उनमें यह श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न करना होगा कि तुम बन्धन तथा दुःख से मुक्त होने में सचमुच उनकी सहायता कर रहे हो तथा तुम सचमुच ईश्वर की अनुभूति करने में उनकी मदद कर रहे हो। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता तथा ज्ञान प्राप्त करने में उनकी सहायता करने का और कोई तरीका नहीं है।

**सत्य के लिए उनपर विजय प्राप्त करो।**

## आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के लिये सूचनाएं

आध्यात्मिक सहायता देने के लिए तुम्हें निम्नलिखित चार बातों का स्पष्ट ज्ञान रखना चाहिए।

### (1) ऊपरी तौर से निम्नतर सतह में उतरना :–

जिन लोगों की सहायता करने का तुम प्रयत्न करोगे उनकी निम्नतर सतह में बहुधा **ऊपरी तौर से** (दिखाऊ रूप से) उतरने की तुम्हें आवश्यकता होगी। यद्यपि

लोगों को उच्चतर सतह पर उठाना तुम्हारा उद्देश्य होगा किन्तु यदि तुम ऐसी भाषा में बात करोगे जिसे वे नहीं समझ सकेंगे तो तुम जो कुछ कहोगे उसे वे ग्रहण न कर सकेंगे और न तुम्हारी बात से वे कोई लाभ उठा सकेंगे। यदि विचार–भावना के द्वारा तुम उनसे ऐसी बात करोगे जो उनकी समझ के बाहर होगी तो तुम्हारी बात का सिर–पैर कुछ भी वे न समझ सकेंगे। तुम्हारी बात को तबतक लोग न समझेंगे जबतक तुम्हारी बात उनकी समझने की योग्यता तथा अनुभव की सीमा के अन्तर्गत न होगी। तथापि इस बात का विशेष ध्यान तुम्हें रखना होगा कि लोगों की निम्न बौद्धिक सतह में उतर कर भी तुम्हें अपनी उच्च बौद्धिक सतह पर ही आरूढ़ रहना चाहिए। ज्यों–ज्यों लोगों के ज्ञान में वृद्धि होती जायगी त्यों–त्यों तुम्हें अपनी पद्धति तथा समझाने की रीति बदलनी चाहिए। इस प्रकार नीची सतहपर तुम्हारा ऊपरी तौर से उतरना केवल अस्थायी होगा।

**(2) आध्यात्मिक ज्ञान से सर्वांगीण उन्नति होती है:–**

जीवन को विभिन्न विभागों में विभक्त करके, किसी एक विशिष्ट भाग को अपनाकर केवल उसी भाग तक अपने कार्य को तुम्हें सीमित नहीं कर लेना चाहिए। एकांगी विचार बहुधा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होता है। अतः यदि तुम जीवन को राजनीति, शिक्षा, नैतिकता, भौतिक उन्नति, विज्ञान, कला, धर्म, रहस्यवाद, तथा संस्कृति इत्यादि खण्डों में विभक्त कर दोगे तथा अन्य भागों का बहिष्कार करके केवल किसी एक भाग का विचार करोगे तो जीवन समस्याओं का जो तुम सुलझाव पेश करोगे वह न तो सन्तोषजनक होगा और न अन्तिम होगा। किन्तु तुम यदि आध्यात्मिक उत्साह तथा ज्ञान जाग्रत करने में सफलता प्राप्त करोगे तो जीवन के इन विभिन्न भागों में स्वतः तथा सहज ही उन्नति होगी। आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें समस्त वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओं का सर्वांगीण तथा वास्तविक हल पेश करना होगा।

**(3) आध्यात्मिक उन्नति अन्दर से ज्ञान के सहज रूप में प्रस्फुटित होने में सन्निहित है :–**

आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि तुम जो आध्यात्मिक ज्ञान लोगों को देना चाहते हो वह पहले से ही सुप्त रूप से उनमें विद्यमान है और उस आध्यात्मिक ज्ञान का उद्‌घाटन करने में तुम्हें केवल निमित्त बनना है। आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ बाहर से संग्रह करने में सन्निहित नहीं है; अन्दर से विकसित होने के क्रम का नाम आध्यात्मिक उन्नति है। आत्म–ज्ञान प्राप्त

करने के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है। गुरु जो सहायता देता है उसका महत्व यह है कि वह लोगों के भीतर प्रसुप्त उनकी स्वयम् की सम्भावनाओं को जाग्रत करने में एक साधन बनता है।

**(4) प्रश्नो के उत्तर देने की अपेक्षा कुछ प्रश्न पूछना अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है :–**

आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें उस वास्तविक कार्य को नहीं भूल जाना चाहिए जो गुरु तुम्हारे द्वारा करना चाहता है। जब तुम स्पष्टतः यह समझ लेते हो कि आध्यात्मिक ज्ञान सभी मनुष्यों में प्रसुप्त है तो तुम्हें औरों को स्वनिर्धारित तथा स्वनिर्मित उत्तर एवम् सत्यभाव प्रदान करने की जल्दबाज़ी तथा फ़िक्र नहीं करनी चाहिए। अनेक अवसरों पर तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि तुम एक नई समस्या पेश कर दो अथवा जो समस्या उनके सामने उपस्थित हो उस समस्या को तुम स्पष्ट कर दो और इस प्रकार उन समस्याओं को स्वतंत्र रूप से हल करने के लिए तुम लोगों को स्वतंत्र छोड़ दो। तुम यदि लोगों को एक ऐसा प्रश्न पूछ दोगे जो प्रश्न किसी व्यावहारिक परिस्थिति में पड़ कर वे स्वयम् नहीं पूछते, तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जाएगा और कुछ लोगों से यदि तुम ऐसा प्रश्न पूछोगे जिसके उत्तर की वे खोज करने लगें तथा जिसे समझने के लिए वे उत्कण्ठित हो उठें और जिसके परिणाम–स्वरूप वे अपनी समस्याओं को ठीक ढ़ंग से हल करना आरम्भ करके कोई लाभदायक तथा रचनात्मक कार्य करने लग जायें तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायगा। लोगों में गम्भीर दृष्टिकोण उत्पन्न करना अथवा किसी लाभदायक विचार या कार्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर देना, अपनी विचार–धारा या अपनी बुद्धि का निर्णय उनमें ठूंसने या उन पर लादने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायक तथा हितकर है। स्वतंत्र रूप से स्वयम् उत्तर की खोज के लिए तुम जो प्रश्न पूछो वह केवल सैद्धान्तिक तथा अनावश्यक रूप से कठिन और जटिल न हो। यदि तुम्हारे प्रश्न सरल, सीधे, उपयोगी, तथा मौलिक होंगे तो ये प्रश्न स्वयम् उत्तर देंगे तथा मनुष्य अपनी समस्याएं स्वयम् हल कर लेगा। इस प्रकार उनकी सेवा करने का तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जाएगा क्योंकि तुम्हारी बुद्धिमत्ता – पूर्ण **मध्यस्थता** के बिना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अपनी अनेक समस्याओं को सुलझाने में वे समर्थ न हुए होते।

यह देखा गया है कि आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं को आवश्यक रूप से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; किन्तु कठिनाइयाँ इसलिए आती हैं कि इन पर विजय प्राप्त की जाय। कुछ कठिनाइयाँ अजेय–सी– दिखाई देती हैं किन्तु फलों और

परिणामों की चिन्ता किये बिना तुम्हें यथाशक्ति औरों की सहायता करनी चाहिए। एकान्त के अनन्त राज्य में, कठिनाइयाँ और उन पर विजय प्राप्त करना, सफलता तथा असफलता–इत्यादि केवल भ्रम हैं। यदि सर्वान्तःकरण से तुम अपना कार्य करते हो तो तुम्हारा कार्य स्वतः पूर्ण है ऐसा समझना चाहिये। मानवता को एकमात्र सत्य, ईश्वर का ज्ञान प्रदान करने के मेरे आध्यात्मिक कार्य में मेरी सहायता करने की तुम्हारी दृढ़ तथा अनन्य इच्छा है अतः आध्यात्मिक कार्य के लिए तुम्हें अनेक मौक़े मिलेंगे। आध्यात्मिक दिशा में कार्य करने के लिए विस्तृत क्षेत्र है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस कार्य के लिए तुम बिना हिचकिचाहट के अपना आत्म–समर्पण करोगे और इस कार्य को सफलता –पूर्वक तुम तभी कर सकोगे जब तुम निष्कपट भाव से उन आध्यात्मिक आदेशों का पालन करोगे जो तुम्हें अलग से दिये जायेंगे।

कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना।

सफलता या असफलता की ओर ध्यान दिये बिना तथा परिणामों के सम्बन्ध में चिन्ता किये बिना तुम्हें अपना कार्य दृढ़तापूर्वक करते जाना चाहिए; किन्तु यह निश्चय रखो कि ऐसे ज्ञान और ऐसी अनासक्ति के साथ जो कार्य किया जायेगा उसका परिणाम अवश्यम्भावी है। **आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के अविश्रान्त कार्यों के द्वारा मानवता अमर शान्ति, तथा विकासशील बौद्धिक ऐक्य, अजेय श्रद्धा तथा अक्षर आनन्द, अविनश्वर माधुर्य तथा निर्मल पवित्रता, विधायक प्रेम तथा अनन्त ज्ञान के नवीन जीवन में प्रवेश करेगी।**

आध्यात्मिक कार्य का परिणाम

# सत्य की अनन्तता

अनेक मनुष्यों की यह धारणा होती है कि आध्यात्मिक महत्ता का दावा करनेवाली वस्तु आवश्यक रूप से सांसारिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ी तथा बहुत विशाल होनी चाहिए। वे समझते हैं आध्यात्मिक महत्व रखनेवाले कार्य का कोई व्यापक बाह्य परिणाम होना चाहिए, या उस कार्य का जीवन के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र पर प्रभाव पड़ना ही चाहिए। ऐसे लोग किसी कार्य का मूल्य उस कार्य के फल और बाह्य परिणाम को देखकर निर्धारित करते हैं। **मनुष्य प्रायः स्थूल जगत की वस्तुओं में इतना मग्न हो गया रहता है, कि वह प्रत्येक कार्य को अचेतनतः स्थूल आकार, मात्रा, तथा स्थूल गुण के माप दण्ड से मापता है।** किसी कार्य का उस कार्य के बाह्य परिणाम के विस्तार से मूल्य निरूपण करने के कारण, वह आध्यात्मिक कार्य के महत्व को नहीं समझ पाता, तथा आध्यात्मिक कार्य का यथार्थ मूल्य निरूपण नहीं कर सकता।

**आध्यात्मिक मूल्य निरूपण में भूल की उत्पत्ति**

मनुष्य के मन पर गणितविषयक विचारों का प्रभुत्व हो जाता है और यही कारण है कि आध्यात्मिक कार्य के महत्व को समझने में उसके मन में बहुत सी उलझने पैदा हो जाती है। जो कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हैं वह प्रकार में उस वस्तु से भिन्न हैं जो गणित की दृष्टि से महान् हैं। स्थिर तथा एक ही समान मूल्य या महत्व रखनेवाली प्रत्येक इकाई एवम् घटक (unit) की अनन्त संख्या के संग्रह की कल्पना से, अनन्तता के गणनात्मक विचार की सृष्टि हो जाती है; किन्तु ऐसी गणनात्मक अनन्ता यथार्थ में कल्पना की पहुँच के बाहर की वस्तु है, क्योंकि ऐसी किसी भी संख्या की कल्पना करने पर भी, एक ऐसी संख्या की भी

**गणितात्मक अनन्ता**

कल्पना की जा सकती है, जो उस कल्पित संख्या से भी बड़ी होगी तथा **प्रत्येक इकाई एवम् घटक मिथ्या साबित होगी, यदि उसका पृथक तथा अन्य इकाईयों से अलग महत्व और अस्तित्व समझा जाएगा।** अनन्तता का गणनात्मक विचार भ्रांत अनुमानो की कल्पना का परिणाम सिद्ध होता है।

आध्यात्मिक अनन्तता मिथ्या के काल्पनिक योग का परिणाम नहीं है; वह स्वयम् वह सत्य है जो मिथ्या कल्पना के समाप्त होने पर अनुभूत होता है। सत्य की अनन्तता किसी योग से न तो वृद्धि को प्राप्त हो सकती है; और न किसी ऋण से ह्रास को प्राप्त हो सकती है। सच बात तो यह है कि उसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है और न उससे कुछ घटाया जा सकता है, क्योंकि वह सर्व व्यापक है, सब कुछ उसके अन्तर्गत है, उसके भीतर सब कुछ सम्मिलित है; उसके अतिरिक्त दूसरे के लिए कहीं जगह नहीं है; उसकी सत्ता में छोटा तथा बड़ा सब कुछ समाविष्ट है। वह न नापा जा सकता है, न तोला जा सकता है, और न उसके टुकड़े हो सकते हैं। वह स्वयम् सम्पूर्ण है।

**आध्यात्मिक अनन्तता।**

संसार में जो परिवर्तन होते हैं उसका सत्य की अनन्तता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसार में जो कुछ भी होता है वह केवल बाह्य और दृश्य है, अतः सत्य के दृष्टिकोण से वह शून्य के सदृश है। संसारी मनुष्य भूकम्प को अत्यन्त भयंकर तथा घातक विपत्ति समझता है क्योंकि भूकम्प से धन तथा जन का घोर संहार होता है। किन्तु ऐसी विपत्ति भी अनन्त सत्य को किसी प्रकार छू नहीं सकती। समस्त संसार का लोप हो जाने पर भी सत्य की अनन्तता को क्षति या हानि नहीं पहुँचती और वह किसी प्रकार भी सीमित नहीं होती। **अतः महान–सम्बन्धी सांसारिक मानदण्ड से अनन्तता की माप–तोल करना व्यर्थ है।**

अनेक साधकों की जो भ्रान्त धारणा होती है और जिस भ्रम से मुक्त होना उनके लिए कठिन होता है वह उनका यह विश्वास है कि अनन्त सत्य वह पदार्थ है जो किसी सुन्दर भविष्य में प्राप्त किया जाएगा और सारा जीवन इस प्राप्ति का केवल एक साधन है। किन्तु यदि सत्य सिर्फ भविष्य तक सीमित होता और भूतकाल तथा वर्तमान काल से उसका कोई सम्बन्ध न होता; तो वह अनन्त नहीं होता, वह समय में उत्पन्न होने वाली एक घटना होने के नाते सीमित हो जाता। **जीवन जो कुछ है तथा जो कुछ उसका अस्तित्व है, वह मौलिक महत्व से एकदम वंचित हो जाता है, यदि उसे किसी सुदूरवर्ती घटना की प्राप्ति का कोरा एक साधन मान लिया जाता है।** यह निःसंदेह एक ग़लत दृष्टिकोण है।

**आध्यात्मिक अनन्तता कोई भविष्य वर्ती लक्ष्य नहीं है।**

जीवन का यह अर्थ नहीं है कि किसी सुदूरवर्ती आगामी तिथि में आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त की जाय, किन्तु प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त करना ही असली जीवन है। **स्पष्ट तथा शान्त चित्त के ही द्वारा आध्यात्मिक अनन्तता का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है। आध्यात्मिक अनन्ता वह नहीं हैं, जो होने को हैं। आध्यात्मिक अनन्तता वह है, जो हो रही है, तथा जो रहेगी। असीम स्वयम् सम्पूर्णता थी, जब प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक महत्ता से सम्पन्न होता है, तो न तो मृत अतीत के प्रति कोई सम्बन्ध तथा आसक्ति रहती है, और न आगामी भविष्य के प्रति कोई आकाँक्षा और अपेक्षा, किन्तु कालातीत अनन्त वर्तमान में निरन्तर निवास।** अनन्त वर्तमान में सम्पूर्ण रूप से निरन्तर निवास करने पर ही सत्य की अनन्तता का जीवन में अनुभव किया जा सकता है।

**वर्तमान क्षण में अनन्तता का अनुभव**

वर्तमान को भविष्य का मुखापेक्षी बनाकर उसे महत्व शून्य बनाना ठीक नहीं है; इस मुखापेक्षिता का अर्थ यह होगा कि जो वस्तु है उसे सच्चे महत्व की अनुभूति तथा ज्ञान प्राप्त करने के बदले कल्पित भविष्य में ही समस्त महत्व का काल्पनिक संग्रह केन्द्रित करना। **अनन्तता में ज्वार तथा भाटा नहीं होता रहता। अनन्तता में दो घटनाओं के बीच कोई अर्थशून्य विश्राम नहीं होता। अनन्तता अस्तित्व की वह सम्पूर्णता है, या जिसका एक क्षण भी हीनता या अर्थशून्यता से पीड़ित नहीं होता।** जब जीवन रिक्त तथा सूना मालूम होता है, तो सत्य की अनन्तता में किसी अभाव या रिक्तता के कारण ऐसा मालूम नहीं होता, किन्तु अनन्तता के पूर्ण अधिकार में प्रवेश करने की अपनी असमर्थता के कारण ही ऐसा मालूम होता।

**अस्तित्व की सम्पूर्णता।**

जिस प्रकार किसी अपेक्षित भविष्य के लिए समस्त आध्यात्मिक महत्व संग्रहीत कर रखना ठीक नहीं है, उसी प्रकार खूब कोलाहल उत्पन्न करनेवाली घटना को ही समस्त आध्यात्मिक महत्व प्रदान करना भी उचित नहीं है। जीवन की बड़ी तथा महान् घटनाएं ही आध्यात्मिक महत्व से सम्पन्न नहीं है। आध्यात्मिक महत्ता से सम्पन्न होने के लिए किसी कार्य का असाधारण या **ख़ासतौर** से आकर्षक होना ज़रूरी नहीं है। असाधारण तथा आकर्षक का अस्तित्व साधारण तथा अनाकर्षक के सम्बन्ध से है, उनका स्वतन्त्र रूप से कोई आध्यात्मिक सौंदर्य नहीं है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से किसी कार्य के महान होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य बहुत बड़ा धन किसी लोकोपकार के कार्य के लिए देने के योग्य हो। एक गरीब आदमी ऐसा करने में समर्थ न होकर भी अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ देकर भी

**बड़ी तथा महान घटनाएं**

आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य करता है। **देन की मात्रा से देन की आध्यात्मिक महत्ता निश्चित नहीं होती; जिस भाव से देन दी जाती है, उस भाव से उस देन की आध्यात्मिक महत्ता निश्चित होती है।** वस्तुतः बड़ा भारी दान बहुधा अभिमान तथा स्वार्थ की भावना से दिया जाता है और ऐसा दान आध्यात्मिक महत्व खो बैठता है; तथा नम्रता और पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम से दी जाने वाली छोटीसी भेंट का अत्यन्त अधिक आध्यात्मिक महत्व हो उठता है।

**आध्यात्मिक अनन्तता के भीतर दीर्घ तथा लघु दोनो समाविष्ट है।**

आध्यात्मिक जीवन परिणामों और मात्राओं का विषय नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के मौलिक गुण का नाम है। आध्यात्मिक अनन्तता के अनन्त विस्तार में जीवन के समस्त क्षेत्र सम्मिलित हैं। बड़े कार्य तथा छोटे कार्य सभी कार्य उसके अन्तर्गत है। **आध्यात्मिक अनन्तता महानतम से भी लघुतर है; और वह बाहर से बड़े दिखने वाले कार्य में, तथा बाहर से छोटे दिखने वाले कार्य में, समानतः अभिव्यक्त हो सकती है।** सत्य की चेतना से निःसृत होने वाली मुस्कान या दृष्टिपात, का उतना ही आध्यात्मिक महत्व है जितना किसी कार्य के लिए प्राण त्यागना। **अनन्त के प्रकाश में जब सारा जीवन व्यतीत किया जाता है, तब उसमें अंश–भेद या श्रेणी–भेद के लिए स्थान नहीं रहता।** यदि केवल बड़ी घटनाओं से ही जीवन का निर्माण हुआ होता, तथा उसके क्षेत्र से समस्त छोटी घटनाएं निकाल बाहर कर दी जाती, तो ऐसा जीवन अनन्त तो कभी होता ही नहीं, बल्कि वह अत्यन्त दीन–दरिद्र जीवन होता। प्रत्येक वस्तु में व्याप्त तथा सुप्त अनन्त अपने को तभी व्यक्त कर सकता है, जब समस्त जीवन को समष्टि के दृष्टिकोण से देखा और स्वीकार किया जाय।

**अद्वैत की स्वतंत्रता तथा आनन्द**

अहंकार–केन्द्रित इच्छाओं तथा स्वार्थ के कारण बन्धन तथा ससीमता का अनुभव होता है। **सभी प्रकार की संग्राहक (Possessive) वृत्ति के कारण जीवन सीमाबद्ध हो जाता है।** उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रेम को लुब्ध–दृष्टि से देखता है, और वह प्रेम उसके बजाय किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त है, तो परिणाम यह होता है कि उस प्रेम को वह स्वयम् तो पा नहीं जाता, किन्तु स्वयम् उसके आत्मा का जीवन संकीर्ण हो जाता है, तथा उसकी ख़ुद की चेतना का मानो दम घुटता है, और उसे बद्धता की तीव्र वेदना का अनुभव होता है। इस प्रकार, दम घोटनेवाली ईर्ष्या का जन्म होता है। किन्तु **अगर यही प्रेम लालसा और लोभ से रिक्त हृदय द्वारा देखा जाता है, तो दूसरे को मिलने वाले प्रेम के स्वाभाविक सौन्दर्य का दर्शन होता है; तथा अधिकार वृत्ति के अभाव से चेतना की जो स्पष्टता तथा निर्मलता उत्पन्न होती**

**है, उनसे उसे अद्वैत की स्वतंत्रता का रसास्वाद प्राप्त होता है, तथा अद्वैत का आनन्द भी प्राप्त होता है।** दूसरे व्यक्ति का वह प्रेम प्राप्त करना अपने स्वयम् का वह प्रेम प्राप्त करना सा लगेगा। वह किसी एक रूपसे बंध नहीं रहता, किंतु समस्त रूपों से अभिव्यक्त होने वाले जीवन से उसका तादात्म्य हो जाता है।

**अद्वैत के द्वारा आध्यात्मिक अनन्तता प्राप्त करना।**

अद्वैत में समस्त सीमाओं से मुक्ति मिल जाती है। अद्वैत में प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता तथा उसकी यथार्थ स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। **अद्वैत में ही सच्ची आध्यात्मिक अनन्तता की अनुभूति होती है, जिससे स्थायी तथा अक्षर आनन्द प्राप्त होता है।** ईर्ष्या से जो ससीमता तथा बद्धता का अनुभव होता है, वैसी ही ससीमता तथा बद्धता का अनुभव क्रोध घृणा तथा तृष्णा से भी होता है। **समस्त सीमाबद्धता अहंकार तथा स्वार्थ से उत्पन्न होती है, तथा अहंकार और स्वार्थ के परित्याग, से जो वास्तव में है, उसके अनन्त महत्व का ज्ञान प्राप्त होता है।**

**सामाजिक समस्याओं के लिए आध्यात्मिक अनन्तता का अर्थ**

अद्वैत के दृष्टिकोण से सत्य की अनन्तता को ठीक से समझने पर मालूम होगा कि वह सामाजिक समस्याओं को समुचित रीति से सुलझा सकती है। द्वैत को एक अनिवार्य सत्य समझने वाले दृष्टिकोण के द्वारा सामाजिक समस्याएं कदापि नहीं सुलझायी जा सकतीं। संख्याओं को सिर्फ व्यवस्थित कर देने से फिर चाहे यह व्यवस्था कितनी ही निपुणता से क्यों न की जाय—व्यक्ति और समाज के बीच में कोई सही व्यवस्था की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी और न ऐसी व्यवस्था से समाज के अन्तर्गत मौजूद विभिन्न दलों के बीच कोई सच्ची एकता की स्थापना होगी।

**अल्प संख्या तथा बहुसंख्या**

यदि एक लघु अल्प संख्या के हितों को ध्यान में रखकर कोई सामान्य सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जायगी तो विशाल बहुसंख्या के हित की पूर्ति नहीं होगी तथा बहुसंख्या अल्प संख्या के प्रति अनिवार्य रूप से प्रतिद्वन्द्विता तथा शत्रुता का बर्ताव करेगी। इसके विपरीत जैसा कि प्रजातन्त्रवादी देशों में होता है, बहुसंख्या के हितों को ध्यान में, रखकर सामान्यतः सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाती है। किन्तु यह दृष्टिकोण अद्वैत की ही सीमा के अन्तर्गत रहता है—जहां बहुत का अस्तित्व रहता है, अतः अल्प संख्या के लोगों की समस्या नहीं सुलझती तथा उनका हित अपूर्ण रहता है। इस प्रकार अल्पसंख्यक लोग अनिवार्य रूप से बहुसंख्यक लोगों से बैर तथा विरोध करते हैं।

जब सामाजिक समस्या, संख्याओं तथा अनेकता के विचार से सुलझाई जायगी, तब तक स्थायी रूपसे वह नहीं सुलझेगी। सामाजिक समस्या का स्थायी हल तभी होगा

**अविभाज्य समष्टि**

जब अविभाज्य समष्टि (Indivisible Totality) तथा **समस्त की एकता के दृष्टिकोण से वह सुलझायी जाय। सबों में जो एक है उससे, अनेक को गुना करने से संपर्क स्थापित नहीं किया जा सकता – अनेक का मिथ्या विचार त्यागने से ही, उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। कोई भी संख्या, चाहे वह कितनी भी बड़ी संख्या क्यों न हो –सान्त होगी। आध्यात्मिक अनन्तता कोई संख्या नहीं है; वह एक मात्र तथा अद्वितीय सत्य है, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।**

**अनेक का संसार**

जहाँ अनेक हैं, वहाँ आवश्यक रूप से उनमें तुलना होगी, वहाँ अल्प संख्या तथा बहु संख्या होगी, उनमें दावे, अधिकार, हक तथा विशेष सुविधाओं के सवाल होगें, श्रेणीकरण तथा वर्गीकरण से एकता ही नष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्रेणी तथा वर्ग मिथ्या के भ्रम के रूप हैं। सत्य प्रत्येक व्यक्ति में स्पन्दित होता है। एकता की यह अनुभूति समानता के सिद्धान्त से भिन्न है। समानता के सिद्धान्त के अनुसार एक मनुष्य दावे, अधिकार, तथा महत्व में किसी दूसरे एक मनुष्य के समान है, किन्तु वह दावे, अधिकार तथा महत्व में दो मनुष्यों के समान कदापि नहीं हो सकता।

**प्रत्येक तथा सभी में रही एक**

इसके विपरीत आध्यात्मिक अनन्तता में इस असत्या–भास के लिए स्थान है कि एक मनुष्य समष्टि समझा जा सकता है। अतः एक व्यक्ति महत्व में दो या, दो से अधिक मनुष्यों के ही समान नहीं है किन्तु महत्व में सभी से समान है। **आध्यात्मिक अनन्तता में किसी भी प्रकार की तुलना के लिए स्थान नहीं है, लघुतर या दीर्घतर कुछ भी नहीं हैं; दावों, अधिकारों तथा हकों का छोटापन या बड़प्पन के लिए गुंजाइश नहीं है।** प्रत्येक में तथा सभी में एक के निर्विकार दर्शन के कारण, प्रत्येक तथा समस्त के महत्व में किसी भूल के लिए स्थान नहीं रहता क्योंकि सृष्टि में प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक अनन्तता के अन्तर्गत रहती है। यही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति ही अविभाज्य आध्यात्मिक अनन्तता होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति महत्व में सर्वप्रथम है तथा कोई भी द्वितीय नहीं है।

सामाजिक जीवन में सत्य की अनन्तता की स्वीकृति व्यक्तिवाद तथा समूहवाद दोनों के लिए एक चुनौती होगी। अविभाज्य समष्टिवाद के दृष्टिकोण से विचार करने की

एक नयी विचार पद्धति की उत्पत्ति होगी। **प्रत्येक वस्तु के मौलिक महत्व को स्वीकार करने के पक्ष में वह तुलनात्मक सापेक्ष महत्व को त्याग देगी।** सत्य की आध्यात्मिक अनन्तता के सच्चे विचार की नींव पर आश्रित सभ्यता में, बहुसंख्यक लोगों तथा अल्पसंख्यक लोगों की समस्या न रहेगी, प्रतिद्वन्द्विता तथा प्रतिस्पर्धा की समस्या न रहेगी। तुलनाओं तथा श्रेष्ठता हीनता का भेदभाव न रहेगा, जिससे अहंकार तथा अहन्मन्यता को आश्रय मिलता है। इस नवीन सभ्यता में जीवन अनन्त गुना सरल तथा सम्पूर्ण होगा क्योंकि वैषम्य, पार्थक्य भेद उत्पन्न रखनेवाले भ्रम इस जीवन में पहले ही समाप्त हो चुके होंगे।

**नवीन सभ्यता**

# आध्यात्मिक उन्नति की गतिप्रक्रिया

जब संसारासक्त मनुष्य के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन हो जाता है तभी उसकी आध्यात्मिक उन्नति शुरू होती है। संसारासक्त मनुष्य शरीर के लिए जीता है। उसके कुछ उद्योग ऐसे भी होते हें जिनका शरीर से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता किन्तु विश्लेषण करने पर ज्ञान होता है कि उसके ऐसे उद्योग भी शरीर से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं से प्रेरित होते हैं। जैसे वह खाने के लिए जीता है; वह जीवित रहने के लिए खाता नहीं है। शारीरिक भोग से भी उच्चतर जीवन है यह वह नहीं जानता; अतएव शरीरिक सुख तथा शरीरिक आमोद–प्रमोद ही उसके समस्त उद्योगों के लक्ष्य होते हैं। किन्तु जब उसे यह ज्ञात होता है, कि शरीर से भी सारवान वस्तु आत्मा है तब वह आत्मा को प्रधान तथा शरीर को गौण महत्व देने लगता है। अब वह शरीर को साधन मानता है, तथा उच्चतर जीवन की अनुभूति में उसे सहायक मानकर वह उसकी रक्षा करता है। **उसका जो शरीर अबतक सच्चे आध्यात्मिक जीवन का विघ्न था, वह अब उस जीवन की अभिव्यक्ति के लिए एक उपकरण बन जाता है,** अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का अनुभव करने के लिए वह शरीर पर संयम करता है। उसके दृष्टिकोण में जब यह परिवर्तन हो जाता है तब फिर उसके शरीर की बाधकता उत्तरोतर कम तथा उसकी सहायता उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। इस स्थिति में वह शरीर की आवश्यकताएं देहात्मभाव की आसक्ति–पूर्ण भावना से पूरी नहीं

**उच्चतर जीवन के लिए शरीर को वश में रखना।**

करता, किन्तु वह उसकी आवश्यकताओं को उसी भाव पूर्ण करता है, जिस भाव से ड्राइवर रेल्वे एन्जिन में पानी और कोयला भरता है, ताकि वह बराबर चलता रहे।

**लक्ष्य की खोज**

मनुष्य यह प्रश्न करता है, कि मानव–जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? **किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अज्ञात भाव से प्रेम तथा घृणा करता है ? किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह नाना सुखों और दःुखों का अनुभव करता है ?** जीवन के अन्तिम लक्ष्य की खोज के साथ ही साथ आध्यात्मिक उन्नति आरम्भ होती है। यद्यपि अपनी भवितव्यता के दुर्बोध्य तथा प्रबल आकर्षण से उसका जीवन आन्दोलित हो जाता है, और जीवन का अन्तिम लक्ष्य उसे अपनी ओर बलात् खींचता है, जिसके परिणामस्वरूप वह उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए खोज शुरू कर देता है, तथापि सत्यानुभूति के पर्वत के उच्चतम शिखर पर पहुँचने में उसे बड़ा लम्बा समय लग जाता है। उसे मानो पर्वत की खड़ी दीवार पर चढ़ना पड़ता है। पग–पग पर उसे गिरने और फिसलने का डर रहता है। सत्य के उत्तुंग शिखर तक पहुँचने का जो लोग प्रयत्न करते हैं उन्हें एक उंचाई के बाद दूसरी उँचाई पार करनी पड़ती है, उन्हें एक चढ़ाई लाँघ लेने पर दूसरी चढ़ाई लाँघनी पड़ती है। **काफ़ी बड़ी उँचाई पर चढ़ने में यदि कोई मनुष्य सफल हो भी जाता है, तो भी उसके गिरने का डर बना रहता है; एक ज़रा सी भूल उसने की, कि वह धड़ाम से नीचे गिर जाता है; और उसी स्थान से उसे फिर चढ़ना पड़ता है जिस स्थान से उसने पहले चढ़ना शुरू किया था।** अतः साधक तब तक सुरक्षित नहीं रहता, जब तक उसे गुरु का पथ–प्रदर्शन नहीं प्राप्त होता गुरु लक्ष्य स्थान को पहुँच चुका रहता है। पथ की विश्व बाधाओं, कंटक कठिनाइयों तथा शिलाचट्टानों का उसे पूरा ज्ञान रहता है, अतः वह साधक को गिरने–टकराने से बचा सकता है, तथा पथ के संकटों और कंटकों से उसकी रक्षा करता हुआ, वह उसे लक्ष्य–स्थान तक पहुँचा सकता है।

**उन्नति का अवरूद्ध होना।**

लक्ष्य स्थान को पहुँचने के लिए सन्नद्ध साधक अपने साथ पूर्व जन्म सन्चित संस्कार–राशि को लेकर चलता है। उसकी आध्यात्मिक आकाँक्षा की तीव्रता के कारण कुछ समय के लिए उसके संस्कारों का बल कम हो जाता है तथा उनका प्रभाव घट जाता है। किन्तु बारम्बार, जब–जब आध्यात्मिक प्रयत्न में शिथिलता आती है, तब तब ये संस्कार फिर प्रबल हो उठते हैं; कार्य में [illegible] परिणत होने वाले रूके हुए संस्कार पुनः उत्तेजित हो उठते हैं, **नवीन शक्ति लेकर वे फिर साधक के सम्मुख आ डटते हैं, और इस प्रकार उसकी आध्यात्मिक उन्नति अवरूद्ध हो जाती है।**

नदी के सादृश्य से यह बात स्पष्ट हो जायगी। नदी की प्रबल धारा अपने उद्‌गम–स्थान तथा तटों से ढेरों मिट्‌टी बहाकर लाती है। जब तक यह मिट्‌टी नदी की तेज धार में धुल गयी रहती है, तथा धार के साथ–साथ बहती रहती है तब तक वह नदी के प्रवाह में रुकावट पैदा नहीं करती, भले ही वह उसके वेग को धीमा कर दे। किन्तु ज्यों ही मैदान में या विशेषकर नदी के गिरने के स्थान के पास, उसकी धारा का वेग बहुत धीमा हो जाता है, त्यों ही मिट्‌टी का ढेर नीचे जमने लग जाता है। परिणामतः बड़े–बड़े द्वीप तथा डेल्टा बन जाते हैं। ये द्वीप तथा डेल्टा न केवल नदी की धारा को रोकते हैं किन्तु उसकी दिशा बदल देते हैं या उसे छोटी–छोटी अनेक धाराओं मे विभक्त कर देते हैं। इन द्वीपों या डेल्टाओं के कारण प्रबल नदी की पहले की शक्ति कमजोर हो जाती है। फिर जब नदी में बाढ़ आती है, तो वह वृक्षों, झाड़ियों, कूड़ा–कचरा, मैल–मिट्‌टी आदि को बहा ले जाती है; किन्तु ये पदार्थ ज्यों ही फिर जमा होते हैं, त्यों ही वे फ़िर नदी के प्रवाह को अवरूद्ध कर देते हैं। **ठीक इसी प्रकार, अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई रुकावटों के कारण आध्यात्मिक उन्नति का पथ बहुधा अवरूद्ध हो जाता है; और ये रुकावटें गुरु की सहायता से दूर की जा सकती हैं।**

**नदी का सादृश्य**

गुरु की सहायता अत्यन्त प्रभाव–पूर्ण तभी सिद्ध होती है जब साधक अपने अहंकारमय जीवन का परित्याग करके गुरु के अहंकार रहित अनन्त जीवन को अपने अन्दर प्रवाहित होने के लिए खुला मार्ग छोड़ देता है। पूर्ण शरणागति अत्यन्त कठिन कार्य है। तथापि आध्यात्मिक उन्नति की वह सबसे आवश्यक शर्त है। शरणागति के बिना अहंकारमय जीवन का नाश नहीं हो सकता, तथा अहंकार का अन्त हुए बिना अनन्तता की प्राप्ति नहीं हो सकती। बहुत ज्यादा कार्य आध्यात्मिक उन्नति का अभिप्राय नहीं है। आध्यात्मिक जीवन का अभिप्राय ऐसा जीवन व्यतीत करना है, जो अहंकारिक चेतना से सीमित न रहे। साधक में भले ही अनेक भव्य तथा महान कार्य करने की क्षमता हो, भले ही उसमें उच्च गुण तथा बड़ी–बड़ी योग्यताएं हों किन्तु यदि वह अपने कार्यों, गुणों तथा योग्यताओं से आसक्त है, यदि उसका 'मैं' का मोह दूर नहीं हुआ, तथा 'मेरा' की ममता नष्ट नहीं हुई है, तो उसका यह अहंकार अनन्त जीवन की प्राप्ति में एक भीषण बाधा है। यही कारण है कि अहंभाव प्रेरित लोकाचार, विधि–अनुष्ठान, पूजा–पाठ, दान–परोपकार तथा बाह्य त्याग और तपस्याएँ व्यर्थ है।

**अहंकार का नष्ट होना अत्यन्त जरूरी है।**

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि साधक 'मैं यह करता हूँ' तथा 'मैं वह करता हूँ' – ऐसे विचारों से बिलकुल मुक्त रहे। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार के अहंभाव के बढ़ने के डर से साधक समस्त कार्यों से ही अपने को अलग कर ले। पहले ही से बढ़े हुए अपने अहंकार को जीर्ण करने के लिए उसे कार्य करना ही पड़ेगा। **अब साधक इस दुविधा में फंस जाता है, कि यदि वह कोई कार्य नहीं करता, तो वह अहंकार की कारा से मुक्त होने के लिए कुछ भी यत्न नहीं करता; और यदि वह कार्य करता है, तो इस बात की सम्भावना रहती है, कि उसका अहंकार इन कार्यों पर आरुढ़ होना शुरू कर दे।**

**दुविधा**

आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधक को इन दोनो **अतिरेकों** से दूर रह कर भी, रचनात्मक कार्य का जीवन बिताना होगा। आध्यात्मिक पथ पर चलना, सजे हुए सन्नद्ध घोड़े पर चढ़ने के समान नहीं है, किन्तु तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। घोड़े की पीठ पर सवार होते ही, घुड़सवार काफी आराम पूर्वक उस पर बैठ जाता है। और आगे बढ़ने के लिए बहुत अधिक आयास ध्यान तथा सावधानी की प्रायः उसे **ज़रूरत** नहीं पड़ती। किन्तु आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए अत्यन्त आयास, अत्यन्त ध्यान तथा अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। आहंकारिक जीवन के विश्राम के लिए पथ पर कोई स्थान नहीं रहता तथा आहंकारिक जीवन के इस ओर या उस ओर विस्तृत होने के लिए पथ में कोई गुंजाइश नहीं रहती। **आध्यात्मिक पथ में जो प्रवेश करता है, वह जहाँ वह है, न ही रूका नही रह सकता, और न वह इस ओर अपना भार डाल सकता है, और न दूसरी ओर अपना भार डाल सकता है। उसे दोनो ओर से अपने आपको संभालकर रखना पड़ता है तथा पथ पर उसे आगे बढ़ते ही रहना पड़ता है।** साधक उस व्यक्ति के समान है, जो तलवार की पैनी धार पर चलने का यत्न करता है।

**साधना पथ पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान है।**

एक ओर निष्कर्मता से बचने तथा दूसरी ओर कर्म के अभिमान से बचने के लिए निम्नलिखित ढंग से साधक को एक ऐसा अस्थायी अहंभाव निर्मित करना पड़ता है जो पूर्णतः गुरु के अधीन रहे। कोई कार्य शुरू करने के पहले साधक सोचता है कि वह ख़ुद उस कार्य को नहीं कर रहा है किन्तु गुरु उसके द्वारा वह कार्य करवा रहा है; तथा कार्य कर चुकने पर कार्य के परिणामों पर अपना दावा करने या उनका उपभोग करने

**एक नवीन अहंभाव की सृष्टि जो गुरु के वश में रहता है।**

के लिए वह नहीं रूकता किन्तु उन्हें गुरु को अर्पित करके वह उनसे मुक्त हो जाता है। मन का इस प्रकार संयम करने से वह एक अस्थायी तथा काम–चलाऊ नया अहंभाव उत्पन्न करने में सफल होता है। इस नये अहंभाव से वह विश्वास, वह भावना, वह उत्साह तथा वह स्फूर्ति की प्राप्ति होती है जो सच्चे कार्य के द्वारा प्राप्त होनी ही चाहिए। आध्यात्मिक दृष्टि से यह नया अहंभाव हानि–रहित है क्योंकि इसकी उत्पत्ति अनन्तता का प्रतिनिधित्व करने वाले गुरु से होती है और यही कारण है कि समय आनेपर वह वस्त्र की भाँति उतार कर फेंका जा सकता है।

इस तरह अब अहंकार दो प्रकार का होता है एक वह जो आत्मा के बन्धनो को बढ़ाता है तथा दूसरा वह जो मुक्ति में सहायक होता है। यह सहायक अहंभाव संसारी मनुष्य को सीमित अहंवृत्ति तथा अनन्त जीवन की अहंकार–शून्यता के बीच का मार्ग है। गुरु के प्रति अनन्य निष्ठा से इस कृत्रिम तथा निर्दोष अहंभाव का जन्म होता है। **आध्यात्मिक उन्नति की प्रगति प्रक्रिया के लिए पूर्णतः गुरु की अधीनता में रहनेवाले इस अहंभाव की सृष्टि करना एक अनिवार्य आवश्यकता है।**

साधक अपने सीमित अहंकार से जीवन की सारी स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करने का आदी हो चुका रहता है, और आख़री अहंकार मूलक कार्य के जीवन से अहंकारशून्य कार्य के जीवन में उसका तुरन्त रूपान्तरित होना एकदम असम्भव तथा अरुचिजनक होता है। **सब प्रकार की अहंवृत्ति से तुरन्त छुटकारा प्राप्त करने के लिए साधक को निषेधात्मक निष्क्रियता की अवस्था का आश्रय लेना पड़ेगा। ऐसी निष्क्रियता की अवस्था में अभिव्यक्ति के आनन्द के लिए स्थान न रहेगा। अथवा, उसे निर्जीव यंत्र की तरह, कार्य करना होगा, जिसके करने से उसे तृप्ति का भाव प्राप्त नहीं होगा।** साधक के समक्ष वास्तविक समस्या यह रहती है कि सीमित अहंकार के जीवन का परित्याग करके वह, किसी आलस्य जन्य जड़ता या निष्क्रियता में प्रवेश किये बिना अहंकार शून्य जीवन की अनन्तता की प्राप्ति करे। वह ऐसी जड़ता का जीवन नहीं चाहता जहाँ जीवन की गति ही बन्द हो जाय। ऐसी जड़ता अहंकारमय जीवन की ससीमता से अस्थायी मुक्ति प्रदान कर सकती है, किन्तु वह अहंकारशून्य क्रिया शीलता की अनन्तता प्रदाय करने में असमर्थ सिद्ध होगी। आलस्य जन्य जड़ता से अहंकारमय जीवन का दम घुट सकता है किन्तु उसकी जान नहीं निकल सकती और न उसके द्वारा अहंकारशून्य जीवन की परिपूर्णता की प्राप्ति हो सकती है।

**अहंकार शून्य जीवन में एकदम प्रवेश करना असंभव है।**

यही कारण है कि अधिकांश साधकों की आध्यात्मिक उन्नति बहुत धीरे–धीरे होती है तथा लक्ष्य स्थान में पहुँचने के लिये कई जन्म लग जाते हैं। कुछ साधक असाधारणतः अत्यन्त शीघ्र उन्नति भी करते देखे जाते है। किन्तु वे या तो पूर्वजन्म में यथेष्ट उन्नति कर चुके साधक होते है या गुरु का विशेष अनुग्रह प्राप्त करने वाले साधक होते हैं। इन इने–गिने अपवादों को छोड़कर अन्य अधिकांश साधकों की उन्नति प्रायः धीरे–धीरे होती है। **अहंकार के सीमित जीवन तथा अहंकार शून्यता के अनन्त जीवन के बीच की दूरी धीरे–धीरे तय की जाती है। सीमित अहंकार क्रमक्रम से विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ, रूपान्तरित होता जाता है। इस प्रकार, अहंकार के स्थान में नम्रता आती है, उद्वेगपूर्ण इच्छाओं के स्थान में क्रम–क्रम से वृद्धि को प्राप्त होने वाला सन्तोष आता है, तथा स्वार्थ परता की जगह में क्रम–क्रम से निःस्वार्थ प्रेम आता है।**

**आध्यात्मिक उन्नति क्रमशः होती है**

गुरु के अधीन रहने वाले अहंकार का उत्पन्न होना अनिवार्य है; साथ ही अहंकार निर्दोष तथा हानि–रहित भी है। जब अहंकार पूर्णतः गुरु के वश में हो जाता है तभी साधक की प्रत्यक्ष रुप से आध्यात्मिक उन्नति होती है क्योंकि इस गुरु–वशता के कारण साधक गुरु के अधिकाधिक समीप आता है। गुरु–शरणागति, गुरु भक्ति तथा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा साधक गुरु की अनन्त सत्ता के समीप पहुँचता जाता है। गुरु को आत्म समर्पण करने के पश्चात् शिष्य निरन्तर गुरु का ध्यान करता रहता है तथा गुरु से निरन्तर सम्पर्क स्थापित करता रहता है। इस सम्पर्क स्थापना के कारण वह गुरु की विशेष सहायता का पात्र होता है। जो साधक अपने असंयत तथा पृथक अहंकार के जीवन का परित्याग कर देता है तथा गुरु को आत्म–समर्पण कर देता है वह गुरु आयत्त अपने अहंकार के द्वारा गुरु के हाथों में रहनेवाले एक साधन की भाँति कार्य करता है। वह स्वयं कार्य नहीं करता है। वस्तुतः उसके द्वारा उसका गुरु कार्य करता है। गुरु शरणागत साधक गुरु का उपकरण होता है। उपकरण से जब काम लिया जाता है तो उसके बिगड़ जाने की भी सम्भावना रहती है। इसी भाँति [illegible] साधक जब संसार में कार्य करता रहता है तो कभी–कभी उसके अव्यवस्थित हो जाने की सम्भावना रहती है। उपकरण को समय–समय पर धोने–पोछने, दुरुस्त करने, उसके कल–पुर्ज़ों को ठीक–ठीक करके उसे पुनः सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, **साधक अपने कार्यकाल में जो नये बन्धन उत्पन्न कर लेता है, तथा वैयक्तिक अहंकार के जो नये आश्रय बना लेता है,**

**जब अहंकार गुरु के अधीन कर दिया जाता है तब साधक गुरु की सहायता प्राप्त करता है।**

**उनको दूर करने तथा उखाड़ फेंकने के लिये, साधक को पुनः व्यवस्थित करना पड़ता है, ताकि वह अपनी आध्यात्मिक यात्रा में नये उत्साह तथा नयी गति से अग्रसर हो।**

गुरु की सेवा के लिये अपने आपको अर्पित करनेवाला साधक गुरु के हाथ की झाड़ू के समान है। अपने शिष्य–रूपी झाड़ू के द्वारा गुरु संसार की अशुद्धताओं तथा अपवित्रताओं को साफ करता है। संसार को झाड़तें–बुहारते समय झाड़ू में मैल लगना अवश्यम्भावी है। अतः यदि यह झाड़ू बार–बार पोंछा धोया तथा साफ न किया जाय तो वह थोड़े ही समय में ख़राब हो जायगी और उससे अच्छी तरह काम नहीं लिया जा सकेगा। प्रत्येक बार जब साधक गुरु के पास पहुँचता है तो वह अपने साथ नयी आध्यात्मिक समस्याओं का बोझ लेकर जाता है। सम्भव है उसने अर्थलिप्सा, सम्पत्ति–लोलुपता या अन्य आकर्षक सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा से सम्बन्ध रखनेवाले नये बन्धन अपने लिये उत्पन्न कर लिये हो और, यदि वह इनके लिये उद्योग करे तो, सम्भव है, वह इन्हें प्राप्त भी कर ले। किन्तु ऐसा करने से वह उस ईश्वरानुभूति के लक्ष्य से दूर हो जाएगा। जिसे प्राप्त करने की उसकी हार्दिक लगन थी। साधक के ऐसे संकट काल में गुरु मध्यस्थ होता है। गुरु के सक्रिय उपचार के ही द्वारा शिष्य के आध्यात्मिक रोग दूर होते हैं। **आध्यात्मिक आधि–व्याधि का गुरु के द्वारा दूर किया जाना सर्जन के द्वारा ऑपरेशन किये जाने के तुल्य है।** गुरु आध्यात्मिक रोग के मूल कारण की चिकित्सा करता है, और इस प्रकार साधक को चंगा करता है। पुनः आरोग्य लाभ करने पर साधक की आध्यात्मिक प्राण शक्ति स्वस्थ हो जाती है। यदि कोई मनुष्य शारीरिक रोग या बीमारी का शिकार हो तो उसे डॉक्टर या सर्जन के पास जाना चाहिए, और यदि वह आध्यात्मिक रोग से पीड़ित हो तो उसे गुरु के पास जाना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति के समस्त क्रम काल में बार–बार गुरु का सम्पर्क प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

**गुरु से रह–रह कर सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता**

अपने अजेय तरीक़ों से गुरु साधक की सहायता करता है। गुरु जिन रीतियों से साधक की मदद करता है, उनकी उपमा सांसारिक रीतियों से नहीं दी जा सकती, न सांसारिक रीतियों से उनकी तुलना की जा सकती है। किन्तु यदि साधक उनकी सहायता का पात्र बनना चाहता हो तो गुरु की दिव्य इच्छा के सम्मुख अपना आत्म–समर्पण करने का उसे सच्चा प्रयत्न करना चाहिए। साधक प्रथम आत्मसमर्पण के द्वारा जिस वैयक्तिक अहंकार का त्याग करता है वह उसके पूर्णतः गुरु–वशीभूत

कृत्रिम अहंकार की सीमा के भीतर पुनः नये रूप में प्रकट हो सकता है और गुरु वशीभूत अहंकार की सुचारू क्रिया को अव्यवस्थित कर सकता है। त्यक्त वैयक्तिक अहंकार के, इस प्रकार, पुनः जी उठने पर उसका प्रतिकार करने के लिए गुरु के प्रति पुनः नवीन आत्मसमर्पण करना आवश्यक हो जाता है। जितनी बार वैयक्तिक अहंकार जी उठे उतनी बार नवीन आत्म–समर्पण के द्वारा उसका प्रतिकार करना चाहिए।

**जितने बार वैयक्तिक अहंकार जी उठे उतने बार गुरु को नवीन आत्मसमर्पण किया जाना चाहिये।**

एक आत्म समर्पण एवम् शरणागति के बाद द्वितीय आत्मसमर्पण एवम् शरणागति का अवस्थान्तर लघु विजय से महान विजय प्राप्त करने की ओर अग्रसर होना है। आत्म–समर्पण के अधिकाधिक पूर्ण रूप, चेतना की अधिकाधिक उच्च अवस्था के द्योतक है। आत्म–समर्पण जितना ही अधिक पूर्ण होगा उतना ही अधिक गुरु तथा साधक के बीच संवादिता (Harmony) स्थापित होगी, और गुरु का अनन्त जीवन उतने ही अधिक प्रचुर परिणाम में शिष्य के द्वारा प्रवाहित होगा। **आध्यात्मिक उन्नति क्रम–क्रम से किये जाने वाले अधिकाधिक पूर्ण शरणागति रूप आत्मसमर्पण की एक कथा है। यह कथा तब समाप्त होती है, जब अन्त में पृथक अहंकार का जीवन पूर्णतः समर्पित कर दिया जाता है।** अन्तिम आत्म–समर्पण ही केवल पूर्ण आत्म–समर्पण है। वह अन्तिम एकता की प्राप्ति है। इस एकता के परिणाम स्वरूप साधक गुरु से युक्त हो जाता है। अतएव, **गुरु को अत्यन्त पूर्ण आत्म–समर्पण करने का अर्थ है, आध्यात्मिक उन्नति के परम लक्ष्य की प्राप्ति या चरम सत्य की अनुभूति।**

**अन्तिम आत्मसमर्पण पृथकता का समर्पण है**

# अच्छा बुरा

मनुष्य का मन सिर्फ़ अनुभव ही प्राप्त नहीं करता जाता है किन्तु लगातार उन अनुभवों का मूल्य भी आँकता जाता है। कुछ अनुभवों को वह प्रिय तथा कुछ को अप्रिय, कुछ अनुभवों को उपादेय तथा कुछ को हेय, कुछ अनुभवों को सुखद तथा कुछ अनुभवों को दुःखद समझता तथा पाता है। कुछ अनुभवों को वह मानव जीवन को संकीर्ण करने वाले अनुभव समझता है। तथा कुछ अनुभवों को वह मानव जीवन की पूर्णता तथा स्वतन्त्रता लाने वाले अनुभव समझता है, कुछ अनुभवों को वह अच्छा तथा कुछ अनुभवों को बुरा समझता है। जब मनुष्य किसी दृष्टिकोण से जीवन का अनुभव करता है, तब उसकी कल्पना इन द्वन्द्वों का सृजन कर लेती है।

**द्वन्द्वों के द्वारा अनुभवों का मूल्यमापन**

किसी ख़ास समय में मनुष्य के मन में जिन इच्छाओं की प्रधानता रहती है उन इच्छाओं के गुणधर्म के अनुसार मनुष्य की स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य से बँधी धारणा निश्चित होती है। उनकी इच्छाओं के गुणधर्म में जैसा परिवर्तन होता है, उसी के अनुसार उसका स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य सम्बन्धी दृष्टिकोण भी बदल जाता है। जब तक मनुष्य के मन में किसी न किसी प्रकार की इच्छा रहेगी तब तक उस इच्छा के सम्बन्ध में ही वह अपने अनुभवों का मूल्य निरूपण करने के लिये प्रेरित होगा। अपनी इच्छा के दृष्टिकोण से वह अपने अनुभवों को दो भागों में विभक्त करेगा– एक भाग वह होगा जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति में सहायक होगा अतः वह भाग स्वीकार

**किसी इच्छा के सम्बन्ध मे ही स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य उत्पन्न होते हैं।**

करने योग्य होगा तथा दूसरा भाग वह होगा जो उसकी इच्छाओं की तृप्ति में बाधक सिद्ध होता अतः वह भाग अस्वीकार्य होगा। **जीवन की समस्त वस्तुओं को बिना किसी इच्छा अपेक्षा आशा– आसक्ति तथा राग–द्वेष को ग्रहण करने के बजाय, मनुष्य का मन एक ऐसा मानदण्ड तैयार करता है, जिसके द्वारा वह जीवन को द्वन्द्व में विभक्त कर देता है, द्वन्द्व का एक भाग स्वीकार्य होता है, तथा दूसरा भाग अस्वीकार्य।**

मनुष्य के मन ने जिन द्वन्द्वों की रचना की है;' उनमे, 'अच्छा', और 'बुरा' के बीच विभाजन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह विभाजन समस्त इच्छाओं के बन्धन से मुक्त होने की मनुष्य की आकाँक्षा पर आश्रित है। वे अनुभव और वे कार्य जो इच्छा के बन्धनों की वृद्धि करते है बुरे है; तथा वे अनुभव और वे कार्य जो मन को सीमित करनेवाली इच्छाओं से मुक्त करते है, अच्छे हैं। किन्तु **अच्छे अनुभवों और कार्यो का भी अस्तित्व किसी इच्छा के ही सम्बन्ध में होता है, वे भी उसी प्रकार बाँधते है, जिस प्रकार बुरे अनुभव तथा कार्य बाँधते है।** समस्त बन्धन तभी दूर हो सकते हैं, जब सारी इच्छाएँ दूर हो जायें, अतएव सच्ची स्वतन्त्रता तभी आती है, जब अच्छे ओर बुरे के बीच समानता उत्पन्न होती है तथा जब अच्छे ओर बुरे एक दूसरे में इतने विलीन हो जाते हैं, कि सीमित इच्छा को दोनो के बीच में चुनाव करने के लिये स्थान नहीं रह जाता।

**अच्छा भी किसी इच्छा के ही सम्बन्ध में होता है।**

जब मानवीय चेतना पूर्णतः विकसित हो जाती है तो उसमें पूर्व से ही बुरे तत्वों की अधिकता पायी जाती हैं, क्योंकि विकास की उपमानवीय अवस्थाओं में चेतना मुख्यतः काम, क्रोध, लोभ, जैसी संकीर्ण प्रवृत्तियों के नीचे काम करती रही हैं। ऐसी अहंकार–मूलक प्रवृत्तियों के द्वारा जो अनुभव तथा कार्य उत्पन्न और वर्धित हुए वे विकसित होते रहने वाले मन पर अपनी छाप या चिन्ह छोड़ते गये। विकसित होने वाला मन इन चिन्हों को उसी प्रकार संचित करता गया जिस प्रकार सिनेमा की फिल्म अभिनेताओं के अभिनय को अंकित करती जाती है। अतएव बुरा होना सहज है तथा अच्छा होना कठिन है। पाश्विक जीवन से मानवीय चेतना विकसित हुई है, अतः मनुष्य के आरम्भिक जीवन में पशु जीवन से प्राप्त संस्कार, जैसे पाश्विक वासना, पाश्विक लिप्सा तथा पाश्विक क्रोध की अधिकता पायी जाती है, यद्यपि पशुओं में कई बार आत्म–बलिदान, प्रेम तथा धैर्य के गुणों का विकास देखा जाता है। यदि

**पाशविक संस्कारों को लेकर मनुष्य जीवन शुरु करता है, जो अधिकांशतः बुरे होते हैं**

समस्त संचित पाश्विक संस्कार बुरे होते, तथा उनमें अच्छा संस्कार एक भी न होता तो मनुष्यों की चेतना में अच्छी प्रवृत्तियों का प्रकट होना असम्भव हो गया होता।

यद्यपि पाश्विक संस्कारों में से कुछ संस्कार अच्छे हैं तथापि उनमें से अधिकाँश संस्कार बुरे हैं। अतएव आरम्भिक अवस्था में मानवीय चेतना अधिकाँशतः बुरे संस्कारों की प्रेरक शक्ति के अधीन रहती है। **मानवीय विकास की बिल्कुल आदि अवस्था से ही, मनुष्य की मुक्ति की समस्या, अच्छे संस्कारों को विकसित तथा वर्धित करने की समस्या रही है, ताकि वे संचित संस्कारो पर अतिव्याप्त होकर, उनका लोप करने में समर्थ हो।** पाश्विक जीवन में जिन संस्कारों की जो प्रधानता रहती है उन संस्कारों के विरूद्ध अनुभवों और कार्यों को करने से अच्छे संस्कारों की वृद्धि होती है। काम का विरोधी प्रेम है, लोभ का विरोधी औदार्य है, क्रोध का विरोधी धैर्य का सहिष्णुता है। प्रेम, औदार्य तथा सहिष्णुता का आचरण करने से मनुष्य लोभ तथा क्रोध को नष्ट कर सकता है।

**अच्छे संस्कारों की वृद्धि करने की आवश्यकता।**

संस्कारों की दासता मुक्ति से होने का सामान्यक्रम है, बुरे को त्याग कर अच्छे को ग्रहण करना। किन्तु किसी समय में किसी मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, उसके संस्कारों की कठोर संचालकता पर निर्भर रहता है। अपने संस्कारों से प्रेरित होकर, जिस प्रकार एक मनुष्य अच्छे कार्य करता है, उसी प्रकार अपने संस्कारों के ही वशीभूत होकर, दूसरा मनुष्य बुरे कार्य करता है। अच्छे और बुरे मनुष्य दोनो अपने–अपने संस्कारों के वशवर्ती होते है। इस दृष्टिकोण से, संसार में काम करने वाले नियमों के अनुसार ही कोई पापी होता है, तथा कोई पुण्यात्मा होता है। पापी और पुण्यात्मा दोनो के आदि अन्त में कोई अन्तर नहीं है अर्थात दोनो परमेश्वर के ही रूप हैं। **पापी को अनन्त अधमता तथा अधःपतन का लाँछन अनुभव नहीं करना चाहिए तथा पुण्यात्मा को अपनी नैतिक विजयों का अभिमान नहीं करना चाहिए।** कोई भी मनुष्य वह चाहे कितना भी बड़ा सदाचारी क्यों न हो, नैतिक भूलों और असफलताओं के पश्चात् ही नैतिक सद्गुणों की ऊँचाई पर आरूढ़ होता है; तथा कोई भी मनुष्य इतना बुरा नहीं है कि वह उन्नति करके अच्छा नहीं बन सकता। सबसे अधिक भ्रष्ट मनुष्य भी धीरे–धीरे उन्नति करता हुआ समस्त मानव–समाज के लिये एक अनुकरणीय उदाहरण बन सकता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये सदैव आशा का स्थान है। **कोई भी मनुष्य पूर्णतः पतित नहीं हैं; और उसे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यह बात सच है, कि**

**पापी और पुण्यात्मा**

## बुराई को त्यागने तथा अच्छाई को ग्रहण करने के ही द्वारा दिव्यता की प्राप्ति सम्भव है।

जब सद्गुणों का क्रम–क्रम से विकास होता जाता है, तब प्रेम, उदारता तथा शान्ति का अविर्भाव होता जाता है, तथा इन गुणों के प्रकट होने से मन पर जो संस्कार संचित होते हैं, उनकी अधिकता, वासना, लोभ तथा क्रोध के संस्कारों को समभार करती है। जब अच्छे संस्कार उतनी ही मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं, जितनी मात्रा में बुरे, संस्कार पूर्णतः तुल्यबल या समभार हो जाते हैं। अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच में पूर्ण समभारता की उत्पत्ति होते ही, दोनो प्रकार के संस्कारों का अन्त हो जाता है, तथा चेतना बन्धन की अवस्था स्वतन्त्रता की अवस्था को प्राप्त होती है। हिसाब को समाप्त करने के लिये, जमा तथा ख़र्च का बराबर होना जरूरी है। किन्तु अधिकांशतः या तो जमा का खाता ख़र्च के खाते से ज्यादा होता है या ख़र्च का खाता जमा के खाते से अधिक होता है और इस प्रकार हिसाब जारी रहता है। यह बात ध्यान रखने योग्य है, कि हिसाब तब तक चालू रहता है, जब तक या तो जमा का खाता ज्यादा रहता है, या ख़र्च का खाता। हिसाब तभी बन्द किया जा सकता है जब जमा और खर्च दोनो बिल्कुल बराबर हों। किन्तु संस्कारों के क्षेत्र में, अच्छे और बुरे संस्कार के बराबर–बराबर होने के उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं। किसी ख़ास समय में या तो बुरे संस्कारों का ज़ोर रहता है, या तो भले संस्कारों का ज़ोर रहता है। और जिस प्रकार या तो जमा के अधिक रहने से हिसाब चालू रखा जा सकता है, अथवा खर्च के अधिक होने से हिसाब चालू रखा जा सकता है, इसी प्रकार सीमित अहंकार या तो बुरे संस्कारों के बाहुल्य से जीवित तथा पोषित होता है, अथवा अच्छे संस्कारों के प्राचुर्य से जीवित तथा पोषित होता है। जिस प्रकार बुरे संस्कारों का आधार पाकर सीमित जीवभाव संस्कार जीता है, उसी प्रकार अच्छे संस्कारों का आश्रय पाकर भी वह जी सकता है। सीमित जीवभाव के पूर्ण नाश के लिये अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच पूर्ण परस्परानुव्याप्ति (Overlapping) तथा भारतुल्यता (Balancing) का होना अत्यन्त आवश्यक है।

**सीमित अहंकार अच्छे और बुरे दोनो संस्कारों में निवास कर सकता है।**

अच्छे तथा बुरे संस्कारों के बीच तुल्यबलता तथा समभारता स्थापित करने की समस्या नाप–तोल कर दो समान परिणामों को दोनो ओर रखने या गिनकर दो समान संख्याओं को दोनो ओर रखने जैसी कोई सरल समस्या नहीं है। यदि दो समान परिणामों या दो समान संख्याओं का ही सीधा सा प्रश्न होता तो लगातार अच्छे संस्कारों का संग्रह करने से ही प्रश्न हल हो जाता। यदि बुरे संस्कारों का संग्रह

एकदम बन्द हो जाय बिल्कुल कम पड़ता जाय और यदि साथ ही साथ अत्यन्त द्रुतगति से अच्छे संस्कारों का संग्रह अविश्रांत रूप से बढ़ता चला जाय तो पूर्व संचित संस्कारों के परिणाम से नव–संचित अच्छे संस्कारों का परिणाम बराबर हो जाय; और इस प्रकार बुरे तथा अच्छे संस्कारों के बीच आवश्यक समीकरण तथा समभारता (Balancing) स्थापित हो जाय। किन्तु चेतना की मुक्ति के लिये अच्छे और बुरे संस्कारों को बल में ही बराबर हो जाने से काम नहीं चलेगा। **चेतना की मुक्ति तभी होगी, जब बिन्दु बिन्दु पर (Point-to-Point) दोनों परस्पर विरूद्ध द्वन्द्व समभार होंगे।** अतः चेतना के प्रत्येक केन्द्र के सम्मुख उपस्थित रहनेवाली समस्या संचित सस्कारों के गुणभेद के अनुसार भिन्न–भिन्न रहने वाली एक विशिष्ट समस्या है।

**अच्छे और बुरे संस्कारों का तुल्यबल तथा समभार होना।**

उपस्थित संस्कारों की विशिष्ट गुण विषयक रचना विधि पर ध्यान दिये बिना ही, यदि अच्छे संस्कारों का संग्रह जारी रखा जायेगा तो किसी दिशा में अच्छे संस्कारों की आवश्यकता से अधिक संग्रह हो जाने की सम्भावना रहेगी तथा साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के बुरे संस्कार पहले से ही बने रहेंगे। उदाहरणार्थ आत्मोत्पीड़न (Selfmortifation) तथा कई प्रकार की कठोर तत्पश्चर्या के द्वारा, कुछ आसक्तियों का लोप किया जा सकता है; किन्तु इन अभ्यासों से कुछ अन्य प्रकार आसक्तियाँ दूर न होंगी और वे ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। साधक इन अछूती बची हुई समस्याओं की **परवाह** न करके तथा उनकी ओर दुर्लक्ष्य करता हुआ अपने किये गये अभ्यासों से उत्पन्न संस्कारों से ही प्रेरित होकर आत्मोत्पीड़न तथा कठोर तपश्चर्या के अभ्यास को जारी रखेगा। यह एक ऐसा उदाहरण है कि ज़रा सीमित अहंकार का नाश हुए बिना अच्छे संस्कारों का अतिरेक बढ़ता चला जायगा और आगे चलकर ज्यों की त्यों बनी रहनेवाली आसक्तियों के नष्ट हो जाने पर भी, अहंकार इन नये कार्यो में स्थित्यंतरित हो जायगा और उन्हीं की सहायता से जीवित रहेगा।

**अहंकार का सद्‌गुण में अवस्थान्तरित होना।**

मुक्ति, कोरा सद्‌गुणों का संग्रह करने का विषय नहीं है। संस्कारों को विवेकपूर्वक व्यवस्थित करने से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। चेतना का प्रत्येक केन्द्र अज्ञानता मुक्ति या सत्यानुभूति की ओर आकृष्ट हो रहा है; तथा मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह उसी द्वन्द्व को अपनी ओर आकर्षित करता है, जिसकी उसे विशेष परिस्थिति में आवश्यकता रहती है। किन्तु वह स्वतः सिद्ध होने वाली कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है

**संस्कारों को विवेकपूर्वक व्यवस्थित करने की आवश्यकता।**

जिसे भाग्य के भरोसे छोड़ देने से काम चल सकता हो। आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक संस्कार को प्राप्त करने के लिये साधक को ठीक तथा विवेकयुक्त चेष्टा करनी पड़ेगी। अधिकतर साधक के लिये यह समझना असम्भव हो जाता है कि उसके लिए किसी विशेष परिस्थिति की और विशेष संस्कारों की आवश्यकता है। गुरु के बिना साधक प्रायः अपनी आध्यात्मिक आवश्यकता को भलीभाँति नहीं समझ सकता है। गुरु को इस बात का यथार्थ तथा प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है कि किस साधक के लिए विशेषतः क्या आवश्यक है।

सद्‌गुण की धारा।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है, कि सीमित अहंकार को जीवित रखने के लिए अच्छे संस्कार भी सहायक हो सकते हैं। **जब मनुष्य समझता है कि वह बुरा नहीं है। वरन् अच्छा है, तो वह बुरा होने के भाव से युक्त न होकर, अच्छा होने के भाव से युक्त हो जाता है, और वह एक नये रूप में अपनी पृथक सत्ता को बनाए रखता है, और द्वंद्व के द्वारा ही अहंप्रतिष्ठापन (Selfafirmation) करता है।** अंहकार सद्‌गुण का यह जो घर बना लेता है उसे नष्ट करना कुछ मनुष्यों के लिए अधिक कठिन कार्य सिद्ध होता है। अच्छे होने के भाव से तादात्म्य अनुभव करना बहुधा बुरे होने के भाव से तादात्म्य अनुभव करने की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण होता है। दुर्गण से तादात्म्य–भाव को दूर करना ज़्यादा आसान होता है, क्योंकि बुरा कार्य करने वाले को ज्यों ही मालूम हो जाता है, कि उसका कार्य बुरा है, त्यों ही उसकी चेतना पर बुराई का प्रभाव कम हो जाता है। किन्तु चेतना पर सद्‌गुण का प्रभाव दृढ़ होता है, और अच्छाई के अहंकार को उखाड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि अच्छा मनुष्य बुरे मनुष्य से अपना वैषम्य अनुभव करता है। तथा उसमें आत्म–औचित्य की भावना एवम् अच्छा होने का गर्व बढ़ जाता है। तथापि समय बीतने पर मनुष्य सद्‌गुण का गर्व करते–करते थक जाता है और अच्छे होने के अभिमान की कारा से ऊब जाता है। यह ज्ञान उत्पन्न होने पर अच्छे और बुरे के द्वैत का अतिक्रमण करके वह अपनी पृथक् सत्ता का परित्याग कर देता है।

दुर्गुण के प्रति तादात्म्य भाव का परित्याग करके अहंकार सद्‌गुण के प्रति–तादात्म्य–भाव अनुभव करता है सद्‌गुण के प्रति तादात्म्य–भाव का अनुभव करने से उसे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार का अनुभव होता है किन्तु शीघ्र या पश्चात् साधक को सद्‌गुण का गर्व भी नवीन बन्धन मालूम होता है; और उसे ज्ञात होता है कि दुर्गण के बन्धनों का छिन्न करना जितना कठिन था, उतना कठिन सद्‌गुण के बन्धनों को

छिन्न करना नहीं हैं। **बुराई के बन्धन से मुक्त होने में यह कठिनाई रहती है कि बुराई बन्धन है, उस बन्धन को छिन्न करना एक कठिन कार्य होता है, तथा अच्छाई के बन्धन से मुक्त होने में यह कठिनाई रहती है कि यह मालूम करना ही एक अत्यन्त कठिन कार्य होता है, कि अच्छाई बन्धन है, यद्यपि उस बन्धन को छिन्न करना उतना कठिन नहीं होता।** बुराई के बन्धन को छिन्न करना कठिन इसलिए होता है कि बुरे संस्कारों का संचय पाश्विक अवस्था में होता चला आता है, अतः अत्यन्त प्राचीन काल से सन्चित होते रहने के कारण उसकी जड़ अत्याधिक दृढ़ होती है। किन्तु यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि सद्‌गुण उतना ही बाँधता है जिना दुर्गुण बाँधता है यद्यपि यह मालूम हो जाने पर कि सद्‌गुण भी बन्धन है, उसे छिन्न करना उतना कठिन नहीं होता।

सद्‌गुण तथा दुर्गुण की तुलना।

अहंकार या तो बुरे संस्कारों के सहारे जीता है या अच्छे संस्कारों के सहारे या तो फिर वह अच्छे तथा बुरे संस्कारों के सम्मिश्रण के सहारे जीता है। अतएव समस्त संस्कारों से चेतना की मुक्ति या तो तब हो सकती है जब, अच्छे संस्कार अतिव्याप्त हो जायें और अतिव्याप्त होकर बुरे संस्कारों से समभार हो जायें, या कुछ बुरे संस्कार अतिव्याप्त होकर, अच्छे संस्कारों से समभार हो जायें। यदि एक चीनी का बर्तन गन्दा हो जाय तो साबुन लगाकर तथा फिर उसे पानी से धोकर आप उसे साफ कर सकते हैं। यह अच्छे संस्कारों पर अतिव्याप्ति होने के समान है। किन्तु यदि बर्तन तेल से भर जाय तो तेल को साफ करने का एक तरीक़ा है, राख से बर्तन को माँजना फिर उसे पानी में धोना। राख संसार में सबसे अधिक चरबी रहित पदार्थ है अतः राख तेल का विरोधी है। यही कारण है कि तेल लगे हुए बर्तन पर राख लगाने से वह साफ हो जाता है। यह अच्छे संस्कारों पर बुरे संस्कारों की अतिव्याप्ति होने के समान है।

**अच्छे तथा बुरे संस्कारों की समव्याप्तता के लिये।**

जब अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच पूर्ण रूप से समव्याप्तता तथा समभारता की स्थापना हो जाती है तो दोनो का लोप हो जाता है। परिणामतः चित्त की एक ऐसी स्वच्छ अवस्था रह जाती है जिस पर कुछ भी नहीं लिखा रहता, तथा जो सत्य को ज्यों की त्यों प्रतिबिम्बित करती है। संस्कार मनपर संचित है, न कि आत्मा पर। आत्मा सदैव नित्यशुद्ध रहती है, किन्तु जब मन एक स्वच्छ आईना बन जाता है, तभी वह सत्य को प्रतिबिम्बित कर सकता है। जब सद्‌गुण तथा दुर्गुण दोनो के संस्कारों का विलोप हो जाता है, तब मन आत्मा को देखता है। यह आत्मदर्शन है। मन का आत्मा

को देखना तथा आत्मा का आत्मा को जानना दोनो भिन्न हैं, क्योंकि आत्मा मन नहीं है किन्तु ईश्वर है, जो मन से परे है। अतएव, **मन जब आत्मा को देख लेता है, तो फिर उसे आत्मदर्शन के पश्चात् आत्मा में मग्न हो जाना पड़ता है। तभी आत्मा को परमात्मा का ज्ञान होता है। यह सत्यानुभूति या आत्म–ज्ञान, परामात्मावस्था है। इस अवस्था में स्वयम् मन अपने अच्छे और बुरे संस्कारों के सहित विलुप्त हो जाता है।** यह मन से परे की अवस्था है, अतः यह अच्छे और बुरे के भेद–भाव से परे की अवस्था है। इस अवस्था के दृष्टिकोण से एक ही अविभाज्य सत्ता का अस्तित्व रह जाता है। इस अवस्था के लक्षण हैं प्रेम, शान्ति, आनन्द तथा ज्ञान। **इस अवस्था में अच्छे और बुरे के बीच चलने वाले निरन्तर संग्राम का अन्त हो जाता है। क्योंकि इस अवस्था में न तो सद्‌गुण रह जाता है, और न दुर्गुण। यह तो ब्रह्म की निर्गुण अवस्था है, जो अखण्ड तथा सर्व–समावेशक (Inclusive) है।**

**ईश्वरानुभूति की अवस्था समस्त संस्कारों से मुक्त है तथा सद्‌गुण और दुर्गुण दोनो से परे है।**

# साधना के गम्भीर स्तर

## धार्मिक क्रियाकलाप की भूमिका से ऊपर उठकर साधना के गम्भीर स्तरों में प्रवेश :–

अधिकांश लोगों के लिये आध्यात्मिक साधना का स्वरूप अपने–अपने धर्मों द्वारा निर्दिष्ट क्रिया कलाप का बाह्य अनुष्ठान होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस अनुष्ठान का भी एक महत्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रह में सहायता मिलती है; परन्तु अन्ततोगत्वा साधकों को बाह्य नियमों के पालन की अवस्था से ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधना के गम्भीर स्तरों में प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिका में पहुँच जाता है, तब धर्म का बाह्यरूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्म के उन मूल तत्वों की ओर हो जाती है, जो सभी बड़े बड़े मज़हबों में व्यक्त हुए हैं। सच्ची साधना वह है जिसके मूल में आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसी को होता है, जिसकी रुचि वास्तव में आध्यात्मिक तत्वों की ओर होती है।

## साधनभेदः–

साधना का अर्थ कठोर नियमों का बन्धन नहीं समझना चाहिए। सब के जीवन को एक और अटल सामान्य नियम में जकड़ना अशक्य है न कि उसकी आवश्यकता ही है। अध्यात्म के क्षेत्र में साधना–भेद के पर्याप्त स्थान हैं। जो साधन किसी एक साधक के लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संस्कारों और मनोवृत्ति की अपेक्षा रखेगा। इस प्रकार यद्यपि सब का आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है तथापि

विशिष्ट साधक का साधन विशेष प्रकार का हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होने के कारण साधनगत भेद विशेष महत्व के नहीं होते और साधना के गम्भीर स्तर, बाहरी भेदों के रहते हुए भी सभी साधकों के लिये एक और महत्वपूर्ण होते हैं।

## आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना भौतिक क्षेत्र की साधना से भिन्न होती है :–

आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना भौतिक क्षेत्र की साधना से अवश्य ही तत्वतः भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र का ध्येय भौतिक क्षेत्र के ध्येयों से स्वरूपतः भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्र का ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका काल की दृष्टि से आदि और अन्त होता है और जो किसी अन्य वस्तु का कार्य होता है, आध्यात्मिक क्षेत्र का ध्येय पूर्णता है, जो काल की सीमा से अतीत है। अतः भौतिक क्षेत्र की साधना का लक्ष्य ऐसी वस्तु की प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्य के गर्भ में है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना का लक्ष्य उस वस्तु की प्राप्ति होती है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

## आध्यात्मिक साधना के ध्येय का सामान्य रूप :–

जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को जीवन के भीतर ही ढूँढ़ना चाहिए, जीवन के बाहर नहीं; अतः आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह हमारे जीवन को उस जीवन के अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना का ध्येय किसी सीमित अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदा के लिये मिट जाय – इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई बिलकुल ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवन के स्वरूप का अमूल परिवर्तन, जिससे कि वह सदा के लिए चिरस्थायी वर्तमान में महान् सत्य को अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टि से तभी सफल होती है, जब वह साधक के जीवन को ईश्वरीय उद्देश्य के अनुकूल बनाने में समर्थ होती है, जो जीवमात्र को ब्रह्मभाव की आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधना को इस ध्येय के स्वरूप के सर्वथा अनुकूल बनाना पड़ेगा।

## साधन साध्य में मिल जाता है :–

आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना के प्रत्येक अंग का ध्येय जीवन के सभी स्तरों में ईश्वरत्व की प्राप्तिरूपी आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि होना चाहिये; अतः एक दृष्टि से

आध्यात्मिक साधना के विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णता की स्थिति के निकट पहुँचने की भिन्न–भिन्न श्रेणियां है। साधना उतने ही अंश में पूर्ण होती है जितने अंश में वह इसे आध्यात्मिक आदर्श को व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंश में वह पूर्ण जीवन के सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्य में जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधना उतनी ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है, तब साधना आध्यात्मिक साध्य में जाकर मिल जाती है और इस प्रकार साधना और साध्य का भेद अखण्ड सत्ता की अविकल पूर्णता में लीन हो जाता है।

## साधना का अर्थ है साध्य की आंशिक प्राप्ति :–

साधना और उसके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले साध्य का जो यह समबन्ध है, वह भौतिक क्षेत्र में रहनेवाले साध्य और साधन के सम्बन्ध से भिन्न ही प्रकार का है। भौतिक क्षेत्र का साध्य प्रायः जिस साधन के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनाधिक रूप से बाहर रहता है, और साधन एवम् उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साध्य के स्वरूप में भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरण के लिये बन्दूक के घोड़े को खींचना किसी मनुष्य की मृत्यु का साधन हो सकता है; परन्तु मनुष्य की मृत्यु और घोड़े के खींचने की क्रिया में स्वरूपतः महान् अन्तर है, दोनो में किसी प्रकार की सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन और उसके द्वारा प्राप्तव्य साध्य एक दूसरे से सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें कोई स्पष्टतः स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन और साध्य के बीच में ऐसा अन्तर नहीं रखा जा सकता है जो किसी प्रकार मिट ही न सके, और इससे यह बात निष्पन्न होती है– जो देखने में असंगत सी मालूम होती है – कि आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन का अर्थ ही साध्य की आंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुत से आध्यात्मिक साधनों को वास्तव में जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझ में आ जाता है।

## ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधना :–

साधना के गम्भीर स्तरों में आध्यात्मिक साधन का अर्थ होता है (1) ज्ञान–मार्ग, (2) कर्म मार्ग और (3) भक्ति–मार्ग का अनुसरण। ज्ञान के साधन का स्वरूप होता है – (क) यथार्थ बोध से उत्पन्न होने वाले वैराग्य का अभ्यास, (ख) ध्यान की भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ और अंतःप्रज्ञा का निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति अथवा अभिव्यक्ति के इन विविध प्रकारों की कुछ व्याख्या करने की आवश्यकता है।

**(1–क) वैराग्य** :– जीव इस नामरूपात्मक जगत् के जाल में फँसकर इस बात को भूल गया है कि वह ईश्वर की ही सत्ता का एक अंश है। यह मूल अज्ञान ही जीव का बन्धन है और इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य होना चाहिये। अतः सांसारिक विषयों के बाह्य त्याग की बहुधा मोक्ष के साधनो में गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकार के बाह्य त्याग का भी एक अपना महत्व हो सकता है तथापि वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयों की स्पृहा के भीतरी त्याग की। और जब इस स्पृहा का त्याग हो जाता है, तब इस संसार के पदार्थों का त्याग गौण हो जाता है; क्योंकि जीवात्मा ने इस नामरूपात्मक मिथ्या जगत् से सम्बन्ध का भीतरी त्याग कर दिया है और मुक्ति की अवस्था के लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञान की साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है।

**(1–ख) ध्यान** :– आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने का दूसरा साधन ध्यान है। ध्यान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं मानना चाहिये कि यह पर्वत–कन्दराओं मे रहनेवाले मुनियों के ही करने की कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपने को किसी–न–किसी वस्तु का ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकार के स्वाभाविक ध्यान और साधक के ध्यान में अन्तर यही है कि साधक का ध्यान क्रमबद्ध और नियमित रूप से होता है और वह ऐसी वस्तुओं का चिन्तन करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होती हैं। साधनरूप में किया जानेवाला ध्यान आकार पर भी हो सकता है और मूर्तिनिरपेक्ष भी।

सगुण ध्यान वह है जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्ति से होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण हो। सगुण ध्यान के लिये (साधक की रुचि के अनुसार) पूर्व के अवतारों में से अथवा वर्तमान के सिद्ध पुरुषों से किसी को चुना जा सकता है। इस प्रकार के साकार ध्यान का अभ्यास करने से साधक के अन्दर उसके ध्येय के समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञान का संक्रमण होने लगता है; और प्रेम तथा आत्मसमर्पण का भाव ध्यान के अर्न्तगत रहने से उससे ध्येय पुरुष की कृपा का आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपा से ही सम्भव होती है। इस प्रकार मूर्तिनिष्ठ ध्यान की साधना से साधक अपने ध्येय के समान ही नहीं बन जाता वरन् उसके साथ तत्वतः एक हो जा सकता है।

मूर्तिनिरपेक्ष–ध्यान का सम्बन्ध परमात्मा के निराकार स्वरूप की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। परन्तु सामान्यतः साकार–ध्यान के अभ्यास और सदाचारमय जीवन के द्वारा जब तक साधक भली भाँति तैयार नहीं हो जाता, तब तक अव्यक्त–चिन्तन व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्मा की चरम अनुभूति में न तो आकाररूप उपाधि रहती

है और न रूप और अरूप का भेद ही रहता है; इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिये तो साकार से सच्चिदानन्दरुप परमात्मा में जाना पड़ता है, जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों से परे है। निराकार–ध्यान के द्वारा तत्व को प्राप्त करने की दूसरी शर्त यह है कि साधक को अपना चित्त बिल्कुल स्थिर कर लेना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्त के विभिन्न संस्कार नष्ट हो जाएं। और संस्कारों का आत्यन्तिक विनाश ईश्वर अथवा महापुरुष की कृपा से सम्भव होता है। निराकार––ध्यान के मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने के लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुष की कृपा के बिना काम नहीं चलता।

**(1–ग) विवेक और अन्तःप्रज्ञा का उपयोग :–** ज्ञान का साधन तब तक अधूरा ही रहता है, जब तक साधक निरन्तर विवेक का अभ्यास नहीं करता और अपनी उच्चतम अन्तःप्रज्ञा का विकास नहीं करता। ईश्वर का साक्षात्कार उसी साधक को होता है जो सत्य एवम् नित्य वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी अन्तःप्रज्ञा एवम् विवेक से काम लेता है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अनन्त ज्ञान का भण्डार छिपा रहता है, उसे प्रकट करने की आवश्यकता होती है। मनुष्य के अन्दर जो कुछ भी थोड़ा बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरण में उतारना ही ज्ञान की वृद्धि का उपाय है। ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा जो कुछ उपदेश मानव–जाति को समय–समय पर प्राप्त होते रहे और साधक को जन्म से ही जो विवेक–बुद्धि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे क्या करना है, इस विषय में यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ उसे प्राप्त है, उसको अमल में लाना कठिन है।

## (2) कर्ममार्ग का महत्व :–

ज्ञान के साधन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्था में कर्म–सहकृत हो। दैनिक जीवन विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें उँची–से–उँची अन्तःप्रज्ञा की प्रेरणा होनी चाहिए। बिना किसी भय अथवा शंका के हृदय की सर्वोत्तम प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्ग का स्वरूप है। साधन में आचरण की ही प्रधानता है, केवल विचार की नहीं। सम्यक् विचार की अपेक्षा सम्यक् आचरण का बहुत अधिक महत्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्यक् ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभदायक होगा; किन्तु आचरण की दिशा में एक भी भूल होने से उससे हमें महत्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचार के लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आध्यात्मिक

लाभ नहीं होता चाहे वह कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा लिखा तो नहीं है, किन्तु जो सच्चे मन से भगवान का नाम लेता है और अपने छोटे–से–छोटे कर्तव्य का पूरे मन से पालन करता है, वह उस मनुष्य की अपेक्षा भगवान के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनिया भर का दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारों का उसके दैनिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

**एक गधे का दृष्टान्त :–**

साधन के क्षेत्र में विचार की अपेक्षा आचरण का कितना अधिक महत्व है – यह बात एक गधे के आख्यान से, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती है। एक गधे को, जो बहुत देर से चल रहा था, बड़ी भूख लगी। थोड़ी देर बाद उसको घास की दो ढेरियाँ दिखलायीं दीं, एक तो रास्ते की दाहिनी ओर कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्ग क़ी बाँयी ओर थी। गधे ने सोचा कि उन दोनो ढेरियों में से किसी के पास जाने का विवेकपूर्वक निश्चय करने के पूर्व इस बात को निश्चित रूप से जान लेना आवश्यक है कि दोनो ढेरियों में से कौन सी ढेरी सब ओर से विचार करने पर अधिक वरणीय ठहरती है। बिना भली भाँति विचार किये और दूसरी की अपेक्षा एक को पसन्द करने के लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनो में से किसी एक को चुन लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इसलिये पहले उसने इस बात पर विचार किया कि जिस रास्ते पर वह चल रहा है, वहाँ से दोनों ढेरियों की दूरी कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देर तक विचार करने के बाद वह इस निश्चय पर पहुँचा कि दोनो ही ढेरियाँ मार्ग से समानान्तर पर हैं। अतः अब वह किसी दूसरे कारण को ढूँढ़ने लगा, जिसके आधार पर उन ढेरियों के तारतम्य का ठीक–ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचार से दोनों ढेरियों में कौन सी बड़ी और कौन सी छोटी है – इस पर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचार के द्वारा यह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चय पर पहुँचा कि दोनो ढेरियाँ परिमाण में भी बराबर ही थीं; छोटी बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसाय के साथ घास की उत्तमता आदि अन्य बातों पर विचार किया परन्तु प्रारब्ध की बात, सभी बातों में जिन को लेकर वह विचार कर सकता था – उसे ऐसा मालूम हुआ कि दोनो ढेरियाँ समानरूप से अभीष्ट हैं।

अन्त में यह हुआ कि जब गधे के ध्यान में कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिस के आधार पर विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों ढेरियों में से कौन सी अधिक वरणीय

है, यह उनमें से किसी के समीप नहीं गया। किन्तु पहले की भाँति क्षुधा पीड़ित और थका माँदा सीधा चला गया; घास की दो ढेरियाँ मिलने पर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचार द्वारा ठीक–ठीक निर्णय करने के आग्रह को छोड़कर दोनों में से किसी एक ढेरी के समीप चला गया होता तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धि द्वारा निर्णय करने में भूल रह जाने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह अनन्त गुणा लाभ में रहता। आध्यात्मिक जीवन में किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्ग का पूरा मानचित्र हो, बल्कि मार्ग का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का आग्रह होने से यात्रा में सहायता मिलने की अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवन के गूढ़ रहस्य उन्हीं के सामने प्रकट होते है, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपने को परीक्षा में डालते हैं। जो आलसी मनुष्य एक–एक कदम आगे बढ़ने के लिय हानि न होने की गारन्टी चाहता है, उसके सामने वे रहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्र के किनारे खड़ा होकर उसके सम्बन्ध में विचार करता है, उसे केवल समुद्र के उपरी भाग का ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्र की थाह लेना चाहता है, उसे समुद्र के जलमें गोता–लगाने के लिये तैयार होना पड़ेगा।

### निष्काम सेवा :–

कर्मयोग की साधना में सफल होने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि कर्म का उद्‌गम ज्ञान से होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन–कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहंकारमूलक न होकर अहंकार शून्य होता हे। स्वार्थ परायणता अज्ञान का ही स्वरुप है और अहंकारशून्यता यथार्थ ज्ञान का प्रतिबिम्ब है; हमें निःस्वार्थ सेवा का जीवन इसीलिये अंगीकार करना चाहिये कि उसके मूल में ज्ञान रहता है, बाह्य परिणाम की दृष्टि नहीं। परन्तु निष्काम कर्म में विलक्षणता यह है कि उससे साधक को इतना अधिक लाभ होता है, जितना अज्ञान जनित स्वार्थ परायणता से कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थपरायणता का परिणाम होता है संकीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवम् पृथक व्यष्टि सत्ता का मिथ्या भाव; परन्तु निष्काम कर्म से भेद भ्रम का नाश करने में सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवन में प्रवेश कर पाते हैं; जहाँ सर्वात्मभाव की अनुभूति होती है। मनुष्य के पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तु की आकाँक्षा करता है, यह सम्भव है उसे कभी प्राप्त न हो, परन्तु जो कुछ वह परमात्मा को अर्पण कर देता है, वह तो लौट कर उसी को मिल जाता है। कर्मयोग के साधन का यही स्वरूप है।

### (3) भक्ति अथवा ईश्वरीय प्रेम :–

ज्ञान अथवा कर्म के साधन की अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेम का साधन और भी अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेम ही कि लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायक की अपेक्षा नहीं रखता। संसार में बड़े बड़े सन्त हो गये हैं, जिन्होने किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करके भगवत् प्रेम में ही सन्तोष माना था। वह प्रेम, प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशा से किया जाता है। भगवत् प्रेम के अतिरेक में प्रेमी प्रियतम भगवान के साथ एक हो जाता है। प्रेम से बढ़कर कोई साधन नहीं है और प्रेम से उँचा कोई नियम नहीं है; और प्रेम के परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, क्योंकि प्रेम भगवत् स्वरूप होने पर अनन्त हो जाता है। ईश्वरीय प्रेम और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें ईश्वरीय प्रेम का उदय हो गया, उसे भगवान की प्राप्ति हो चुकी।

### प्रयत्न के द्वारा सहजस्थिति की प्राप्ति :–

प्रेम को साधन ओर साध्य दोनो का ही अंग माना जा सकता है; परन्तु प्रेम का महत्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति का साधन मानना भूल समझा जाता है। प्रेम के मार्ग में भगवान् के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधन में नहीं होता। जहाँ प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहाँ सत्य की ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधना में प्रयत्न रहता ही है, और कभी कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है – उदाहरणतः उन साधक को जो प्रलोभनों के रहते वैराग्य के लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेम में प्रयत्न का भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्चे ईश्वरत्व का स्वरूप है। ज्ञान की सबसे उँची अवस्था को, जिसमें चित्त सर्वथा तत्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं– जिसमें स्वरूप ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधन में एक विलक्षण बात यह है कि साधक का सारा प्रयत्न सहजसिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये होता है।

### कस्तूरी मृग का दृष्टान्त :–

एक कस्तूरी मृग का बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिससे सब प्रकार की आध्यात्मिक साधना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक कस्तूरी मृग एक बार उत्तराखण्ड के पहाड़ों में विचर रहा था। सहसा उसे कहीं से ऐसी मनमोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था। उस गन्ध से वह

इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उद्‌गम स्थान का पता लगाने के लिये चल पड़ा। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसके मन मे इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह हिमप्रदेश की कठोर सर्दी की तनिक भी परवाह न कर इधर–से–उधर दौड़ने लगा। कड़ाके की सर्दी में तथा जेठ की दुपहरियों के प्रचण्ड धाम में, वर्षा, आँधी, अथवा बिजली प्रहार की परवाह न करके रात–दिन उस सुगन्धित द्रव्य की खोज में जी तोड़कर भागता रहा। उसके मन में न भय था शंका न थी; किन्तु उस सुगन्ध की टोह में एक चट्‌टान से दूसरे चट्‌टान को वह भागता रहा भागते भागते एक जगह उसका पैर इस तरह से फिसला कि वह एक सीधी चट्‌टान से नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणों पर बन आयी। मरते–मरते उस मृग को यह पता लगा कि जिस सुगन्ध से वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पाने के लिये उसने इतना घोर परिश्रम किया, वह उसी की नाभि से आ रही है। किन्तु मृग के जीवन का यह अन्तिम क्षण सबसे अधिक सुखदायक था, और उसके चेहरे पर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी।

**स्वरूप–ज्ञान ही साधना का लक्ष्य है :–**

साधक की आध्यात्मिक साधना उस कस्तूरी मृग की दौड़ धूप के समान है। साधना की चरम सिद्धि में साधक के व्यष्टि जीवन का अन्त हो जाता है; परन्तु उस क्षण में उसे यह अनुभूति होती है कि एक प्रकार से अपनी सारी खोज ओर प्रयत्न का विषय वह स्वयम् रहा है और जो कुछ भी सुखःदुख का अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उठायी और जो कुछ भी त्याग और जीतोड़ परिश्रम किया, उस सब का एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूप का ज्ञान ही था जिस स्वरूप ज्ञान में वह अपने सीमित व्यष्टिभाव को त्याग कर यह अनुभव करता है कि वह वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थों में विद्यमान हैं।

# साधक के विशिष्ट गुण

## (भाग 1)

### आन्तरिक जीवन की सत्यताओं में प्रवेश

**बाह्य नियमानुसरण तथा बाह्य आचार पालन का लाभ तथा सीमाएँ**

यद्यपि ईश्वरानुभूति सभी मनुष्यों की चरम भवितव्यता है, तथापि इस भवितव्यता की प्राप्ति के लिए, बहुत थोड़े मनुष्यों की ही तैयारी होती है। संसारी मनुष्यों का मन संचित संस्कारों की सघन राशियों से तमाधित रहता है; और इन संस्कारों के यथेष्ट दुर्बल हो जाने पर ही साधक के लिए आध्यात्मिक साधना–पथ में प्रवेश करना शक्य होता है। संस्कारों की संचित राशियों को धीरे धीरे व्यय तथा क्षय करने की सामान्य पद्धति यह है कि मनुष्य धर्म प्रतिपादित तथा शास्त्र विहित बाह्य आचार–विचार तथा विधि–नियमों का जितनी निष्ठा के साथ सम्भव हो, उतनी निष्ठा के साथ पालन करे। धार्मिक आदेशों व परम्पराओं का अनुसरण तथा पालन करने की यह स्थिति शरीयत या कर्ममार्ग का अवलम्बन कहलाता हैं प्रतिदिन ईश–प्रार्थना करना, तीर्थस्थानों की यात्रा करना, धर्म शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन करना, तथा नीति संहिता के उन सुस्थापित नियमों का अनुसरण

करना जो समय की सामान्य नैतिक चेतना के द्वारा स्वीकृत हो – इत्यादि कार्य कर्ममार्ग के अन्तर्गत है। **कर्म मार्गावलम्बन की यह स्थिति अपने निजी ढंग से आध्यात्मिक संयम के लिए लाभप्रद होती है। किन्तु वह पूर्णतः बुराइयों से रहित नहीं है, क्योंकि बाह्य रूढ़ियों तथा रीति–रिवाजों का पालन करने से, बहुधा मनुष्य न केवल शुष्क कठोर तथा यन्त्रतुल्य बन जाता है, बल्कि उसमे एक प्रकार का सूक्ष्म अहंभाव भी उत्पन्न हो जाता है।** किन्तु बहुतेरे लोग कर्ममार्ग से आसक्त होते हैं, क्योंकि अपने मनोदेवता को शान्त करने का यह सुलभ तरीक़ा है।

**आन्तरिक जीवन की सत्यताओं की ओर अग्रसर होना।**

बाह्य विधि–नियमों तथा बाह्य आचार–विचार से शिक्षा ग्रहण करने में जीवात्मा को बहुधा अनेक जन्म लग जाते हैं; किन्तु मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय अवश्य आता है, जब वह बाह्यविधि नियमों का पालन करते करते थक जाता है तथा आन्तरिक जीवन की सत्यताओं में अधिक दिलचस्पी लेने लगता है। जब संसारी मनुष्य यह उच्चतर शोध आरम्भ करता है, तो यह कहा जा सकता है कि वह साधक बन गया। जिस प्रकार कीड़ा एक शरीर बदल कर दूसरा शरीर धारण (Metamorphosis) करता है, तथा इस प्रकार एक नये जीवन में प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीवात्मा बाह्य नियम–निष्ठा (शरीयत तथा कर्ममार्ग) की स्थिति को पार करके आध्यात्मिक स्वतंत्रता (तरीकत या मोक्षमार्ग) की स्थिति में प्रवेश करता है। इस उच्चतर अवस्था में पहुँचने पर जीवात्मा कुछ बाह्य विधि–नियमों के अनुसरण मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु वह उन विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना चाहता है जिनके प्राप्त करने से उसका आन्तरिक जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से शुचि और सुन्दर हो जाय।

**परम्पराओं की संकीर्णताएँ।**

आन्तरिक जीवन की सत्यताओं के दृष्टिकोण से रीतिरिवाजों एवम् रुढ़ियों और शिष्टाचारों के अनुसार जीवन व्यतीत करना बहुधा निरर्थक होता है; तथा बाह्य नियमानुसरण तथा आचार पालन को त्याग देनेवाला जीवन, बहुधा, आध्यात्मिक दृष्टि से, अधिक सम्पन्न और समृद्ध होता है। भूतकाल से चली आनेवाली परम्पराओं तथा रुढ़ियों का पालन करनेवाला मनुष्य प्रायः हमेशा असार तथा मिथ्या मूल्यों के पीछे पड़ जाता है। तथा सारगर्भित तत्वों एवम् मूल्यवान सत्यों को छोड़ देता है। परम्परा से चले आनेवाले तथा सर्व–स्वीकृत नियम आध्यात्मिक दृष्टि से सही ही है– यह बात नहीं; इसके विपरीत अनेक परम्परागत रूढ़ियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हैं, और उनका पालन करना वृथा है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से, अज्ञानी या औसत दर्जे की बुद्धियों के विचार के परिणाम–स्वरूप

ही ये रूढ़ियां अस्तित्व में आयी हैं। भ्रामक मूल्य तथा मिथ्या महत्व बहुधा परम्परागत होते हैं क्योंकि वे अत्यन्त साधारण बुद्धि या मनोवृत्ति के साँचे में ढलते हुए चले आते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि परम्परागत रुढ़ियाँ आवश्यक रुप से बिलकुल मूल्यरहित तथा महत्व शून्य है।

**रुढ़ि–मुक्ति तार्किक विचार पर आश्रित होनी चाहिए।**

कभी कभी मनुष्य सिर्फ इसीलिए आचार विरूद्ध तथा नियम विपरीत कार्य करते हैं कि ऐसा करने में उन्हें विचित्रता का अनुभव होता है। अद्‌भुत तथा विचित्र कार्य तथा व्यवहार के द्वारा वे औरों से अपनी पृथकता तथा भिन्नता का अनुभव करते हैं, तथा ऐसे अनुभव से उन्हें आनन्द मिलता है। परम्परा–विरूद्ध कार्य तथा आचरण सिर्फ़ इसीलिये किये जाते हैं, कि वे परम्परागत कार्यों के विरूद्ध होते हैं तथा ऐसा कार्य करने से, मनुष्य औरों से अपनी भिन्नता या श्रेष्ठता का अनुभव करता है। साधारण से असाधारण की ओर इसीलिये रुचि उत्पन्न होती है, कि असाधारण साधारण से विचित्र होता है। साधारण कार्यों का मिथ्या मूल्य उन्हें लगातार करते रहने के कारण, नीरस मालूम होने लगता है। तथा मन की यह प्रवृत्ति होती है, कि वह मिथ्या साधारण कार्यों को त्याग कर, मिथ्या असाधारण कार्यों में रस लेने लगता है। वास्तव में सारशून्य परम्पराओं का त्याग कर, सारशून्य नवीन कार्य करने में कोई लाभ नहीं है। उचित तथा बुद्धिमता पूर्ण कार्य तो यह होगा, कि सारशून्य वस्तुओं को त्याग कर उन वस्तुओं की तलाश करना, जो वास्तव में सारयुक्त तथा मूल्यवान हैं। बाह्य नियम–निष्ठा की स्थिति को पार करने का अर्थ वही है कि निरे यंत्र की तरह, बिना विचार विवेचना के, नियम–निष्ठा का परित्याग करके नियम विपरीत कार्यों को अपना लेना, या परम्पराओं को त्याग कर उच्छृंखलता को स्वीकार कर लेना इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक रूप से, एक प्रतिक्रिया होगा; और ऐसे प्रतिक्रियात्मक जीवन में स्वतन्त्रता तथा सत्य की प्राप्ति नहीं होगी। किसी अविचार युक्त प्रतिक्रिया के कारण साधक परम्पराओं तथा रूढ़ियों का त्याग नहीं करता। गम्भीर विचार विवेचना तथा तर्क सम्मत विवेक बुद्धि की ही कसौटी पर कसने से जब रूढ़ियाँ तथा परम्पराएँ खोटी उतरती हैं, तभी वह उन्हें त्याग कर, उनसे मुक्त हो जाता है। जो बाह्य नियमनिष्ठा की स्थिति को पार करके आन्तरिक सत्यता के जीवन में प्रवेश करना चाहते हों, उन्हें सद्‌सद्‌विवेक बुद्धि तथा सारासार विचार–शक्ति अपना लेनी चाहिए। उन्हीं वस्तुओं को त्यागना चाहिए जो सारशून्य हों तथा उन्हीं वस्तुओं को अपनाना चाहिए जो सार–वान हों।

अतः शरीयत या कर्ममार्ग से तरीकत या मोक्षमार्ग की ओर उन्नति करने का केवल यह अर्थ नहीं है, कि बाह्य नियम, विधि, तथा रूढ़ि, परम्परा को त्याग देना, या कट्टर पंथ का परित्याग करके स्वेच्छाचार की ओर अग्रसर होना, या साधारण को त्याग कर असाधारण को अपनाना। कर्ममार्ग को त्याग कर मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ने का अर्थ है परम्परागत रूढ़ियों तथा रीतिरिवाजों को विचार विवेचना बिना स्वीकार करने की अवस्था से ऊपर उठ कर सदसद्विवेक की कसौटी पर उन्हें कसना तथा उन वस्तुओं को स्वीकार करना जो महत्व–पूर्ण या सारयुक्त हों, एवम् उन वस्तुओं को अस्वीकार करना जो निःसार तथा महत्वहीन हो। **कर्ममार्ग से मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ने का अर्थ है, निरे अन्धविश्वास तथा अज्ञानपूर्ण अन्धानुकरण की अवस्था को त्याग कर आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता की अवस्था में प्रवेश करना।** अन्धविश्वासजन्य बाह्य विधि, नियम, पालने की स्थिति में बहुधा मनुष्य का अज्ञान इतना परिपूर्ण रहता है, कि वह यह भी नहीं जानता कि वह अज्ञानी है। किन्तु जैसे–जैसे मनुष्य की आँखें खुलती जाती हैं, तथा जैसे–जैसे वह जागृत होता जाता है, तथा जैसे ही वह साधना पथ में प्रविष्ट होता है वैसे वैसे वह सच्चे ज्ञान तथा सच्चे प्रकाश की आवश्यकता का अनुभव करता जाता है। तथा प्राथमिक अवस्थाओं में, **ज्ञान तथा प्रकाश के लिये उसका प्रयत्न, नित्य और अनित्य के बीच विवेक, या सत्य तथा असत्य की विवेचना, या सही और ग़लत के बीच आलोचना, या महत्वपूर्ण तथा महत्व–शून्य की तार्किक परीक्षा, का रूप धारण करता है।**

सत्य तथा असत्य की विवेचना।

आध्यात्मिक साधक में सत्य तथा असत्य के सम्बन्ध में केवल बौद्धिक विवेचना विवेक का होना ही पर्याप्त नहीं है। यद्यपि बौद्धिक विवेचना या तार्किक विवेक उसकी आगे की तैयारी की आधार–शिला है, तथापि विवेचना और विवेक के द्वारा परीक्षित सत्य, जब तक आचरण में नहीं उतारे जायेंगे, अर्थात् तर्क बुद्धि की कसौटी पर कसने में खरे उतरनेवाले तथ्यों को, जब तक कार्य में परिणत नहीं किया जायगा, तब तक केवल बौद्धिक–विवेचना विवेक से कोई लाभ नहीं होगा। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सिद्धान्त की इतनी महत्ता नहीं है, जितनी महत्ता आचरण की है। मनुष्य की बुद्धि जो विचार, विश्वास, मत, राय, आदर्श तथा सिद्धान्त, जिसको वह 'धारण करता' है, मानवीय व्यक्तित्व के बाह्य सतह को ही छू कर रह जाते हैं। बहुधा यह अधिक होता है, कि मनुष्य विश्वास तो कुछ करता है; किन्तु उसका आचरण उसके विश्वास के विपरीत हुआ करता है। **शुष्क विश्वास अर्थात् कोरी सिद्धान्तवादिता का दिवालियापन अधिक शोचनीय**

शुष्क सिद्धान्त वादिता का दिवालियापन।

**इसीलिए है, कि जो मनुष्य ऐसे सिद्धान्त 'गढ़' लेता है, या विश्वास 'कायम' कर लेता है, उसके सिर पर यह भ्रम सवार हो जाता है, कि वह आध्यात्मिक क्षेत्र में औरों से बढ़ा–चढ़ा है, किन्तु यथार्थ में अभी उसने आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ तक नहीं किया है।**

**धार्मिक अन्धविश्वास तथा कट्टर पथावलम्बन की मुख्य विशेषताएँ।**

कभी कभी ऐसा होता है, कि श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन की जानेवाली भ्राँत धारणा के परिणामस्वरूप, जीवन में ऐसे अनुभव आते हैं, जो आध्यात्मिक जीवन का द्वार खोल देते हैं। शरीयत या कर्ममार्ग की अवस्था में भी अंध धर्म निष्ठा से भी, अनेक निःस्वार्थ तथा उदार कार्यों को करने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है, क्योंकि यद्यपि धार्मिक विधि–नियमों का अन्ध–विश्वासपूर्वक पालन किया जाता है, तथापि जिस श्रद्धा और निष्ठा के साथ उसका पालन किया जाता है अर्थात् जिस लगन और दृढ़ता के साथ उनका अनुसरण किया जाता है, वे उसकी विचार धारा को गतिमय तत्वप्रदान करती है शुष्क विश्वास तथा कोरी सिद्धान्तवादिता एवम् अन्धविश्वास तथा कट्टरपन्थ के बीच में यदि तुलना कि जाय तो मालूम होगा, कि अन्ध–विश्वास तथा कट्टरपन्थ में, एक स्पष्ट विशेषता है, जिससे शुष्क विश्वास या कोरी सिद्धान्तवादिता वंचित है, और वह विशेषता यह है कि कट्टरपन्थी तथा धर्म के अन्ध–विश्वासी मनुष्य, जिन विधि–नियमों या लौकिक रीति आचारों का पालन करते हैं, उन्हें वे केवल बुद्धि से ही नहीं अपनाते, किन्तु ह्रदय से भी आलिंगन करते हैं। अन्ध–विश्वास तथा बाह्य नियम–निष्ठा का राज्य व्यक्तित्व के अधिक विस्तृत क्षेत्र पर फैला रहता है, किन्तु सैद्धान्तिक मत तथा 'रायें' व्यक्तित्व के उतने अधिक विस्तृत क्षेत्र को अधिकृत नहीं करते।

**अन्धविश्वास तथा कट्टरपन्थ के दुष्परिणामों और बुराइयों का कारण।**

किन्तु अन्ध मतावलम्बन तथा कट्टर पन्थानुकरण के जितने सत्यपरिणाम हैं उतने ही उनके दुष्परिणाम भी हैं, क्योंकि अन्ध मतावलम्बन तथा कट्टर पन्थानुकरण में विशेष दोष यह है, कि उनमें जीवन की मार्गदर्शन दृष्टि ही समाच्छादित हो जाती है। इसका कारण यह है, कि अन्ध विश्वासी या कट्टर पन्थ व्यक्ति या अन्ध विश्वासी तथा कट्टर पन्थी समाज की आलोचनात्मक बुद्धि या तर्कशक्ति या तो भ्रष्ट हो गयी रहती है, अथवा उसका उपयोग नहीं किया जाता। यद्यपि अंध मतावलम्बन तथा कट्टर पन्थानुकरण से, कभी कभी व्यक्ति या समाज का कुछ हित हो सकता है, किन्तु उनसे बहुधा व्यक्ति तथा समाज की हानि तथा क्षति

ही अधिक हुई है, तथा उनसे व्यक्ति और समाज का अवर्णनीय अहित हुआ है। अंघ मतावलम्बन तथा कट्टर पन्थानुकरण में यद्यपि मन तथा हृदय दोनों पूरी निष्ठा के साथ कार्य करते हैं, किन्तु उनकी क्रिया में एक असुविधा या बाधा यह रहती है, कि सारासार विवेचना तथा आलोचना सम्बन्धी तर्कवृत्ति ताक में रख दी जाती है। हृदय और मन कार्य करते हैं किन्तु तर्क काम नहीं करता, या तर्क से काम नहीं लिया जाता। यही कारण है कि अन्धविश्वास तथा कट्टर मतावलम्बन से केवल कल्याण ही कल्याण नहीं हुए हैं, किन्तु कल्याण की अपेक्षा अकल्याण ही बहुधा अधिक हुए हैं।

**सिद्धान्त को आचरण में लाने की आवश्यकता।**

बिना तर्क तथा बौद्धिक विवेचना ही स्वीकृत बाह्य तथा विधि नियमों को जब मनुष्य त्याग देता है, तथा तर्क सम्मत एवम् विवेकयुक्त आदर्शों और सिद्धान्तों को जब वह ग्रहण करता है, तो कहना चाहिए, एक अर्थ में, वह उस सीमा तक उन्नति करता है, जिस सीमा तक उसके मन ने बिना तर्क वितर्क के किसी मत, विश्वास, या नियम आचार को स्वीकार करना छोड़ दिया है, तथा अब उसने सदसद्विवेक पूर्वक ही किसी भी वस्तु को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु कट्टर पन्थावलम्बन तथा अन्ध विश्वासजन्य बाह्य विधि नियम निष्ठा की स्थिति में, उसके जीवन में जो लगन और श्रद्धा थी उस लगन तथा श्रद्धा से उसके नवीन आदर्श तथा सिद्धान्त वंचित हैं। यदि उसके नवीन आदर्श तथा सिद्धान्तों में, प्रेरक शक्ति का अभाव रहेगा, तो वे जीवन की बाह्य सतह पर केवल तैरते रहेंगे या व्यक्तित्व के उपरी हिस्से पर, उसी प्रकार ढीले लटकते रहेंगे, जिस प्रकार ओवर कोट शरीर पर ढीला लटकता रहता है। यह बात सच है, कि अशिक्षित भावान्धता से मन मुक्त किया जा चुका है; किन्तु हृदय के सहयोग का बलिदान करके यह स्वतंत्रता प्राप्त की गई है। तार्किक विचार विवेचना से ग्रहण किये गये आदर्श तथा सिद्धान्त तभी लाभदायक होंगे, जब वे फिरसे हृदय राज्य पर धावा बोल दें, ताकि उसका खोया हुआ सहयोग पुनः प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में जो सिद्धान्त तार्किक समालोचना या बौद्धिक परीक्षा के पश्चात् स्वीकार किये गये हैं, उनके अनुसार पुनः आचरण किया जाय, ताकि उनका पूरा पूरा लाभ प्राप्त हो। जब सिद्धान्त इस प्रकार आचरण मे लाये जाते हैं, तो वे और भी सुधरते हैं, तथा इस प्रकार वे अधिक स्पष्ट तथा सही बनते हैं। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण फल यह होता है कि वे अब जीवन के आन्तरिक ताने बाने से गम्भीरतापूर्वक गुँथ जाते हैं, केवल बाह्य अलंकार के रूप में नहीं रहते।

**बाह्य निष्ठा (अर्थात् शरीयत या कर्ममार्ग) की स्थिति को त्याग कर आन्तरिक सत्यताओं के जीवन (अर्थात् तरीकत या मोक्ष–मार्ग) में प्रवेश करने के लिए दो पग आवश्यक हैं (1) अन्ध–विश्वास तथा अन्धानुकरण के आधार पर, बिना विचार तथा तर्क किये ही किसी वस्तु को अपनाने की मानसिक जड़ता से मुक्त होना तथा मन को विचार के द्वारा आन्दोलित और व्यवस्थित करना, तथा (2) तर्क युक्त और विवेक सम्मत विचार के परिणामों को कार्य या आचरण में परिणत करना। विचार कोरी आलोचनात्मक ही न रह कर, जब साथ ही साथ, रचनात्मक भी हो जाता है, तभी उससे आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है।** आलोचनात्मक तथा रचनात्मक विचार करने से, आध्यात्मिक तैयारी होती जाती है, तथा उन विशिष्ट गुणों का विकास तथा वृद्धि होती है, जिनके परिणामस्वरूप मन और हृदय की समता प्राप्त होती है, एवम् मुक्त दिव्य जीवन प्रस्फुटित एवम् अभिव्यक्त होता है।

समालोचनात्मक तथा रचनात्मक विचार से मन और हृदय की समता उत्पन्न होती है।

# साधक के लिये विशेष सद्गुण

(भाग 2)

## कुछ दिव्य गुणों की आवश्यकता

मनुष्य का जीवन तभी शान्त तथा जाग्रत हो सकता है, जब वह कुछ दिव्य गुणों को विकसित करके उन्हें अपने प्रतिदिन के कार्यों और कर्तव्यों में अभिव्यक्त करे।

**आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक गुण एक दूसरे पर आश्रित है।**

प्रत्येक गुण स्वयमेव स्वतंत्र रूप से भले ही अधिक महत्वपूर्ण न जान पड़े, किन्तु उसे अन्य मुख्य गुणों से अलग करके उसका मूल्य आँकना युक्ति–संयत नहीं है। प्रत्येक गुण का अन्य मुख्य गुणों से गम्भीर सम्बन्ध है। आध्यात्मिक जीवन में ये सभी गुण अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के सहायक होते हैं। एक गुण का पालन करने से दूसरे गुणों का पालन करना सहज होता है। इन गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना गहरा है, कि एक गुण की पूर्ण अवहेलना करने से, अन्य अनेक मौलिक गुणों को क्षति पहुँचती है। **अतः प्रत्येक गुण की यथार्थ उपयोगिता उस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगी, क्योंकि पूर्ण जीवन के लिए, उन दिव्य गुणों में से प्रत्येक गुण की अनिवार्य आवश्यकता है।**

**प्रत्येक मनुष्य सत्य का उत्तराधिकारी है, किन्तु जो सत्य को अधिकृत करना चाहता है, उसमें उसे प्राप्त करने की तैयारी होनी चाहिए। इस आध्यात्मिक तैयारी के लिए, कभी कभी अनेक जन्मों तक धैर्ययुक्त तथा आग्रहशील उद्योग करते रहने की आवश्यकता होती है।** अतएव साधक की अनेक आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता यह है, **कि उसमें कभी विचलित न होनेवाली आकाँक्षा तथा कभी हार न माननेवाला धैर्य होना चाहिए।** सत्य को प्राप्त करने के लिए, ज्योंही मनुष्य दृढ़–प्रतिज्ञा करता है, त्यों ही वह अपने पथ को अनेक कठिनाइयों से भरा पाता है। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं, जो अन्त तक अपने धैर्य तथा साहस को बनाये रखते हैं। विघ्नों से हार मानकर प्रयत्न त्याग देना सरल होता है। यह बात पूना के एक मनुष्य के क़िस्से से स्पष्ट हो जायगी। एक बार उसने एक आध्यात्मिक पुस्तक पढ़ी। वह उससे इतना प्रभावित हो गया कि उसे सब कुछ त्याग कर देने की इच्छा हुई। पूना छोड़ कर वह एक पास के जंगल में चला गया और वहाँ एक वृक्ष के नीचे बैठ कर, तथा हाथ में माला ले कर, ईश्वर का नाम जपना शुरू कर दिया। उसे अनेक असुविधाएं प्रतीत होने लगीं; तथा उसका उत्साह भी कम होता गया; किन्तु दिन भर उसने अपना जप जारी रखा। सूर्यास्त के पश्चात्, चारों ओर से उसे भयंकर जंगली पशुओं की आवाज सुनाई पड़ी; और यद्यपि रात्रि के घोर अन्धकार में यह आवाज़ बढ़ती गई, तो भी उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा पूर्ववत् जारी रही। किन्तु अन्धेरे में ज्योंही उसे अपनी ओर भालू आता दिखाई पड़ा, त्योंही प्राण लेकर, वह वहाँ से भागा, तथा अपनी पूरी ताकत भर सात मील दौड़ने के पश्चात् वह पूना की एक दुकान में पहुँचते ही बेहोश होकर गिर पड़ा। जब वह होश में आया, तब उसने अपनी बहादुरी का क़िस्सा उन लोगों को सुनाया, जो वहाँ इकट्ठे हो गये थे, जिसे सुनकर सभी का यथेष्ट मनोरंजन हुआ, किन्तु इस घटना के बाद, त्याग के लिए उसकी वृत्ति जाती रही।

**धैर्य तथा दृढ़ आग्रह।**

आध्यात्मिक उपयोग के लिए केवल शारीरिक सहनशीलता तथा साहस की ही आवश्यकता नहीं है, किन्तु कभी न डिगनेवाली मानसिक सहिष्णुता, तथा कभी न हटनेवाले नैतिक साहस की भी आवश्यकता है। सन्सार माया में फँस गया है; तथा निःसार वस्तुओं पर आसक्त है। अतः संसार की गतिविधि उन आदर्शों के विरूद्ध है जो साधक ने अपने लिए निश्चित किये हैं। यदि वह दुनिया से भाग जाता है तो उससे उसको सहायता नहीं मिल सकती; भागने के बाद उसे संसार में, उस गुण को विकसित करने के लिए फिर वापस लौटना पड़ेगा, जिसके बल पर वह संसार का सामना कर सके,

**संसार जैसा है वैसे ही रूप में उसे स्वीकार करना।**

तथा उसे उसी रूप में सहन कर सके। अधिकतर उसका आध्यात्मिक पथ संसार के ही बीच से जाता है। संसार के रंग ढंग ओर चाल ढाल को वह भले ही पसन्द न करे, किन्तु उसे उसी संसार की सेवा करनी पड़ती है। **उसे न समझनेवाले तथा उसके प्रति अनुदार संसार को यदि वह साधक प्रेम करना चाहता है, तथा उसकी सेवा करना चाहता है, तो उसे अपने में अनन्त सहिष्णुता विकसित करनी चाहिए।**

**सहिष्णुता।**

ज्यों–ज्यों साधक, साधना पथ पर अग्रसर होता जाता है, त्यों– त्यों गुरु के सम्पर्क से सच्चे प्रेम की उसकी गम्भीरतर अनुभूति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। गम्भीरतर तथा उच्चतर प्रेम का आस्वादन कर चुकने के कारण, संसार के ऐसे व्यवहार के प्रति उसका कोमल हृदय पीड़ित हो जाता है, जिनमें प्रेम का तो सर्वथा अभाव रहता ही है, किन्तु जो निष्ठुर भर्त्सना, कठोर निंदा, हृदय भेदी तिरस्कार, तथा प्रचण्ड, घृणा से पूर्ण होते हैं। ऐसे व्यवहार मानों उसकी सहिष्णुता की विकट परीक्षा लेते हैं। जब कई अवसरों पर संसार को अपने प्रति उपेक्षाशील तथा विरोधी पाता है, तब संसारी मनुष्य भी पीड़ित हो जाता है,–किन्तु वह सहनशील होता है, तथा उनकी पीड़ा उतनी तीव्र नहीं होती, क्योंकि वह मनुष्य स्वभाव से किसी अच्छी बात की अपेक्षा ही नहीं करता, तथा वह समझता है, कि ऐसी बातें अनिवार्य हैं और वे कभी दूर नहीं हो सकतीं। **किन्तु, साधक गम्भीरतर प्रेम का अनुभव कर चुका रहता है, अतः वह प्रत्येक आत्मा की प्रच्छन्न सम्भाव्यताओं को जानता है, संसार की आज कैसी बुरी अवस्था है, किन्तु साधक जिस प्रेम का अनुभव तथा अभ्यास कर रहा है, उस प्रेम को संसार यदि थोड़े अंश में भी, स्वीकार करे, तो उसकी कितनी अच्छी व्यवस्था हो सकती है, इस विचार से साधक की व्यथा अत्यन्त तीव्र हो जाती है।**

**नैतिक साहस तथा आत्मविश्वास।**

यदि साधक संसार के व्यवहार को बिना विरोध तथा चुनौती के स्वीकार कर ले, और सांसारिक पद्धतियों ओर प्रणालियों के सम्मुख चुपचाप अपना सिर झुका ले, तो संसार के प्रति सहिष्णुता रखने का उसका कार्य सरल हो जायगा, किन्तु, **उच्चतर सत्य को देख चुकने के पश्चात् साधक का यह महान एवम् सर्वोपरि कर्तव्य हो जाता है, कि वह उस सत्य का दृढ़तापूर्वक पालन करे, तथा समस्त संसार के विरोध करने पर भी उसे न त्यागे।** अपनी समझ तथा अनुभव में आये हुये उच्चतर सत्य के प्रति–निष्ठा को कायम रखने के लिए, कभी डाँवाडोल न होनेवाले नैतिक साहंस की

आवश्यकता है। उच्चतर सत्य तथा सिद्धान्त की नहीं समझनेवाले मनुष्यों की निंदा तथा घृणा का भी सामना करने के लिए, साधक को तैयार रहना चाहिए। यद्यपि संसार से विकट संग्राम करते समय, साधक को गुरु तथा अन्य सह–साधकों से कभी न चुकनेवाली सहायता अवश्य मिलती है, किन्तु उसे सदैव सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, तथा उसे सत्य के लिए अकेले युद्ध करने की योग्यता विकसित करनी चाहिए। यह परम नैतिक साहस तभी आ सकता है, जब साधक अपने आप में, तथा अपने गुरु में दृढ़ विश्वास रखें। **संसार को प्रेम करना, तथा गुरुओं के तरीक़ों के अनुसार संसार की सेवा करना, दुर्बल तथा अशक्त हृदय वाले मनुष्य के वश का नहीं है।**

नैतिक साहस तथा आत्मविश्वास के साथ ही साथ निश्चिन्तता भी होनी चाहिए। चिन्ता मानसिक शक्ति का जितना भक्षण करती है, उतना कोई चीज़ नहीं करती; और किसी भी बात की चिन्ता न करना, एक अत्यन्त कठिन कार्य है। जब प्रयत्न में

**चिन्ता–शून्यता।**

असफलता होती है, या जब बातें संकल्प के विरूद्ध हो जाती हैं, तब चिन्ता का अनुभव होता है। किन्तु जो हो चुका उसके बारे में यह सोचते रहना कि वह वैसा नहीं हुआ होता तो अच्छा होता, बिल्कुल वृथा है। **निर्जीव अतीत जैसा हो चुका वैसा ही रहेगा, लाख चिन्ता करने पर भी वह जैसा हो चुका है उससे कभी अच्छा नहीं हो** जाएगा। किन्तु सीमित अहंवृत्तिशील मन, भूतकाल से अपने को युक्त कर लेता है। उस पर आसक्त हो जाता है; तथा मन इच्छा–जन्य यंत्रणा को जीवित बनायें रखता है। इस प्रकार मनुष्य के मानसिक जीवन में चिन्ता की वृद्धि होती जाती है, तथा अन्त में उसका मन भूतकाल से लड़ पड़ता है। भविष्य के सम्बन्ध से भी चिन्ता का अनुभव किया जाता है; विशेष कर तब, जब भविष्य के किसी प्रकार अवांछनीय होने की अपेक्षा की जाती है, और ऐसा होने पर, आशांकित या प्रकाशित आगामी परिस्थितियों से लोहा लेने के लिए, तैयारी करने के प्रयत्न के आवश्यक सहचर के रूप में, चिन्ता अपने आपको उचित सिद्ध करना चाहती है। किन्तु **केवल चिन्ता करने से ही कोई काम सध नहीं सकता।** इसके अतिरिक्त, अनेक आशंकित या प्रतीक्षित बातें कभी वस्तुतः आती ही नहीं है; और यदि आती ही हैं, तो वे वैसी अस्वीकार्य नहीं होती, जैसी कि प्रतीक्षा की जाती थी, इतना ही नहीं, कभी कभी तो आशंकित इच्छा के प्रतिकूल घटनाएं इच्छा के बिलकुल अनुकूल रूप में उपस्थित होती हैं। **चिन्ता इच्छाओं के द्वारा उत्तेजित ज्वराक्रांत कल्पना का परिणाम है।** चिन्ता करना अधिकांशतः अपनी स्वयम् की उत्पन्न की गयी यंत्रणा को भोगना है। **चिन्ता ने कभी किसी का कुछ भी कल्याण नहीं किया है। चिन्ता से केवल**

**अन्तःकरण की शक्तियों का ही अपव्यय नहीं होता, किन्तु जीवन का आनन्द तथा सम्पूर्णता भी कम हो जाती है।**

जिन अनेक गुणों को विकसित करना साधक के लिए आवश्यक होता है, उन में प्रसन्नता, उत्साह तथा मानसिक समता या स्थिरता अत्यन्त मुख्य है। चिन्ता को काट कर जीवन से निकाल बाहर किये बिना इन गुणों को विकसित करना असम्भव है। **जब मन उदास, विषण्ण, तथा उद्विग्न रहता है, तो कार्य अस्तव्यस्त तथा बन्धनकारक होते हैं।** इसीलिए सभी परिस्थितियों में प्रसन्न, उत्साहित तथा स्थिरचित्त रहने की परम आवश्यकता है। यदि साधक चिन्ता को जीवन से निर्मूल उखाड़ फेंकने में सफल नहीं हुआ, तो उन गुणों का विकास करना उसके लिए असम्भव है। किन्तु चिन्ता, अतीत के प्रति आसक्ति, या प्रत्याशित भविष्य के प्रति आसक्ति का आवश्यक परिणाम है; और जब तक मन को प्रत्येक वस्तु से पूर्णतः अनासक्त नहीं कर लिया जाता, तब तक चिन्ता सदैव किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है।

**प्रसन्नता, उत्साह तथा समता।**

साधना पथ की कठिनाइयों पर तभी विजय प्राप्त की जा सकती है जब साधक में एकनिष्ठता (one pointedness) होगी। यदि सांसारिक व्यवहारों में अन्तःकरण की शक्तियाँ क्षय की जायेंगी, तो उसकी उन्नति अत्यन्त धीमी होगी। एकनिष्ठता का अर्थ है, दृश्य संसार के समस्त प्रलोभनों की ओर से विरक्ति। मन के समस्त प्रलोभनों तथा आकर्षणों की ओर से उदासीन हो जाना चाहिए, तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम स्थापित हो जाना चाहिए। अतः **सच्चे ज्ञान के शोध में एकाग्र होने के लिए, संयम तथा विरक्ति दोनो आवश्यक हैं।**

**संयम तथा विरक्ति एकनिष्ठता की शर्तें हैं।**

साधन–पथ में निश्चित तथा सुस्थिर गति से उन्नति करने के लिए, सदगुरु के पथ–प्रदर्शन का लाभ प्राप्त करना, एक परम आवश्यक शर्त है। सद्‌गुरु ठीक वही सहायता देते हैं जो साधक की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सद्‌गुरु केवल यही अपेक्षा करते हैं कि साधक आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपनी पूरी शक्ति भर चेष्टा करेगा। वह चेतना के आमूलाग्र परिवर्तन की अपेक्षा नहीं करता। चेतना के आमूलाग्र परिवर्तन की वह वहीं अपेक्षा करता है, जहाँ ऐसे परिवर्तन के लिए पहले से ही भूमि तैयार हो गयी रहती है। समस्त भौतिक उद्योगों में समय का जैसा महत्व है, वैसे ही आध्यात्मिक उन्नति में भी समय एक आवश्यक तत्व है। सद्‌गुरु जब साधक को एक

**सद्‌गुरु की सहायता का लाभ उठाना।**

बार आध्यात्मिक धक्का दे चुकता है, तो वह तब तक प्रतीक्षा करता है, जब तक साधक उस सहायता को पूर्णता ग्रहण न कर ले। **आध्यात्मिकता के आवश्यकता से अधिक परिमाण की सदैव ही अवांछनीय प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, विशेष कर जब वह अप्रासंगिक होता है। अतः सद्‌गुरु सावधानी के साथ ऐसे ही क्षण को चुनते हैं, जिस क्षण में उस की मध्यस्थता से अधिक से अधिक परिणाम उत्पन्न हो सकता है। और इस प्रकार मध्यस्थ होकर सहायता दे चुकने के बाद अनन्त धैर्य के साथ, तब तक रूका रहता है, जब तक साधक को अधिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती।**

# साधक के लिए आवश्यक गुण

(भाग 3)

## सेवा करने के लिए तैयार रहना

मानव जाति की सेवा करने के लिए साधक को सदैव तैयार रहना चाहिए। उसे अपने आप को किसी ऐसे कार्य में नहीं लगाना चाहिए जो उसकी योग्यता के विपरीत हो। उसे वही कार्य चुनना चाहिए जो उसका स्वभाव तथा उसकी योग्यता के अनुकूल हो। किन्तु जैसी सेवा करने की उसमें योग्यता हो वैसी सेवा उसे अत्यन्त विकट और अत्यन्त कठिन परिस्थिति में भी करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

**वैयक्तिक प्रवृत्ति तथा क्षमता के अनुसार सेवा करने की तत्परता।**

उसे अनेक मुसीबतें उठानी होंगी किन्तु जब भी सेवा करना सम्भव हो तब सेवा करने की उसकी प्रतिज्ञा अविचलित रहनी चाहिए। उसे सेवा के विचार से आसक्त नहीं होना चाहिए; अर्थात् उस में यह भाव नहीं रहना चाहिए कि अधिक से अधिक परिणाम वह स्वयम् ही पैदा करें। यदि सेवा आवश्यक हो तो कितना भी बलिदान करके, तथा कष्ट सहन करके, वह करने के लिए उसे तत्पर रहना चाहिए। किन्तु उसे इस मिथ्या भाव में बँध नहीं जाना चाहिए कि 'मैं' स्वयम् उस सेवा को करने का श्रेय प्राप्त करूं।

**सीमित 'मैं' के दावे मुक्त रहना।**

यदि उस सेवा को करने का विशेषाधिकार या सौभाग्य किसी दूसरे को प्राप्त हो जाय, तो उसे ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिए। यदि वह अपने लिये सेवा करने के अवसर की खोज में रहता है, तो उसका ऐसा करना स्वार्थपरता का ही एक रूप है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सेवा वही सेवा है, जिसमें स्वार्थ की किंचित भी भावना न हो। स्वयम् अपने ही लिए कुछ प्राप्त करने के लिये, कोई अनुभूत आवश्यकता नहीं होनी चाहिए तथा यह भी नहीं सोचना चाहिए कि मैं औरों को कुछ प्रदान कर रहा हूं। सेवा करने में स्वार्थ का थोड़ा भी चिन्ह न रहना चाहिए। यदि सेवा आवश्यक हो, तो सेवा करने की भावना स्वतंत्रता के साथ, तथा सहज ही उत्पन्न होनी चाहिए, और उसे सहकारिता के भाव में उत्पन्न होना चाहिए। सेवा करने में "मैं" का दावा बिल्कुल नहीं रखना चाहिए। "मैं" ही करूं, ऐसा आग्रह करना स्वार्थ है।

**छोटी और बड़ी वस्तुओं के द्वंद्व से छुटकारा**

यदि साधक समस्त कार्यों तथा उनके परिणामों से पूर्णतः अनासक्त हो जाता है तो वह महान् कार्य तथा तुच्छ काम के विकारपूर्ण द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है। **संसारी मनुष्य अपनी पृथक सत्ता को अनुभव करते हैं।** अतः ठोस परिणाम के मापदण्ड के द्वारा अपनी प्राप्तियों का मूल्य आँकने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, वे बड़ी वस्तुओं का पीछा करते हैं तथा छोटी वस्तुओं की उपेक्षा तथा अनावरण करते हैं। किन्तु **आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तथाकथित छोटी वस्तुएँ बहुधा उतनी ही महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं, जितनी तथाकथित बड़ी वस्तुएं।** अतः साधक का हेतु छोटी वस्तुओं का बहिष्कार करने तथा बड़ी वस्तुओं की खोज करने का नहीं होना चाहिए। उसे छोटी वस्तुओं और छोटे कार्यो को उतने ही मनोयोग तथा उत्साह के साथ करना चाहिए, जितने मनोयोग और उत्साह के साथ वह बड़ी वस्तुओं पर ध्यान देता है, या बड़े कार्यों को करता है।

**परम्पराओं का प्रभुत्व सेवा के क्षेत्र को संकुचित करता है।**

आध्यात्मिक जीवन में छोटी बातों का भी उतना ही महत्व है जितना बड़ी बातों का। किन्तु संसार की परम्पराएं इस साधारण सत्य को पहचानने और मानने में बहुधा असफल रहती है। **परम्परा से चले आनेवाले विचारों का अनुसरण करने से अपने बन्धुओं की सम्भव सेवा करने का क्षेत्र अस्वाभाविक रीति से केवल उन्हीं बातों तक सीमित हो जाता है, जो बातें परम्परागत रूढ़ियों के अनुसार महत्वपूर्ण मान ली जाती हैं।** तथा जीवन के लिये यथार्थतः आवश्यक एवम् महत्वपूर्ण अनेक बातें उपेक्षित रह जाती है, जिसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से, जीवन दीन हीन बन जाता है।

इस भांति जिस समाज पर जीवन सम्बन्धी भौतिक धारा का प्रभुत्व होता है, उस समाज में भोजन, वस्त्र या अन्य जीवन की अन्य आवश्यक सुविधाएं तथा सामग्रियाँ औरों को सुलभ करना, सेवा माना जाता है, जिस समाज में बौद्धिक संस्कृति की महत्ता सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं, उसमें कई प्रकार की शिक्षाओं का प्रसार करना, सेवा समझा जाता है, जिस समाज में सौंदर्यानुराग की रुचि अत्यन्त विकसित हो जाती है, उस समाज में कला की कृतियों का उत्पादन तथा विभाजन व्यवस्थित करना सर्वश्रेष्ठ सेवा समझा जाता है, जिस समाज में हृदय के अकथनीय सारों का श्रेष्ठ महत्व प्राप्त होता है, वहां हृदय के गुणों का विकास, तथा उनकी अभिव्यक्ति के साधन, और सुविधाएं निर्माण करना सर्वश्रेष्ठ सेवा समझा जाता है। तथा जो समाज आध्यात्मिक जीवन की परम महत्ता को हृदयंगम करता है, वहां आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करना ही श्रेष्ठ सेवा समझी जाती है। इन विभिन्न प्रकार की सेवाओं में, आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली सेवा सर्वश्रेष्ठ, तथा सर्वोच्य सेवा है, क्योंकि **आध्यात्मिक ज्ञान से ही समस्त मानवीय समस्याओं का सही हल प्राप्त होता है, तथा सभी समस्याएं तथा समस्त प्रश्न आध्यात्मिक ज्ञान के दृष्टिकोण में अर्न्तगत हैं।**

स्वीकृत मूल्य सेवा के क्षेत्र को संकुचित करता है।

किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में औरों की सेवा करने की इच्छा संकीर्ण धारणाओं से आरुढ़ होती है। **सेवा के दो प्रकार हैं; औरों के जीवन में वस्तुएं जुटाना, जो वास्तव में मूल्यवान हैं, एक प्रकार की सेवा है तथा औरों के जीवन से उन अड़चनों को निकाल बाहर करना, जो वास्तव में मूल्यवान वस्तुओं को प्राप्त करने में बाधक हों , दूसरे प्रकार की सेवा है। और, वस्तुओं के वास्तविक मूल्यसम्बन्धी हमारे विचार यदि संकीर्ण हैं, तो उसी अनुपात में औरों की सम्भाव्य सेवा का क्षेत्र भी संकुचित हो जाता है।**

दो प्रकार की सेवाएं।

सार्वजनिक संस्थाओं को बड़ी–बड़ी रकमों का दान करना तथा ऐसे बड़े परोपकार करने से ही सेवा के क्षेत्र का अन्त नहीं होता। हिम्मत हारते हुए अवसन्न हृदय को साहस प्रदान करने वाला एक शब्द या निराश जीवन में आशा तथा आनन्द उत्पन्न करने वाली एक मुस्कान को भी सेवा समझे जाने का उतना ही दावा है जितना दुःसह्य बलिदानों तथा वीरतापूर्ण कष्ट सहन एवम् स्वार्थ त्याग का। एक दृष्टि भी जो दृश्य से कटुता दूर कर देती है तथा नये प्रेम से उसे पूर्णस्पंदित कर देती है, यह भी सेवा है। यद्यपि इसमें सेवा

छोटी किन्तु महत्वपूर्ण बातें।

का कोई भाव नहीं रहता। स्वतन्त्र रूप से देखा जाय तो ये बातें, बहुत छोटी दिखाई देती हैं; किन्तु ऐसी छोटी बातों से ही तो जीवन निर्मित हुआ है, **और यदि ये छोटी बातें उपेक्षित कर दी जाएं, तो जीवन न केवल सौन्दर्य रहित हीन हो जाय, किन्तु आध्यात्मिकता शून्य भी हो जाय।**

**संसारी मनुष्यों के मूल्य आँकने में भूल का कारण।**

जिस प्रकार, संसारासक्त मनुष्यों में स्थूल परिमाणों और मात्राओं के दृष्टिकोण से ठोस प्राप्तियों का मूल्य आँकने की प्रवृत्ति होती है, वे (संसारासक्त मनुष्य), इसी प्रकार की भूल, कठिनाइयों, संकटों तथा आपत्तियों का मूल्य आँकने में भी करते हैं। अतः अनेक मनुष्य ऐसे हैं कि संकट पर उनका ध्यान तभी खिंचेगा, जब संकट किसी स्थूल दृश्य रूप में उनकी आँखों के सामने उपस्थित होगा। **संसारी मनुष्यों का यह लक्षण है कि वे उन्हीं बातों को महत्व देते हैं, जो बाह्य ढ़ंग से तथा ठोस रूप में साकार उपस्थित होती हैं। आन्तरिक जीवन के सूक्ष्म तथा नीरव तत्वों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता न वे उनका कोई मूल्य आँक सकते।** जैसे घृणा से मरे हुए मृत—सदृश जीवन की अपेक्षा ध्वन्सात्मक युद्ध को वे अधिक बड़ी विपत्ति समझते हैं, यद्यपि पूर्णतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कटु तथा विषाक्त घृणा से भरे हुए जीवन, युद्ध की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम घातक तथा कम ध्वंसात्मक नहीं समझे जा सकते। निर्दयता तथा क्रूरता के आँखों देखे उदाहरणों के कारण संसारी मनुष्य युद्ध को इतना कुछ समझते हैं किन्तु घृणा, युद्ध से कुछ कम बुरी वस्तु नहीं, यद्यपि वह बाहरी कार्यो में व्यक्त न हो। इसी प्रकार, कभी न तृप्त होने वाली, अदम्य इच्छा से आक्रान्त हृदय की यंत्रणाओं की ओर संसारी मनुष्य का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं होता जितना कि उनका ध्यान प्लेग, हैजा, जैसी फैलने वाली बीमारियों, शारीरिक घावों तथा मृत्यु की पीड़ाओं की ओर होता है।

**समस्त तथा सम्पूर्ण जीवन सेवा का क्षेत्र है।**

किन्तु जो साधक बिना कीर्ति'—कामना तथा सम्मान के बिना सेवा करने के लिये उत्सुक है उन्हें वे तमाम बातें ध्यान देने योग्य हैं, जो पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के लिये सहायक तथा घातक हैं, चाहे वे बातें संसार के सामान्य दृष्टिकोण में छोटी हो या बड़ी हों। जिस प्रकार सार्वलौकिक जीवन के प्रवाह में साम्राज्यों के उत्थान तथा पतन का महत्व है उसी प्रकार उसमें जीवन के माधुर्य तथा औदासीन्य के भंगुर क्षणों का भी महत्व है। एक का महत्व दूसरी वस्तु के मापदण्ड से निर्धारित करना नहीं चाहिए। साधक को समस्त जीवन को एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में देखना चाहिए। **जीवित शरीर में अन्य महत्वपूर्ण अंगों की उपेक्षा करके किसी एक अंग पर आवश्यकता से अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए।**

जब साधक ऐसी सेवा करता है, जो निःस्वार्थ होती है, तब भी वह मन की चौकसी करता रहता है। साधक को ईमानदार, नम्र तथा निष्कपट होना चाहिए। दिखाने के लिये उसे सेवा नहीं करनी चाहिए। सच्चे प्रेम से प्रेरित हो कर साधक सेवा करेगा, तो उस प्रेम के कारण वह अन्य सहसेवकों से पूर्ण सहकारिता तथा प्रेमाभाव रखने में समर्थ होगा, तथा उनसे वह ईर्ष्या कभी न करेगा। यदि सहसेवकों के बीच पूर्ण सुसंवादिता भाव नहीं है तो साधक जो सेवा करता है उसके द्वारा आध्यात्मिक आदर्श की पूर्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि बिना हार्दिक प्रेमभाव के, साधक केवल ऊपरी या बाहरी सेवा करता है, तो वह कर्तव्य के भाव से सेवा करता है; जैसे अनेक सांसारिक संस्थाओं में वेतन द्वारा नियुक्त कार्यकर्ता गण करते हैं। संसार की संस्थाओं में मनुष्य वेतन के लिए कार्य करते हैं; अधिक हुआ तो कर्तव्य के नीरस भाव से वे सक्षम होने के लिये प्रेरित होंगे। प्रेम से प्रेरित होकर सहज रूप से जो कार्य किया जाएगा, उसमें जो आन्तरिक सौन्दर्य होगा उसका वैतनिक कार्यकर्ताओं के कार्य में सर्वथा अभाव रहेगा।

**प्रेम से उत्पन्न होने वाली सेवा द्वारा अन्य सेवकों के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता है।**

यदि साधक को सद्गुरु के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो वह सच्ची सेवा की शिक्षा अत्यन्त उत्तमता के साथ ग्रहण कर सकता है। सद्गुरु प्रचार तथा मौलिक उपदेश के द्वारा नहीं सिखाता है किन्तु उदाहरण के द्वारा सिखाता है, और जब सद्गुरु मानवता की सेवा करता हुआ देखा जाता है, तो वह साधक सद्गुरु के प्रति प्रेम के कारण, शीघ्र ही सेवा करने के वास्तविक भाव को ग्रहण कर लेता है। सहकारिता तथा सहयोग के भाव को सीखने के लिए भी सद्गुरु–सहवास लाभदायक सिद्ध होता है। क्योंकि सभी साधक गुरु को समान रूप से प्रेम करते हैं; अतः उनके बीच प्रेम भाव तथा सहयोग सहज ही उत्पन्न हो जाता है। वे सेवा इसलिये करते हैं, कि सद्गुरु की आज्ञा रहती है या सद्गुरु सेवा चाहते हैं। वे सद्गुरु का कार्य करते हैं न कि अपने खुद का। वे अपनी खुद की इच्छा से उसे नहीं करते हैं किन्तु इसलिये करते है कि सद्गुरु ने वह कार्य उन्हें सौंप दिया है। अतएव वे वैयक्तिक दावों, हकों तथा विशेषाधिकारों के भाव से स्वतंत्र रहते हैं। वे केवल सद्गुरु के कार्य को उत्तम से उत्तम रूप में रखने की ओर ध्यान देते है, वे सद्गुरु के कार्य को अपनी पूर्ण योग्यता से करने के लिये तत्पर रहते है जब उन्हें कोई कार्य करने के लिए कहा जाता है। तथा उस कार्य को किसी दूसरे सहसेवक के हाथ में सौंपने के लिये भी वे उसी प्रकार सहर्ष तैयार रहते हैं, यदि उसकी अपेक्षा वह अधिक अच्छाई से कर सकता है।

**सद्गुरु के सम्पर्क की महत्ता।**

इस प्रकार के सहयोग के द्वारा, एक प्रकार से, साधक एक दूसरे की भी सेवा करते हैं क्योंकि सद्‌गुरु के कार्य को सब अपने ही कार्य की तरह स्वीकार करते हैं तथा सद्‌गुरु के कार्य को करने के लिए अन्य सहसेवकों की सहायता करने में साधक न केवल सहसाधक के प्रति सेवा करता है, किन्तु सदगुरु के प्रति भी सेवा करता है, किन्तु ऐसी सेवा में कोई एक दूसरे पर हुकूमत भी नहीं करता क्योंकि साधक को इस बात का सदैव ध्यान रहता है, कि वह जो काम कर रहा है वह सद्‌गुरु का काम है, जिसे अपना काम समझ कर वह कर रहा है। वह यह भी जानता है कि साधक की हैसियत से वे सब बराबर हैं अतः पूर्ण नम्रता के भाव में सेवा करने की आदत उत्पन्न करना उसके लिये सरल हो जाता है। यदि सेवा उसे अभिमानी बनाती है, तो उसके लिए यह अच्छा हुआ होता यदि उसने सेवा न की होती। अनेक गुणों को सीखना जैसे कठिन होता है, वैसे **यह गुण सीखना भी कठिन होता है। जिससे, बिना किसी पर हुकूमत किये सेवा करना, बिना आडम्बर के सेवा करना, तथा श्रेष्ठ और हीन भावना से रहित होकर साधक सेवाक्षम बनता है। आध्यात्मिक जगत् में नम्रता का उतना ही महत्व है, जितना उपयोगिता का है।**

**आडम्बर–शून्य सेवा**

जब सद्‌गुरु सेवा करता है, तो वह इसलिये सेवा नहीं करता कि वह सेवा कार्य से आसक्त है, किन्तु वह अपने शिष्यों की सहायता करने तथा उनके सामने निःस्वार्थ सेवा का उदाहरण उपस्थित करने के लिये सेवा करता है। औरों की सेवा करते समय सद्‌गुरु औरों में अपने आप को ही देखता है, तथा ऐसा अनुभव करता है कि उसने अपनी ही सेवा की। कभी भी कम न होने वाली एकता की आनन्दपूर्ण अवस्था में सद्‌गुरु अपने को सभी का स्वामी भी जानता है, तथा सभी का सेवक भी जानता है। अतः वह सेवा के आदर्श को चरितार्थ करके दिखलाता है, जिसमें न तो सेवा करने वाले उसके स्वयम् के लिये बन्धन रहता, और न उसके लिये बन्धन होता, जो उसकी सेवा ग्रहण करते है। सद्‌गुरु सेवा का जो उदाहरण उपस्थित करता है उसे अपने सम्मुख रखने पर साधक शीघ्र ही सच्ची सेवा के आदर्श को अपना सकता है। किन्तु साधक की आध्यात्मिक तैयारी तब तक पूर्ण हुई नहीं समझी जा सकती, जब तक उसने ऐसी सेवा करना नहीं सीखा जो भार सी नहीं मालूम पड़ती, अपितु स्वतन्त्रता देती है; जो हक, प्रतिहक नहीं, उत्पन्न करती है, वरन् जो स्वतन्त्र आदान प्रदान की सहज भावना में की जाती है, जो स्वास्थ्य–युक्त इच्छा के भार से मुक्त रहती है, तथा जो नित्य नवीन होने वाली तृप्ति के भाव से पोषित होती है।

**सेवा का आदर्श।**

# साधक के विशिष्ट सद्‌गुण

(भाग 4)

## श्रद्धा

**श्रद्धा** साधक के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है। श्रद्धा के तीन प्रकार हैं; (1) अपने आप में श्रद्धा (अर्थात् आत्म–विश्वास) (2) गुरु में श्रद्धा (गुरु पर विश्वास) तथा (3) जीवन में श्रद्धा। जीवन के लिये श्रद्धा की इतनी अनिवार्य आवश्यकता है कि यदि वह कुछ न कुछ अंश में न रहे तो जीवन ही असम्भव हो जाय। **श्रद्धा के ही कारण सहयोग पूर्ण सामूहिक तथा सामाजिक जीवन सम्भव होता है। पारस्परिक श्रद्धा के ही कारण प्रेम का स्वतन्त्र आदान प्रदान तथा कार्यों और उसके परिणामों का स्वतंत्र तथा पारस्परिक विभाजन सम्भव होता है।** जब पारस्परिक भय तथा पारस्परिक सन्देहों से जीवन आक्रान्त हो जाता है, तो जीवन कुण्ठित तथा संकुचित हो जाता है।

श्रद्धा का महत्व तथा उसके रूप।

बच्चे अपने से बड़ों में स्वाभाविक श्रद्धा रखते हैं। वे स्वाभाविक बुद्धि से ही उन्हें अपने सहायक तथा रक्षक मानते हैं। किसी की सिफ़ारिश भरनेवाली चिट्ठी की उन्हें

आवश्यकता नहीं होती। दूसरों पर विश्वास करने का यह गुण आगे के जीवन में भी भरा रहता है तब तक, जब तक कि मनुष्य दूसरों के द्वारा धोखा खाकर एक कठोर धक्का नहीं पा जाता या दूसरों के स्वार्थ के लिए वह शोषित नहीं होता। अतः यद्यपि

**पारस्पिरिक श्रद्धा तथा उसका आवश्यक सहचारी प्रतिरूप।**

श्रद्धा मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है, तथापि वह उसी समाज में विकसित होती तथा फलती–फूलती है जिस समाज में मनुष्य विश्वसनीय तथा ईमानदार तथा श्रद्धा करने योग्य होते हैं। शत्रुता के वातावरण में श्रद्धा लुप्त हो जाती है। पारस्परिक श्रद्धा निर्माण होकर दृढ़ होने के लिए श्रद्धा के प्रतिरूपी (Counterparts) गुणों का साहचर्य पोषक बनता है। **दूसरे, हम पर जो श्रद्धा करे उस श्रद्धा को निभाना तथा औरों पर श्रद्धा करना ये दोनो एक दूसरे के पूरक सद्‌गुण हैं। ये गुण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के अनिरूद्ध प्रवाह के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं।**

एक दूसरे में पूर्ण तथा अवितर्क श्रद्धा आदर्श जगत् की वस्तु है, व्यावहारिक जगत् में वह कुछ खास उदाहरणों में ही पायी जाती है। यद्यपि श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक एवं

**अपने आप में श्रद्धा का महत्व।**

वांछनीय है तथापि वह तब तक नहीं आयेगी। जब तक संसार ऐसे लोगों से पूर्ण न हो जाय जो अनन्त श्रद्धा करने में योग्य हो। ऐसा तभी हो सकता है जब मानव समाज में विश्वसनीयता, दृढ़ता तथा सहकारिता एवं सहायकता के गुणों का पूर्ण विकास हो जाय। किन्तु पारस्परिक श्रद्धा को जन्म देने वाले ये गुण तब तक विकसित नहीं हो सकते जब तक मनुष्य में परम आत्मश्रद्धा या आत्मविश्वास न विकसित हो जाय। **यदि मनुष्य में आत्मविश्वास नहीं है, या अपने में श्रद्धा नहीं है, तो वह उन गुणों का विकास नहीं कर सकता, जिनके कारण वह औरों का विश्वासपात्र बन सके।** यह श्रद्धा या यह विश्वास, कि तुम अनेक प्रकार की संकटापन्न परिस्थितियों में भी जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हो उसके प्रति निष्ठा नहीं त्यागोगे, विश्वसनीय चरित्र की रचना तथा निर्माण की मानो नींव है।

किन्तु अपने आप में कभी न विचलित होनेवाली श्रद्धा उतनी ही विरल हैं जितनी किसी अन्य पुरुष में अवितर्क श्रद्धा। बहुत थोड़े ही व्यक्तियों में आत्मश्रद्धा उतने अंशो

**आत्म–श्रद्धा का सुरक्षित आधार।**

में विकसित हुई पाई जाती है। जिससे वे अपने ऊपर प्रभाव–पूर्ण तथा रचनात्मक संयम रख सके। अनेक मनुष्य सही मार्ग का ज्ञान रखते हुए भी उस मार्ग से बारम्बार विचलित होते रहते हैं। उनकी बारम्बार की असफलता, हार तथा दुर्बलता उनकी आत्मश्रद्धा को बारम्बार खण्डित तथा मग्न करती जाती है। उनकी बार–बार की विफलता उनकी आत्मश्रद्धा के लिए

एक चुनौती होती है और उनकी आत्मश्रद्धा डांवाडोल होकर उखड़ने लगती है। **जो आत्मश्रद्धा इस प्रकार निरन्तर नष्ट–भ्रष्ट होने के ख़तरे में रहती है, वह फिर से सुरक्षित तथा सुस्थापित की जा सकती है, यदि मनुष्य की आँखों के सामने पूर्णता का सजीव उदाहरण उपस्थित हो, और वह उसमें श्रद्धा रखे।**

गुरु के प्रति श्रद्धा

गुरु के प्रति श्रद्धा रखने से आत्म–श्रद्धा की रक्षा तथा वृद्धि करने में सहायता मिलती है। गुरु में विश्वास तथा जीवन के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। **गुरु के प्रति श्रद्धा रखने से असफलताओं तथा पराजयों, विघ्नों तथा संकटों, दोषों तथा दौर्बल्यों के होते हुए भी अपने आपके प्रति तथा जीवन के प्रति श्रद्धा टूटती नहीं है। गुरु विश्वास, गुरु–भक्ति या गुरु निष्ठा इसीलिए महत्वपूर्ण है।** मनुष्य जानता है कि उसका जीवन तथा अनेक मनुष्यों का जीवन संकीर्ण विकृत तथा दूषित है; किन्तु गुरु के जीवन में वह अनन्तता, पवित्रता तथा निर्विकारिता का दर्शन करता है। **गुरु में मनुष्य अपने ही आदर्श को कार्य में परिणत हुआ देखता है; उसकी अंतरात्मा जो होना चाहती है, वही उसका गुरु हो चुका रहता है। उसके भीतर जो सर्वश्रेष्ठ रहता है, उसी का प्रतिबिम्ब वह गुरु में देखता है; किन्तु उसके भीतर जो सर्वश्रेष्ठ रहता है वह अभिव्यक्त नहीं हुआ रहता है और उसे आशा रहती है कि वह एक न एक दिन निःसन्देह अभिव्यक्त होगा।** अतएव गुरु–श्रद्धा, मनुष्य में सुप्त दिव्यता की अनुभूति के लिये एक प्रेरक शक्ति होती है।

श्रद्धा तथा परीक्षणात्मक तर्क।

सच्ची श्रद्धा आत्मा के गम्भीर अनुभवों तथा शुद्ध अन्तःप्रज्ञा (Pure Intuition) के निर्दोष निर्णयों पर आश्रित रहती है। श्रद्धा (विश्वास) को आलोचनात्मक तर्क का अन्तर्विरोधी समझना ठीक नहीं है। श्रद्धा आलोचनात्मक तर्क का अचूक मार्गदर्शक है। **शुद्ध अन्तःज्ञान पर आश्रित, गम्भीर एवम् सजीव श्रद्धा के द्वारा जब अलोचनात्मक तर्क कार्य में परिणत किया जाता है, तब उसकी क्रिया शुष्क, निष्फल तथा अर्थशून्य न होकर, रचनात्मक, फलोत्पादक तथा महत्वपूर्ण होती है।** इसके विरूद्ध यह बात सच है कि कई प्रकार के सरल अन्धविश्वास केवल आलोचनात्मक तर्क की निर्भीक तथा स्वतंत्र क्रिया के ही द्वारा भंग किये जा सकते हैं। तथापि यह भी उतना ही सच है कि आलोचनात्मक तर्क केवल ऐसे ही विश्वासों को छू सकता है या केवल ऐसे ही विश्वासों की विवेचना कर सकता है जो शुद्ध अन्तःप्रज्ञा आश्रित नहीं रहते। किन्तु शुद्ध अन्तःप्रज्ञा के द्वारा प्रेरित विश्वास सदैव एक अनिवार्य कर्तव्य होता है और

तर्क बुद्धि के द्वारा उसकी विवेचना करना अन्ततोगत्वा असम्भव सिद्ध होता है। अन्तःप्रज्ञा प्रेरित विश्वास सीमित बुद्धि से उत्पन्न नहीं होता है। वह बुद्धि से परे किसी अधिक मौलिक तथा आन्तरिक उद्‌गम स्थान से उत्पन्न होता है। अतएव वह बुद्धि के उपद्रव उत्पात या तर्क के चंचल नर्तन से चुप नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि चूँकि विश्वास तर्क–बुद्धि की कसौटी पर नहीं किया कसा जा सकता अतः उसे किसी भी अवस्था में अन्धा होना चाहिए। **सच्ची श्रद्धा अन्धता नहीं है; किन्तु एक प्रकार की दृष्टि है; उसे परीक्षणात्मक तर्क की स्वतन्त्र क्रिया से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

**विश्वास तथा सन्देह का विश्लेषण।**

गुरु की परीक्षा करने का अधिकार शिष्यों को सदैव ही दिया गया है; किन्तु **परीक्षा करने के पश्चात् तथा गुरु की पूर्णता के बारे में सन्तुष्ट होने के पश्चात यदि शिष्य में विश्वास चान्चल्य उत्पन्न होता है, तो उसमें उद्देश्य--निष्ठा का शोचनीय अभाव ही अवश्य है।** उसमें दृढ़ता तथा सच्चाई की दयनीय न्यूनता होने के फल स्वरूप ही ऐसे विश्वास–चान्चल्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान का दावा करने वाले अयोग्य व्यक्तियों पर अन्ध–विश्वास करने वालों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं उसी प्रकार अपने निजी अनुभव का प्रामाणिक आधार रहने पर भी अनुचित विश्वास–चान्चल्य उत्पन्न होने के अनेक उदाहरण देखे जाते है, और जिस प्रकार अंध ाविश्वास अनेक सांसारिक इच्छाओं की अचेतन क्रिया का परिणाम होता है उसी प्रकार अनुचित विश्वास–चान्चल्य भी इच्छाओं की अचेतन क्रिया के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञात रूप से कार्य करने वाली इच्छाएं युक्ति–सिद्ध विश्वास की सफल अभिव्यक्ति का विरोध करती हैं और इसी कारण विश्वास में चन्चलता पैदा होती है। **प्रथम प्रकार की इच्छा अनुचित विश्वास की जननी होती है; तथा दूसरी प्रकार की इच्छा अनुचित सन्देह की जननी होती है।**

**विश्वास–चान्चल्य का कारण अज्ञातरुप से कार्य करने वाली तृष्णाएं हैं।**

तृष्णाओं का यह स्वभाव है कि वे आलोचनात्मक तर्क की क्रिया को विकृत कर देती हैं; तथा **शुद्ध अन्तःप्रज्ञापर आश्रित अचंचल विश्वास ऐसे ही मन को प्राप्त होता है, जो विभिन्न चाहों के भार से मुक्त रहता है।** अतएव सच्चा विश्वास क्रमशः विकसित होता है। जिस अनुपात में अपनी चेतना को विभिन्न चाहों से मुक्त करने में शिष्य सफल होता है उसी अनुपात में उसके विश्वास की वृद्धि होती है।

यह बात सावधानीपूर्वक समझ लेनी चाहिए कि श्रद्धा निरे बौद्धिक विश्वास या 'राय' से भिन्न है। जब मनुष्य की किसी व्यक्ति के बारे में अच्छी राय होती है तो, कहना चाहिए, वह उस में एक प्रकार की श्रद्धा रखता है। किन्तु इस प्रकार की राय में वह आध्यात्मिक क्षमता नहीं रहती जो गुरू के प्रति सजीव श्रद्धा में होती है। मनुष्य के बौद्धिक विश्वास तथा मत अधिकतर मानवीय अन्तःकरण के अत्यन्त बाह्य स्तर होते हैं; उन का अन्तःकरण भी गम्भीरतर शक्तियों से कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं रखता। वे मन के एक भाग में रहते हैं; और **वे व्यक्तित्व के उस अन्तर में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करते, जो जीवन के प्रति रूख़ निर्दिष्ट करता है।** मनुष्य ऐसे विश्वास वैसे ही रखते हैं जैसे वे कपड़े पहनते हैं। आवश्यकता के समय, वे तात्कालिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कपड़े बदल लेते हैं। **ऐसे उदाहरणों में विश्वास अज्ञात रूप से अन्य उद्देश्यों के द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। उद्देश्य ज्ञानतः विश्वासों के द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते।**

**बौद्धिक विश्वास तथा मत।**

इसके विपरीत, सजीव श्रद्धा का अन्तःकरण की समस्त गम्भीरतर शक्तियों तथा उद्देश्यों के साथ अत्यन्त गहरा एवम् मौलिक सम्बन्ध रहता है। सजीव श्रद्धा अन्तःकरण की उपरी सतह पर ही नहीं तैरती रहती है और न वह चेतना के बाह्य भाग पर विश्वासों के समान लटकती रहती है। इसके विरुद्ध सजीव श्रद्धा ऐसी प्रबल शक्ति होती है जो समूचे अन्तःकरण का पुनर्निमाण करती है। वह रचनात्मक तथा संचालक शक्ति से सम्पन्न होती है। **ऐसा कोई विचार नहीं, जो उसके द्वारा सजीवित न होता हो; ऐसा कोई भाव नहीं, जो उसके द्वारा उद्दीप्त होता हो; ऐसा कोई उद्देश्य नहीं, जो उसके द्वारा पुननिर्मित न होता हो।** गुरु के प्रति ऐसी सजीव श्रद्धा शिष्य में परम प्रोत्साहन तथा अटल आत्मविश्वास उत्पन्न करती है। गुरु–श्रद्धा गुरु के सम्बन्ध में किसी कोरी राय के द्वारा, अपने आपको अभिव्यक्त नहीं करती है; किन्तु वह गुरु पर पूर्णतः निर्भर रहने की भावना के द्वारा, अपने आपको अभिव्यक्त करती है। **गुरु के प्रति सजीव श्रद्धा रखना शिष्य के द्वारा गुरु को प्रमाणपत्र या प्रशंसापत्र देने के तुल्य नहीं है। वह है गुरु में सजीव श्रद्धा रखना, गुरु में सक्रिय निष्ठा रखना, गुरु निष्ठा का अर्थ है, बिना तर्क वितर्क के या बिना शंका–सन्देह के गुरुपर निर्भर रहना, तथा गुरु से सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा करना तथा आत्मसमर्पण तथा अनन्य भक्ति की भावना से गुरु की शरण में अपने आपको छोड़ देना।**

**सजीव श्रद्धा रचनात्मक एवम् प्रेरणात्मक शक्ति होती है।**

ऐसी सक्रिय एवम् सजीव गुरु–श्रद्धा किसी गम्भीर अनुभव के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है जो गुरु के द्वारा अधिकारी शिष्य को प्रदान किया जाता है। बिना सोच विचार के परिणाम स्वरूप जो विश्वास उत्पन्न होता है, या बाह्य विचार के परिणाम स्वरूप जो विश्वास उत्पन्न होता है, उनमें तथा गुरु के प्रति उत्पन्न होने वाली श्रद्धा में मौलिक भेद है। कोरे बौद्धिक विश्वासों का बहुत कम आध्यात्मिक महत्व है। अतएव गुरु को इस बात से मतलब नहीं रहता कि उसका शिष्य उसपर विश्वास करता है या किसी अन्य पर विश्वास करता है और इस बात की भी परवाह नहीं करता कि उसका शिष्य उस पर विश्वास करता है या नहीं करता। यदि किन्हीं शिष्यों को गुरु के अनुग्रह का पात्र बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है और गुरु उन्हें अपनी अनुकम्पा प्रदान करके उनमें अपने प्रति सजीव श्रद्धा (जो कोरे विश्वास से भिन्न होती है) उत्पन्न करता है तो वह ऐसा इसलिए करता है कि उन शिष्यों में उसके अनुग्रह का फल उत्पन्न होगा।

**सजीव श्रद्धा अनुभव पर आश्रित रहती है।**

**जिस प्रकार, शिष्य इस बात में गुरु की परीक्षा लेता है, कि गुरु में पथ–प्रदर्शन करने की योग्यता है या नहीं, उसी प्रकार, गुरु शिष्य की इस बात में परीक्षा लेता रहता है, कि शिष्य में ध्येयनिष्ठा है या नहीं।** गुरु इस बात की ज़रा भी परवाह नहीं करता है कि उसका शिष्य उस पर श्रद्धा करता है या सन्देह करता है; गुरु सिर्फ़ इस बात में परीक्षा लेता रहता है कि शिष्य में अपने आध्यात्मिक अनुसंधान तथा साधना के प्रति अनन्य सच्चाई तथा दृढ़ लगन है या नहीं। शिष्य को अपनी आध्यात्मिकता का सबूत देने की ओर गुरु की रुचि नहीं रहती वह ऐसा सबूत तभी देता है जब यह समझता है कि उसे आत्मसमर्पण करने वाले शिष्य के आध्यात्मिक लाभ के लिए ऐसा सबूत देना अत्यन्त उपयोगी तथा अनिवार्य रूप से आवश्यक सिद्ध होगा।

**शिष्य की परीक्षा।**

# माया

## (भाग–1)

## मिथ्या मूल्य

प्रत्येक व्यक्ति सत्य को जानना तथा अनुभव करना चाहता है किन्तु सत्य अपने वास्तविक स्वरूप में तब तक जाना तथा अनुभव नहीं किया जा सकता, जब तक अज्ञान के वास्तविक स्वरूप को जाना तथा अनुभव न किया जाय। सत्य का वास्तविक स्वरूप तभी जाना और अनुभव किया जा सकता है, जब असत्य का वास्तविक स्वरूप जाना और अनुभव किया जाय। इसीलिए माया अर्थात् अज्ञान के तत्व को समझने की आवश्यकता तथा महत्ता उत्पन्न होती है। लोग माया के सम्बन्ध में पढ़ते तथा सुनते बहुत हैं; किन्तु माया वास्तव में क्या है यह समझने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है। माया का केवल मात्र बाह्य ज्ञान पर्याप्त नहीं है। यह आवश्यक है, कि माया जैसी है वैसी ही वह समझी जाय, अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय। **माया अर्थात् अज्ञान के तत्व को समझना संसार के आधे सत्य को जानना है।** जीवात्मा को आत्मज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके सब प्रकार के अज्ञान नष्ट हो जाएं। अतः जो असत्य है उसे जानना, उसे असत्य है–ऐसा जानना, तथा असत्य तो असत्य है ऐसा जानकर असत्य से मुक्त होना–मनुष्य के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।

**माया के मिथ्यात्व को समझने का महत्व।**

मिथ्यात्व का मौलिक स्वभाव क्या है ? यदि सत्य–सत्य के ही रूप में जान लिया गया तथा असत्य असत्य के रूप में जान लिया गया, तो फिर मिथ्यात्व नहीं रह जाता किन्तु एक प्रकार का ज्ञान ही प्राप्त हो जाता है। **मिथ्यात्व का अर्थ है, सत्य को असत्य समझना, या असत्य को सत्य समझना–अर्थात् किसी वस्तु को वह वास्तव में जो है, उससे भिन्न समझना। अतः मिथ्यात्व वस्तुओं के स्वभाव को समझने में भूल करना है।**

**मिथ्यात्व का सार।**

स्थूल दृष्टि कोण से दो प्रकार के ज्ञान हैं। (1) अस्तित्व के तथ्यों के सम्बन्ध में पूर्णतः बौद्धिक ज्ञान (Judgments of Fact) तथा (2) वस्तुओं के सारासार का ज्ञान (Judgments of Valuation) जिसका अर्थ है वस्तुओं का महत्व समझना या उनका मूल्य आँकना। वस्तुओं के मूल्यों से किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध रहने के ही कारण पूर्णतः बौद्धिक निर्णयों या विश्वासों का महत्व है। यदि मूल्यों से उनका कोई सम्बन्ध न रहे तो उनका स्वयमेव अत्यन्त स्वल्प महत्व होगा। जैसे, किसी वृक्ष के पत्तों की यथार्थ संख्या को गिनने में कोई भी मनुष्य कोई विशेष रुचि नहीं रखता, यद्यपि पूर्णतः सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वृक्ष के पत्तों की संख्या का ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान है। किन्तु ऐसा ज्ञान महत्व–पूर्ण नहीं समझा जाता, क्योंकि अन्य मूल्यों से इस ज्ञान का कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। बौद्धिक ज्ञान तभी महत्वूपर्ण बन जाता है, जब उसकी सहायता से मनुष्य किन्हीं मूल्यों की अनुभूति करने में समर्थ होता है। जब बौद्धिक ज्ञान की सहायता से उन साधनों को मनुष्य वशीभूत करने में समर्थ होता है, जिन के द्वारा, वह मूल्यों की अनुभूति कर सकता है, तभी बौद्धिक ज्ञान का महत्व है। कहने का तात्पर्य यह है, कि **बौद्धिक ज्ञान तभी महत्वपूर्ण है, जब उसके द्वारा सारभूत मूल्यों की प्राप्ति में सहायता मिलती है, या जब स्वीकृत सारों या मूल्यों को वह संशोधित तथा प्रभावित करता है।**

**ज्ञान के दो प्रकार।**

जैसे ज्ञान के दो प्रकार हैं वैसे ही मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं, (1) उन वस्तुओं को सत्य समझने की भूल करना जो सत्य नहीं है, तथा (2) मूल्य आँकने में भूल करना। मूल्य आँकने में तीन प्रकार से भूलें की जाती है; (अ) महत्वशून्य को महत्वपूर्ण समझने की भूल, या (ब) महत्वपूर्ण को महत्वशून्य समझने की भूल, या (स) किसी वस्तु को वह महत्व देने की भूल जो उसके असली महत्व से भिन्न है। ये सभी मिथ्यात्व मय की सृष्टियां हैं।

**वस्तुओं का मूल्य आँकनें में या उनके सारासर का निर्णय करने में तीन प्रकार की भूलें।**

यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि कोण से सभी प्रकार के मिथ्यात्व माया के भीतर सम्मिलित हैं तथापि कुछ मिथ्यात्व ऐसे हैं जो मुख्य हैं तथा कुछ मिथ्यात्व ऐसे हैं जो गौण हैं। यदि कोई मनुष्य एक सिंहासन को जितना बड़ा वह है उससे थोड़ा अधिक बड़ा समझता है तो उसका ऐसा समझना मिथ्यात्व है यद्यपि यह मिथ्यात्व गौण है और इसका कोई विशेष परिणाम नहीं होता। इसके विपरीत, यदि कोई मनुष्य सिंहासन को अपने जीवन का सर्वस्व समझता है तो यह भी मिथ्यात्व होगा किन्तु यह एक ऐसा मिथ्यात्व है जिसका उसके जीवन–क्रम पर मौलिक प्रभाव तथा परिणाम उत्पन्न होता है। **सारांश, यह कि कुछ दृश्यात्मक तथ्यों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्णतः बौद्धिक निर्णयों की भूलों की अपेक्षा वस्तुओं के मूल्य आँकने या वस्तुओं के सारासार का निर्णय करने में की जानेवाली भूलों के अधिक दुष्परिणाम होते हैं। ऐसी भूलों में जीवन को मार्ग–भ्रष्ट करने, विकृत करने तथा सीमित करने की अत्यन्त अधिक शक्ति होती है।**

**मूल्य आँकने में ग़लती करने के दुष्परिणाम।**

मूल्य–निरूपण की भूलें मानसिक इच्छाओं या चाहों के प्रभाव के कारण होती हैं। **यथार्थ मूल्य वे मूल्य हैं जो स्वयमेव वस्तुओं में हों।** यथार्थ मूल्य अन्तस्थ होते हैं अतः वे अनन्त तथा नित्य होते हैं और **उनका मूल्य समय–समय पर तथा मनुष्यों मनुष्यों के पास बदलता नहीं रहता।** किन्तु मिथ्या मूल्य इच्छाओं या चाहों से उत्पन्न होते हैं; वे मानसिक तत्वों पर अवलम्बित रहते हैं। चूँकि वे मानसिक तत्वों पर अवलम्बित रहते है, अतः वे सापेक्ष तथा अनित्य होते हैं और वे **समय–समय पर तथा मनुष्यों–मनुष्यों के पास बदलते रहते हैं।**

**मानसिक चाहों के प्रभाव के कारण मिथ्या तत्वों की उत्पत्ति।**

वह मनुष्य, जो सहारा में है तथा अत्यन्त प्यासा है, सोचता है कि पानी से बढ़कर मूल्यवान वस्तु कुछ भी नहीं है तथा वह मनुष्य, जिसके हाथ में ख़ूब पानी है तथा जो बहुत प्यासा नहीं है, पानी को वही महत्व नहीं देता। इसी प्रकार भूखा मनुष्य भोजन को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है। किन्तु वह मनुष्य, जिसने पेटभर भोजन कर लिया है, भोजन के बारे में तब तक सोचता भी नहीं है जब तक उसे भूख न लगे। यही बात उन वासनाओं तथा लालसाओं पर भी लागू होती है जो अपने पूरक विषयों को काल्पनिक तथा सापेक्ष मूल्य प्रदान करते हैं।

**उदाहरण।**

वासनाओं एवम् लालसाओं की तीव्रता या शिथिलता के अनुसार इंद्रिय–पदार्थों का मूल्य अधिक या कम होता है। यदि इन वासनाओं तथा लालसाओं की तीव्रता या आवश्यकता में वृद्धि हो जाती है तो इनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के मूल्य में भी

वृद्धि हो जाती है। यदि उनकी तीव्रता या आवश्यकता कम पड़ जाती है तो पदार्थों का भी मूल्य बहुत कुछ घट जाता है। और, यदि वासनाएं तथा लालसाएं कभी सुप्त होती हैं, फिर कभी उग्र होती हैं, तो जब वासनाएं तथा लालसाएं सुप्त रहती हैं तब पदार्थों में सम्भव (Possible) मूल्य रहता है और जब ये जाग्रत होती हैं तब पदार्थों में प्रत्यक्ष भासमान (actual) मूल्य हो जाता है। किन्तु ये सब मूल्य मिथ्या मूल्य हैं, क्योंकि ये मूल्य स्वयमेव पदार्थों के मूल्य नहीं है; क्योंकि जब सच्चे ज्ञान के प्रकाश में, समस्त वासनाएं तथा लालसाएं पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं तो इन वासनाओं और लालसाओं की क्रिया के कारण जिन वस्तुओं को जो महत्व दिया गया रहता है वे वस्तुएं उन उधार मूल्यों से सर्वथा वंचित हो जाती हैं और वे रिक्त तथा महत्व–शून्य दिखाई देती हैं।

मिथ्या मूल्य अन्याश्रित तथा सापेक्ष होते हैं।

**वह अप्रचलित सिक्का, जिसका बाजार में कोई मूल्य नहीं है, मिथ्या समझा जाता है, यद्यपि उसका एक प्रकार का अस्तित्व है, उसी प्रकार, वासनाओं तथा लालसाओं के विषय, जिनकी तुच्छता एवम् रिक्तता (Emptiness) ज्ञात हो जाती है, मिथ्या समझे जाते हैं, यद्यपि उनका किसी न किसी प्रकार का अस्तित्व रहता है।** ये विषय एक अर्थ में जहाँ के तहाँ रहते हैं; और उनका अस्तित्व देखा तथा जाना भी जा सकता है; किन्तु वे पहले की वही वस्तुएं नहीं रह जाते; उनका वही मूल्य नहीं रह जाता; वे रिक्त हो जाते हैं। ये विषय वासनाओं तथा लालसाओं से विकृत कल्पना को तृप्ति का मिथ्या आश्वासन देते हैं; किन्तु स्थिर तथा शान्त ज्ञान, आत्मा से पृथक् इनका महत्व नहीं देखता।

इन्द्रिय–पदार्थों की रिक्तता एवम् सारशून्यता।

जब किसी का प्रिय व्यक्ति मर जाता है, तो उसे शोक तथा सूनेपन का अनुभव होता है। किन्तु जिसे हमेशा देखते रहो, उसके खो जाने की इस भावना का कारण है, आत्मा से पृथक् रूप पर आसक्त हो जाना। मृत्यु से रूप अन्तर्हित हो जाता है, आत्मा नहीं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में मरती नहीं, और न वह कहीं दूर चली जाता, क्योंकि वह सर्वत्र है। किन्तु देहासक्ति के कारण, रूप महत्वपूर्ण समझ लिया गया था, तमाम लालसाएं, इच्छाएं, भावनाएं तथा विचार, रूप पर केन्द्रित कर लिए जाते हैं और जब मृत्यु के द्वारा रूप अन्तर्हित हो जाता है, तो एक शून्यता का अनुभव होता है जो मृत व्यक्ति के खो जाने के भाव से उत्पन्न होता है। **यदि आत्मा से पृथक स्वयमेव रूप को मिथ्या महत्व नहीं दिया गया होता, तो मृत व्यक्ति के खो जाने से शोक का अनुभव नहीं होता।** सूनेपन का भाव, प्रिय व्यक्ति की सुखद स्मृति, उसके समीप

जो महत्व–शून्य है उसे महत्वपूर्ण समझना।

रहने की लालसा, उसके वियोग–जन्य आँसू तथा मृत्यु से उत्पन्न विश्वास–ये सब मिथ्या मूल्य–निरूपण (False valuation) के कारण हैं; ये सब माया की क्रिया है। जब महत्व–रहित वस्तु महत्व–पूर्ण समझ ली जाती है, तब हमें माया–क्रिया की एक मुख्य अभिव्यक्ति मालूम हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से, यह एक प्रकार का अज्ञान है।

इसके विपरीत, माया की क्रिया के कारण एक महत्वपूर्ण वस्तु महत्व–शून्य दिखाई देती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से एकमात्र महत्वपूर्ण वस्तु ईश्वर है। किन्तु ईश्वर ही के लिए ईश्वर में रुचि रखने वाले मनुष्य बहुत थोड़े है। यदि संसारी मनुष्य ईश्वर की ओर आँखे फेरते भी हैं तो वे अधिकांशतः अपने स्वार्थयुक्त तथा भौतिक उद्देश्य के ही कारण। **वे चाहते हैं कि ईश्वर उनकी इच्छाओं को पूर्ण कर दे तथा किसी शत्रु के प्रति उनका प्रतिशोध पूर्ण कर दे। वे अपने काल्पनिक ईश्वर से यही सब चाहते हैं। वे वास्तव में सत्य–रूपी ईश्वर की खोज नहीं करते।** वे प्रत्येक वस्तु की लालसा करते हैं; सिर्फ़ ईश्वर के सिवा, जिसे वे महत्व–शून्य समझते हैं। यह भी माया के कारण उत्पन्न अज्ञानांधता है। **वे अन्य तमाम वस्तुओं में सुख खोजते हैं। वे ईश्वर में आनन्द नहीं खोजते, जो नित्य तथा अक्षय आनन्द का उद्गम स्थान है।**

**जो महत्वपूर्ण है उसे महत्वरहित समझना।**

**माया की क्रिया के कारण मन किसी वस्तु को वह महत्व देता है, जो उसके वास्तविक महत्व से भिन्न होता है।** यह तब होता है, जब बाह्य विधि–नियमों, लौकिक, आचारों तथा अन्य धार्मिक साधनों को स्वयमेव साध्य मान लिया जाता है। साधनों के रूप से या जीवन के उपकरणों या उत्पादानों के रूप में उनके महत्व हैं किन्तु ज्योंही साध्य से अलग, स्वयमेव वे महत्व धारण कर लेते हैं त्योंही उन्हें वह महत्व दिया जाता है जो महत्व उनका नहीं है। उनके द्वारा व्यक्त होने वाले सत्यों, तत्वों, तथ्यों या साध्यों की ओर दुर्लक्ष्य कर के या उन्हें कोई महत्व दिये बिना यदि ये बाह्य साधन स्वयमेव महत्वपूर्ण समझे जाते हैं तो वे जीवन को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य की सिद्धि करने के स्थान में जीवन को बाँधते हैं। **जब महत्वपूर्ण पर महत्वशून्य का प्रभुत्व हो जाता है, अर्थात् जब प्रधान पर गौण का आधिपत्य हो जाता है, तो हमें मूल्य–निरूपण–सम्बन्धी अज्ञान का तीसरा मुख्य रूप मिलता है।** यह भी माया की क्रिया है।

**किसी वस्तु को ग़लत महत्व देना।**

# माया

## (भाग–2)

### मिथ्या विश्वास

मूल्य निरूपण सम्बन्धी मिथ्या भ्रम आत्मा के आध्यात्मिक बन्धन के मुख्य पाश हैं। किन्तु आत्मा को बाँधने में कुछ मिथ्या विश्वासों का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है।

**मिथ्या मूल्य तथा मिथ्या विश्वास माया के फन्दे हैं।**

मिथ्या विश्वास मिथ्या मूल्यों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयम् मिथ्या विश्वास भी उन मिथ्या मूल्यों से शक्ति प्राप्त करते हैं, जिनके भ्रम में आत्मा फँस जाती हैं। जिस प्रकार माया मिथ्या मूल्यों की सृष्टि करती है, उसी प्रकार वह मिथ्या विश्वासों की भी सृष्टि करती है। तथा **आत्मा को अज्ञान में फँसाने के लिए माया जिन फन्दों का उपयोग करती है, उन में मिथ्या विश्वास तथा मिथ्या मूल्य मुख्य हैं।**

**बुद्धि माया के हाथों में रहने वाली गुड़िया है।**

मानवीय बुद्धि ज्ञान का घर है; किन्तु माया बुद्धि को भी अपने अधिकार में रखती है, और इस प्रकार वह अजेय बन जाती है। जब बुद्धि माया के वशीभूत हो कर कार्य करती है तो वह मिथ्या विश्वास तथा भ्रमों को उत्पन्न तथा धारण करती है। वह झूठे विश्वासों को ठीक सिद्ध करने तथा उन्हें निरन्तर पोषित करने का प्रयत्न करती है, जिससे सत्य का ज्ञान अवरूद्ध हो जाता है। बुद्धि जब इस प्रकार माया के

अधीन हो जाती है, तब माया को जीतना या उसका अतिक्रमण करना कठिन हो जाता है। **जो बुद्धि बन्धनरहित हो कर स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करती है, वह सत्य का मार्ग तैयार करती है, किन्तु जो बुद्धि माया के पाश में बद्ध हो जाती है, वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधाएं उत्पन्न करती है।**

माया के द्वारा उत्पन्न मिथ्या विश्वास इतने बद्ध भूल तथा दृढ़ होते हैं, कि वे स्वयम्‌सिद्ध सत्य की भाँति प्रतीत होते हैं, वे वास्तविक सत्यों के वेश में प्रकट होते हैं, वे बिना किसी सोच विचार के सत्यवत् स्वीकार कर लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य विश्वास करता है, कि वह अपना भौतिक शरीर है। सामान्यतः उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह अपने शरीर से भिन्न कुछ और है। वह स्वभावतः बिना किसी प्रमाण के अपने आप को अपना स्थूल शरीर समझ लेता है। वह इस विश्वास को इसीलिए और भी दृढ़तापूर्वक धारण करता है क्योंकि उसका यह विश्वास विवेक सम्मत प्रमाण से स्वतंत्र रहता है।

**मिथ्या विश्वास स्वयम्–सिद्ध–से प्रतीत होते हैं।**

मनुष्य का जीवन स्थूल शरीर तथा उसकी इच्छाओं के चारों और केन्द्रित हो गया रहता है। वह स्थूल शरीर है–इस विश्वास को त्यागने का अर्थ है, स्थूल शरीर सम्बन्धी समस्त इच्छाओं को त्यागना तथा इन इच्छाओं से उत्पन्न मिथ्या मूल्यों को त्यागना। स्थूल शरीर होने का मिथ्या विश्वास उसकी शारीरिक इच्छाओं एवम् आसक्तियों की पूर्ति में सहायक सिद्ध होता है किन्तु शरीर से भिन्न कोई अन्य वस्तु होने का विश्वास उसकी स्वीकृत इच्छाओं तथा आसक्तियों का विरोध करता है। अतः उसका यह विश्वास कि वह अपना स्थूल शरीर है, स्वाभाविक बन जाता है, यह विश्वास करना उसके लिए सरल होता है तथा इस विश्वास को त्यागना उसे महान कठिन मालूम होता है। इसके विपरीत, यह विश्वास, कि वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, विश्वसनीय प्रमाण चाहता है। यह विश्वास करना उसके लिए कठिन होता है तथा इस विश्वास को प्रतिबद्ध करना उसके लिए सरल होता है। किन्तु यह होने पर भी, जब मन प्रत्येक शारीरिक इच्छाओं तथा आसक्तियों की दासता से मुक्त हो जाता है, तो उसका यह विश्वास, कि वह अपना स्थूल शरीर है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तथा यह विश्वास, कि वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, सत्य प्रमाणित होता है।

**स्थूल शरीर से तादात्म्य**

यदि मनुष्य इस मिथ्या विश्वास को त्यागने में सफल भी हो जाता है कि वह स्थूल शरीर है, तो भी वह इस मिथ्या विश्वास के वशीभूत हो जाता है कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है। उसका जीवन सूक्ष्म शरीर तथा उसकी इच्छाओं के चारों ओर केन्द्रित

रहता है। वह अपना सूक्ष्म शरीर है, इस विश्वास को त्यागने का उसके लिए अर्थ होता है, सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सारी इच्छाओं को त्यागना, तथा इन इच्छाओं के द्वारा उत्पन्न मिथ्या मूल्यों को त्यागना। अतः उसके लिए वह विश्वास कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, स्वाभाविक बन जाता है। तथा यह विश्वास, कि वह अपने सूक्ष्म शरीर से भिन्न कोई अन्य वस्तु है, विश्वसनीय प्रमाण चाहता है। किन्तु, जब मन सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सारी इच्छाओं एवम् आसक्तियों से मुक्त कर लिया जाता है, तो मनुष्य इस मिथ्या विश्वास का परित्याग कर देता है, कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, उसी प्रकार, जिस प्रकार वह अपना यह विश्वास त्याग देता है, कि वह अपना स्थूल शरीर है।

**सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य।**

किन्तु मिथ्या विश्वासों का यहीं अन्त नहीं हो जाता। यदि मनुष्य इस विश्वास को भी त्याग देता है कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, तो भी उसे अब यह भ्रामक विश्वास करने में आनन्द आता है, कि वह अपना अहंकार चित्त अर्थात् मानसिक शरीर है। **मनुष्य मिथ्या विश्वासों को पोषित इसलिए करता है कि ऐसा करने में उसे आनन्द आता है। जीवात्मा के लम्बे जीवन के आदि से ही वह अपने पृथक् अस्तित्व के मिथ्या भ्रम से शौक के साथ चिपका रहा है। उसने समस्त विचारों और भावों और कार्यों से निरन्तर केवल एक ही विश्वास का पोषण किया है और वह है पृथक "मैं" के अस्तित्व का। इस मिथ्या विश्वास का परित्याग करना कि वह अहंकार चित्त या मानसिक शरीर है उसके लिए अपना सर्वस्व अर्थात् अपनी समूची पृथक् सत्ता को त्यागना है।**

**मानसिक शरीर से तादात्म्य।**

इस मिथ्या विश्वास को त्यागने के लिए कि 'वह अपना स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर है' उसे नाना इच्छाओं तथा आसक्तियों को त्यागना पड़ता है। नाना इच्छाओं तथा आसक्तियों को त्यागना बहुत प्राचीन समय से पास में रहनेवाली वस्तुओं को त्यागने के समान है। किन्तु इस मिथ्या विश्वास को त्यागने में कि 'वह अपना अहंकार चित्त है' उसे अपने पृथक् अस्तित्व के मूल आधार को ही त्यागना पड़ता है। वह अपने को आज तक जो समझता है उसे ही त्यागने की उसे आवश्यकता पड़ती है। अतः मिथ्या विश्वास के इस अन्तिम अवशेष को त्यागना अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु पहले असंदिग्ध सत्य से प्रतीत होने वाले उसके पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वास जैसे वास्तव में सत्य थे उसी प्रकार यह अन्तिम विश्वास भी असत्य होता है। पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वासों से यह विश्वास कम

**अन्तिम मिथ्या विश्वास का परित्याग।**

मिथ्या नहीं होता। **जैसे पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वास अनित्य थे वैसे ही यह अन्तिम मिथ्या विश्वास अनित्य होता है। जब आत्मा पृथक अस्तित्व की तृष्णा त्याग देती है तब इस अन्तिम मिथ्या विश्वास का भी अन्त हो जाता है।**

**आत्मा विचार तथा कार्य से परे हैं।**

जब आत्मा अपने स्थूल सूक्ष्म एवम् मानसिक शरीरों से अपने को पृथक समझती है तब वह अपने को अनन्त जानती है। किन्तु आत्मा के नाते वह कुछ भी नहीं करती, आत्मा केवल अस्तित्व मात्र है। जब आत्मा पर मन का योग होता है तो वह सोचती हुआ प्रतीत होती है, जब आत्मा पर मन के साथ सूक्ष्म शरीर का योग होता है तो वह इच्छा करती हुआ जान पड़ती है, और जब आत्मा पर मानसिक शरीर तथा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर का योग होता है, तो आत्मा कर्म–निरत के सदृश मालूम पड़ती है। यह विश्वास कि आत्मा कुछ करती है मिथ्या विश्वास है। जैसे मनुष्य विश्वास करता है, कि वह कुर्सी पर बैठा है। परन्तु यह विश्वास आत्मा के स्थूल शरीर से तादात्म्य के कारण पैदा होता है। इसी प्रकार मनुष्य यह विश्वास करता है कि वह सोच रहा है, किन्तु यथार्थ में मन सोच रहा है। यह विश्वास कि आत्मा सोच रही है आत्मा के मन से युक्त हो जाने के कारण उत्पन्न होता है। वस्तुतः सोचने का कार्य मन करता है तथा बैठने का कार्य शरीर करता है। आत्मा न तो सोचती है और न कोई शरीरिक कार्यों को करती है।

**यह विश्वास कि आत्मा कार्यों का कर्ता है, मिथ्या**

हाँ, यह बात सच है कि स्वयम् मन ही नहीं सोचता है या स्वयम् शरीर ही शारीरिक कार्य नहीं करता है; क्योंकि स्वयम् मन का या स्वयम् शरीर का पृथक अस्तित्व ही नहीं है। उनका अस्तित्व आत्मा के भ्रमों की भाँति है और जब आत्मा अज्ञान पूर्वक अपने आप को उनसे युक्त कर लेती है तब विचार करने या कार्य करने का आविर्भाव होता है। **आत्मा मन तथा शरीर से युक्त होने पर सीमित "मैं" बनती तथा कार्यों का "कर्ता" बनती है।** किन्तु आत्मा अपने वास्तविक रूवरूप में न तो विचारों के लिए उत्तरदायी है ओर न कार्यों के ही लिए। यह भ्रम कि आत्मा मन है या आत्मा शरीर है तथा यह भ्रम कि आत्मा विचार या कार्यों की कर्ता है, माया या अज्ञान के तत्व के द्वारा उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार यह विश्वास कि, आत्मा जीवन के सुखों और दुःखों का अनुभव करता है या द्वन्द्वों को भोगता है, मिथ्या है। आत्मा अनुभव के द्वन्द्वों से परे है। किन्तु आत्मा अपने को उन से परे नहीं जानती। तथा अपने को मन से तथा शरीर से युक्त

कर लेने के कारण वह द्वन्द्वों को अपने ऊपर ले लेती है। मन तथा शरीर से युक्त आत्मा सुखों एवं दुःखों को ग्रहण करती है; अतः मनुष्य जिन सुखों तथा दुःखों का अनुभव करता है वे अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह संसार में सबसे दुःखी मनुष्य है तो वह एक ऐसे भ्रम को आलिंगन करता है जो अज्ञान या माया के कारण उत्पन्न होता है। वह वस्तुतः दुःखी नहीं है किन्तु वह अपने को दुःखी मानता है, क्योंकि वह मन तथा शरीरों से सम्मिश्रित हो जाता है। यह सच है कि आत्मा से पृथक, तो अकेला मन ही या न अकेला शरीर ही द्वन्द्वों का अनुभव कर सकता है। आत्मा मन तथा शरीर से युक्त हो कर द्वन्द्वों की भोक्ता बनती है, किन्तु आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में द्वन्द्वों से परे है।

**यह विश्वास कि आत्मा द्वन्द्वों की भोक्ता है, मिथ्या है।**

इस प्रकार मन तथा शरीरों का योग कार्यों का कर्ता तथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों का भोक्ता है। किन्तु मन तथा शरीर, आत्मा से पृथक रहकर स्वतन्त्र रूप से स्वयमेव कर्तव्य तथा भोक्तृत्व के कार्यद्वय के लिये उत्तरदायी नहीं है। **आत्मा का मन तथा शरीर से तादात्म्य होने पर वे कार्यों के कर्ता तथा द्वन्द्वों के भोक्ता बन जाते हैं। किन्तु आत्मा का यह तादात्म्य अज्ञान–जन्य हैं, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में नित्य, निर्गुण, निराकार तथा अनन्त है, वह अज्ञान या माया की क्रिया के कारण सगुण, साकार, सविकार तथा सान्त प्रतीत होता है।**

**आत्मा का मन तथा शरीर से तादात्म्य का स्वरूप।**

# माया

**(भाग–3)**

## माया–जन्य भ्रमों का अतिक्रमण

माया–विमुग्ध अज्ञान विमूढ़ मनुष्य जिन मिथ्या भ्रमों के पाश में बद्ध हो जाता है, वे असंख्य हैः किन्तु **आरम्भ से ही, मिथ्या भ्रमों में रिक्तता तथा अपर्याप्तता, थोथापन तथा खोखलापन का भाव विद्यमान रहता है।** तथा शीघ्र या पश्चात उनका मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि मिथ्या भ्रम के मिथ्यात्व को हमें कैसे जानें। मिथ्या भ्रम से छुटकारा तभी हो सकता है जब यह ज्ञात हो जाता है कि यह मिथ्या भ्रम है। मिथ्या के मिथ्यात्व का हमें कदापि ज्ञान नहीं होता यदि मिथ्या का मिथ्यात्व आरम्भ से ही उसी मिथ्या में छिपा न रहता।

**मिथ्यात्व का दर्शन।**

**मिथ्यात्व को स्वीकार करना हमेशा पर्यकारुढ़ सलोखे (Bedridden Campromise) की भाँति अस्थिर रहता है।** अज्ञान कितना भी गहरा क्यों न हो, आत्मा मिथ्यात्व को अवश्य चुनौती देती है, और आरम्भिक अवस्था में आत्मा की यह चुनौती उस सत्य की शोध की शुरूआत है जो अन्ततोगत्वा समस्त भ्रमों तथा अज्ञानों का उच्छेद कर देती है। मिथ्यात्व को स्वीकार करने में सतत वृद्धि–शील अशान्ति, घोर सन्देह तथा अस्पष्ट भय

**मिथ्यात्व में सन्देह तथा भय रहता है।**

का अनुभव होता है। जैसे, जब मनुष्य अपने आपको तथा औरों को स्थूल शरीर समझता है, तो वह पूर्णतः इस विश्वास से तालैक्य अनुभव नहीं कर सकता। इस मिथ्या विश्वास को आलिंगन करने में उसे अपनी तथा औरों की मृत्यु का डर मालूम होता है। यदि मनुष्य अपने सुखों के लिए रूपों के अपने अधिकार पर निर्भर रहता है तो वह अपने हृदय की गहराई में उसे यह अवश्य अनुभव होता है कि वह बालू की भीत बना रहा है और ऐसा करने से उसे निश्चय ही स्थायी सुख प्राप्त न होगा तथा जिस अवलम्बन पर वह व्याकुल विकल होकर आश्रित हो रहा है वह उसे एक–न–एक दिन धोखा देगा। अतः वह अपने बाह्य अवलम्बनो के सम्बन्धों में गम्भीरता पूर्वक सशंक रहता है।

**मिथ्यात्व अपने आपको धोखा देता है।**

मनुष्य उद्विगनता पूर्वक अपनी अरक्षितता से परिचित रहता है। वह जानता है कि वह कहीं न कहीं कोई न कोई भूल कर रहा है तथा मिथ्या आशाओं का भरोसा कर रहा है। मिथ्यात्व, धोखा देने वाला, तथा अविश्वासनीय है। वह सदैव उसका आलिंगन किये नहीं रह सकता। वह जानता है कि वह अपने गले को विषैलें साँप की माला से सुशोभित कर रहा है। वह जानता है, कि वह अस्थायीरूप से प्रसुप्त ज्वालामुखी पर्वत की चोटी पर बैठा है। **मिथ्यात्व पर असंतोष तथा अपूर्णता, अनित्यता, तथा नश्वरता की स्पष्ट छाप अंकित रहती है। मिथ्यात्व में किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत रहता है। मनुष्य को ऐसा अनुभव होता है, कि मिथ्यात्व किसी ऐसी वस्तु को छिपा रहा है, जो मिथ्यात्व में दिखाई देने वाली बाहरी वस्तु की अपेक्षा, कहीं अधिक सत्य तथा कहीं अधिक महान है। मिथ्यात्व स्वयम् अपने आपको धोखा देता है; और अग्रसर करता है।**

**दो प्रकार के मिथ्यात्व।**

मिथ्या विश्वास दो प्रकार के होते हैं– **(1) अव्यवस्थित तथा शिथिल विचार** से उत्पन्न होने वाला मिथ्या–विश्वास तथा **(2) दूषित या विकृत विचार** से उत्पन्न होने वाला मिथ्या–विश्वास। विकृत विचार से उत्पन्न होने वाले मिथ्या–भ्रम कम हानि–प्रद होते हैं। बुद्धि के उपयोग में कोई भूल हो जाने के कारण वे असत्य उत्पन्न होते हैं जो पूर्णतः बौद्धिक होते हैं; किन्तु आध्यातिमक दृष्टि से, वे ही मिथ्या विश्वास मुख्य हैं, **जो अंध तथा मत्त इच्छाओं की क्रिया से विकृत हुई बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होते हैं।**

इन दो प्रकारों के मिथ्या विश्वासों का अन्तर शरीर व्यापार सम्बन्धी (Physiological) सादृश्य से स्पष्टतः समझा जा सकता है। शरीर के प्रधान अंगों के कुछ रोग इनके

व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं (Functional) तथा कुछ रोग इनके विधान से (structural)। व्यापार सम्बन्धी रोग तब उत्पन्न होते हैं जब अंग के व्यापार में अव्यवस्था आ जाती है। ऐसे रोगो में अंग के विधान में कोई विशेष विकार नहीं रहता; अंग केवल अव्यवस्थित हो जाता है तथा उसकी क्रिया मंद पड़ जाती है। यह व्यापार सम्बन्धी रोग अंग को व्यवस्थित करने तथा उसकी क्रिया की गति को उत्तेजित करने मात्र से आराम हो जाता है; तथा वह अंग सुचारु रूप से कार्य करने लगता है। किन्तु अंग के विधान सम्बन्धी रोगों में अंग की रचना या उसे विधान में, किसी प्रकार के बढ़ जाने से रोग उत्पन्न होता है। ऐसे रोग में अंग का दोष अत्यन्त गम्भीर प्रकार का होता है। या तो वह बिगड़ गया रहता है, या तो किसी अन्य दूषित तत्व के उसके भीतर प्रविष्ट हो जाने के कारण, वह अयोग्य या विकृत हो गया रहता है। जब गुर्दा (Kidney) मंद हो जाता है तो यह व्यापार सम्बन्धी रोग है; किन्तु जब गुर्दे में पथरी (मूत्रकृच्छ्त) पड़ जाती है तो यह रोग विधान सम्बन्धी रोग है। दोनो रोगों की चिकित्सा की जा सकती है, किन्तु व्यापार सम्बन्धी रोगों का ठीक करना विधान सम्बन्धी रोगों को ठीक करने की अपेक्षा अधिक आसान होता है।

बुद्धि को शुद्ध करने का महत्व।

बुद्धि के उपयोग में किसी अव्यवस्था के कारण जो मिथ्या विश्वास पैदा हो जाते हैं वे व्यापार सम्बन्धी रोगों के समान हैं; किन्तु बुद्धि के विकृत हो जाने के कारण जो मिथ्या भ्रम पैदा हो जाते हैं वे विधान सम्बन्धी रेगों के समान है। **जिस प्रकार व्यापार–सम्बन्धी रोग, विधान–सम्बन्धी रोगों की अपेक्षा अधिक आसानी से दूर किये जा सकते हैं, उसी प्रकार, बौद्धिक भूल से उत्पन्न होने वाले मिथ्या भ्रम, बौद्धिक विकार से उत्पन्न होने वाले मिथ्या भ्रमों की अपेक्षा, अधिक आसानी से दूर किये जा सकते हैं।** गुर्दे के व्यापार–सम्बन्धी रोगों का ठीक करने के लिए केवल गुर्दे को अधिक बल और आरोग्य प्रदान करना आवश्यक रहता है; किन्तु यदि गुर्दे में पथरी पड़ जाने से विधान–सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाय, तो बहुधा ऑपरेशन (चीरफाड़) करने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार, बुद्धि के उपयोग में कोई भूल हो जाने से यदि मिथ्या विश्वास पैदा होते हैं तो केवल इतना ही आवश्यक होता है कि बुद्धि का उपयोग अधिक सावधानी के साथ किया जाय; किन्तु बुद्धि के विकार से यदि मिथ्या विश्वासों का जन्म होता है तो बुद्धि की शुद्धि की आवश्यकता होती है, जिसके लिए **बुद्धि को विकृत करनेवाली इच्छाओं और आसक्तियों को काटने की कष्ट–दायक क्रिया आवश्यक होती है।**

**माया के दुर्ग।**

विकृत विचार के मिथ्या भ्रममूल्य–निरूपण की मौलिक भूलों से उत्पन्न होते हैं। अन्तःकरण की क्रिया कुछ स्वीकृत मूल्यों को प्राप्त करने का जब उद्योग करती है तब ये मिथ्या विश्वास अन्तःकरण की इस क्रिया के पार्श्व–परिणाम के रूप में पैदा होते हैं। ये मिथ्या विश्वास स्वीकृत मूल्यों को विवेक–सिद्ध तथा सही मान लिये जाने के कारण पैदा होते हैं। वे मनुष्य के मन पर इसलिये अधिकार कर लेते हैं कि वे स्वीकृत मूल्यों के आधारस्तम्भ के समान जँचते हैं। यदि वे मानवीय मूल्यों तथा उनकी प्राप्ति से कोई सम्बन्ध न रखें तो उनका कुछ भी महत्व न रहे तथा मनुष्य के मन पर उन का प्रभुत्व ही न रहे। जब दृढ़मूल इच्छाओं से मिथ्या विश्वास अपना अस्तित्व तथा बल प्राप्त करते हैं; तो वे मिथ्या खोज के द्वारा पोषित होते हैं। यदि मिथ्या विश्वासों की भूल पूर्णतः बौद्धिक भूल है, तो उसे सुधारना सरल होता है। किन्तु मिथ्या खोज के द्वारा जो मिथ्या विश्वास पोषित होते हैं, वे मिथ्या विश्वास माया के दुर्ग हैं। बौद्धिक भूल को दूर करने की अपेक्षा माया के इन दृढ़ क़िलों को जीतना अत्यन्त कठिन होता है। विरूद्ध बौद्धिक घोषणा से इन मिथ्या विश्वासों का बाल भी बाँका नहीं होता। केवल बौद्धिक विवेचना से माया के इन दुर्गों की जड़ पर कोई जबरदस्त कुठाराघात नहीं होता।

**अन्तःकरण की शुद्धि से विचार की स्वच्छता प्राप्त होती है।**

विचार को विकृत करने वाली इच्छाओं तथा आसक्तियों को काट फेंकना केवल बौद्धिक सिद्धान्तों के द्वारा सम्भव नहीं है। उसके लिए शुद्धं प्रयत्न तथा शुद्ध कार्यों की आवश्यकता होती है। आराम–कुर्सी पर बैठे–बैठे बौद्धिक अनुमान के द्वारा आध्यात्मिक सत्यों का ध्यान नहीं किया जा सकता किन्तु शुद्ध या उचित कार्यों को करने से ही आध्यात्मिक सत्य प्राप्त किये जा सकते हैं। मिथ्या विश्वासों के निवारण के लिए सच्चा कार्य प्रथम भूमिका है। आध्यात्मिक सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल कष्टकर तथा उग्र चिन्तन आवश्यक नहीं है किन्तु शुद्ध या स्पष्ट चिन्तन आवश्यक है। तथा, **विचार की वास्तविक स्वच्छता शुद्ध चित्त एवम् शान्त चित्त का फल हुआ करती है।**

**मिथ्या भ्रमों का अतिक्रमण करने के पश्चात् ईश्वर सत्य के रूप में ज्ञात होता है।**

माया–द्वारा उत्पन्न मिथ्या भ्रम का जब तक अन्तिम पद–चिन्ह नहीं मिट जाता, तब तक ईश्वर सत्य के रूप में नहीं जाना जा सकता। माया का जब पूर्णतः अतिक्रमण कर लिया जाता है, तभी यह परम ज्ञान प्राप्त होता है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। केवल ईश्वर ही सत्य है। वे सब वस्तुएं जो ईश्वर नहीं है; वे समग्र वस्तुएं जो अनित्य तथा आदि अन्त युक्त हैं; तथा वे समस्त वस्तुएं जो द्वैत के क्षेत्र में

विद्यमान सी प्रतीत होती है, मिथ्या है। ईश्वर ही एक अनन्त सत्य है। ईश्वर के भीतर जो भाग–विभाग मान लिये गये हैं वे भ्रम के कारण मान लिये गये हैं। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

माया के कारण ईश्वर को भाज्य समझ लिया जाता है। नानात्व युक्त तथा अनेकता मय संसार ईश्वर को भिन्न भिन्न भागों में विभक्त नहीं करता। भिन्न भिन्न अहंकार चित्त है, भिन्न भिन्न शरीर है, भिन्न भिन्न रूप हैं, किन्तु आत्मा केवल एक है। **जब एक आत्मा विभिन्न अहंकार चित्तों तथा शरीरों से युक्त मान ली जाती है, तो विभिन्न जीवात्मा दिखाई देती है;** किन्तु इससे स्वयम् आत्मा में कोई अनेकता नहीं उत्पन्न हो जाती। आत्मा अविभाज्य है तथा सदैव अविभाज्य रहेगी। एक अविभाज्य आत्मा उन विभिन्न अहंकार चित्तों का मानो आधार है, जो विभिन्न प्रकार के विचार तथा कार्य करते हैं, तथा जो द्वन्द्वों का अनुभव करते हैं; किन्तु एक अविभाज्य आत्मा समस्त विचारों और कार्यों तथा समस्त द्वन्द्वों से परे है तथा सदैव परे रहती है।

**ईश्वर अविभाज्य।**

भिन्न भिन्न प्रकार के मत या भिन्न भिन्न प्रकार के विचार एक अविभाज्य आत्मा के भीतर विभन्नता या अनेकता उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि आत्मा के भीतर न कोई मत है और न किसी प्रकार के विचार है। अपने निष्कर्षों समेत विचार–विमर्श की सारी क्रिया आदि अन्त–युक्त–अहंकार–चित्त के भीतर होती है। **आत्मा नहीं सोचती, आत्मा के आधार से केवल अहंकार–चित्त सोचता है।** चिंतन तथा चिन्तन से प्राप्त होने वाला ज्ञान–दोनों, अहंकार–चित्त के अपूर्ण तथा अपर्याप्त ज्ञान के लिये सम्भव है। स्वयम् आत्मा के भीतर न तो चिन्तन है और चिन्तन से प्राप्त होनेवाला ज्ञान है।

**विचारों की विभिन्नताएं आत्मा के भीतर भेद उत्पन्न नहीं करती।**

**आत्मा स्वयम् विचार तथा अनन्त ज्ञान है; किन्तु इस अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान में न तो विचारक, विचार तथा विचार के परिणाम का भेद है, और न कर्ता तथा कर्म के विषय का द्वैत है।** आत्मा के आधार से केवल अहंकार चित्त ही विचारक बन सकता है। आत्मा, जो अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान है, न तो विचार करता है और न बुद्धि की कोई क्रिया करता है। बुद्धि तथा उनका सीमित चिन्तन सीमित अहंकार चित्त के साथ–साथ अस्तित्व में आता है। **अनन्त ज्ञान, अर्थात आत्मा की, सम्पूर्णता में बुद्धि की क्रियाओं की ज़रा भी आवश्यकता नहीं रहती।**

**आत्मा अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान है।**

माया के द्वारा उत्पन्न मिथ्या भम्र के अन्तिम पद–चिन्ह को मिटाने से आत्मा को केवल यही ज्ञात नहीं होता कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से भिन्न है किन्तु यह भी ज्ञात होता है कि वह ईश्वर है जो एक मात्र सत्य है। उसे ज्ञात होता है कि मन, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर समानतः उसकी स्वयम की कल्पित सृष्टियां है। उसे ज्ञात होता है कि वस्तुतः उनका कभी अस्तित्व ही नहीं था, उसे ज्ञात होता है कि अज्ञान के कारण उसने अपने को मन, या सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर समझ लिया था तथा उसे यह ज्ञात होता है कि वह मानो स्वयम् मन, सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर बन गया था तथा इन स्व–रचित भ्रमों से अपने आपको उसने स्वयम् युक्त कर लिया था।

**ईश्वर ही एकमात्र सत्य है।**

# माया

(भाग–4)

## ईश्वर और माया

द्वैत के सीमित करने वाले द्वन्द्वों से परे होने के कारण ईश्वर अनादि और अनन्त है। वह अच्छे और बुरे, छोटे और बड़े, **सही** और **गलत** सद्‌गुण और दुर्गण तथा सुख और दुःख की सीमित अवस्थाओं से परे है। अतः वह अनन्त है। यदि ईश्वर बुरा न होकर अच्छा होता या अच्छा न होकर बुरा होता या यदि वह बड़ा न होकर छोटा होता या छोटा न होकर बड़ा होता, या यदि वह ग़लत् न होकर सही होता या सही न होकर ग़लत् होता, या यदि वह दुर्गुणी न होकर सद्‌गुणी होता या सद्‌गुणी न होकर दुर्गुणी होता, या यदि वह दुःखी न होकर सुखी होता, या सुखी न होकर दुःखी होता तो वह सादि और सीमित होता, अनादि और मर्यादारहित नहीं। **द्वन्द्वाद्वीत होने के ही कारण ईश्वर अनन्त है।**

**ईश्वर द्वैत से परे है।**

जो अनन्त है उसे द्वैत से परे होना चाहिये। अनन्त द्वैत का एक भाग या अंग नहीं हो सकता। अतएव वास्तव में जो अनन्त है। उसे सान्त का द्वितीय भाग समझना ठीक नहीं है। **यदि अनन्त का अस्तित्व सान्त के साथ ही साथ समझा जायेगा या यदि अनन्त को सान्त का सहवर्ती समझा जायगा तो फिर वह अनन्त नहीं रहता। क्योंकि सान्त का**

**सान्त अनन्त का द्वितीय भाग नहीं हो सकता।**

**सहवर्ती होने के नाते, अनन्त सान्त का द्वितीय भाग हो जाता है। अनन्त ईश्वर द्वैत की सीमा के भीतर नहीं उतर सकता। अतः द्वैत का दृश्यमान सृष्टि की सत्ता तथा अस्तित्व अनन्त ईश्वर ही है तथा सान्त संसार भ्रामक है। केवल ईश्वर सत्य है। वह अनादि अनन्त है, वह एक अतः अद्वितीय है।** सादि और सान्त का अस्तित्व केवल दृश्य है, अर्थात उसका अस्तित्व सिर्फ दिखााई देता है। वह यथार्थ नहीं है।

**सादि और सान्त सार माया की सृष्टि है।**

सीमित मिथ्या वस्तु जगत् अस्तित्व में कैसे आता है ? उसका अस्तित्व क्यों है? उसका अस्तित्व माया अर्थात् अज्ञान के सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न होता है। माया भ्रम नहीं है। वह भ्रम को उत्पन्न करने वाली है। माया मिथ्या नहीं है; माया मिथ्या धारणाओं को उत्पन्न करनेवाली है। **माया असत्य नहीं है। माया वह है जिसके कारण सत्य असत्य दिखाई देता है। तथा असत्य सत्य दिखाई देता है।** माया द्वैत नहीं है, माया वह है जो द्वैत को उत्पन्न करती है।

**माया की सृष्टियां आदि अंत युक्त है।**

बौद्दिक स्पष्टीकरण के लिये माया को अनन्त मानना आवश्यक है। वह सान्तता का भ्रम उत्पन्न करती है, वह स्वयम् सान्त नहीं है। माया के द्वारा उत्पन्न समस्त भ्रम सान्त है तथा समस्त द्वैत जगत् जिस का अस्तित्व माया के कारण दिखाई देता है, भी सान्त है। असंख्य वस्तुएं संसार के अन्तर्गत हैं किन्तु उससे संसार अनन्त नहीं बन जाता। तारे असंख्य हों, उनकी एक बड़ी संख्या है, किन्तु तारों का भाव से विच्छेद जान पड़े तो भी वे देश और काल सान्त हैं। सीमित और सान्त प्रत्येक वस्तू भ्रम जगत् की वस्तु है। किन्तु जो तत्व सान्त दृश्य जगत् का प्रपन्च उत्पन्न करता है उसे एक अर्थ में भ्रम नहीं है—यह मानना आवश्यक है।

**माया स्थान से सीमित नहीं होती।**

माया सान्त नहीं समझी जा सकती। कोई वस्तु सान्त तब होती है जब वह देशकाल के द्वारा सीमित होती है। माया का अस्तित्व स्थान में नहीं है तथा स्थान के द्वारा वह सीमित नहीं की जा सकती। माया स्थान में सीमित नहीं की जा सकती क्योंकि स्वयम् स्थान माया की सृष्टि है। स्थान तथा स्थान से सीमित प्रत्येक वस्तु भ्रम है और वे माया पर आश्रित है। माया किसी भी प्रकार स्थान पर आश्रित नहीं है। अतएव माया स्थान की सीमाओं के भीतर नहीं आती और न वह स्थान से सीमित हो सकती है।

समय की सीमाएं भी माया को सीमित नहीं कर सकती। सर्वोपरि चेतना की अवस्था में यद्यपि माया का अन्त हो जाता है, तथापि इसलिये उसे सीमित समझना

**माया काल के द्वारा सीमित नहीं है।**

ग़लत है। **माया का न तो समय में आदि है और न समय में अन्त है क्योंकि स्वयम् समय माया की सृष्टि है।** जो लोग यह समझते हैं कि माया समय में उत्पन्न होती है और किसी समय में समाप्त हो जाती है वे माया को समय के भीतर समझते है, समय को माया के भीतर नहीं समझते। समय माया के भीतर है, माया समय के भीतर नहीं है। समय तथा समय के भीतर होने वाली सारी घटनाएं माया की सृष्टियां है, माया के कारण समय अस्तित्व मे आता है; तथा माया के साथ वह नष्ट होता है। ईश्वर कालातीत सत्य है तथा ईश्वरानुभूति एवम् माया की समाप्ति एक समय रहित घटना है। अतः माया किसी भी प्रकार समय के द्वारा सीमित नहीं है।

**माया अनन्त है।**

यह समझना भी ठीक नहीं कि माया किन्हीं अन्य कारणों से स्वयम् सीमित है। क्योंकि यदि वह सान्त है तो फिर वह भ्रम हो जाती है। और स्वयम भ्रम होने के कारण उसमें अन्य भ्रमों के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह जाती है। **बौद्धिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से माया को उसी प्रकार सत्य तथा अनन्त दोनो समझना सर्वोत्तम है जिस प्रकार ईश्वर को प्रायः सत्य तथा अनन्त समझा जाता है।**

**माया अन्ततोगत्वा यथार्थ नहीं हो सकती।**

समस्त संभाव्य बौद्धिक स्पष्टीकरणों में यह स्पष्टीकरण कि माया ईश्वर की ही भाँति सत्य और अनन्त दोनो है। मनुष्य की बुद्धि को सबसे अधिक ग्राह्य मालूम होता है। किन्तु माया **अन्ततोगत्वा** सत्य नहीं हो सकती। **जहाँ द्वैत है, वहाँ सान्तता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु को सीमित करती है। दो सच्चे अनन्त नहीं हो सकते।** दो विराट वस्तुएं हो सकती हैं। किन्तु दो अनन्त सत्ताएं नहीं हो सकती। यदि ईश्वर और माया का द्वैत हो और दोनों सहवर्ती अस्तित्व माने जाएं, तो ईश्वर की अनन्त सत्ता द्वैत का द्वितीय भाग समझी जायेगी अतः **माया को सत्य समझने वाला बौद्धिक स्पष्टीकरण कोई यथार्थ अन्तिम ज्ञान नहीं है, यद्यपि वह एक ऐसा स्पष्टीकरण अवश्य है जो सबसे अधिक बुद्धिग्राह्य है।**

माया को भ्रम मानने में भी कठिनाईयाँ है। तथा उसे अन्तिम सत्य मानने में भी अड़चनें हैं। इस प्रकार **माया को समझने के लिये सीमित बुद्धि के समस्त प्रयत्न असफल हो जाते हैं।** एक ओर तो माया को सान्त मानने पर वह स्वंय भ्रम बन जाती

है तथा भ्रामक जगत् प्रपन्च की उत्पत्ति को वह समझा नहीं सकती। अतः माया को सत्य तथा अनन्त दोनो मानने की आवश्यकता होती है। किन्तु दूसरी ओर यदि माया को अन्तिम सत्य माने तो वह ईश्वर नामक अनन्त सत्य के द्वैत का स्वयम् द्वितीय भाग बन जाती है। और इसीलिये इस दृष्टिकोण से माया वस्तुतः सान्त अतः असत्य हो जाती है। **माया अन्तिम सत्य नहीं हो सकती। यद्यपि सान्त वस्तुओं के भ्रामक संसार को बुद्धि से समझने के लिये उसे वैसा मानना पड़ता है।**

**माया को समझने में बौद्धिक कठिनाइयाँ**

जिस किसी प्रकार से भी सीमित बुद्धि माया को समझने का प्रयत्न करती है वह उसे ठीक से समझने में असमर्थ हो जाती है। सीमित बुद्धि के द्वारा माया को समझना सम्भव नहीं है। माया उतनी ही अगम्य है जितना ईश्वर। ईश्वर अगम्य है, अज्ञेय है। इसी प्रकार माया भी अगम्य है, अज्ञेय है। इसीलिये लोग कहते हैं "माया ईश्वर की छाया है।" जहां मनुष्य है वहां उसकी छाया भी है, इसी प्रकार जहां ईश्वर है वहां उसकी यह अगम्य माया भी है।

**माया ईश्वर की छाया है।**

किन्तु यद्यपि द्वैत जगत् के भीतर कार्य करने वाली सीमित बुद्धि के लिये, ईश्वर तथा माया दोनों अतर्क्य हैं, तथापि अनुभूति के अन्तिम ज्ञान के द्वारा ये दोनों अपने वास्तविक स्वरूप में जाने जा सकते हैं **माया के अस्तित्व की पहेली तब तक अन्तिम रूप से हल नहीं की जा सकती जब तक अनुभूति नहीं हो जाती। ईश्वरानुभूति के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि माया का यथार्थ में अस्तित्व नहीं है।**

**माया की प्रहेलिका अनुभूति के पश्चात हल होती है।**

माया का दो स्थितियों में अस्तित्व नहीं है। सत्य की आरम्भिक अचेतन अवस्था में माया का कोई अस्तित्व नहीं है तथा आत्म चेतन या ईश्वर की विज्ञान चेतन अवस्था में भी माया का कोई अस्तित्व नहीं है। ईश्वर के दृश्य द्वैत जगत की चेतना में ही अर्थात स्थूल जगत की चेतना, सूक्ष्म जगत की चेतना तथा मानसिक जगत की चेतना में ही माया का अस्तित्व है। **जहाँ आत्म चेतना नहीं है, तथा जहाँ कल्पित अनाम की चेतना है और जहाँ द्वैत के मिथ्या वर्गों के द्वारा शोचनीय ढ़ंग से चेतना आक्रान्त हो गई है, वहीं माया का अस्तित्व है।**

**माया का दो स्थितियों में अस्तित्व नहीं है।**

केवल सान्त के ही दृष्टिकोण से माया का अस्तित्व है। केवल भ्रमों के लिये ही असत्य तथा सान्त वस्तुओं की सत्य तथा अनन्त उत्पादिका के रूप में माया का अस्तित्व है। अन्तिम तथा एक मात्र सत्य की अनुभूति के दृष्टिकोण से अनादि और अनन्त ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का भी अस्तित्व नहीं है। अनुभूति की अवस्था में सान्त वस्तुओं की ईश्वर से कोई पृथक सत्ता नहीं रह जाती; उनके सान्त होने का भ्रम लुप्त हो जाता है। और सान्त वस्तुओं के भ्रम के साथ ही साथ इस भ्रम की उत्पादिका माया भी लुप्त हो जाती है।

**माया का अस्तित्व केवल भ्रमों के लिये है।**

अर्न्तमुख होने तथा माया के अतिक्रमण पर आत्मा को आत्मज्ञान होता है और उस आत्मज्ञान में वह केवल यही नहीं जानती कि विभिन्न अहंकार चित्तों तथा शरीरों का कभी अस्तित्व था ही नहीं, किन्तु यह भी जानती है कि समस्त संस्कार प्रपन्च तथा माया का एक पृथक तत्व के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है। माया की पूर्ववर्ती वास्तविकता एक आत्मा की अविभाज्य सत्ता में विलीन हो जाती है। **आत्मानुभूति की अवस्था में आत्मा अपने को वही जानती है जो वह नित्य थी अर्थात ज्ञान, आनन्द, शक्ति तथा सत्ता में अनन्त तथा द्वैत से परे। किन्तु यह सर्वोपरि आत्मज्ञान बुद्धि गम्य नहीं है और न लोगों के लिए आत्म–ज्ञान जिन्हें अन्तिम अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकी है, यह सर्वोपरि अचिन्त्य एवम् अज्ञेय है।**

**अनुभूति जन्य ज्ञान**

# सुख की शर्तें

(भाग—1)

## अनासक्ति के द्वारा दुःख का निवारण

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख खोज रहा है, मनुष्य कोई अपवाद नहीं है। यों तो देखने पर मनुष्य का हृदय कई प्रकार की वस्तुओं के लिये लालायित रहता है; किन्तु वह सुख के लिये अनेक वस्तुओं की इच्छा करता है तथा उन्हें प्राप्त करने का उद्योग करता है। यदि वह सत्ता या शक्ति प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठित दिखाई देता है तो इसका कारण यही है कि वह सत्ता के उपयोग से सुख प्राप्त करना चाहता है, यदि वह धनोपार्जन करता है, तो वह चाहता है कि उसे धन के द्वारा सुख के साधन प्राप्त हों, यदि वह ज्ञान, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, विज्ञान, कला या साहित्य की साधना करता है तो इसका कारण यह है कि उसे यह अनुभव होता है कि उसका सुख इन्हीं बातों पर अवलम्बित है, यदि वह सांसारिक सफलता तथा यश के लिये संघर्ष करता है तो इसका कारण यह है कि उसे आशा रहती है कि इनकी प्राप्ति से उसे सुख उपलब्ध होगा। अपने समस्त उद्यमों और उद्योगों के द्वारा मनुष्य सुखी होना चाहता है; सुख की आशा ही वह अन्तिम प्रेरक शक्ति है जिससे वह प्रोत्साहित होकर नाना प्रकार के कार्य करता है।

प्रत्येक मनुष्य सुख की खोज करता है।

प्रत्येक व्यक्ति सुखी होना चाहता है किन्तु अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के दुःख से पीड़ित हैं, और यदि कभी कभी जीवन में उन्हें सुख के स्वल्प अंश प्राप्त होते हैं तो सुख अंश अमिश्रित भी नहीं होते और न नित्य ही होते हैं। मनुष्य का जीवन अमिश्रित सुख की श्रेणी का कभी नहीं हो सकता। वह सुख और दुःख के द्वन्द्व के बीच झूलता रहता है। सुख और दुःख एक दूसरे से वैसे ही गुँथे हुए है जैसे श्यामल बादल तथा ज्योतित इन्द्रधनुष। तथा, मनुष्य के जीवन में यथा प्रसंग आने वाले सुख के क्षण उसी प्रकार विलुप्त हो जाते हैं जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग जो आकाश से विलुप्त होने के लिये ही थोड़ी देर अपनी आभा लिये चमकते रहते हैं। और, यदि सुख के ये क्षण अपना कोई चिन्ह छोड़ जाते हैं, तो वह उनकी स्मृति है जो उन्हें खोने के दुःख की वृद्धि करती है। अनेक सुखों की अवशिष्ट स्मृति अनिवार्य रूप से दुःखद होती है।

**सुख और दुःख का मिश्रण।**

मनुष्य दुःख नहीं खोजता किन्तु जिस रीति से सुख खोजता है उस रीति के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में उसे दुःख मिलता है। वह अपनी इच्छाओं की तृप्ति के द्वारा सुख खोजता है। किन्तु ऐसी तृप्ति कोई निश्चित वस्तु नहीं होती। अतः इच्छाओं की पूर्ति की खोज के साथ ही साथ मनुष्य अनिवार्य रूप से उनकी अतृप्ति के लिये अपने को तैयार करता है।

**इच्छा दो प्रकार के फल भोगती है।**

इच्छा–वृक्ष में दो प्रकार के फल लगते हैं। एक प्रकार का मीठा फल है जो सुख है, और दूसरे प्रकार का फल कटु होता है जो दुःख है। यदि झाड़ बढ़ने दिया जाता है तो यह असम्भव है कि उसमें केवल एक ही प्रकार का फल लगे। जो एक प्रकार का फल लेना चाहता है उसे दूसरे प्रकार का फल भी लेने के लिये तैयार होना चाहिये। मनुष्य अधीरतापूर्वक सुख खोजता है और जब वह उसे प्राप्त होता है तो वह **शौक के साथ** उससे **संलग्न** हो जाता है और अनिवार्य आगामी दुःख को टालने का जीजान से प्रयत्न करता है। और जब वह दुःख आकर ही रहता है तो उससे ग्रस्त होकर वह तीक्ष्ण व्यथा का अनुभव करता है। किन्तु उसकी उद्विग्नता तथा उल्लास का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। क्योंकि उसे जो सुख प्राप्त होता है उस का ह्रास अवश्यम्भावी होता है तथा उसका एक दिन लुप्त होना निश्चित रहता है। उसकी व्याकुलता–विव्हलता भी कोई काम नहीं आती क्योंकि उसके भाग्य में जो दुःख आता है उसे सहन करने के सिवा उसके लिये और कोई चारा नहीं रहता।

अनेक इच्छाओं से उद्वेलित होकर, मनुष्य संसार के सुखों की खोज करता है। सुख की उसकी आशा का अन्त नहीं रहता। किन्तु सुख सम्बन्धी उसका उत्साह सदैव

एकसा नहीं रहता, क्योंकि जब वह सुख से भरे हुए पात्र के लिये हाथ बढ़ाता है उस समय भी उसे दुःख की घूँटे निगलनी पड़ती हैं। सुखों के साथ–साथ निगलने वाले दुःखों के अनुभव से उसका सुख सम्बन्धी उत्साह फीका पड़ता है। वह बहुधा आकस्मिक मनःस्थितियों तथा प्रवृत्तियों का शिकार होता है। एक समय वह सुखी और गर्वित है, दूसरे समय वह अत्यन्त दुःखी तथा अपमानित हो जाता है। इच्छाओं के पूर्ण होने या खण्डित होने के अनुसार उसकी मनःस्थितियां बदलती जाती है। किन्हीं–किन्हीं इच्छाओं की पूर्ति से उसे क्षणिक सुख प्राप्त होता है किन्तु उस सुख के पश्चात ही उदासी की प्रतिक्रिया होती है। उसकी मनःस्थितियों में चढ़ाव उतार होते रहते हैं तथा उसकी मनःस्थिति निरंतर विषमता का शिकार होती है।

**बदलती हुई मनस्थितियां।**

इच्छाओं की पूर्ति से इच्छाओं का अन्त नहीं होता। इच्छाओं की पूर्ति हो जाने से वे थोड़ी देर के लिये विलीन हो जाती है, अधिक प्रचण्डता से प्रकट होने के लिये। मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिये खाता है किन्तु थोड़ी देर बाद ही वह भूखा हो जाता है। यदि वह **ज़रूरत से अधिक** खा लेता है तो अपनी इच्छा की पूर्ति में भी उसे दुःख और पीड़ा का अनुभव होता है। यह बात संसार की सभी इच्छाओं पर लागू होती है। अतः इन इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाला सुख कम होने लगता है तथा विलुप्त हो जाता है। अतएव सांसारिक इच्छाओं से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत उनसे अनेक प्रकार के कभी समाप्त न होने वाले दुःखों की प्राप्ति होती है। जब मनुष्य सांसारिक इच्छाओं से ओत–प्रोत है तो दुःख की विशाल राशि अनिवार्यतः उसके लिये सुरक्षित है। इच्छा अनिवार्य रूप से अनेको दुःखों की जननी है यह नियम है।

**दुःख का कारण इच्छाएं है।**

इच्छा जन्य दुःख का यदि मनुष्य अनुभव करता है या यदि उसे पहले से देखता है तो उसकी इच्छा का दमन होता है। कभी–कभी तीव्र दुःख उसे सांसारिक जीवन से अनासक्त बना देता है। किन्तु इच्छाओं की बाढ़ सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी इस अनासक्ति को बहुधा फिर धो बहाती है। अनेक मनुष्य अस्थायी रूप से सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी रुचि खो देते हैं इच्छाजन्य तीक्ष्ण यन्त्रणा भोगने के कारण। किन्तु यदि इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिये मार्ग तैयार करना हो तो अनासक्ति स्थायी होनी चाहिए।

**दुःख के दृश्य से इच्छाओं का कम होना।**

किसी असाधारण रूप के तीव्र अनुभव से मनुष्य कभी–कभी अत्यन्त विचलित हो जाता है जैसे, जब उसे सड़क पर से शव श्मशान के लिये जाता हुआ दिखाई देता हैं। ये अनुभव विचारोत्तेजक होते है और सांसारिक अस्तित्व के खोखलेपन तथा असारता सम्बन्धी विचारों की लम्बी श्रेणीयाँ उत्पन्न करते हैं। ऐसे अनुभवों के दबाव के नीचे मनुष्य अनुभव करता है कि एक दिन वह अवश्य मरेगा तथा उन समस्त वस्तुओं से उसे विदा लेनी होगी जो उसे आज इतनी प्यारी मालूम होती हैं। किन्तु यह विचार तथा उनसे उत्पन्न अनासक्ति दोनो अल्पजीवी होते हैं। वे बहुत शीघ्र विस्मृत हो जाते है और मनुष्य संसार तथा उसकी आकर्षक वस्तुओं के प्रति अपनी आसक्ति को पुनः आरम्भ कर देता है। अनासक्ति की यह अस्थायी तथा क्षणभंगुर मनःस्थिति श्मशान वैराग्य के नाम से सम्बोधित की जाती है, क्योंकि प्रायः श्मशान में ही ऐसे अनासक्ति के अल्पजीवी विचार उत्पन्न होते हैं और ये विचार तभी तक मन में ठहरते हैं जब तक मनुष्य शव के निकट रहता है। अनासक्ति की यह मनःस्थिति आकस्मिक और क्षण स्थायी है। जब तक वह विद्यमान रहती है तब तक प्रबल तथा फलोत्पादक मालूम होती है, किन्तु वह किसी अनुभव की स्पष्टता के द्वारा पोषित होती है। और जब वह अनुभव लुप्त हो जाता है तो अनासक्ति की मनःस्थिति भी शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। यह मनःस्थिति जीवन की सामान्य दिशा पर कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं करती।

**अस्थायी अनासक्ति।**

इस कहानी से मनुष्य के मन की क्षणिक मनःस्थिति साफ–साफ झलक आयेगी। एक मनुष्य ने एक समय गोपीचन्द का नाटक देखा। नाटक आध्यात्मिक था। इससे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने सब कारोबार छोड़ दिया और कुटुम्बियों को भी त्याग दिया। सब त्याग कर वह गोपीचन्द के मतवाले वैरागियों के दल में मिल गया। अपने जीवन के पहले के सब ढंग बदल कर वह वैरागी का भेष धारण कर सिर मुंडा कर और दल के अन्य वैरागियों की सलाह के अनुसार एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। प्रथम तो वह गहरे ध्यान में तल्लीन हो गया। किन्तु सूर्य की किरणें ज्यों––ज्यों प्रखर होती गई त्यों–त्यों ध्यान सम्बन्धी उसका उत्साह ठण्डा पड़ता गया। ज्यों–ज्यों दिन बीतता गया त्यों–त्यों उसे भूख प्यास सताने लगी और वह इस प्रकार बहुत दुःखी हुआ। जब उसके परिवार के लोगों को उसकी अनुपस्थिति का ज्ञान हुआ तो वे उसके बारे में चिन्तित हुए और जब कुछ खोज के बाद उन्होंने उसे पा लिया तो उन्होंने उसे वृक्ष के नीचे बड़ी बुरी अवस्था में पाया। वह बहुत ही कुम्हला गया था। वह बहुत ही दुःखी दिखाई देता था। जब उसकी स्त्री ने उसकी ऐसी दुर्दशा देखी तो वह इतनी क्रुद्ध हुई कि वह उस पर टूट पड़ना ही चाहती

**एक दृष्टान्त।**

थी। किन्तु वैराग्य की उसकी मनःस्थिति अब ख़तम हो चुकी थी। वह इस नवीन जीवन से **काफ़ी** थक चुका था। अपनी स्त्री को अपनी ओर आते देख उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसे स्वर्ग से कोई वरदान मिल गया हो। अपनी स्त्री को चुप करते हुऐ उसने अपनी पगड़ी तथा साधारण पोशाक पहनी और चुपचाप वह अपनी स्त्री के पीछे घर को चला गया।

**तीव्र वैराग्य**

कभी मन की स्थिति अधिक स्थायी होती है और वह न केवल काफ़ी समय तक ठहरती है किन्तु जीवन की सामान्य दिशा को भी वह गम्भीरता पूर्वक प्रभावित करती है वह तीव्र वैराग्य कहलाती है। अपने प्रिय जनों की मृत्यु या धन नाश, या यश–नाश जैसी बड़ी विपत्तियों के आ जाने के कारण बहुधा यह तीव्र वैराग्य प्राप्त होता है और अनासक्ति की लहर के प्रभाव में आकर मनुष्य समस्त सांसारिक वस्तुएं त्याग देता है। इस प्रकार के तीव्र वैराग्य का अपना निजी आध्यात्मिक मूल्य है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् यह वैराग्य भी विलुप्त हो जाता है या सांसारिक इच्छाओं के पुनः उग्र होने वाली याद के द्वारा यह वैराग्य लुप्त हो जाता है। जो आपदा मन पर दृढ़ प्रभाव उत्पन्न कर देती है उसी के वशीभूत हो कर मनुष्य तीव्र वैराग्य का अनुभव करता है। किन्तु वह स्थायी नहीं रहता क्योंकि वह ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। तीव्र वैराग्य सांसारिक जीवन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।

**पूर्ण अनासक्ति।**

दुःख के ज्ञान तथा दुःख के कारणों के ज्ञान से जो वैराग्य प्राप्त होता है या उत्पन्न होता है वही स्थायी वैराग्य होता है। ऐसी अनासक्ति सुरक्षित रीति से इस निश्चल ज्ञान पर आश्रित रहती है कि संसार की सारी वस्तुएँ क्षणिक एवं भंगुर है। तथा उन से किसी भी प्रकार की आसक्ति रखने से अन्त में दुःख भोगना पड़ेगा। मनुष्य सुख देनेवाले सांसारिक पदार्थों को चाहता है। किन्तु वह यह नहीं जानता कि सिक्के के एक बाजू को लेने के साथ ही साथ उसे उसके दुसरे बाजू को भी लेना होगा। वह यह नहीं जानता कि एक को स्वीकार करने से वह दुसरे को टाल नहीं सकता है क्योंकि जब तक सुख देने वाले सांसारिक पदार्थों से उस की आसक्ति रहेगी तब तक वह निरन्तर उन पदार्थों को न प्राप्त करने पर उन्हें खोने का दुःख भोगता ही रहेगा। स्थायी अनासक्ति जिस के परिणाम–स्वरूप समस्त इच्छाओं एवम् आसक्तियों से मुक्ति मिलती है, पूर्ण वैराग्य कहलाती है। स्थायी एवम् सच्चे सुख की, मौलिक शर्तों में से, पूर्ण वैराग्य, एक है क्योंकि जिसमें पूर्ण वैराग्य होता है वह आगे के लिये कभी समाप्त न होने वाली इच्छाओं की श्रृंखलाओं से उत्पन्न होने वाले दुःख अपने लिए पैदा नहीं करता।

इच्छा–शून्यता मनुष्य को बिलकुल मुक्त कर देती है; वह न तो सुख से चंचल होता है और न दुःख से विचलित होता है। जो प्रिय वस्तुओं से प्रभावित होगा उसका अप्रिय वस्तुओं से प्रभावित होना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य शुभ शकुनों से उत्साहित होता है तो किसी अपशकुन से उसका निरुत्साहित होना सम्भव है। जब तक वह शुभ शकुन से शक्ति प्राप्त करता रहेगा तब तक वह अपशकुन के निराशा जनक प्रभाव के विरुद्ध अपने आप को सुरक्षित नहीं रख सकता। शकुनों से प्रभावित न होने का एक ही उपाय है शुभ शकुन और अपशकुन दोनो से ही उदासीन हो जाना।

**द्वन्द्व।**

निन्दा तथा स्तुति के द्वन्द्व के सम्बन्ध में भी यही बात लागू हो सकती है। यदि कोई मनुष्य स्तुति प्राप्त करके सुखी होता है तो निन्दा प्राप्त करने पर उसे दुःखी होना स्वाभाविक है। जबतक स्तुति प्राप्त करने पर भीतर ही भीतर हर्षित होता रहेगा तब तक वह निन्दा की बौछार के नीचे अपने को स्थिर नहीं रख सकता। निन्दा से विचलित न होने का एक ही उपाय है स्तुति से भी अनासक्त रहना। पूर्ण अनासक्ति के ही द्वारा मनुष्य निन्दा–स्तुति के द्वन्द्व से अविचलित रह सकता है, फिर वह स्तुति प्राप्त करने से समता नहीं खोयेगा। द्वन्द्वों से अप्रभावित रहने वाली स्थिरता और समता की प्राप्ति पूर्ण वैराग्य के ही द्वारा सम्भव है। स्थायी तथा सच्चे सुख की मौलिक शर्त पूर्ण अनासक्ति है। जो पूर्ण अनासक्त है, वह अनुभव द्वन्द्वों के भारों से दबा नहीं रहता। सारी इच्छाओं के बन्धन से मुक्त हो जाने के कारण वह अपने लिये दुःख की सृष्टि नहीं करता।

**निन्दा तथा स्तुति।**

मनुष्य अनेक दुःखों से ग्रस्त है। कुछ दुःख शारीरिक हैं तथा अन्य दुःख मानसिक हैं। इन दोनो प्रकार के दुःखों में से मानसिक दुःख अधिक तीव्र हैं। जिनकी दृष्टि सीमित होती है वे सोचते हैं कि दुःख केवल शारीरिक होता है। दुःख के सम्बन्ध में उनका विचार तो किसी प्रकार की बीमारी या शरीर की अन्य यन्त्रणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। किन्तु मानसिक दुःख शरीरिक दुःख से अधिक दुःखद होता है और मानसिक दुःख के सम्बन्ध में शारीरिक दुःख कभी–कभी एक वरदान के समान होता है। क्योंकि उसके परिणाम स्वरूप कभी कभी मानसिक दुःख कम हो जाता है। शारीरिक दुःख की ओर मन का ध्यान चला जाने से मानसिक दुःख की तीव्रता कम हो जाती है।

**शारीरिक तथा मानसिक दुःख।**

केवल शारीरिक दुःख की अतिश्योक्ति करना ठीक नहीं है। शारीरिक दुःख इच्छाशक्ति तथा सहिष्णुता के द्वारा सहा जा सकता है। परन्तु असली दुःख तो

मानसिक दुःख होता है और बिना किसी प्रकार प्रभावित हुए महान से महान शारीरिक यन्त्रणा को सहने वाले योगी इच्छाओं के खण्डित होने के कारण मानसिक दुःख से मुक्त नहीं होते यदि मनुष्य कुछ भी नहीं चाहता तो वह किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी नहीं हो सकता। यहाँ तक कि शेर के जबड़ों के भीतर भी नहीं। पूर्ण शून्यता की अवस्था प्रत्येक व्यक्ति में सुप्त है। और जब मनुष्य पूर्ण शून्यता को प्राप्त करता है तो वह नित्य तथा अमर सुख के उद्‌गम स्थान को खोज निकालता है। यह नित्य तथा अमर सुख संसार की वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं है। यह सुख आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति पर आश्रित है।

**इच्छा शून्यता से स्थायी सुख की प्राप्ति।**

# सुख की शर्तें

## (भाग–2)
## सन्तोष, प्रेम और ईश्वर अनुभूति

मनुष्य अपने अधिकांश दुःख स्वयम् ही के लिए अपनी अदम्य इच्छाओं तथा असम्भव मार्गों के द्वारा उत्पन्न कर लेता है। ये इच्छाएं और माँगे अनावश्यक इसलिए होती है कि वे आत्म–तुष्टि के लिये आवश्यक नहीं होती। यदि मनुष्य इच्छा–शून्य तथा सन्तुष्ट हो जाय तो वह अपने ही द्वारा उत्पन्न कष्ट से मुक्त हो जायगा। उसकी कल्पना बहिर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा आक्रान्त नहीं रहेगी अर्थात् अनावश्यक वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होने के कारण उसकी कल्पना पीड़ित नहीं रहा करेगी और उसे अजेय शान्ति प्राप्त हो जायगी। और जब मनुष्य सन्तुष्ट रहता है तो उसे समस्याओं की कोई हल की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि सांसारिक मनुष्यों के सामने जो समस्याएँ उपस्थित रहती है, वे उसके (सन्तुष्ट पुरुष के) जीवन का पिण्ड छोड़ देती हैं। उस के समक्ष कोई समस्याएं नहीं रहती अतः उन के हल की उसे कोई चिन्ता नहीं रहती क्योंकि इच्छाशून्यता की अवस्था में उसका जीवन अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाता है।

**सन्तोष स्वनिर्मित समस्याओं के क्लेश को छिन्न करता है।**

जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि इच्छाएं केवल बन्धन हैं तो वह उन्हें त्यागने का निश्चय करता है किन्तु इच्छाओं का त्याग स्वेच्छा प्रेरित होने पर भी बहुधा एक

कठिन कार्य हो जाता है। आत्मा यद्यपि इच्छाओं को त्यागने के लिए तैयार हो जाती है, तो भी मन से इच्छाओं को निकालने में दुःख होता है क्योंकि आत्मा का निश्चय अहंकार–चित्त की वृत्ति के विरुद्ध हो जाता है। अहंकार–चित्त इच्छाओं के सहारे जीवित रहने की घोर चेष्टा करता है क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव पड़ चुका रहता है। इच्छाओं का त्याग अहंकार चित्त के जीवन का ही **नाश** है। यही कारण है कि इच्छाओं को त्यागने की क्रिया अनिवार्यतः एक अत्यन्त दुःखद क्रिया है। किन्तु यह दुःख आत्मा के लिये हितकर होता है क्योंकि यह दुःख आत्मा को बन्धन मुक्त करता है।

**त्याग का दुःख।**

सभी दुःख बुरे नहीं होते। जिस दुःख के परिणाम स्वरूप इच्छा शून्यता का नित्य–आनन्द हो वह दुःख एक छद्मवेशी वरदान है, जिस प्रकार किसी शारीरिक व्याधि की निरन्तर उग्र पीड़ा से मुक्त होने के लिये रोगी को चिकित्सक की चीरफाड़ से उत्पन्न दुःख स्वीकार तथा सहना भी पड़ता है, उसी प्रकार इच्छाओं से उत्पन्न तथा न समाप्त होने वाली यन्त्रणा से मुक्त होने के लिए आत्मा को इच्छा–त्याग–जन्य दुःख का स्वागत करना पड़ता है। इच्छाओं को त्यागने में आत्मा को अत्यन्त तीव्र दुःख का भले अनुभव करना पड़े किन्तु इच्छाओं के क्रम–क्रम से मन से दूर होने पर उसी क्रम से स्वतन्त्रता की जो महान भावना का अनुभव होता है वह इस दुःख को सहन करने में सहायक होता है। जब शरीर के फोड़े को चीरने दिया जाता है और उस का पीप बाहर निकलने दिया जाता है तो उससे बहुत पीड़ा होती है, किन्तु साथ ही साथ उतना ही आराम और सुख भी मिलता है। इसी प्रकार इच्छाओं के त्याग से मिलने वाले दुःख के साथ–साथ क्रम–क्रम से बढ़ने वाले अनन्त जीवन की स्वतन्त्रता तथा सुःख भी प्राप्त होते जाते हैं।

**सादृश्य।**

सुख और स्वतन्त्रता का साफ जीवन प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। कृत्रिम तथा कल्पित इच्छाएँ बढ़ाकर मनुष्य ने अपना जीवन जटिल बना डाला है स्वच्छ जीवन व्यतीत करने का अर्थ है इच्छाओं को त्यागना। इच्छाएं मनुष्य की पृथक् सत्ता का अंश बन गई है। फलतः वह उन्हें तब तक छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता जब तक तीव्र मानसिक यन्त्रणा उसके मन पर बार–बार आघात पहुँचा कर उसे यह पाठ सिखाने में सफल नहीं होती है कि इच्छाऐं अज्ञान के कारण उत्पन्न होती हैं। जब अपनी इच्छाओं के कारण मनुष्य तीव्र यन्त्रणा से पीड़ित होता है तब वह इच्छाओं के यथार्थ स्वरूप को समझता है। अतः जब ऐसी यन्त्रणा आये तो उसका स्वागत करना चाहिये। दुःख आगे आने वाले दुःख दूर

**दुःख के द्वारा संयोग।**

करने के लिए आ सकता है। कांटा, कांटे से निकाला जाता है तथा दुःख दुःख से दूर किया जाता है। मन को इच्छाओं से मुक्त करने के लिए दुःख अवश्य सहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में दुःख उतना ही आवश्यक है जितना औषधि रोगी के लिए आवश्यक है।

तथापि नब्बे प्रतिशत मानवीय दुःख अनावश्यक है। दुराग्रह तथा अज्ञान के द्वारा मनुष्य अपने आपको तथा अपने साथियों को दुःख पहुँचाता है और फिर विचित्रता पूर्वक पूछता है "हमें दुःख क्यों होता है"। दुःख के सामान्य विचार युद्ध के दृश्यों, भग्नावशेष घरों, टूटे तथा रक्तरंजित अंगों, मृत्यु तथा उत्पत्ति की यन्त्रणाओं के रूप में आकार धारण करते हैं। किन्तु युद्ध कोई विशेष दुःख का वास्तविक रूप नहीं है। मनुष्य वास्तव में सदैव दुःखी रहते हैं। वे दुःखी इसीलिये रहते हैं कि वे सन्तुष्ट नहीं रहते, वे अधिकाधिक चाहते हैं। युद्ध दुःख का प्रतिनिधि या साकार स्वरूप नहीं है, वह सर्व–लौकिक यन्त्रणाओं का परिणाम है। अपने लोभ, दम्भ तथा निर्दयता के कारण मनुष्य अपने ऊपर तथा औरों पर अर्थहीन दुःख बुला लेता है।

**असन्तोष मुख्य दुःख हैं**

इच्छाओं के द्वारा मनुष्य अपने अधिकांश दुःख उत्पन्न करता है, और अपने ही लिये दुःख उत्पन्न करके वह सन्तुष्ट नहीं रह जाता किन्तु अपनी स्वार्थपरता से वशीभूत हो कर वह अपने साथियों के लिये भी दुःख उत्पन्न करने के लिये निर्दयता–पूर्वक उत्साहित होता है। औरों को दुःख पहुँचा कर भी मनुष्य अपने खुद के सुख की खोज करता है। इस प्रकार निर्दयता तथा युद्ध की उत्पत्ति होती है जिनमें दूसरों के कल्याण की घोर अवहेलना रहती है। किन्तु औरों के सुख की अवहेलना करके जब तक वह अपने आप के सुख के पीछे दौड़ता है तब तक वह सुख प्राप्त नहीं कर सकता। अपने सुख की खोज करने से मनुष्य अहंकार वृत्ति को प्राप्त होता है और भार का रूप धारण कर लेता है। जब मनुष्य पूर्णतः स्वार्थपरायण हो जाता है तो अपने पृथक सुख की मिथ्या खोज में वह औरों के प्रति अत्यन्त निर्दय तथा क्रूर हो जाता है। किन्तु उसकी क्रूरता और निर्दयता उसी की ओर लौटकर उसी में आघात पहुँचाती है क्योंकि निर्दयता तथा क्रूरता से उसके जीवन का झरना ही विषाक्त हो जाता है। प्रेम रहित जीवन बिलकुल ही शुष्क होता है। केवल प्रेम का ही जीवन वास्तविक जीवन है।

**अपने स्वतः के सुख के लिये स्वार्थ युक्त खोज मनुष्य को निर्दय (Calous) बनाती है।**

यदि मनुष्य इच्छा रहित है, तो वह जो दूसरों को दुःख पहुंचाता है वह अधिकांश में दूर हो जाता है तथा साथ ही वह अपने लिए जो दुःख उत्पन्न कर लेता है उनसे भी वह मुक्त हो जाता है। किन्तु निरी इच्छाशून्यता से रचनात्मक सुख पैदा नहीं हो जाता, यद्यपि इच्छाशून्यता स्वनिर्मित दुःख से मनुष्य की रक्षा करती है और सच्चे सुख को सम्भव करने की दिशा में बहुत कुछ कर देती है। सच्चे सुख का आगमन तब होता है जब मनुष्य अन्य मनुष्यों के प्रति अपने व्यवहार को सुव्यवस्थित करना सीखता है। अतः सीमित अहंकार के जीवन को प्रेम के जीवन में परिवर्तित करने की आध्यात्मिक आवश्यकता उत्पन्न होती है।

**आत्म विस्मरणशील प्रेम के ही द्वारा सुख आता है।**

पवित्र प्रेम विरल है क्योंकि अधिकांश मनुष्यों का प्रेम स्वार्थपूर्ण हेतुओं से दूषित हो जाता है। संचित बुरे संस्कारों की क्रिया के कारण ये स्वार्थी हेतु छंल पूर्वक चेतना में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसे कलुषित कर देते हैं। चेतना के भीतर मूल अज्ञान को, जो "मैं" – भाव के द्वारा अपने आपको व्यक्त करता है, दूर करना अत्यन्त कठिन कार्य है। जैसे जब मनुष्य कहता है कि वह अपनी प्रेयसी को चाहता है, तो उसके कहने का बहुधा यह अर्थ होता है कि वह अपनी प्रेयसी को अपने साथ रखना चाहता है। प्रेम की अभिव्यक्ति में "मैं" और 'मेरी' की भावना मुख्यतः रहती है। यदि मनुष्य अपने ख़ुद के लड़के को मैले फटे कपड़े पहने देखता है, तो उसे अच्छे कपड़े देने के लिए तथा उसे सुखी देखने के लिए भरसक प्रयत्न करता है; और ऐसी परिस्थितियों में अपने पुत्र के प्रति अपने आप की भावनाओं को प्रेम की शुद्ध भावनाएं समझता है। किन्तु अपने पुत्र के कष्ट को दूर करने की उसकी आतुरता में "मेरी" की भावना का कोई कम हाथ नहीं रहता है। यदि सड़क पर वह किसी अपरिचित के पुत्र को मैले फटे कपड़े पहने देखता है तो वह तुरन्त प्रत्युत्तर देने के लिए प्रवृत्त नहीं होता जैसा उसने अपने लड़के के सम्बन्ध में किया। इससे यह ज्ञात होता है, यद्यपि वह पूर्णतः इस बात से परिचित नहीं कि उसका अपने लड़के के प्रति व्यवहार बहुत कुछ स्वार्थयुक्त था; उसके मन के पृष्ठ भाग में "मेरे" की भावना आवश्यक रूप से छिपी रहती है। यह भावना पूर्ण विश्लेषण के द्वारा ही सतह पर लायी जा सकती है। यदि उसका व्यवहार अपरिचित लड़के के प्रति वैसा ही होता जैसा अपने लड़के के प्रति था तो ही कहा जा सकता था कि उस मनुष्य में शुद्ध प्रेम है।

**निःस्वार्थ प्रेम विरल है।**

पवित्र प्रेम किसी के भीतर बलात भरा नहीं जा सकता और न वह दूसरों से बलात छीना जा सकता है। उसको अन्दर से अभिव्यक्त होना पड़ता है। मुक्त

सहजता के साथ किन्तु साहस–पूर्ण, निर्णय से, वे तत्व दूर किये जा सकते हैं जो प्रेम की सहज अभिव्यक्ति में बाधक है। निःस्वार्थता की प्राप्ति कठिन तथा सहज दोनो कही

**शुद्ध प्रेम सरल और कठिन दोनो है।**

जा सकती हैं। वह उन लोगों के लिये कठिन है जिन्होंने सीमित अहंकार से बाहर निकलने का निश्चय नहीं किया है। जिन्होंने ऐसा निश्चय कर लिया है उनके लिये वह सरल है। दृढ़ निश्चय के अभाव में सीमित अहंकार से सम्बद्ध आसक्तियों को छिन्नमूल करना असम्भव है; किन्तु यदि मनुष्य किसी भी मूल्य पर स्वार्थपरता को छिन्नमूल करने का दृढ़ संकल्प कर ले तो पवित्र प्रेम के क्षेत्र में प्रवेश करना उसके लिए अत्यन्त सरल हो जाता है।

सीमित अहंकार आत्मा के बाह्य आचरण के समान है। मनुष्य अपने संकल्प के द्वारा जैसे कोट उतार सकता है, उसी प्रकार अपने साहस युक्त निश्चय तथा दृढ़

**साहसपूर्ण निश्चय की आवश्यकता।**

प्रतिज्ञा से वह अपने सीमित अहंकार को सदैव के लिये त्याग सकता है। साहसयुक्त तथा कभी न डिगनेवाले संकल्प के द्वारा कठिन जान पड़नेवाला कार्य सरल हो जाता है। किन्तु ऐसा दृढ़ संकल्प तभी उत्पन्न होता है जब पवित्र प्रेम के लिए मनुष्य में तीव्र लालसा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मूर्ख मनुष्य भोजन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार पवित्र प्रेम का अनुभव करनेवाला साधक पवित्र प्रेम के लिये लालायित रहता है।

जब साधक में पवित्र प्रेम की तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है तो वह गुरु की मध्यस्थता के लिए तैयार हो जाता है। गुरु उसका उचित पथ प्रदर्शन करके तथा उसे

**सच्चा प्रेम केवल गुरु के द्वारा जाग्रत किया जा सकता है।**

आवश्यक सहायता प्रदान करके उसे दिव्य प्रेम की अवस्था में प्रविष्ट करता है। गुरु ही दिव्य प्रेम प्रदान कर के प्रेम जाग्रत कर सकता है। और दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो प्रेम में आहूत हो जाना चाहता है उसे प्रेम की अनन्त अग्नि शिखा के पास जाना चाहिये। प्रेम जीवन की सब से श्रेष्ठ वस्तु है। प्रेम के अवतार के सम्पर्क में आये बिना प्रेम जाग्रत नहीं किया जा सकता। प्रेम पर केवल बौद्धिक चिन्तन करने से प्रेम सम्बन्धी सिद्धान्त का जाल बुना जा सकता है, किन्तु हृदय पहले जैसा शुष्क तथा रिक्त ही बना रहेगा। "प्रेम–प्रेम उत्पन्न करता है।" किसी अन्य यन्त्रतुल्य साधन से प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

जब मनुष्य में सच्चा प्रेम जाग्रत किया जाता है, तो उस प्रेम के द्वारा ईश्वर अनुभूति की प्राप्ति होने पर उसे असीम अक्षर तथा अक्षय सुख का अनुभव होता है।

ईश्वर अनुभूति जन्य सुख ही सृष्टि का लक्ष्य है; और यथार्थ में ऐश्वर्य का अनुभव प्राप्त किये बिना उस अनिर्वचनीय सुख का लेश मात्र भी विचार कर सकना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। दुःख और सुख के सम्बन्ध में मनुष्य को जो ज्ञान है वह अत्यन्त सीमित है। सब प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को झेल कर भी यदि ईश्वर अनुभूति का सुख प्राप्त हो तो वह प्राप्तव्य है। ईश्वर अनुभूति हो जाने पर ज्ञात होता है कि दुःख कभी था ही नहीं।

**प्रेम के द्वारा ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है।**

ईश्वर का ज्ञान जिन्हें प्राप्त नहीं हुआ है वे भी योग के बल से अपने मन पर इतना अधिकार कर लेते हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार के सुख या दुःख का अनुभव नहीं होता। जीते जी गाड़ दिये जाने पर भी या खौलते हुये तेल में ड़ाल दिये जाने पर भी वे दुःख से बिलकुल अविचलित रह सकते हैं। किन्तु उन्नत योगी साहसपूर्वक दुःख को सहन कर सकते हैं और बहुत कुछ उसका लोप कर सकते हैं तथापि उन्हें ईश्वर अनुभूति के सुख का अनुभव प्राप्त नहीं होता। जब व्यक्ति ईश्वर हो जाता है तो उसके लिए अन्य समस्त वस्तुशून्य हो जाती हैं। अतएव ईश्वर अनुभूति के सुख का किसी भी प्रकार ह्रास नहीं होता। ईश्वर अनुभूति का सुख आत्मावलम्बित रहता है। वह नित्य नवीन तथा अमर रहता है। वह असीम तथा अवर्णनीय रहता है। और, इस सुख की प्राप्ति के लिये संसार अस्तित्व में आया है।

**ईश्वरानुभूति का सुख नित्य एवम् अनन्त है।**

# ईश्वर
# अनन्त प्रेम के रूप में

जो ईश्वर को सिर्फ़ बुद्धि के द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं वे किसी शुष्क तथा निर्जीव बौद्धिक सिद्धान्त तक ही पहुँच पाते हैं। यह सिद्धान्त ईश्वर के वास्तविक रूप के असली सार का रसास्वादन नहीं कर सकता। यह सच है कि ईश्वर अनन्त अस्तित्व, अनन्त शक्ति तथा अनन्त आनन्द है। किन्तु यदि ईश्वर को अनन्त प्रेम के रूप में नहीं समझा गया तो उसके सच्चे स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। अपनी अतीत अवस्था में जहाँ से समस्त सृष्टि का उद्‌गम होता है तथा जहाँ अन्त में वह विलीन हो जाती है, ईश्वर नित्यशः अनन्त प्रेम है। रूपों के सीमित क्षेत्र में ही (जो द्वैत जगत् प्रपन्च के मध्यवर्ती अभ्युदय काल में प्रादुर्भूत होती है) प्रेम की अनन्तता विकास–पूर्ण दिखाई देती है।

**प्रेम ईश्वर का सार है।**

जब ईश्वर का प्रेम संसार के अभिव्यक्त रूपों में तथा इन रूपों के द्वारा अपने आपको अनुभूत करने के लिए आता है, तो वह इन निम्न–लिखित अवस्थाओं को पार करता है :–

**अभिव्यक्त प्रेम का विकासक्रम।**

(1) वह अपने को अत्यन्त सीमित अनुभव करता है।

(2) वह अपने को उत्तरोत्तर कम सीमित अनुभव करता है तथा अधिकाधिक अनन्त अनुभव करता है तथा –

(3) वह अपने को ही अनुभव करता है जो वास्तव में वह है, अर्थात् अस्तित्व और सार में अनन्त। प्रेम को जो ससीमता का अनुभव होता है वह संस्कार (जो चेतना के विकास के पश्चात् का परिणाम है)– जन्य अज्ञान के कारण है; और प्रेम के अनन्त होने का क्रम इन सीमाकारी संस्कारों को हटाने का क्रम है।

धातु–जगत् की प्रायः अचेतन अवस्था को पार करने के पश्चात् प्रेम पशुओं में वासना के रूप में चेतना का अनुभव करता है; और वह वासना के ही रूप में मनुष्य में भी सर्वप्रथम प्रकट होता है। **मानवीय चेतना में कामवासना प्रेम का अत्यन्त सीमित रूप है। कामवासना का यद्यपि दूसरे मनुष्यों से स्पष्ट सम्बन्ध रहता है, तो भी वह पूर्ण स्वार्थपरता से भिन्न नहीं होती, क्योंकि वासना जिन समस्त पदार्थों से आसक्त होती है, वे सीमित तथा पृथक अहंकार के लिए तथा उसके दृष्टिकोण से ही अभीष्ट होते हैं।** किन्तु साथ ही साथ वह एक प्रकार का प्रेम भी है क्योंकि उसमें औरों के प्रति गुण–ग्रहण शीलता का कोई न कोई रूप अवश्य रहता है। यद्यपि यह पर गुण ग्रहण शीलता आत्मा के बारे में धनीभूत अज्ञान से पूर्णतः विकृत हो गई रहती हैं।

**प्रेम की कामवासना के रूप में अभिव्यक्ति।**

अस्तित्व के स्थूल क्षेत्र के द्वैत में जब मानवीय चेतना पूर्णतः बँध जाती है तो प्रेम किसी न किसी प्रकार की विषय वासना के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में अपने को व्यक्त नहीं कर सकता। मनुष्य कढ़ी पसन्द करता है, और वह केवल इसलिये उस का आनन्द प्राप्त करता है, कि वह उसकी जीभ को गुद गुदाती है। कढ़ी के स्वाद में और कोई उच्चतर विचार कार्य नहीं करता, अतः वह एक प्रकार की वासना है। वह स्वाद के सम्वेदनों के लिये केवल एक तृष्णा है। इसी प्रकार देखने, सुनने, सूँघने तथा छूने के शारीरिक सम्वेदनों के लिये मन की तृष्णा रहती है। और इन सम्वेदनों से जो उत्तेजना प्राप्त होती है, उसी के द्वारा मन अपने आप के असहकारिक जीव का पालन पोषण करता है। **विषय–वासना, अपने समस्त रूपों में आत्मा से पृथक रहती है, तथा वह स्वतन्त्र रूप से स्थूल रूपों में आसक्ति है। विषय–वासना इन्द्रिय के विषयों में निरी आसक्ति की अभिव्यक्ति है; और उस के सभी रूपों में हृदय भूखा तथा अनभिव्यक्त ही रहता है। अतएव वह एक स्थायी रिक्त बन जाता है, तथा असीम दु:ख तथा अतृप्ति की अवस्था में रहता है।**

**स्थूल क्षेत्र का प्रेमी।**

अमिश्रित या शत–प्रतिशत वासना काम के रूप में जो प्रेम अभिव्यक्त होत है, वह पूर्ण परिसीमित के रूप में रहता है क्योंकि वह अविश्रांत तृष्णा के जाल में असहाय सा फँस जाता है। **जब हृदय विषय–वासना से जकड़ लिया जाता है तो आत्मा मानो विभ्रम**

या अप्राकृतिक नींद की अवस्था में रहती है। हृदय की क्रिया अत्यन्त संकीर्ण तथा विकृत हो जाती है क्योंकि वह सीमाजनक अज्ञान से अधिकृत हो गयी रहती है। उसकी उच्चतर योग्यताओं की अभिव्यक्ति तथा पूर्णता रूक जाती है। आत्मा के जीवन का यह अवरोध तथा दमन घोर बद्धता की अवस्था उत्पन्न करता है।

अमिश्रित विषयवासना अत्यन्त ससीमता की अवस्था है।

जो प्रेम अज्ञान के दासत्व के कार्य करता है विषय–वासना उस प्रेम का एक अत्यन्त सीमित रूप है। किन्तु वासना जो अपर्याप्तता की स्पष्ट छाया अपने ऊपर अनिवार्यतः धारण किये रहती है कि वह इस बात का चिन्ह है, कि वह किसी ऐसी गम्भीरतर वस्तु की अपूर्ण तथा अपर्याप्त अभिव्यक्ति है, जो विशाल तथा अनन्त है। अमिश्रित विषय–वासना परिणाम स्वरूप जो अनेक एवम् असीम दुःखों की उत्पत्ति होती है, तथा वासना के बार–बार खण्डित होने से जो क्लेश अनुभूत होते हैं, इन दुःखों और क्लेशों के द्वारा अमिश्रित वासना जीवन की नितान्त निरर्थकता तथा व्यर्थता के विरूद्ध अपना घोर प्रतिवाद पेश किया करती है। अनेक तथा नाना दुःखों और वेदनाओं की अक्षय ध्वनियों के द्वारा ईश्वर के प्रेम की अनन्तता अप्रत्यक्ष रूप से अपने अनाभिव्यक्त तथा निर्बल अस्तित्व के आदेशपूर्ण दावों की घोषणा करती है।

विषय वासना में अनन्तता का आत्मप्रतिष्ठापन अप्रत्यक्ष रहता है।

स्थूल क्षेत्र के निम्नतर वासनापूर्ण जीवन में भी ईश्वर अपने आप को प्रेमी के रूप में अनुभव करता है; किन्तु वह एक ऐसे प्रेमी की अवस्था है जिसे अपने तथा अपने प्रियतम की वास्तविक अवस्था का पूर्ण अज्ञान है, तथा वह एक ऐसे प्रेमी की अवस्था है जो अज्ञात द्वैत के तमसाच्छन्न आवरण के द्वारा अनिवार्यतः पृथक कर दिया गया है। तो भी यह अवस्था एक ऐसे लम्बे विकास–क्रम का आरम्भ है, जिसकी सहायता से प्रेमी, अज्ञान के घोर आवरण को दूर करके अपने सत्य रूप को प्राप्त होता है, जो असीम तथा अनिरूद्ध प्रेम होता है। किन्तु अनन्त प्रेम में प्रविष्ट होने के लिये, प्रेमी को दो अन्य स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। वे हैं सूक्ष्म क्षेत्र की स्थिति तथा मानसिक क्षेत्र की स्थिति।

प्रेमी की तीन स्थितियां।

सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी, वासना से मुक्त नहीं रहता, किन्तु वह जिस वासना का अनुभव करता है वह अमिश्रित नहीं होती जैसे स्थूल क्षेत्र की रहा करती है। सूक्ष्म क्षेत्र की वासना की तीव्रता स्थूल क्षेत्र की वासना की तीव्रता की आधी होती है। इस के सिवा सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी के जीवन में वासना की वैसी स्थूल अभिव्यक्ति नहीं होती जैसी स्थूल क्षेत्र के प्रेमी के जीवन में होती है। स्थूल क्षेत्र

सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी।

का प्रेमी स्थूल पदार्थों से बिलकुल बँध जाता है, अतः उसकी वासना स्थूल अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। किन्तु सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी की स्थूल पदार्थों में आसक्ति बहुत शिथिल हो गयी रहती है; अतः स्थूल रूप में उस की वासना अनभिव्यक्त रहती है। उसकी वासना की अन्य सूक्ष्म अभिव्यक्तियां हैं, किन्तु उसकी स्थूल अभिव्यक्ति नहीं होती। इस के सिवा स्थूल क्षेत्र की आरम्भिक वासना का अर्धान्श सूक्ष्म क्षेत्र में परिवर्तित तथा शुद्ध हो जाता है, अतः सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी प्रेम को अमिश्रित वासना के रूप में अनुभव नहीं करता किन्तु एक उच्चतर रूप में, अर्थात् **प्रियतम से युक्त होने की लालसा के रूप में** अनुभव करता है।

इस प्रकार स्थूल क्षेत्र में प्रेम अपने को वासना के रूप में व्यक्त करता है, तथा सूक्ष्म क्षेत्र में अपने को लालसा के रूप में व्यक्त करता है। विषय वासना इन्द्रिय सम्वेदनाओं और उत्तेजनाओं के लिए तृष्णा है, अतः उसका हेतु पूर्णतः स्वार्थ–युक्त होता है। वह प्रियतम के कल्याण के प्रति पूर्णतः उपेक्षाशील होता है। किन्तु लालसा में स्वार्थ कम होता है, और यद्यपि वह एक प्रकार से प्रधान ही रहती है, तो भी वह प्रियतम के मूल्य और महत्व को आत्मा से पृथक तथा स्वीकार करती है। लालसा, प्रेम की वासना की अपेक्षा कम सीमित रूप है। लालसा में द्वैत का आवरण अधिक पारदर्शी तथा कम बाधक हो जाता है, क्योंकि प्रेमी और प्रियतम के द्वैत पर विजय प्राप्त करने का ज्ञान–पूर्वक प्रियतम की उपस्थिति या सन्निकटता प्राप्त करने के रूप में, प्रयत्न किया जाता है। **विषय–वासना में एक मात्र सीमित अहंकार पर ज़ोर दिया जाता है, और प्रियतम पूर्णतः अहंकार की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र होता है। किन्तु लालसा में ज़ोर अहंकार तथा प्रियतम के बीच सामान्यतः विभाजित रहता है, और प्रेमी यह अनुभव करता है, कि वह प्रियतम के लिये उसी प्रकार जीवित है, जिस प्रकार प्रियतम प्रेमी के लिए जीवित है।**

**लालसा के रूप में प्रेम।**

मानसिक क्षेत्र के प्रेमी के प्रेम की अभिव्यक्ति इससे भी उच्चतर तथा स्वतन्त्रतर होती है। मानसिक क्षेत्र के प्रेमी के प्रेम में भी यद्यपि वासना का पूर्ण लोप नहीं हुआ रहता, तो भी वह अधिकान्शतः शुद्ध और परिवर्तित हो गयी रहती है। स्थूल क्षेत्र की आरम्भिक वासना का लगभग एक चतुर्थ भाग ही केवल बचा रहता है। किन्तु यह वासना बिना किसी अभिव्यक्ति के, सुप्त रूप में रहती है। **मानसिक क्षेत्र में वासना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति भी नहीं होती।** मानसिक क्षेत्र का प्रेमी सूक्ष्म पदार्थों से अनासक्त रहता है और वह प्रियतम के लिए अधिकार वृत्ति प्रधान लालसा से भी मुक्त रहता है, जो सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी का लक्षण है।

**मानसिक क्षेत्र का प्रेमी।**

मानसिक क्षेत्र में, प्रियतम की इच्छा के प्रतिपूर्ण आत्मसमर्पण के रूप में, प्रेम अपने आप को व्यक्त करता है। समस्त स्वार्थी इच्छाएं तथा लालसा भी प्रियतम की सन्निकटता

के लिये लुप्त हो जाती है। अब पूरा जोर प्रियतम की महत्ता तथा इच्छा पर केन्द्रित हो जाता है। स्वार्थ–परता पूर्णतः प्रक्षालित होती है, और प्रेम अपने शुद्ध रूप में यथेष्ट माया में प्रवाहित होता है। तथापि मानसिक क्षेत्र में भी प्रेम अनन्त नहीं हो जाता क्योंकि अभी भी प्रेमी और प्रियतम को पृथक करनेवाले द्वैत का एक पतला आवरण उपस्थित रहता है। यद्यपि अब प्रेम स्वार्थपरता के पाश से मुक्त हो जाता है, तो भी वह अनन्त प्रेम से कम ही रहता है, क्योंकि **प्रेम सीमित मन के माध्यम के द्वारा अनुभव किया जाता** है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निम्नतर क्षेत्रों में निम्नतर शरीर के माध्यम से प्रेम अनुभव किया जाता है।

**प्रेम की शरणागति के रूप में आत्माभिव्यक्ति**

प्रेम ज्ञानपूर्वक अपनी सत्ता तथा अपनी अभिव्यक्ति में अनन्त तब होता है जब वैयक्तिक मन का अतिक्रमण हो जाता है। ऐसा प्रेम यथार्थ ही दिव्य प्रेम कहा जाता है, क्योंकि वह ईश्वर अवस्था के लक्षण से अलंकृत रहता है जिस ईश्वर अवस्था में द्वैत का अन्तिम रूप से अतिक्रमण कर लिया जाता है। दिव्य प्रेम में विषय–वासना का पूर्णतः लोप हो जाता है। यह सुप्त रूप में भी नहीं रहती। **ईश्वरीय प्रेम वस्तुतः तत्व तथा अभिव्यक्ति में अनन्त होता है, क्योंकि वह आत्मा से आत्मा के ही द्वारा अनुभूत होता है।** स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक क्षेत्रों में प्रेमी को प्रेमी से पृथक होने का ज्ञान रहता है, किन्तु जब ये सब क्षेत्र पार कर लिये जाते हैं, तब प्रेमी को प्रियतम से अपनी एकता का ज्ञान हो जाता है। प्रेमी अपने को प्रियतम की सत्ता में विलीन कर देता है और यह जानता है कि वह प्रियतम से एक है। दिव्य प्रेम इच्छाओं या सीमित अहंकार के बन्धनों से बिल्कुल मुक्त रहता है, **और अनन्त प्रेम की इस अवस्था में प्रेमी की अपने प्रियतम से पृथक कोई सत्ता नहीं रहती। वह स्वयम् प्रियतम हो जाता है।**

**ईश्वरीय प्रेम अनन्त होता है।**

इस प्रकार ईश्वर अनन्त प्रेम के रूप में पहले सृष्टि के रूपों से अपने आपको सीमित कर लेता है, और सृष्टि की विभिन्न अवस्थाओं में अपनी अनन्तता को पुनः प्राप्त करता है। ईश्वर के सीमित प्रेमी होने के अनुभव की समस्त स्थितियों की अन्तिम पराकाष्ठा में ईश्वर अपने को एकमात्र प्रियतम के रूप में अनुभव करता है। **आत्मा का प्रवास एक अद्भुत दिव्य लीला है। इस लीला की आरम्भिक अवस्था में प्रेमी को रिक्तता, असफलता, व्यर्थता तथा बन्धन की क्रूर श्रृंखलाओं का अनुभव होता है। क्रम–क्रम से उसके प्रेम की अभिव्यक्ति अधिकाधिक पूर्ण तथा स्वतन्त्र होती जाती है, और अन्त में प्रेमी दिव्य प्रियतम (Divine Beloved) में अंर्तहित और मग्न हो जाता है और उसे परम तथा नित्य सत्य ईश्वर के अनन्त प्रेम में, प्रेमी प्रियतम की एकता का आत्मप्रत्यय प्राप्त होता है।**

**दिव्य प्रेम लीला।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

## (भाग 1)

### मृत्यु का महत्व

जीवात्मा का अपने को शरीर समझना।

संसारी मनुष्य स्थूल शरीर की क्रियाओं से ही जीवन का पूर्ण तादात्म्य अनुभव करता है; अतः शरीर के आदि और अन्त को वह जीवात्मा का आदि और अन्त समझता है। अपने तमाम अनुभवों से उसे विदित होता है, कि भौतिक शरीर नश्वर है। वह बहुधा जीवित शरीरों को नष्ट होते हुए भी देखता है। अतः स्वाभाविकतः यह विश्वास करता है, कि शरीर के अवसान के साथ ही साथ जीवन का भी अवसान हो जाता है।

मृत्यु जीवन की पृष्ठ भूमि।

संसारी मनुष्य मृत्यु को ही जीवन की समाप्ति मानता है; और अपने सामान्य दृष्टिकोण में वह मृत्यु को बड़ा भारी महत्व देता है। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, जो मृत्यु पर बहुत अधिक समय तक विचार करते हों; किन्तु सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में पूर्णतः मग्न रहने पर भी, मृत्यु की घटना को अनेक प्रसंगों पर अपनी आंखों के सामने देखकर अधिकांश मनुष्य उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। मृत्यु एक ऐसी अनिवार्य घटना है, जिस पर किसी का वश नहीं चलता। वह अदृश्य रूप से, जीवन में प्रवेश करती है, तथा मनुष्यों की महान विजयों एवम् उपलब्धियों तथा तीव्र आनन्दोल्लास तथा आमोद–प्रमोद की

इति कर देती है। अतः मनुष्यों के लिये मृत्यु की घटना जीवन के पार्थिव दृश्य की पार्श्वभूमि हुआ करती है।

**मृत्यु का महत्व।**

मृत्यु को सामान्यतः जीवन की पृष्ठभूमि समझने के अतिरिक्त, उसे जीवन के अनेक कार्यों में अत्यधिक महत्व भी दिया जाता है। अत्यन्त शोकजनक तथा भयानक घटनाओं में से एक घटना मृत्यु भी मानी जाती है। जब मनुष्य घृणा तथा क्रोध के वश में आकर किसी से बदला लेना चाहता है, तो वह मृत्यु को ही अन्तिम दण्ड तथा सर्वश्रेष्ठ प्रतिशोध समझ कर अपने शत्रु का वध करता है। लोग समझते हैं, कि शत्रु के आक्रमण तथा अनिष्ट से बचने का सर्वोत्तम उपाय है, उसे मार डालना। सर्वोत्कृष्ट आत्म–बलिदान के चिन्ह के रूप में भी मनुष्य मृत्यु को ही निमन्त्रित करते हैं। जब मनुष्य अपनी सांसारिक चिन्ताओं का सामना नहीं कर सकता है, तथा अपनी सांसारिक समस्याओं को सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पाता है, तब उनका अन्त करने की मिथ्या आशा से वह मृत्यु का ही आश्रय लेता है, अर्थात् आत्म–हत्या कर लेता है। इन सब बातों से विदित होता है, कि **अनेक मनुष्यों के विचारों में मृत्यु अत्यन्त अधिक महत्व धारण कर लेती है।**

**सामान्य जीवन की निरंतरता।**

**विशिष्ट रूपों** पर मनुष्य आसक्त हो जाता है, यही कारण है कि वह मृत्यु को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है। यदि संसारी मनुष्य जीवन क्रम तथा जीवन प्रवाह को विस्तृत दृष्टि से देखे, तो उसे मालूम होगा, कि मृत्यु न तो उतनी महत्वपूर्ण है और न उतनी शोकजनक, जितनी कि वह उसे समझता है। **यह सच है, कि रूप नश्वर है। किन्तु रूपों कि नश्वरता से, जीवन की अविश्रांत निरन्तरता में, कोई कमी नहीं पड़ती। पुराने रूपों को त्याग कर, जीवन अपने निवास तथा अभिव्यक्ति के लिए, नये रूपों की रचना करता है।** अतः रूपों के नाश के **बावजूद** रूपों के भीतर तथा रूपों के द्वारा जीवन अनवरत गति से प्रवाहित होता रहता है। यद्यपि मौत का कार्य कभी बन्द नहीं होता, तथापि जीवनधारा निरन्तर बहती ही रहती है। एक ओर क्रम–क्रम से मृत्यु होती जाती है, तो दूसरी ओर क्रम–क्रम से जन्म भी होता जाता है। **बारी–बारी से लोग मरते जाते हैं, तो बारी–बारी से मनुष्यों का जन्म भी होता रहता है।** जितने लोग मरते हैं उतने लोग जन्म भी लेते हैं। अतः मृत्यु से जो स्थान रिक्त होता है, जन्म से उसकी पूर्ति हो जाती है। प्राचीन मानवकुल के स्थान में, नवीन मानवकुल आ जाता है। नये–नये रूपों में पुनः–पुनः जन्म लेकर, जीवन सदैव अपने आपको नूतन तथा नवीन करता जाता है। जीवन के स्त्रोत अपने आदि–उद्गम स्थान से, सदैव

निःसृत होकर रूपों के द्वारा सतत प्रवाहित होते रहते हैं। समुद्र की तरंगों की भाँति ये रूप उठते और विलीन होते रहते हैं।

अतएव संसारी मनुष्य अपने सीमित अनुभव से भी शिक्षा ग्रहण कर सकता है, तथा इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है, कि मृत्यु सर्वथा कोई ऐसी हानि नहीं है, जिसकी पूर्ति नहीं। इस प्रकार, वह मृत्यु से उत्पन्न होने वाले अपने दारूण शोक को बहुत कुछ कम कर सकता है। **किन्हीं ख़ास रूपों पर बिना आसक्त हुए, पक्षपातशून्य तथा तटस्थ दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करने से ही, मृत्यु के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टिकोण धारण करना सम्भव है।** किन्तु, विशिष्ट रूपों पर आसक्त होने के कारण मनुष्य के लिये जीवन पर तटस्थ विचार करना ही अत्यन्त कठिन होता है। उसके लिए सारे रूप समान नहीं होते। उसके लिए, एक रूप उतना ही अच्छा नहीं होता, जितना कि दूसरा रूप। जिस रूप को वह अपना समझता है, या जिस रूप में तादात्म्य अनुभव करता है, वह रूप उसे सर्वश्रेष्ठ मालूम होता है। जीवन प्रवाह की सामान्य सुरक्षा तथा वृद्धि का उसके लिये कोई महत्व नहीं रहता। **संसारी मनुष्य यह इच्छा करता है, कि उसका रूप बना रहे, तथा वे विशिष्ट रूप बने रहें, जिन पर वह आसक्त है।** उसका हृदय उसकी बुद्धि का साथ नहीं देता। ज्योंही उसको प्रिय लगनेवाले रूप उसकी आँखों से ओझल होते हैं, त्योंही उसके शोक का कोई ठिकाना नहीं रहता, यद्यपि उन रूपों के नाश से जीवन–समष्टि की होनेवाली क्षति की पूर्ति, अन्यत्र अन्य रूपों में व्यक्त होनेवाले जीवन के द्वारा हो जाती है।

**विशिष्ट रूपों पर आसक्ति होने के कारण मृत्यु का दुःख होता है।**

सूक्ष्म विश्लेषण करने पर मालूम होगा कि मृत्यु का शोक स्वार्थपरता से उत्पन्न होता है। वह मनुष्य, जिसके प्रियतम सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है, मन ही मन समझता है, कि जीवन समष्टि की क्षति की कहीं अन्यत्र पूर्ति हो गयी है; किन्तु वह यही अनुभव करता है, **'उससे मेरा'** कौनसा मतलब पूरा हुआ है ? जब मनुष्य मृत्यु को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखता है, तभी वह अपार शोक उत्पन्न करती है। सामान्य–जीवन–समष्टि के दृष्टिकोण से, मृत्यु एक बहुत कम महत्व रखनेवाली घटना है।

**मृत्यु का शोक एक प्रकार की स्वार्थपरता है।**

मृत्यु पर तटस्थ बुद्धि से विचार करने पर, उससे उत्पन्न व्यक्तिगत शोक से मन काफ़ी सुरक्षित हो जाता है। किन्तु, तब भी तटस्थ बुद्धि की मृत्यु विषयक गम्भीर समस्याएं हल नहीं हो जातीं. मृत्यु का यथार्थ अर्थ समझने में, तटस्थ बुद्धि के समक्ष भी अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। यदि मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व की अन्तिम

परिसमाप्ति माना जाता है, तो उससे संसार की ऐसी हानि होती है, जिसकी पूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के द्वारा संसार को जो वस्तु प्रदान करता है, वह इतनी अद्वितीय होती है कि वही वस्तु कोई दूसरा व्यक्ति प्रदान नहीं कर सकता। इसके सिवाय, **व्यक्ति पूर्णता की प्राप्ति करने के बहुत पहले ही मर जाता है।** अपने आदर्श के लिए किये जानेवाले उसके संघर्ष, सत्य, शिव तथा सुन्दर को प्राप्त करने के लिए, उसके प्रयत्न और उत्साह तथा दिव्य और अनन्त वस्तुओं के प्रति उसकी आकाँक्षायें – सभी मृत्यु से उत्पन्न विशाल शून्यता में विलीन से हो जाते हैं।

**तटस्थ बुद्धि की समस्याएं।**

मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व की परिसमाप्ति समझना विवेकसम्मत अन्तःप्रज्ञा (Rationalised intuition) की अवारणीय अपेक्षाओं के विपरीत होता है। अशुद्ध बुद्धि यह अनुमान करती है कि मृत्यु वैयक्तिक अस्तित्व का अन्त है, तथा अन्तःप्रज्ञा से प्रेरणा होती है कि मृत्यु वैयक्तिक जीवन की समाप्ति कदापि नहीं हो सकती। **इस प्रकार, अशुद्ध बुद्धि की धारणा तथा विवेकसम्मत अन्तःप्रज्ञा की प्रेरणाओं के बीच में, प्रायः संघर्ष की उत्पत्ति हो जाती है।** इस संघर्ष से शुद्ध तर्क का आरम्भ होता है। लोगों का सामान्यतः यह विश्वास है, कि मृत्यु वैयक्तिक अस्तित्व की वास्तविक समाप्ति है। यह संघर्ष इस विश्वास को गम्भीर चुनौती देता है। मनुष्य की आध्यात्मिक आकाँक्षाएं, मृत्यु को जीवन की समाप्ति के रूप में, पूर्णतः स्वीकार नहीं करती है। अतः, जीवात्मा की अमरता पर, मानव मन बिना विशेष विरोध के ही, विश्वास कर लेता है, यद्यपि मृत्यु के पश्चात् जीवन के अस्तित्व के विषय में उसे कोई अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं होता।

**अशुद्ध बुद्धि तथा गम्भीर अन्तःप्रज्ञा के बीच संघर्ष।**

व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा, आत्मा की अमरता के तथ्य को जाननेवाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। **बहु संख्यक मनुष्य, मृत्यु के पश्चात् जीवन के अस्तित्व के सम्बन्ध में, अतीन्द्रिय ज्ञान से वंचित रहते हैं।** ऐसे लोगों के लिये, आत्मा का अमरत्व एक स्वीकार करने योग्य या मानने लायक **विश्वास** से अधिक कुछ नहीं होता। किन्तु कुछ मनुष्य **वैज्ञानिक रुचि** के कारण पर लोक से सम्पर्क स्थापित करने के साधनो की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ लोग, अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण या तो भूत आत्माओं का दर्शन करते हैं, या उनसे ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के स्वाभाविक क्रम में अपनी प्रसुप्त दर्शनशक्ति को जाग्रत करके, अन्तर्जगत् की वास्तविकताओं को स्पष्टतः देख सकते

हैं। कहना न होगा, कि ऊपर वर्णित, कतिपय विभिन्न व्यक्तियों को ही, मृत्यु के पश्चात् जीवन के सम्बन्ध में, व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त रहता है।

**आत्मा की अमरता का भौतिक आधार।**

जीवात्मा भौतिक शरीर नहीं है, इस तथ्य के आधार पर ही, जीवात्मा की अमरता सम्भव है। मृत्यु के समय, जीवात्मा अपने स्थूल शरीर को त्याग देता है, और सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों के माध्यम के द्वारा, जीवात्मा अपने समस्त संस्कारों के सहित, अन्तर्जगत् में निवास करता है। स्थूल शरीर के **माध्यम्** का यह सांसारिक जीवन, जीवात्मा के अनवरत जीवन का केबल एक भाग है; उसके जीवन के अन्य भागों की अभिव्यक्ति अन्य संसारों में होती है।

**तीन संसार।**

अपने स्थूल शरीर की सामान्य इन्द्रियों के द्वारा, मनुष्य जो कुछ देख सकता है, प्रकृति उससे बहुत अधिक विस्तृत है। प्रकृति के प्रच्छन्न भाग सूक्ष्मतर पदार्थ तथा शक्तियों के बने हैं। प्रकृति के सूक्ष्म भागों को उसके स्थूल भाग से विभाजित करने वाली कोई खाई नहीं है। प्रकृति के सूक्ष्म भाग तथा स्थूल भाग परस्पर सम्बद्ध है, तथा दोनो का साथ–साथ अस्तित्व है। प्रकृति का स्थूल भाग मनुष्यों को दिखाई देता है, तथा उसके सूक्ष्म भाग उन्हें दिखाई नहीं देते। तो भी ये सूक्ष्म भाग स्थूल भाग से जुड़े हुए हैं। वे दूर नहीं है; तो भी वे उसकी चेतना के लिये दुर्बोध हैं। इसका कारण यह है कि सामान्य मनुष्यों की चेतना भौतिक इन्द्रियों के द्वारा कार्य करती है, अतः उसे स्थूल संसार ही दिखाई देता है। स्थूल संसार से अधिक सूक्ष्मतर संसारों को देख सकने में, भौतिक इन्द्रिय अपर्याप्त है। सामान्य मनुष्य, अर्न्तजगत् की **आन्तरिक भूमिकाओं** से अज्ञात रहता है, तथा ध्वनियों से चेतनापूर्वक मानसिक सूक्ष्म संसार मनुष्य के सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध है तथा स्थूल शरीर से वह कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता। अतः, व्यवहारिक दृष्टि से, अन्तर्जगत् सामान्य मनुष्य के लिये, 'परलोक' ही सिद्ध होता है। प्रकृति के प्रच्छन्न तथा सूक्ष्मतर भाग के सूक्ष्म तथा मानसिक संसार–ये–दो मुख्य भेद हैं; और वे मनुष्य के सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से सम्बद्ध रहते हैं। अतः समस्त प्रकृति, सुविधा के लिये, तीन भागों में विभक्त की जा सकती है **(1) स्थूल संसार, (2) सूक्ष्म संसार, तथा (3) मानसिक संसार।** जब जीवात्मा स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेता है, तो वह स्थूल संसार में अपना जीवन अभिव्यक्त करता है। किन्तु, जब वह स्थूल शरीर के बाह्य आच्छादन को त्याग देता है, तब भी उसके जीवन की अभिव्यक्ति, या तो सूक्ष्म शरीर के द्वारा, सूक्ष्म संसार में जारी रहती है, या मानसिक शरीर के द्वारा, मानसिक संसार में।

जो संस्कार एक जन्म में प्रकट होने के लिए विमुक्त होते हैं, उन सभी संस्कारों के क्रिया में परिणित हो जाने के पश्चात् ही उसका स्थूल शरीर जीवन सामान्यतः समाप्त होता है। किन्तु, इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं। सभी संस्कारों के कार्य में परिणत होने के पूर्व ही, कभी कभी जीवात्मा स्थूल शरीर को त्याग देता है। उदाहरणार्थ जो मनुष्य **आत्महत्या** करता है, वह अपने जीवन की निश्चित अवधि को, कृत्रिम ढंग से संक्षिप्त कर देता है; और अपने कार्य में फलित होने के लिये विमुक्त संस्कारों को वह बीच में ही रोक देता है। **ऐसी असामायिक मृत्यु के परिणाम स्वरूप, संस्कारों की अभिव्यक्ति, बीच में ही जब रोक दी जाती है, तब अस्वाभाविक ढंग से मृत्यु को प्राप्त होनेवाली जीवात्मा, स्थूल शरीर त्याग देने के पश्चात् भी, संस्कारों की प्रेरक** (Propelling) **शक्ति के वशीभूत रहता है।** जब संस्कारों का क्रिया में परिणत होना, इस प्रकार रोक दिया जाता है, तब मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, अफलित संस्कारों का वेग बना रहता है। फलतः ऐसी जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् भी स्थूल संसार की वस्तुओं की बहुत बुरी तरह इच्छा करती है।

**असामायिक मृत्यु के अभाव।**

कृत्रिम रीति से मृत्यु को प्राप्त हुआ जीवात्मा, स्थूल संसार की ओर प्रचण्ड आकर्षण तथा अदम्य प्रवृत्ति का अनुभव करता है। वह स्थूल वस्तुओं के भोग की ऐसी प्रबल इच्छा करता है, कि वह जीवित मनुष्यों के स्थूल शरीरों के द्वारा अपनी इच्छाओं की तृप्ति करता है। अतः ऐसे जीवात्मा को, जब शराब पीने की प्रचण्ड इच्छा होती है, तो इस इच्छा की पूर्ति के लिये, वह अस्वाभाविक ढंग से ग्रहण करता है। जब, वह स्थूल संसार में, किसी जीवित मनुष्य को शराब पीते देखता है, तो वह उसके स्थूल शरीर से अपने आपको युक्त करके उस पर अपना अधिकार जमा लेता है, और उस मनुष्य के द्वारा, वह अपनी स्वयम् की इच्छा पूरी करता है। इसी प्रकार, यदि वह जघन्य तथा भयंकर क्रोध का अनुभव करना चाहता है, तो वह स्थूल संसार के क्रुद्ध मनुष्य के द्वारा, अपने क्रोध को व्यक्त करता है। **ऐसे मृत जीवात्मा अपने ही समान संस्कार वाले जीवित मनुष्यों से मिलने तथा उन्हें उत्पीड़ित करने का सदैव** अवसर खोजते रहते हैं और लम्बे समय तक, स्थूल संसार से अपना सम्पर्क बनाये रखने का वे यत्न करते हैं। **मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का स्थूल जगत से यदि क्षीण से क्षीण सम्बन्ध भी शेष रहेगा, तो वह आत्मा के स्वाभाविक जीवन की अगात के लिये, एक घातक विघ्न सिद्ध होगा।** और जो इस अनिश्चित अवस्था के शिकार हो जाते हैं, वे ख़ासतौर से अभागे हैं, क्योंकि जीवित मनुष्यों के शरीरों के द्वारा, अपनी स्थूल इच्छाओं की अस्वभाविक पूर्ति करके,

**पिशाच बाधा।**

वे अपने आपको तथा औरों को अनावश्यक पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसी अभागी आत्माओं की अपेक्षा, अन्य आत्माओं का मृत्यु के बाद का जीवन अधिक सम तथा निर्विघ्न होता है।

**मृत्यु से दो जीवनों के बीच के अवकाश काल का आरम्भ होता है।**

**सामान्यतः मृत्यु तभी होती है, जब उसके वे तमाम संस्कार कार्यान्वित हो जाते हैं, जिन्हें फलित करने के लिये , वह जन्म लेता है।** जब जीवात्मा अपने स्थूल शरीर का परित्याग करता है, तो स्थूल संसार से उसका पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, यद्यपि सांसारिक जीवन में, जो संस्कार वह संचित कर चुका होता है, उन समस्त संस्कारों के सहित, उसका अहम् तथा उसका मन सुरक्षित रहता हैं। बाधा पहुँचानेवाली प्रेतात्माओं के विपरीत, सामान्य प्रेतात्मा स्थूल जगत् से कोई सम्बन्ध न रखने की चेष्टा करते हैं। वे परिवर्तित परिस्थितियों द्वारा निर्धारित सीमाओं को शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं; और कर्तव्यहीनता (State of Subjectivity) **की अवस्था** में चले जाते हैं। इस अवस्था में, पार्थिव संस्कारों के मन ही मन स्मरण, तथा पुनरावलोकन की क्रिया होती रहती है। इस प्रकार मृत्यु से, विश्राम का प्रारम्भ होता है। इस विश्राम–काल में, चेतना कार्य के स्थूल क्षेत्र से वापस समेट ली जाती है। **समाप्त होने वाले स्थूल जीवन तथा आरम्भ होने वाले स्थूल जीवन के बीच का अवकाश–काल मृत्यु के द्वारा प्रारम्भ होता है।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

**(भाग–2)**

**नरक और स्वर्ग**

मृत्यु के समय, जीवात्मा अपने पाँच भौतिक शरीर को त्याग देती है। अतः मृत्यु के पश्चात्, स्थूल संसार का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, क्योंकि स्थूल जगत् का ज्ञान स्थूल शरीर पर पूर्णतः निर्भर रहता है। यद्यपि स्थूल जगत् की चेतना का इस प्रकार अन्त हो जाता है, तथापि स्थूल जगत् के अनुभवों के संस्कार, मानसिक शरीर में, सुरक्षित रहते हैं; और वे संस्कार अर्ध–सूक्ष्म क्षेत्र के द्वारा, अपने आपको व्यक्त करते रहते हैं। मृत्यु तथा द्वितीय जन्म के बीच के अवकाश काल में, जीवात्मा की चेतना इन संस्कारों की ओर आकृष्ट होती है। परिणामतः संचित संस्कारों का पुनरुज्जीवन तथा तत्सम्बन्धी अनुभवों का पुनर्जागरण प्रारम्भ होता है। औसत मनुष्य सूक्ष्म वातावरण से अज्ञात रहता है। **वह पूर्णतः मनोगत अवस्था (Subjectivity) में मग्न हो जाता है। वह, पुनर्जाग्रत संस्कारों के जीवन में लीन हो जाता है।**

**मृत्यु के पश्चात् जीवन की तन्द्रावस्था।**

पार्थिव जीवन में होने वाले सुख–दुख के अनुभवों की अपेक्षा, मृत्यु के पश्चात के जीवन में होने वाले सुख तथा दुख के अनुभव अधिक तीव्र होते हैं। **तीव्रीभूत यन्त्रणा तथा आनन्द की मनोगत अवस्थाएं (Subjective States)** क्रमशः नरक तथा

**स्वर्ग कहलाती है। नरक और स्वर्ग मन की अवस्थाएं है, उन्हें स्थान नहीं समझना चाहिये। यद्यपि मानसिक दृष्टिकोण से, जीवात्मा के लिये उनका बड़ा भारी महत्व है, तथापि ये अवस्थाएं भी दृश्य–संसार के स्थूल तर भ्रम के भीतर, सूक्ष्म तर भ्रम ही हैं।**

**नरक और स्वर्ग मन की अवस्थाएं है।**

नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था में, इच्छाएं अत्यधिक तीव्र हो जाती हैं, क्योंकि उन्हें, इन अवस्थाओं में स्थूल शरीर के द्वारा व्यक्त होने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिस प्रकार, इच्छाएं तीव्र हो जाती हैं, उसी प्रकार उन इच्छाओं की पूर्ति अथवा अपूर्ति के अनुभव भी अत्यन्त तीव्र हो जाते हैं। पार्थिव जीवन में, इच्छाएं तथा उनसे उत्पन्न आनन्द एवम् यंत्रणाएं, स्थूल शरीर के माध्यम के द्वारा अनुभव की जाती हैं। कहना न होगा, कि जीवात्मा अपने पार्थिव जीवन में, अपने उच्चतर शरीरों का भी उपयोग करती है। किन्तु पार्थिव जीवन में, आत्मा की चेतना, स्थूल शरीर की चेतना से बद्ध हो जाती है; अतएव, चेतना की क्रियाएं एक ज्यादा भ्रमावरण को पार करती हैं। परिणामतः उनकी शक्ति सजीवता तथा तीव्रता में उसी प्रकार कमी आ जाती है, जिस प्रकार, मोटे काँच को पार करके आने पर, प्रकाश की किरणें अधिक क्षीण हो जाती हैं। **शरीर में निवास करने के समय, इच्छाओं और अनुभवों की तीव्रता कम हो जाती है, किन्तु शरीर का निवासालय त्याग देने पर, इच्छाओं और अनुभवों की तीव्रता बढ़ जाती है।**

**स्थूल शरीर के परित्याग के अनन्त इच्छाएं तथा अनुभव तीव्र हो जाते हैं।**

स्थूल क्षेत्र में, इच्छाओं की तृप्ति के लिये इच्छा के बाह्य विषय की आवश्यकता होती हैं, किन्तु स्वर्गावस्था में, इच्छाएं पूरी करने के लिये, किसी बाह्य पदार्थ की ज़रूरत नहीं पड़ती, केवल बाह्य पदार्थ के चिन्तन से ही, इच्छाओं की पूर्ति की जाती है। जैसे, यदि कोई मनुष्य उत्कृष्ट संगीत सुनने की इच्छा करता है; तो वह उत्कृष्ट संगीत का मन ही मन चिन्तन करके, संगीत सुनने का आनन्द प्राप्त करता है। स्थूल क्षेत्र में किसी भौतिक साधन के द्वारा, संगीत की ध्वनि के गूँजने की कल्पना करने से ही, काम चल जाता है। पार्थिव जीवन में भौतिक ध्वनियों के वास्तविक श्रवण से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा, संगीत के काल्पनिक विचार से प्राप्त होने वाला आनन्द, मृत जीवात्मा के लिये, कहीं ज्यादा होता हैं। **स्वार्गावस्था में, इच्छाओं और इच्छाओं की पूर्ति के बीच, कोई रूकावटें नहीं, क्योंकि कल्पना या भावना के द्वारा, आत्मतृप्ति का आनन्द सदैव सुलभ रहता है, इच्छाओं की पूर्ति किसी ब्राह्य भौतिक सामग्री पर अवलम्बित नहीं रहती।**

**स्वर्गावस्था में विचार के द्वारा इच्छाओं की तृप्ति होती है।**

सच तो यह है, कि पार्थिव जीवन में भी, कुछ मनुष्य बिना किसी स्थूल पदार्थ पर अवलम्बित हुए, अपनी इच्छाओं की तृप्ति का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। जैसे बीथोवहन (Beethoven) बिलकुल बहरा होते हुए भी, केवल कल्पना के ही द्वारा, अपने स्व–रचित गीतों के श्रवण का अतीव आनन्द प्राप्त कर सकता था। **आलंकारिक भाषा में, यों कह सकते हैं, कि पृथ्वी पर ही स्वर्गावस्था में था।** इसी तरह, जो मनुष्य प्रेम–भाव से अपनी प्रियतमा का मन ही मन ध्यान करता है वह अपनी प्रियतमा की उपस्थिति के अभाव में ही, केवल उसकी स्मृति तथा चिन्तन के द्वारा सुख प्राप्त करता है। किन्तु, मृत्यु के पश्चात् स्वर्गावस्था में, काल्पनिक तृप्ति से प्राप्त, इस प्रकार का आनन्द, सैकड़ो गुना अधिक होता है, क्योंकि चेतना, बाह्य स्थूल शरीर के भार से, मुक्त रहती है।

**पृथ्वी पर स्वर्ग।**

कुछ इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिये, स्थूल शरीर को, प्रत्यक्ष रूप से स्थूल पदार्थों को अधिकृत करके, उन्हें भोगने की आवश्यकता पड़ती है। कामुकता, अत्याचार तथा मदिरा सेवन की तामसी इच्छाएं इसी प्रकार की हैं। इन इच्छाओं की तृप्ति के लिये, भौतिक पदार्थ को अधिकृत करने, तथा उन पर आसक्त होने की भावना प्रधान रहती है। अतः ये इच्छाएं विशेषतः पार्थिव हैं। उन इच्छाओं में, योग्य वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली सम्वेदनाओं एवम् उत्तेजनाओं का ही प्राधान्य नहीं रहता; किन्तु उनके भोग से शरीर में जो सम्वेदनाएं तथा उत्तेजनाएं उत्पन्न होती हैं, वे भी अत्यधिक होती हैं। इन तामसी इच्छाओं से, नरकावस्था की उत्पत्ति होती है।

**तामसिक इच्छाओं से नरकावस्था की उत्पत्ति होती है।**

**सात्विक इच्छाओं की अपेक्षा तामसिक इच्छाओं में कोरी सम्वेदनाएं (Sensations) अनन्त गुना अधिक होती है। स्थूल इच्छाओं की सम्वेदनाएं बौद्धिक महत्व और सौन्दर्यशास्त्र विषयक कलापूर्ण तथा नैतिक मूल्य से सर्वथा शून्य होती है।** सात्विक इच्छाओं में, जैसे संगीत की इच्छा में, भौतिक ध्वनियों से इन्द्रिय–सम्पर्क की चाह अवश्य रहती हैं, किन्तु मनुष्य इन ध्वनियों को, स्वतन्त्र रूप से महत्व नहीं देता। सौन्दर्य व्यक्त कर सकने की अपनी योग्यता के ही कारण, ये ध्वनियां उसके लिये महत्व की चीजें होती हैं। इसी प्रकार, उपदेश सुनने की इच्छा का, जब मन पर अधिकार होता है, तो वह ध्वनिजन्य संवेदना के लिये नहीं, किन्तु उपदेश ध्वनियों से प्राप्त होने वाले बौद्धिक अर्थ तथा भाव पूर्ण प्रभाव के लिये ही होता है।

**तामसिक तथा सात्विक इच्छाओं में अन्तर।**

यह स्पष्ट है, कि सात्विक इच्छाओं में कोरी सम्वेदनाओं पर अवलम्बित विचार तथा भाव का प्रधान महत्व है। किन्तु तामसिक इच्छाओं में, भौतिक पदार्थ से सम्बद्ध कोरी सम्वेदनाएं तथा उनके शारीरिक भोग से उत्पन्न होने वाली उत्तेजनाएं ही प्रधान तत्व होती हैं। **तामसिक इच्छाओं के भोग में, भौतिक शरीर की प्रतिसम्वेदनाओं (Organic Sensations) का ही प्रधान हाथ रहता है; और शारीरिक प्रतिसम्वेदनाओं की प्रधानता के कारण, निकृष्ट, इच्छाओं में, जीवात्मा अपने को, अत्यन्त प्रबलता तथा स्पष्टता के साथ, स्थूल शरीर समझता है। सात्विक इच्छाओं में, शारारिक प्रतिसम्वेदनाओं का प्रमुख हाथ रहता; अतः, जीवात्मा, उतनी प्रबलता तथा तीव्रता के साथ अपने को स्थूल शरीर अनुभव नहीं करता।**

**तामसिक इच्छाओं में शारीरिक सम्वेदनाओं का स्थान।**

हीन इच्छाओं की तृप्ति या अतृप्ति से प्राप्त होने वाले अनुभवों का प्रायः सारा महत्व **शारारिक** सम्वेदनाओ में ही सन्निहित हैं। अतः, तामसिक इच्छाओं के भोग में वैसी पूर्णता का अनुभव कदाचित् ही होता है, जैसा केवल विचार और कल्पना के बल पर, सात्विक इच्छाओं के भोग में होता है। तामसिक इच्छाओं का यह लक्षण है, कि वे स्थूल पदार्थ पर अधिकार जमाने तथा उसे भोगने का आग्रह करती है। स्थूल पदार्थ का कोई भी काल्पनिक विचार, स्थूल पदार्थ को ग्रहण करने की उनकी प्रवृत्ति को तीव्र करने में सहायक होता है। **चूँकि सूक्ष्म संसार में हीन इच्छाओं के स्थूल योग्य पदार्थ अप्राप्य होते हैं, अतः इन इच्छाओं के कारण, अतृप्ति जन्य दुःखों का अत्यन्त तीक्ष्ण अनुभव होता है। जिस प्रकार सात्विक इच्छाओं के पुनःस्मरण जन्य अनुभव से, स्वर्गावस्था के सुखों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार, तामसिक इच्छाओं की पुनः स्मृति से, प्राप्त अनुभव से, नरकावस्था के दुखों की उत्पत्ति होती है।**

**स्थूल पदार्थ की अप्राप्तता के कारण, तामसिक इच्छाओं की अतृप्ति।**

जिस प्रकार इस संसार में तामसिक इच्छाओं के फलस्वरूप, सुख की अपेक्षा दुख का भार अधिक हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, इन तामसिक इच्छाओं के **पुनः स्मरण से प्राप्त होने वाले अनुभवों में, सुख की अपेक्षा दुख का भार अधिक होता है,** और इस प्रकार, **नरकावस्था** अस्तित्व में आती है। और, जिस प्रकार, इस संसार में, सात्विक इच्छाओं के परिणाम स्वरूप, दुख की अपेक्षा सुख का भार अधिक हो जाता

**नरक की यन्त्रणाएं तथा स्वर्ग के आनन्द।**

है, उसी प्रकार, मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, सूक्ष्म इच्छाओं के पुनःस्मरण से प्राप्त होने वाले अनुभवों में, **दुख की अपेक्षा सुख का भार अधिक होता है, जिससे स्वर्गावस्था की उत्पत्ति होती है।**

किन्तु स्वर्ग और नरक की अवस्थाएं दोनो बन्धन की अवस्थाएं है, **क्योंकि वे दोनों सुख और दुख के द्वन्द्वों के अधीन हैं।** इन दोनो अवस्थाओं की अवधि, सन्चित संस्कारों के गुण, परिणाम तथा बल के द्वारा, निर्दिष्ट होती हैं। **चेतना की मनोगत अवस्था (Subjectivity) की अधिकता के कारण, सूक्ष्म संसार का समय, स्थूल संसार के समय से भिन्न होता है।** यद्यपि सूक्ष्म संसार का समय स्थूल संसार के समय के सदृश नहीं होता, तथापि सूक्ष्म संसार–वास की अवधि, उन्हीं संस्कारों के द्वारा निर्दिष्ट होती है, जो स्थूल–संसार में संचित किये जाते हैं। महत्व की बात तो यह है, की नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था, कोई स्थायी अवस्थाएं नहीं है, तथा जीवन में, ज्यों ही उनका कार्य पूरा हो जाता है, त्यों ही इन दोनो अवस्थाओं का अन्त हो जाता है।

**सूक्ष्म संसार में समय।**

वासना, जैसे स्थूल कामेच्छा तथा तज्जन्य घृणा तथा क्रोध, के परिणाम–स्वरूप, भ्रम तथा दुःख का जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे जीवन की अधिकता नरकावस्था है। तथा आदर्शात्मक आकाँक्षाएं, सौन्दर्यानुराग, कलाप्रेम, वैज्ञानिक, अभिरुचि तथा परहित–परायणता जैसी सात्विक इच्छाओं (तथा उनसे उत्पन्न होने वाला व्यक्तिगत प्रेम तथा मानव प्रेम जैसे भावों) के परिणाम–स्वरूप, आनन्द तथा विवेक का जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे जीवन की अधिकता स्वर्गावस्था है। **स्वर्गावस्था तथा नरकावस्था, अनेक मनुष्यों के लिये, पार्थिव जीवन के अनुभवों की ही पुनरावृत्ति रहती है।** पार्थिव जीवन के अनुभव, मानसिक शरीर पर, जो संस्कार संचित कर देते हैं, उन्हीं के पुनरुज्जीवन के द्वारा, जीवात्मा एक प्रकार का विश्राम अनुभव करता है। इन आवश्यकताओं की अवधि तथा प्रकार, स्थूल शरीरगत पार्थिव जीवन के अनुभवों की अवधि तथा प्रकार पर अवलम्बित रहते हैं।

**संस्कारों का जीवन पुनरूज्जीवन।**

जब साउंड बॉक्स की सुई, ग्रामोफोन रिकॉर्ड पर अंकित प्रत्येक चक्र पंक्ति को पार करती हुई, पूरी घूम चुकती है, तब जैसे ग्रामोफोन रिकॉर्ड हटा लिया जाता है, **वैसे ही, जब मन पर पार्थिव जीवन द्वारा चिन्हित संस्कारों पर, चेतना का विचरण पूरा हो जाता है, तब नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था का अन्त हो जाता है।** रिकार्ड में भरे जाने वाले

**नरक और स्वर्ग की समाप्ति।**

प्रारम्भिक गीत का जैसा प्रकार रहता है, वैसा ही ग्रामाफोन में बजनेवाले गीत का प्रकार रहता है। इसी भाँति, भौतिक संसार में, स्थूल शरीर के द्वारा, मनुष्य जैसा जीवन व्यतीत करता है, उस जीवन के गुणधर्म पर, मृत्यु के पश्चात् जीवन के तीव्र तथा वर्धित अनुभवों का गुण–धर्म अवलम्बित रहता है। इस दृष्टिकोण से, स्वर्ग तथा नरक, मनुष्य के पार्थिव जीवन की छाया है।

**पार्थिव अनुभवों का सिंहावलोकन का पुर्ननीरीक्षण।**

यदि स्वर्ग और नरक, भूतकालीन पार्थिव जीवन की कोरी मानसिक स्मृति में ही सन्निहित होते, तो उनके द्वारा, जीवात्मा के जीवन में, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती; ऐसी स्मृति मानो अतीत की घटनाओं की काल्पनिक पुनरावृत्ति मात्र होती। स्वर्ग और नरक की इन पश्चात् मरणावस्थाओं **में, चेतना आराम के साथ तथा प्रभावशाली रीति से, पार्थिव जीवन संचित पुनर्जीवित संस्कारों का सिंहावलोकन तथा निरीक्षण करने में समर्थ रहती है।** संस्कारजन्य अनुभवों की तीव्रता के कारण, चेतना उनके गुणों की सुविधापूर्वक जाँच करती है; और उस जाँच का परिणाम भी अच्छा होता है। **पृथ्वी पर, अधिकांश मनुष्यों की चेतना, प्रधानतः वस्तुनिष्ठ (Objective) तथा अग्रदर्शी (Forward Looking) हुआ करती है,** तथा अपूर्ण संस्कारों के दबाव के कारण, उसे **वर्तमान** में या **भविष्य** में, संस्कारों की तृप्ति की सम्भावना से ही विशेष प्रयोजन रहता है। किन्तु मृत्युतर जीवन में, अधिकांश मनुष्यों की चेतना, **प्रधानतः मनोगत** (Subjective) **तथा अतीतदर्शी** (Retrospective) हुआ करती है; तथा आगे बढ़ानेवाले संस्कारों के अभाव के कारण, वह **भूतकाल** के महत्व के सिंहावलोकन तथा परीक्षण में, मग्न रहती है, उसी प्रकार, जिस प्रकार अतीत–स्मृतियों (Reminiscences) के निरीक्षण में।

**सिनेमा का सादृश्य।**

पार्थिव जीवन में परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति तुरन्त उत्तर देने की आवश्यकता के कारण, चित्त सदैव अशान्त तथा उद्विग्न रहा करता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् के जीवन में, परिवर्तनशील बाह्य परिस्थितियों का अभाव रहता है; अतः उनके प्रति तुरन्त उत्तर देने की आवश्यकता न रहने के कारण चित्त अपेक्षाकृत अधिक विश्रांति तथा अवकाश का अनुभव करता है; तथा मृत्युत्तर जीवन में, पार्थिव जीवन की संग्रहीत पूरी अनुभव सामग्री भी अवलोकन सुलभ रहता है। पार्थिव जीवन में, समस्त अनुभवों की स्मृति सम्भव नहीं रहती; किन्तु मृत्युत्तर जीवन में संग्रहीत अनुभव अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं। मन के सिनेमा फिल्म पर, समूचे पार्थिव जीवन के अनुभवों के चित्र अंकित हो चुके रहते हैं।

**सिनेमा के परदे पर, जैसे चित्रित दृश्यों के विस्तृत तथा वर्धितरूप विश्राम पूर्वक देखे जाते हैं, उसी प्रकार, मनोगत (Subjectivised) चेतना के परदे पर, पार्थिव जीवन के अनुभवों के सांसारिक चित्रों का विस्तृत तथा वर्धितरूप प्रकट होता है। इस प्रकार, अपने आरम्भिक पार्थिव जीवन का अध्ययन करने के लिये, चेतना को पर्याप्त समय तथा अवकाश रहता है।**

पार्थिव जीवन में जो अनुभव संचित हो जाते हैं, नरकावस्था तथा स्वर्गवास्था में, उन्हीं **अनुभवों का पाचन** (assimilation) होता है। परिणामतः जीवात्मा पचे हुए अनुभवों तथा भौतिक शरीर को लेकर, दूसरा जन्म आरम्भ करता है। मृत्युत्तर जीवन में, तीव्र आनन्द प्रचण्ड पीड़ा की शक्ति से, **जाँच पड़ताल** तथा समालोचनात्मक सिंहावलोकन के द्वारा, जीवात्मा जो **सबक सीखती** है, वह मानसिक शरीर पर, प्रबल रूप से अंकित हो जाता है, यह सबक या शिक्षा–सार, दूसरे जन्म में सक्रिय चेतना के विधान में, आन्तरिक प्रेरणा या अन्तःज्ञान के रूप में विद्यमान रहता है। हाँ, पूर्वजन्म की जिन घटनाओं से, शिक्षा ग्रहण की जाती है, उन घटनाओं के विस्तृत स्मरण का लोप अवश्य हो जाता है। मृत्युत्तर जीवन में, मन जो शिक्षा ग्रहण करता है, वही शिक्षा उसके दूसरे जन्म में अन्तःप्रेरित सहज बुद्धि के रूप में विद्यमान रहती है। **पूर्वजन्मार्जित विभिन्न अनुभवों के समुदाय से छपे हुए ज्ञान का सार ही विकसित अन्तःप्रज्ञा** (intuition) **है।**

**पार्थिव अनुभवों का परिपाक।**

भिन्न भिन्न जीवात्मा, अंतःप्रज्ञा के विभिन्न अंश लेकर, जन्म लेते हैं। यह अन्तःप्रज्ञा, पार्थिव जीवन के व्यापारों तथा उद्यमों को आरम्भ करने के लिये, मानो पूँजी है। एक दृष्टि से, अन्तः प्रज्ञा विगत अनुभवों का उत्पादन है, तथा अन्तःप्रज्ञा अन्तःकरण के कोष में वृद्धि करती है। किन्तु अन्तःप्रज्ञा को कोई नवीन उपलब्धि न मानकर, जीवात्मा में पूर्व से प्रसुप्त रूप से विद्यमान ज्ञान का उद्‌घाटन मानना, अधिक युक्ति संगत होगा। **इस गम्भीरतर दृष्टि से, पार्थिव जीवन के अनुभव तथा मृत्युत्तर जीवन की अतीतावलोकन की क्रिया–दोनो, रहनेवाले अन्तःप्रज्ञा को, क्रमशः सतह पर लाने में, केवल बाह्य सहायक होते हैं।** पार्थिव जीवन एवम् उसके अनुभवों के समान ही, मृत्यु के पश्चात् के जीवन की स्वर्ग–नरकावस्था भी, जीवात्मा का परमात्मा की ओर को जानेवाली यात्रा के अविच्छेद विभाग तथा घटनाएं हैं।

**उत्पादन में, नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था का हाथ।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

**(भाग–3)**

## पूर्व–जीवन का अस्तित्व तथा स्मृति

**जन्म तथा मृत्यु की घटनाएं**

आत्मा के जीवन तथा उसके पुनर्जन्म सम्बन्धी इंद्रियातीत सत्यों का; जिन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान है; वे अपनी निर्मल प्रज्ञा के द्वारा, यह जानते हैं, कि तथाकथित जन्म स्थूल क्षेत्र में जीवात्मा का केवल अवतरण है। जन्म तथा मृत्यु जीवात्मा के अनवरत जीवन के केवल विरामचिन्ह हैं। जन्म तथा मृत्यु **जीवन धारा के दो प्रवेश द्वार हैं,** जिनके द्वारा वह एक प्रकार के जीवन को त्याग कर, दूसरे प्रकार के जीवन में प्रवेश करती है। जीवात्मा के महानतर जीवन के लिये, जन्म तथा मृत्यु के बीच का जीवनकाल, जीवात्मा के लिये, जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उसके लिये मृत्यु तथा जन्म के बीच का जीवन काल है।

**अन्तःप्रज्ञा की दृष्टि में अद्‌भुत आवश्यकताएें।**

कुछ लोग मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व का अन्त समझते हैं, तथा कुछ लोग शरीर के जन्म को, वैयक्तिक अस्तित्व का आरम्भ मानते हैं, दोनो तरह के लोगों के मन में, उनकी भ्रान्त धारणा तथा उनके विवेक–सम्मत अन्तः–प्रज्ञा (rationalised intuition) के बीच संघर्ष रहता है। भौतिक सुख समृद्धि में कुछ लोग सौभाग्यशाली हैं, तथा कुछ लोग दुर्भाग्यग्रस्त है। वैयक्तिक न्याय के दृष्टिकोण से, मनुष्यों के भाग्य की असमानता समस्त सृष्टि

प्रयोजन के औचित्य तथा न्यायपूर्णता के विपरीत मालूम होती है। संसार में सज्जन कभी–कभी कष्ट भोगते दिखाई देते हैं; तथा दुष्ट जन आनन्दोलास तथा आमोद–प्रमोद करते दिखाई देते हैं। इन दृश्यों को देख कर, यह मानने में बड़ी–बड़ी कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं, कि जीवन किसी दिव्य तथा अनन्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये है।

**गम्भीर स्पष्टीकरण को स्वीकार करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति।**

यदि इन कठिनाइयों का कोई गम्भीर स्पष्टीकरण प्राप्त न हो, तो मानव–मन कष्टप्रद उलझनों तथा जटिल ग्रन्थियों से ग्रस्त हो जाय। जीवन सम्बन्धी उसका विचार कटु हो जाय, जिसके परिणाम स्वरूप, मनुष्य अत्यन्त निर्दयी तथा मनुष्यद्वेषी हो जाय। मनुष्य का निर्दयी तथा मनुष्य द्वेषी बन जाना, मृत्यु से उत्पन्न होने वाले महान से महान शोक की अपेक्षा भी, अधिक बुरा होगा। अनेक विरोधी दृश्यों के होते हुये भी; मनुष्य में **एक अर्न्तजन्य प्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर, वह जीवन की यथार्थता तथा मूल्य पर गम्भीर तथा अटल श्रद्धा रखता है।** मानव मन, अधिकांशतः उन गम्भीर स्पष्टीकरणों को स्वीकार कर लेता है, जो उसकी आत्मा के गम्भीर नियम से मेल रखते हों। कुछ मनुष्य ऐसी स्पटीकरणों का विरोध भी करते हैं। किन्तु उनका विरोध बाह्य तथा कृत्रिम होता है।

**नये मस्तिष्क का परिणाम।**

जीवात्मा की अमरता के तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से जानने वालों की अपेक्षा, पुनर्जन्म के तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाले और भी कम हैं। जीवात्मा के मानसिक शरीर में, गत जीवनो की स्मृतियाँ सन्चित तथा सुरक्षित रहती हैं; किन्तु उन पर आवरण पड़ा रहता है। यही कारण है, कि सामान्य मनुष्यों की चेतना में, ये स्मृतियाँ प्रकट नहीं होती। जब आत्मा अपना स्थूल शरीर त्यागती है, तो वह नया मस्तिष्क प्राप्त करती है; और उसके सामान्य जागरण की चेतना, मस्तिष्क की क्रियाओं के अनुसार कार्य करती है। सामान्य परिस्थितियों में, वर्तमान जीवन की स्मृतियाँ चेतना में प्रकट हो पाती हैं, क्योंकि **विगत जीवनो में अन्य मस्तिष्कों के द्वारा संचित होनेवाले अनुभवों की स्मृतियों के प्रकट होने में, नवीन मस्तिष्क एक विघ्न सिद्ध होता है।**

नवीन मस्तिष्क के द्वारा उत्पन्न विघ्न के रहते हुये भी, पूर्वजन्म की कुछ स्मृतियां, वर्तमान जीवन में, चुपचाप घुस आती हैं। ये स्मृतियां स्वप्नो के रूप में प्रकट होती हैं। ऐसे स्वप्न वर्तमान जीवन की सहायता से नहीं समझाये जा सकते। कोई मनुष्य, अपने स्वप्नों में, ऐसे मनुष्यों को देखता है, जिन्हें वर्तमान जीवन में उसने कभी न देखा हो; बहुधा ऐसा होता है कि स्वप्न में प्रकट होने वाले मनुष्य, वे मनुष्य होते हैं, जिनसे वह

अपने पूर्वजन्म में मिला होता है। किन्तु, ऐसे साधारण स्वप्न पूर्व जीवन की स्मृति नहीं समझे जा सकते; ऐसे स्वप्नों से, केवल यही प्रकट होता है, कि स्वप्न में कार्य करनेवाली कल्पना, मनुष्य के विगत जीवनो से ली गयी सामग्रियों से प्रमाणित हुई है। **गत जीवनो की वास्तविक स्मृति, वर्तमान जीवन की अतीत स्मृति की तरह, सुस्पष्ट, स्थिर तथा असंदिग्ध होती है।** जब पिछले जीवनो की ऐसी स्मृति, किसी मनुष्य को प्राप्त होती है, तो उसे इस विषय में ज़रा भी शंका नहीं रह जाती कि वह अन्य मनुष्यों के साथ अनेक जीवनो में रह चुका है। जिस प्रकार, अपने वर्तमान जीवन के बीते हुए भाग पर, वह सन्देह नहीं कर सकता, उसी प्रकार, वह अपने पूर्व जन्मों के जीवन पर सन्देह नहीं कर सकता।

**पूर्व–जन्मों की स्मृति।**

बहु संख्यक विशाल जन–समुदाय, अस्तित्व के स्थूल क्षेत्र से, ऐसा बँधा हुआ रहता है, कि वह इन्द्रियातीत तथ्यों पर सन्देह तक नहीं करता। ऐसे लोगों की तुलना में, अपने पूर्वजन्मों का स्मरण कर सकनेवाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। चेतना जब तक स्थूल शरीर तथा मस्तिष्क की क्रियाओं से बद्ध रहती है, तब तक नवीन मस्तिष्क की सीमाओं के कारण, पूर्व जन्म की स्मृति की प्राप्ति में, रूकावट पैदा हो जाती है। किन्तु, **जब मस्तिष्क के द्वारा निर्धारित सीमाओं से, चेतना मुक्त हो जाती है, तो वह मानसिक शरीर में संग्रहीत विगत जीवन की स्मृतियों की पुनःप्राप्ति तथा पुनःप्रतिष्ठा कर सकती है। किन्तु, इन स्मृतियों के उद्‌घाटन तथा उपलब्धि के लिये, बहुत कुछ अंशों में, अनासक्ति एवम् ज्ञान की आवश्यकता होती है।** आध्यात्मिकता में उन्नत मनुष्यों में ही, ऐसी अनासक्ति तथा ज्ञान विकसित होता है। जो आध्यात्मिकता में पूर्णतः सिद्ध नहीं हुए रहते, तथा जो मध्यवर्ती आन्तरिक भूमिकाओं को ही पार करते रहते हैं, उन्हें भी, निश्चित तथा स्पष्ट रूप से, विगत जीवनो की स्मृतियां प्राप्त हो जाती हैं।

**विगत जीवनो की स्मृति की प्राप्ति।**

कुछ असाधारण तथा बिरले अपवादों के अतिरिक्त, विगत जीवनो की स्मृति तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से पर्याप्ततः उन्नत नहीं हो जाता। जीवन के नियमों के द्वारा निर्धारित यह शर्त, जीवन के अबाध आध्यात्मिक विकास के लिये, सहायक सिद्ध होती है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर मालूम होता है, कि पिछले जीवनो की स्मृति का अभाव बड़ा भारी नुकसान है, किन्तु यथार्थ में, वह कोई नुकसान नहीं है। **अनेक बातों में, आध्यात्मिक विकास–क्रम की उग्र–गति को**

**निर्दिष्ट करने के लिये, पिछले जीवनो की जानकारी आवश्यक नहीं है। आध्यात्मिक विकास का अर्थ है, अंतःप्रज्ञा के द्वारा अनुभूत सर्वोच्च मूल्यों की प्राप्ति के लिए, जीवन को व्यवस्थित तथा निर्दिष्ट करना। जीवन को भूतकाल के द्वारा निर्दिष्ट करना आध्यात्मिक उन्नति नहीं है।** अनेक मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये, वर्तमान जीवन की अतीत–स्मृति भी बाधक सिद्ध होती है। जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति में, वर्तमान जीवन की बीती घटनाओं की याद, कई मनुष्यों के लिये, एक रूकावट साबित होती है। एक अर्थ में मुक्ति की समस्या **भूतकाल से मुक्ति** पाने की समस्या है। जीवन और मृत्यु के चक्र से बँधे हुए मनुष्यों के वर्तमान जीवन का कठोरता–पूर्वक नियन्त्रण तथा रूप निर्धारण उनका भूतकाल ही करता है।

पिछले जीवनो की स्मृति का अभाव आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं होता।

जिस मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है, यदि वह असंख्य पिछले जन्मों की याद से लाद दिया जाय, तो उसका जीवन सैकड़ों गुना अधिक जटिल हो जाय। पिछले जीवन की याद के परिणाम स्वरूप, वह विभिन्न मनुष्यों को विभिन्न रूपों और पृष्ठभूमियों में देखकर, वह चौंधिया जायगा। पिछले जीवनो के विस्मरण से, मनुष्य इन उलझनों से बचा रहता है। पिछले जीवनो की स्मृति के अभाव के कारण एक निश्चित प्रसंग तथा परिमित व्यवस्था के अनुसार उसकी दृष्टि में मनुष्य एवम् उसके कार्य दिखाई देते हैं। मनुष्यों और उनके कार्यों के वर्तमानकाल ज्ञान के अनुसार वह अपने कार्यों और सम्बन्धों को निश्चित करता है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि वर्तमान जीवन से वह जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसी के द्वारा, उसके कार्य तथा सम्बन्ध पूर्णतः निर्दिष्ट होते हैं। उसके पिछले जीवन की घटनाओं का भी, अज्ञात तथा निश्चित रूप से, उसके कार्यों तथा सम्बन्धों को निर्दिष्ट करने में हाथ रहता है। किन्तु, पिछले जीवनो के निश्चित प्रभाव के रहते हुये भी, यह बात सच है, कि **चूँकि विगत जीवनो की चेतन–स्मृति से वह सुरक्षित रहता है, अर्थात चूँकि विगत जीवनो की स्मृति उसे प्राप्त नहीं होती। अतएव, उसकी चेतना अनेक उलझनो से ग्रस्त नहीं होने पाती। यदि वह पिछले जीवनो की स्मृति से रक्षित नहीं रहता तो उनकी चेतन–स्मृति के आधार पर, उसे अपने कार्य तथा पारस्परिक सम्बन्ध निर्दिष्ट करने पड़ते, जिससे उसके जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती।**

जटिलताओं से रक्षण।

जब मनुष्य निस्पृह हो जाता है, और जब उसकी 'मेरा' और 'तेरा' की भावना नष्ट हो जाती है, तभी वह पूर्वजन्मों की स्मृति प्राप्त करके भी उदभ्रांत तथा अव्यवस्थित

नहीं होता। पूर्वजन्मों की स्मृति से यह ज्ञात होगा, कि जो मनुष्य एक बार उसके थे, वे ही अब किसी दूसरे के हो गये हैं, और वह अपनी प्राचीन आसक्ति तथा सम्बन्ध का वर्तमान जीवन में दावा करने लगेगा, तो वह अपने तथा औरों के लिये, अकथनीय उलझन पीड़ा तथा अव्यवस्था पैदा करेगा। **पूर्वजन्म की स्मृति की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले उद्वेगजनक प्रभाव का सामना करने की आध्यात्मिक योग्यता की उपलब्धि के लिये, यह नितान्त आवश्यक है, कि साधक अपने मन से, सब प्रकार की आसक्ति तथा अधिकार–भावना को निकालकर फेंक दे।**

**पूर्वजन्मों की स्मृति की प्राप्ति में सुरक्षा की शर्त।**

जब मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से योग्य हो जाता है, तो वह पूर्णतः इच्छा–रहित तथा सार्वलौकिक प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। वैयक्तिक अहंकार के तमाम बन्धनों से उसका मन मुक्त हो जाता है। **वह अपने समस्त शत्रुओं तथा मित्रों को समत्व बुद्धि से देखने लगता है।** वह इतना रागद्वेष रहित हो जाता है, कि अपने पिछले जीवन तथा वर्तमान जीवन के सभी सम्बन्धियों तथा असम्बन्धियों के प्रति, समान रूख़ धारण कर सकता है। उसका न तो औरों पर कोई दावा रहता है, और न औरों का उस पर कोई दावा रहता है क्योंकि उसे समस्त जीवन की एकता तथा सांसारिक घटनाओं की भ्रामकता का ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है।

**आध्यात्मिक तैयारी।**

मनुष्य की जब ऐसी आध्यात्मिक तैयारी हो जाती है, तभी वह पिछले जीवन की स्मृति की प्राप्ति से अप्रभावित रहता है, और तभी ऐसी स्मृति को प्राप्त करना, उसके लिये उपयोगी होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से योग्य होने पर ही, वह शुद्ध विवेक तथा निर्मल प्रेम से युक्त होता है। इस शुद्ध विवेक तथा निर्मल प्रेम के बल पर ही, वह पुनर्जन्मों के स्मरण से प्राप्त अपने नवीन ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। पूर्वजीवनो की स्मृति से, उसे अपने पिछले जीवनो के सम्बन्ध में, तथा पिछले जीवनो के अपने सम्बन्धियों के जीवनो के सम्बन्ध में, विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। **इस ज्ञान की सहायता से, वह बुद्धिमत्ता–पूर्वक अपने कर्मों तथा सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करके, आध्यात्मिक साधना–पथ पर अग्रसर हो सकता है,** इस स्मृति की सहायता से वह दूसरे मनुष्यों का भी, उनके पिछले जीवन की जानकारी के आधार पर पथ–प्रदर्शन कर सकता है, तथा उनकी आध्यात्मिक सहायता कर सकता है।

**पूर्वजीवनो की पुनरूज्जीवित स्मृति का विवेकयुक्त उपयोग।**

विगत जन्मों की स्मृति को स्वाभाविक रीति से प्राप्त करने के पश्चात् आध्यात्मिक उन्नति की गति क्षिप्रतर हो जाती है। अपने सांसारिक बन्धनो के विकास–क्रम का विस्तृत इतिहास ज्ञात हो जाने के कारण, उन बन्धनो से मुक्त होना आसान हो जाता है। जो विकास, अपने को सीमित करनेवाले भूतकाल से अज्ञात था, वह उसे अब जानने लगता है; **भूतकाल द्वारा उत्पन्न सुविधाओं तथा कठिनाइयों का ज्ञान हो जाता है, जिससे उनसे सावधानीपूर्वक निपटने में सहायता मिलती है।** मूक अन्तःप्रज्ञा को तर्कसम्मत विवेक की वाणी मिल जाती है, जिससे ग़लत कार्य करने की सम्भावना नहीं रह जाती, तथा सही कार्य के द्वारा, वाँछित फलों की सिद्धि करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

**पुनरुजीवित स्मृति से लाभ**

सिद्ध सद्गुरुओं या ज्ञानी पुरुषों को, पिछले जीवनो से कोई विशेष रुचि नहीं होती; उनके लिये, वे पार्थिव अस्तित्व में के अनेक निःसार वस्तुओं के तुल्य हैं। यदि वे किसी मनुष्य के पिछले जीवनो के अपने ज्ञान का कभी उपयोग करते भी हैं, तो केवल उसकी आध्यात्मिक उन्नति करने के ही उद्देश्य से। मनुष्यों के पिछले जीवनों का ज्ञान रहने के कारण, वे मानो एक विशिष्ट स्थिति में आसीन रहते हैं, अर्थात् वे साधक को ऐसी उपयुक्त सहायता दे सकते हैं, जिसकी उसे ज़रुरत हो। साधना पथ की भीतरी बातें (1) पिछले जीवन की घटनाओं (2) पिछले जीवनों में सर्वोच्च सत्य की शोध करने की साधक की रीति तथा, (3) पिछले कार्यों के फल स्वरूप उत्पन्न साधक की बाधाओं तथा सुविधाओं के द्वारा, निर्दिष्ट होती है। ये सब बातें साधक को अज्ञात रहती है; किन्तु गुरु से छिपी नहीं रहती। सत्य के साधक की आध्यात्मिक उन्नति की गति को क्षिप्र करने के लिये, गुरु अपने इस ज्ञान का उपयोग करता है। अनेक जन्मों के प्रयोग, परीक्षा तथा अनुसंधान के द्वारा, साधक जिस स्थान में पहुँचा रहता है, उस स्थान से गुरु उसे आगे बढ़ाता है। **अधिक तथा सही ज्ञान से, शक्ति और समय का अपव्यय नहीं होता, यह बात सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में जितनी सच है, उतनी ही आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में भी सच है।**

**पिछले जीवनों के ज्ञान से पथ संक्षिप्त हो जाता, तथा यात्रा सरल हो जाती है।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

## (भाग–4)

### पुनर्जन्म निर्दिष्ट करने वाली विशिष्ट घटनाएं

जीवात्मा का आरम्भ तथा उद्‌गम उस परमात्मा की अनन्त, निराकार स्त्री–पुरुष–भेद शून्य तथा अविभाज्य सत्ता से है, जो द्वैत तथा विकास के समस्त रूपों से परे है।

स्त्री–पुरुष भेद द्वैत का एक विशिष्ट रूप है।

**जीवात्मा के आरम्भ से ही, द्वैत तथा विकास का आरम्भ होता है। स्त्री – पुरुष भेद पर अवलम्बित पार्थक्य तथा आकर्षण से सम्बन्ध रखनेवाला द्वैत का विशिष्ट रूप, विकास की बाद की अवस्था में प्रकट होता है।** ज्योंही कर्ता (चेतना का केन्द्र) तथा विषय (कर्ता के वातावरण) की उत्पत्ति होती है, त्योंही द्वैत का अस्तित्व शुरू हो जाता है, फिर चाहे चेतना अत्यन्त अस्पष्ट तथा क्षीण रूप में क्यों न हो। किन्तु स्त्री–पुरुष भेद एक विशिष्ट प्रकार का शारीरिक आकर्षण है। इस आकर्षण के लिये ये बातें आवश्यक हैं – रूपों की विभिन्नता, रूपों से अन्तःकरण की एक विशिष्ट आसक्ति तथा जीवन और शक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति।

धातुजगत में लिंगभेद का अभाव है। वनस्पतियों तथा वृक्षों की दुनिया में, शारीरिक लिंगभेद तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली विशिष्ट प्राणक्रिया का अस्तित्व पाया जाता है। किन्तु वनस्पतियों और वृक्षों में, **स्त्री–पुरुष–भेद की चेतना** (sex-

consciousness) का अभाव है, क्योंकि उनमें चेतना का विकास इतने आरम्भिक रूप में हुआ रहता है, कि उसकी अभिव्यक्ति ये शारीरिक भेदों से प्रभावित नहीं होती। चूँकि

**धातुजगत में तथा वनस्पतियों में लिंगभेद।**

वनस्पति पौधे तथा वृक्ष जमीन में गड़े रहते हैं, अतः उनमें स्त्री तथा पुरुष का सम्पर्क **प्रत्यक्ष रूप से न होकर**, वायु आँधी तथा भ्रमरों की मध्यस्थता के द्वारा, अप्रत्यक्ष रीति से प्रस्थापित होता है। अतएव, यद्यपि रूपों के कारण के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है, कि पौधों और वृक्षों की अवस्था से ही, स्त्री–पुरुष भेद का आरम्भ हो जाता है किन्तु **उनकी चेतना** के दृष्टिकोण से यह कहना ठीक होगा, कि उनमें स्त्री पुरुष का भेद नहीं रहता, क्योंकि **उनकी द्वैत–चेतना स्त्री–पुरुष भेद की स्पष्ट भावना से शून्य रहती है।**

**स्त्री–पुरुष–भेद सम्बन्धी द्वैत के विकास–क्रम में, धातुओं तथा पक्षी और पशुओं के बीच में पौधों तथा वनस्पतियों का स्थान है। धातुओं में स्त्री–पुरुष–भेद**

**पक्षियों तथा पशुओं में स्त्री–पुरुष भेद।**

**का सर्वथा अभाव है, तथा पक्षी और पशुओं में, स्त्री–पुरुष–भेद पूर्णतः विकसित है।** मानवीय रूप में जन्म लेने से ठीक पहले, जीवात्मा पूर्ण चेतना तथा शक्ति से सम्पन्न होकर, पशुओं के रूप में, उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् वह पशु–शरीर त्याग कर, मनुष्य–शरीर धारण करता है। **उपमानवीय रूपों तथा योनियों में जन्म ले चुकने के बाद, जीवात्मा मनुष्यों में प्रवेश करके, मनुष्य शरीर धारण करता है।**

पशुओं में स्त्री–पुरुष–भेद केवल शरीर–भेद तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं के ही द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता; किन्तु वह उनकी चेतना को भी गम्भीरतापूर्वक प्रभावित करता है।

**स्त्री–पुरुष भाव के कारण, अंतःकरण प्रभावित हो जाता है।**

वानर जैसे विकसित पशुओं से ही, मनुष्य चेतना तथा शरीर की प्राप्ति करते हैं। अतः पशु अवस्था में विद्यमान स्त्री–पुरूष सम्बन्ध द्वैत भाव भी उन्हें पशुओं से उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। **मनुष्यों में स्त्री–पुरुष–भेद इतना पूर्ण रूप विकसित हो जाता है, कि वह केवल शरीर–भेद तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु वह अंतःकरण को भी, पूर्णतः प्रभावित कर देता है।** मनुष्यों के शरीरों में ही स्त्री–पुरुष भेद नहीं रहता, किन्तु उनके अन्तःकरण में भी, यह स्त्री–पुरुष भाव लिंगभेद के अनुसार, समाविष्ट हो जाता है।

मनुष्य योनि में पदार्पण करने अर्थात् मानवीय रूप प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा नियमानुसार पशु–योनि मे फिर नहीं लौटती। मनुष्यों की जीवात्मा का

**स्त्री तथा पुरुषों का जन्म**

उपमानवीय योनियों में प्रवेश अपवाद रूप रहता है। जीवात्मा का विकासक्रम यह है, कि वह मानवीय पद प्राप्त कर लेने के बाद,

बारम्बार मनुष्य –रूप ही धारण करता है। तथा असंख्य बार मनुष्य योनि में ही जन्म धारण करता है। हाँ, संस्कारों तथा आत्मा की आवश्यकताओं के अनुसार, वह कभी पुरूष–रूप में जन्म लेता है, तो कभी स्त्री रूप में।

**स्त्री–रूपों तथा पुरुषरूपों के असाधारण अधिकार।**

स्त्री – रूप की यह असाधारण विशेषता है, कि सदगुरुओं तथा सन्तों को भी स्त्री–देह के द्वारा ही जन्म लेना पड़ता है। किन्तु पुरुष–रूप की यह असाधारण विशेषता है, कि बहुसंख्यक सद्गुरु पुरुष–रूप में जन्म लेते हैं। स्त्रियां सन्त तथा सद्गुरु बन सकती है; किन्तु अवतार सदैव पुरुष–रूप में प्रकट होता है।

**जन्म की सुविधाएं तथा बाधाएं, सन्चित संस्कारों के द्वारा, निर्दिष्ट होती हैं।**

जीवात्मा पूर्वजन्मों में जो विशिष्ट संस्कार संचित करता है; उन्हीं संस्कारों के द्वारा, उसके जीवन की सुविधाएं तथा बाधाएं सामान्यतः निर्दिष्ट होती है। **संग्रहीत संस्कारों के गुणधर्म पर ही जीवात्मा की आगे की उन्नति अवलम्बित रहती है, अर्थात संस्कारों के प्रकार पर ही, उसकी अगली उन्नति की आवश्यकताएं निश्चित होती हैं। जीवात्मा का पूर्वी देशों में जन्म लेना, या पश्चिमी देशों में जन्म लेना, अथवा उसका स्त्री–रूप में जन्म लेना, या पुरुष–रूप में जन्म लेना, अथवा उसका सृष्टि के एक युगचक्र मे जन्म लेना, या सृष्टि के दूसरे युगचक्र मे जन्म लेना, आदि बातें उसके संचित संस्कारों पर ही निर्भर रहती है।** एक ख़ास जन्म के द्वारा मिलनेवाली सुविधाएं, केवल स्त्री–रूप में जन्म लेने या पुरुष रूप में जन्म लेने पर ही निर्भर नहीं रहती; किन्तु इस बात पर भी अवलम्बित रहती हैं, कि जीवात्मा सृष्टि के एक चक्र में जन्म लेता है, या अन्य चक्र में, अथवा वह पूर्वी गोलार्ध में जन्म लेता है, कि पश्चिमी गोलार्ध में।

**पूर्व तथा पश्चिम।**

एक मोटे हिसाब से कहा जा सकता है, कि आज पूर्वीय देशों ने, भौतिक विषयों की अपेक्षा, आध्यात्मिक विषयों में ज्यादा उन्नति की है। फलतः पूर्वी लोगों के मन में, ईश्वर के लिये एक सहज आकांक्षा रहती है। इसके विपरीत, पाश्चात्य देशों ने आध्यात्मिक विषयों की अपेक्षा, भौतिक विषयों में, अधिक प्रगति की है। परिणामतः, पाश्चात्य मन में, बौद्धिक तथा कलात्मक विषयों की ओर, एक सहज प्रवृत्ति तथा रुचि है। प्राच्य देशों में जन्म लेने वाले मनुष्य, पाश्चात्य देशों में जन्म लेने वाले मनुष्य की अपेक्षा, आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रायः अधिक प्रवृत्ति लेकर आता है; तथा पाश्चात्य देश में जन्म लेनेवाला मनुष्य, प्राच्य देश में जन्म लेनेवाले मनुष्य की अपेक्षा भौतिक की ओर अत्यधिक प्रवृत्ति लेकर आता

है। किन्तु, विभक्त जीवन की श्रृंखलाओं से **मुक्त होने के पूर्व, जीवात्मा को जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो भागों का अनुभव करना पड़ता है;** अतएव, एक ही जीवात्मा को पूर्व में भी जन्म लेना पड़ता है, तथा पश्चिम में भी।

यदि जीवात्मा, पूर्वी देशों में लगातार अनेक बार जन्म ले चुकने के पश्चात् पश्चिमी देशों में जन्म लेती है, तो वह पूर्वी देशों के अपने जीवनो में संचित हुए संस्कारों को अपने साथ ले जाती है; तथा पश्चिमी देशों में वह जो जीवन व्यतीत करती है, वह मूलतः पूर्वी नमूने के अनुसार होता है। इसी भाँति, यदि पाश्चात्य देश में लगातार अनेक जन्म ले चुकने के पश्चात्, जीवात्मा पूर्वी देश में जन्म लेता है, तो वह पाश्चात्य देश में व्यतीत किये हुए अपने जीवनो से प्राप्त संचित संस्कारों को अपने साथ ले जाती है; और पूर्वी देशों में रहकर भी, वह ऐसा जीवन व्यतीत करती है, जो पाश्चात्य नमूने से मेल रखता है। इस प्रकार, **भारतीय शरीर में योरोपीय आत्मा, तथा योरोपीय शरीर में भारतीय आत्मा देखने में आती है।** यह बात ध्यान में रखनी चाहिये, कि यह भेद पूर्वजन्मों तथा संस्कारों से सम्बन्ध रखता है, किन्तु आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ऐसे भेदभाव से सर्वथा परे है।

**जन्म के क्षेत्र का परिवर्तन।**

स्त्री–पुरुष में जन्म लेने से जो सुविधाएं प्राप्त की जाती है, या पुरुष रूप में जन्म लेने से जो सुविधाएं प्राप्त की जाती हैं, वे सर्वथा परिवर्तनरहित होती है, ऐसी बात नहीं है। पूर्व या पश्चिम में जन्म लेने के अनुसार, या सृष्टि के युगों के परिवर्तन होने के अनुसार, ये सुविधाएं बदलती रहती हैं। किन्हीं युगों में, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक क्रियाशील, शक्तिशाली, तथा भौतिक बुद्धिप्रधान होते हैं; किन्हीं युगों में, इसके विपरीत होता है। भूतकाल में, प्राच्य स्त्रियां वीर तथा विदुषी होती थीं। पति के सुख तथा कल्याण के लिए, कोई भी त्याग उनके लिए न करने योग्य नहीं होता था; उनकी आध्यात्मिक नम्रता पति को साक्षात् परमेश्वर समझने की सीमा तक पहुँच गई थी। किन्तु, आज पूर्वी गोलार्ध में, औसत स्त्री की अपेक्षा औसत पुरुष अधिक आध्यात्मिक वृत्तिप्रधान है; तथा पश्चिमी गोलार्ध में औसत पुरुष की अपेक्षा औसत स्त्री अधिक आध्यात्मिक वृत्तिप्रधान है। पूर्वीदेश निवासी मनुष्य पश्चिम देश निवासी मनुष्य से भिन्न है; तथा पूर्व देश निवासी स्त्री पश्चिम देश निवासी स्त्री से भिन्न हैं। मज़ा तो यह है, कि **एक ही** जीवात्मा सृष्टि के युग के अनुसार, शरीर भेद के अनुसार, तथा पार्थिव क्षेत्र के अनुसार, स्त्री तथा पुरुषों में, आध्यात्मिक या भौतिक बातों में श्रेष्ठता हीनता तथा समानता के विभिन्न अंशों को प्रकट करती है।

**सृष्टि के युगचक्र।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

## (भाग–5)

### पुरुष जन्म तथा स्त्री जन्म की आवश्यकता

पुरुष रूप तथा स्त्री रूप की विशिष्ट सुविधाएं।

जिस युग तथा जिस स्थान में जन्म होता है, उनके अनुसार यद्यपि स्त्री–जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाएं तथा पुरुष–जन्म से प्राप्त होने वाली सुविधाएं भिन्न–भिन्न होती है, तथापि यह बात सच है, कि **स्त्री–जन्म से एक ख़ास दिशा में अनुभव का विकास करने के लिए, विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त होती हैं; तथा पुरुष–जन्म से भी, एक ख़ास दिशा में अनुभव का विकास करने के लिए, विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त होती हैं।** पुरुष–जन्म के द्वारा, जो सबक आसानी से सीखे जा सकते हैं, वे सबक स्त्री–जन्म के द्वारा, सरलतापूर्वक नहीं सीखे जा सकते; तथा स्त्री–जन्म के द्वारा, जो शिक्षाएं आसानी से सीखी जा सकती है, वे ही शिक्षाएं पुरुष–जन्म के द्वारा, सरलता के साथ नहीं सीखी जा सकतीं। **यह एक नियम है, कि पुरुषों में बुद्धि तथा इच्छा–शक्ति के गुणों की अधिकता होती है;** उनमें सही निर्णय तथा दृढ़ निश्चय करने की योग्यता होती है; इसके विपरित स्त्रियों में, नियमानुसार, हृदय के गुणों की अधिकता होती है; उनमें प्रेम करने की योग्यता होती है; तथा वे अपने प्रियतम के लिए महान से महान त्याग सहर्ष कर सकती है। स्त्रियों की प्रेम करने की इस क्षमता के ही कारण, भक्त लोग अपने सम्बन्ध में स्त्री के नाम को प्रथम स्थान देते हैं। जब भक्तगण भजन कीर्तन करते हैं, तो

वे सीताराम या राधाकृष्ण कहते हैं। हृदय के गुणों में, प्रायः, स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती हैं; तथा संकल्प–शक्ति के गुणों में, प्रायः पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। मनोरंजन बात तो यह है, कि एक ही आत्मा स्त्री–रूप धारण करके, हृदय के गुणों में श्रेष्ठता को प्राप्त होती है, तथा पुरुष रूप धारण करके बुद्धि तथा इच्छा शक्ति के गुणों में, श्रेष्ठता को प्राप्त होती है। विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों की बारी–बारी से, उन्नति करने के लिए, एक ही आत्मा बारी बारी से, कभी पुरुष रूप में जन्म लेती है तो कभी स्त्री–रूप में जन्म लेती है। **इसी प्रकार, बारी–बारी से कभी स्त्री–रूप में, तथा कभी पुरुष–रूप में, तब तक बदल–बदल कर जन्म लेती रहती है, जब तक उसकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो जाती।**

आत्म ज्ञान के लिये, पुरुष–जन्म तथा स्त्री–जन्म, दोनो सामान्यतः आवश्यक हैं; अतः पुरुष–जन्म को स्त्री–जन्म से श्रेष्ठ या स्त्री–जन्म को पुरुष–जन्म से श्रेष्ठ मानना ग़लत है।

पुरुष–जन्म तथा स्त्री–जन्म दोनों समानतः आवश्यक है।

यद्यपि स्त्री–जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं, तथा पुरुष–जन्म से प्राप्त होने वाली सुविधाओं में प्रकारान्तर है, तथापि दोनो जन्म अनिवार्य हैं। **एक ही आत्मा के, लिए, स्त्री–जन्म में प्रकट होना, तथा पुरुष जन्म में प्रकट होना अत्यन्त आवश्यक है। दोनो जन्मों में प्रकट होने पर ही, उसका अनुभव सर्वांगीण तथा परिपक्व होता है। अनुभव की परिपक्वता के पश्चात् ही आत्मा को आगे चलकर, यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि वह स्त्री–पुरुष भेद सम्बन्धी तीव्र द्वैत–भाव तथा द्वैत के समस्त अन्यान्य रूपों से परे है।**

पुरुष–जन्म तथा स्त्री–जन्म परस्पर पूरक हैं।

अनेक बार पुरुष–रूप तथा अनेक बार स्त्री–रूप में जन्म ले चुकने के पश्चात्, आत्मा समस्त संस्कारों से मुक्त होती है। यदि ऐसा न होता, अर्थात् आत्मा या तो केवल पुरुष–रूपों में ही जन्म लेती, या तो केवल स्त्री–रूपों में ही जन्म लेती, तो उसका अनुभव एकांगी तथा अधूरा ही रह जाता। अनुभव का द्वैत, ज्ञान के द्वारा दूर होता है; यदि अनुभव द्वन्द्व की केवल एक ही सीमा के भीतर, चक्कर काटता रहता, तो अनुभव द्वन्द्व का पूर्ण ज्ञान हो सकना असम्भव हो जाता। **भोक्ता तथा भोग्य विषय की एकता का ज्ञान, तब तक अप्राप्य रहता है, जब तक भोग्य विषय के किसी भाग का अनुभव बाकी रह जाता है। यह बात, स्त्री–पुरुष सम्बन्धी द्वैत पर, ख़ास तौर से लागू होती है।**

**आत्मा के अंतःकरण में पुरुष–जन्मों की अनुभव राशि भी संचित रहती है, तथा स्त्री–जन्मों की अनुभव राशि भी। आत्मा अपने को शरीर समझने लगती है यही वजह है, कि अंतःकरण की प्रवृत्तियां, शरीर के लैंगिक प्रकार (sex) से युक्त**

**हो जाती हैं, तथा शरीर भेद के विशिष्ट गुणधर्म के अनुसार ही, अपनी विशिष्ट अनुभव–राशि को अभिव्यक्त करती हैं। आत्मा के अंतःकरण में संचित दोनो जन्मों की अनुभव–राशि में से, पुरुष–शरीर के द्वारा केवल पुरुष–जन्मों की संचित अनुभव राशि को अभिव्यक्त होने का उपयुक्त साधन मिलता है; तथा स्त्री जन्मों की संचित अनुभव राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, पुरुष–शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता। इसी प्रकार, आत्मा के अंतःकरण में संचित दोनो जन्मों की संचित अनुभव राशियों स्त्री–शरीर के द्वारा, केवल स्त्री–जन्मों की संचित अनुभव राशि को अभिव्यक्त होने का युक्त माध्यम मिलता है; तथा पुरुष–जन्मों की संचित अनुभव राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, स्त्री–शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता।** जब आत्मा स्त्री शरीर धारण करती है, तो पुरुष–प्रवृत्तियां प्रसुप्त तथा दबी हुई रह जाती है तथा केवल स्त्री प्रवृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं। इसी भाँति, जब आत्मा पुरुष–शरीर धारण करती है, तब स्त्री–प्रवृत्तियां मानो सुप्त, रुकी हुई तथा दबी हुई रह जाती हैं; और केवल पुरुष प्रवृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं।

अंतःकरण का विभाजन।

**आत्मा अपने को शरीर समझती है। आत्मा का शरीर से तादात्म्य अनुभव करने का अर्थ यह है, कि आत्मा शरीर के लैंगिक प्रकार (sex) से भी, तादात्म्य अनुभव करती है।** पुरुष–शरीर धारण करने पर, वह अपने को पुरुष, तथा स्त्री–शरीर धारण करने पर, वह अपने को स्त्री समझती है। पुरुष शरीर धारण करने पर; जब आत्मा अपने को पुरुष समझने लगती है, तब उसके अंतःकरण की केवल पुरुष–प्रवृत्तियां ही, साधन की अनुकूलता के कारण, अभिव्यक्त हो पाती हैं, तथा स्त्री–प्रवृत्तियां, अंतःकरण के अचेतन भाग में, प्रसुप्त तथा दबी रह जाती हैं। अतः उनके दबे रहने या अभिव्यक्त न हो सकने के कारण, अंतःकरण के चेतन भाग में, एक अपूर्णता के भाव का उदय होता है, और यह अपूर्णता स्त्रियों के प्रति आसक्ति के द्वारा अपनी पूर्ति चाहती है। उसी भाँति, स्त्री शरीर धारण करने पर, जब आत्मा अपने को स्त्री समझने लगती है, तब उसके अंतःकरण की केवल स्त्री–प्रवृत्तियां ही, साधन की अनुकूलता के कारण, अभिव्यक्त हो पाती हैं, तथा पुरुष प्रवृत्तियां अंतःकरण के अचेतन भाग में, प्रसुप्त तथा दबी रह जाती हैं। अतः उनके दबे रहने या अभिव्यक्त न हो सकने के कारण, अंतःकरण के चेतन भाग में, एक अपूर्णता के भाव का जन्म होता है; और यह अपूर्णता पुरुषों के प्रति आसक्ति के द्वारा, अपनी पूर्ति चाहती हैं। **स्त्री के अंतःकरण की दबी हुई पुरुष प्रवृत्तियां, पुरुषों के**

स्त्री–पुरुष आकर्षण तथा बद्धता का कारण।

**प्रति आसक्ति के द्वारा, एक प्रकार की अभिव्यक्ति की खोज करती है, तथा पुरुष के अंतःकरण की दबी हुई स्त्री–प्रवृत्तियां, स्त्रियों के प्रति आसक्ति के द्वारा, अपनी एक प्रकार की अभिव्यक्ति खोजती हैं। इस दृष्टिकोण से, स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण अपने अंतःकरण के अचेतन भाग से युक्त होने के प्रयत्न का परिणाम है।**

असफल क्षतिपूर्ति

शरीर के लिंग प्रकार (Sex) से आत्मा के युक्त होने के कारण, अंतःकरण को जिस अधूरेपन का अनुभव होता है, उसकी पूर्ति के लिये, चेतन मन अज्ञान पूर्वक जो प्रयत्न करता है, इस प्रयत्न की अभिव्यक्ति ही कामवासना है। किन्तु, **अंतःकरण की आंशिकता को पूर्ण करने का यह प्रयत्न, आवश्यकतः निष्फल होकर रहेगा; क्योंकि चेतना एक तो अज्ञानपूर्वक अपने को शरीर समझ लेती है तथा विपरीत लिंग के शरीर को अपने से भिन्न समझ कर और आसक्ति तथा अधिकार–वृत्ति के द्वारा, उससे बद्ध होकर, वह अपने देहभाव को और बढ़ा लेती है।**

अनासक्ति के द्वारा ज्ञान।

जब आत्मा कामवासना के त्याग के द्वारा, स्त्री–पुरुष भेद सम्बन्धी द्वैत पर, विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तो वह विपरीत लिंग–सम्बन्धी अनुभव का ज्ञान, अपने अंतःकरण के अन्दर प्राप्त करने के लिए, मार्ग तैयार करता है। इस प्रकार, पुरुष–दृष्टि से स्त्री का ज्ञान प्राप्त नहीं करता है; किन्तु स्त्री, अपने व्यक्तिगत जीवन में, जो कुछ अनुभव करती है, उसकी काल्पनिक अनुभूति के द्वारा। उसी प्रकार, स्त्री पुरुष का ज्ञान, अपनी स्त्री दृष्टि से प्राप्त नहीं करती है; किन्तु पुरुष, अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ अनुभव करता है, उसकी काल्पनिक अनुभूति के द्वारा। अतः असत्य सी मालूम पड़ने पर भी, बात सच है कि विपरीत लिंग के रुप पर आसक्ति विपरीत लिंग से सम्बद्ध अनुभव का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में बाधक है; तथा **विपरीत लिंग के रुप अनासक्त होने से, विपरीत लिंग से सम्बद्ध अनुभव का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है, क्योंकि अनासक्ति स्त्री–पुरुष भेद विमूढ़ कल्पना की बाधा को दूर कर देती है।**

जब मनुष्य लिंग–द्वैत का अतिक्रमण करने का यत्न करता है, तथा विपरीत लिंग से सम्बद्ध अनुभव का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह विपरीत लिंग से प्रायः सम्बद्ध रहने वाले मानसिक गुणों को यथार्थ में स्वयं कभी कभी प्रकट करता है। कुछ पुरुष साधक कभी कभी वस्तुतः स्त्रियों जैसे वस्त्र पहन लेते हैं, स्त्रियों के ही समान अनुभव करते हैं, तथा स्त्रियों के गुणों तथा आचरणों को स्वयं अपना लेते हैं। किन्तु यह उनकी साधना की एक अस्थायी अवस्था होती है। जब स्त्री के अनुभवों सम्बन्धी उनका

आन्तरिक ज्ञान पूर्ण हो जाता है, तो न तो उन्हें केवल पुरुषत्व का अनुभव होता है और न केवल स्त्रीत्व का ही अनुभव होता है, किन्तु **वे अपने को लिंग भेद या स्त्री पुरुष भेद से परे अनुभव करते हैं।** स्त्री–पुरुष भेद का जो साधक अतिक्रमण कर चुकता है, उसे स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व सम्बन्धी दोनो प्रकार के अनुभव सुलभ तथा सुबोध्य हो जाते हैं, और वह दोनो द्वन्द्वों से अप्रभावित रहता है, क्योकि **ज्ञान के द्वारा, वह लिंग विमूढ़ कल्पना के क्लेशजनक अनुभव से विमुक्त हो जाता है।**

**लिंग विमूढ़ कल्पना से मुक्ति**

मन जिस पूर्णता की खोज करता है, वह रुपों से तादात्म्य अनुभव करने तथा उन पर आसक्त होने से, कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उसे अंतःकरण के अन्दर खोजने तथा मन की खोई हुई एकता पर अधिकार करने से ही, प्राप्त किया जा सकता है। **चेतन तथा अचेतन मन की सन्धि, लिंग–सम्बन्धी आकर्षण तथा अन्य प्रकार की अधिकार भावनाओं के द्वारा, असम्भव है। शरीर तथा शरीर के लिंग से अतादात्म्य के ही द्वारा, ऐसी सन्धि सम्भव है।** आत्मा के अंतःकरण में, जो समग्र अनुभव संग्रहित रहते हैं, उनकी संधि तथा एकता के मार्ग में, शरीर–तादात्म्य बाधा है। शरीर से अतादात्म्य अनुभव करने पर, यह बाधा दूर हो जाती है। लिंग द्वैत तथा लिंग–भेद के द्वारा, देहात्म भाव का अज्ञान और भी घनीभूत हो जाता है। अतः लिंग–द्वैत तथा लिंग–भेद पर, विजय प्राप्त करने से ही, आन्तरिक पूर्णता की उपलब्धि होती है।

**चेतन तथा अचेतन मन की सन्धि।**

विपरीत लिंग के प्रति आसक्ति से मुक्त होने का **अर्थ है,** शरीर के लिंग के आधिपत्य से, आत्मा का मुक्त होना तथा शरीर के लिंग के आधिपत्यों से मुक्त होने का अर्थ है, उन संस्कारों के अधिकांश भाग का नाश, जो आत्मा को, शरीर से मुक्त होने के लिये, बाध्य करते हैं। केवल लिंग–द्वैत का अतिक्रमण करने से ही सभी प्रकार के द्वैत पर, विजय नहीं मिल जाती; किन्तु लिंग–द्वैत का अतिक्रमण कर लेने से, अन्य सभी प्रकार के द्वैत पर, विजय प्राप्त करना, आसान हो जाता है। इसके विपरीत, यह भी उतना ही सच है, कि **लिंग–द्वैत की समस्या द्वैत की मौलिक समस्या का ही एक अंग है; और लिंग–द्वैत की समस्या, पूर्णतः तभी सुलझती है, जब दिव्य प्रेम के द्वारा, समस्त द्वैत की विशद समस्या हल हो जाती है, उस दिव्य प्रेम के द्वारा, जिसमें न तो 'मैं' रहता 'और न तुम', जिसमें न स्त्री रहती और न पुरुष।** पुरुष तथा स्त्री जन्मों का वही प्रयोजन है, जो समस्त विकास–क्रम का प्रयोजन है, और वह प्रयोजन है, मनुष्य को अपनी स्वकीय अविभक्त तथा अविच्छेद्य सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाना।

**दिव्य प्रेम**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

**(भाग–6)**

## लगातार जीवनों के द्वारा कर्म की क्रिया

एक ही जीवात्मा लगातार अनेक जन्म धारण करता है उन्नत आत्माओं को अपने अनेक जन्मों की जो स्मृति प्राप्त होती है, वह इस बात की सच्चाई का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा के समस्त जन्म, कर्म के नियम के द्वारा शासित होते हैं। **कर्म का नियम कार्य कारण के नियम के द्वारा व्यक्त होता है।** जीवात्माओं के क्रम–बद्ध जीवन तथा उनकी विशेषताएं एक पक्षपात–शून्य तथा अपवाद रहित एवम् पूर्णतः विवेक सम्मत सत्ता के द्वारा, निश्चित होती हैं। परिणामतः जीवात्मा सही तथा बुद्धिमता पूर्ण कार्य के द्वारा, अपने भविष्य को रच सकता है। पूर्वजन्मों के कर्म, वर्तमान की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों को निर्दिष्ट करते हैं; तथा वर्तमान जीवन के कर्मो का भावी जीवनो की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों को निर्दिष्ट करने में, हाथ रहता है। **कर्म के नियम के शासन के प्रकाश में ही, जीवात्मा के क्रम–बद्ध अनेक जन्मों का वास्तविक महत्व समझ में आता है।**

क्रमबद्ध जन्म कर्म के नियम के द्वारा निश्चित होते हैं।

स्थूल जगत् में जो जन्म होते हैं, वे बाह्य दृष्टि से ही असम्बद्ध तथा असंलग्न से प्रतीत होते हैं। **मानसिक शरीर के संचित कर्म एक जीवन तथा आगामी जीवन**

को जोड़नेवाली कड़ी का काम करते हैं। जीवात्मा, जब स्थूल शरीर त्याग देता है, तब स्थूल जीवन के कर्म मानसिक शरीर में संचित रहते हैं; इन्हीं कर्मों के वेग से, जीवात्मा दूसरा जन्म धारण करता है। इस प्रकार जीवात्मा के समस्त जीवनो मे, कर्मों की क्रिया निरन्तर होती रहती है। जब तक स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् को ही एक मात्र सत्य माना जायेगा, तब तक कर्म के नियम तथा इस नियम की क्रिया विधि को पूर्णतः समझना असम्भव है। सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों तथा सूक्ष्म और मानसिक संसारों के अस्तित्व के ही द्वारा, कार्मिक शासन पूर्णतः समझा जा सकता है।

**कारण शरीर के द्वारा, कर्म का सातत्य।**

स्थूल जगत् की भूमिका में, भौतिक चेतना प्राप्त होती है, सूक्ष्म जगत् की भूमिका में, इच्छाओं की चेतना प्राप्त होती है; तथा मानसिक जगत् की भूमिका में, जीवात्मा को मानसिक चेतना प्राप्त होती है। मन से इच्छाओं की उत्पत्ति है, तथा मन का अस्तित्व मानसिक भूमिका में हैं। इच्छा का बीज, मन में दबा रहता है। जिस प्रकार वृक्ष बीज के भीतर प्रसुप्तावस्था में रहता है, उसी प्रकार, इच्छा मन में प्रसुप्त रहती है। मानसिक शरीर मन का निवास स्थान है। मानसिक शरीर को कोई–कोई कारण शरीर भी कहते हैं; क्योंकि **उसमें, इच्छाओं के कारण या बीज संग्रहित रहते हैं।** मन समस्त संस्कारों तथा प्रवृत्तियों को, प्रसुप्त रूप में, सुरक्षित रखता है। सीमित 'मैं' अर्थात् अहंकार, इन संस्कारों से ही निर्मित होता है। किन्तु, संस्कारों की वास्तविक अभिव्यक्ति, मानसिक क्रियाओं के द्वारा, सूक्ष्म शरीर में होती है।

**कारण तथा सूक्ष्म शरीर।**

आत्मा वस्तुतः एक तथा अविभाज्य है। वह मानसिक शरीर (mental body) की सीमाओं के द्वारा, व्यक्तियों में विभक्त हुआ दिखाई देता है। यह मानसिक शरीर अहम्–चित्त (ego-mind) का निवास स्थान है। अहम्–चित्त पूर्वजन्मों के अनुभवों, तथा कार्यो के संचित संस्कारों से निर्मित होता है। अहम्–चित्त ही जन्म लेने वाले, जीवात्मा का गुप्त बीज होता है। सुप्त संस्कारों का संग्रहालय, अहम्–चित्त मानसिक शरीर की आदत है। अहमं–चित्त का तीव्रीभूत एवम् अभिव्यक्त संस्कारों का अनुभव करना सूक्ष्म शरीर की अवस्था है; तथा अहमं–चित्त का, उत्पादक कार्य करने के लिये, स्थूल क्षेत्र में उतरना भौतिक जीवन की अवस्था है। **अतः मानसिक शरीर में स्थित**

**अंह–चित्त (ego-mind) का सृजन तथा उसकी निरंतरता।**

**अहम्–चित्त, पृथक व्यक्ति (Separate Individual) की हैसियत में अनवरत जीवन की सभी अवस्थाओं में प्रकट होता रहता है।**

**मानसिक शरीर में स्थित अहम्–चित्त, अपने संचित संस्कारों के अनुसार, निम्नतर शरीर धारण करता है।** मनुष्य बचपन में मरेगा या वृद्वावस्था में मरेगा। वह निरोग रहेगा या रोग–ग्रस्त रहेगा, या वह निरोग तथा रोगी दोनो रहेगा, वह रूपवान होगा अथवा कुरूप होगा, वह स्वस्थ्य होगा या अपाहिज, उसकी बुद्धि मंद होगी या तीक्ष्ण, उसका हृदय शुद्ध होगा या अशुद्ध, उसका संकल्प चंचल होगा या दृढ़, वह भौतिक सुख–समृद्धि में रमा होगा या वह आध्यात्मिक प्रकाश की खोज करेगा, ये सब बातें अहम्–चित्त पर संचित संस्कारों पर निर्भर रहती हैं अर्थात ये बाते अहम् चित्त के संचित संस्कारों के द्वारा निर्णीत होती हैं।

**अंह–चित्त पर सन्चित संस्कार जन्म की विशिष्ट अवस्थाओं को निश्चित करते हैं।**

यथाक्रम, अहम् चित्त कर्म द्वारा संचित संस्कारों के द्वारा, संशोधित तथा रूपान्तरित हो जाता है। ''कर्म'' में, शारीरिक कर्म ही नहीं, किन्तु विचार तथा भाव भी शामिल हैं। **अहम् चित्त की रूपरेखा तथा आवश्यकता पर, उसके प्रत्येक जन्म की परिस्थितियां अवलम्बित रहती हैं।** यदि एक जन्म में, मनुष्य कोई विशिष्ट योग्यताएं या प्रवृत्तियां विकसित कर लेता है, तो वह आनुक्रमिक जन्मों में भी, उन योग्यताओं तथा प्रवृत्तियों को अपने साथ ले जाता है। तथा एक जन्म में, जो कार्य अधूरे रह जाते हैं, वे कार्य आगामी जन्म में पूरे किये जाते हैं। संस्कारों की निरन्तरता के कारण, एक जन्म में जो कार्मिक सम्बन्ध स्थिर कर लिये जाते हैं, वे दूसरे जन्मों मे भी साथ–साथ जाते हैं, तथा विकसित होते हैं। **जो मनुष्य एक जन्म में, अपने अच्छे या बुरे व्यवहारों के कारण, एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं, वे आनुक्रमिक जन्मों में भी, एक दूसरे से सम्बद्ध होकर, द्वैत का खेल खेलते हैं।** इस प्रकार जीवात्मा द्वैत तथा द्वन्द्वों का इतना अधिक अनुभव प्राप्त कर लेती है, कि उसका अनुभव परिपक्व हो जाता है। अनुभव के परिपक्व होने पर, जीवात्मा अहं–चित्त का परित्याग करने के लिये तैयार हो जाती है; तथा अपने ईश्वरत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, वह अर्न्तमुख हो जाती है।

**द्वैत का खेल**

मनुष्यों के बीच में, जब पारस्परिक लेन–देन हुआ करता है, तो उनके बीच कार्मिक तथा सांस्कारिक बन्धनो तथा अधिकार–प्रत्याधिकार की सृष्टि होती है; इन अधिकारों–प्रत्यधिकारों की पूर्ति के लिए, उनके बीच में, फिर से आदान प्रदान का

प्रारम्भ होता है। **मनुष्य स्वार्थभाव से जो देता है, वह उसे बाँधता है तथा स्वार्थ भाव से जो लेता है, वह भी उसे बाँधता है।** एक दूसरे को बाँधनेवाले या एक दूसरे को सम्बद्ध करने वाले ये आदान–प्रदान केवल भौतिक आदान–प्रदान नहीं हुआ करते, जैसे सामान, पैसा तथा शारीरिक कार्यो का लेन–देन। ऐसे आदान–प्रदान के भीतर, भावों और विचारों के आदान–प्रदान भी सम्मिलित हैं।

**आदान–प्रदान के द्वारा अधिकार तथा प्रति अधिकार की सृष्टि।**

उच्च भूमिकाओं में स्थित एक संत को जब कोई मनुष्य सम्मान देता है, तो वह अपने प्रति तथा उसके विरूद्ध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। फलतः आन्तरिक भूमिकाओं को पार करके साधना पथ पर आगे बढ़ते रहने पर भी, संतों को रुकना पड़ता है, तथा सम्मान प्रदान करने वाले मनुष्य को ऐसी सहायता देना पड़ती है, जिसके बल पर, वह साधना पथ में वहाँ पहुँच जाय, जहाँ संत स्वयम् पहुँच चुका है। संत को सम्मान देना **हस्तक्षेप विषयक कर्म करना है।** प्राप्त करने में, यद्यपि सम्मान एक अच्छी चीज है, किन्तु सम्मान प्राप्त करने पर, संत को साधना–पथ में तब तक ठहरना पड़ता है, जब तक वह सम्मान करने वाले मनुष्य को उचित सहायता नहीं पहुँचा चुकता।

**हस्तक्षेप विषयक कर्म।**

आत्माओं की शीघ्र तथा अचूक प्रत्युत्तर क्षमता (reponsivenss) इस नियम में अभिव्यक्त होती है, कि घृणा, घृणा उत्पन्न करती है, वासना वासना उत्पन्न करती है तथा प्रेम– प्रेम उत्पन्न करता है। यह नियम केवल एक जीवनकाल में ही कार्य नहीं करता। किन्तु **अनेक जीवनो में कार्य करता है।** मनुष्य आप ही आप, मानो स्वभावत; पूर्व जीवन के किसी शत्रु को डरने तथा घृणा करने के लिये , प्रेरित होता हैं, यद्यपि वर्तमान जीवन में, उस मनुष्य से डरने या उससे घृणा करने का, उसके लिये, कोई कारण नहीं, रहता। इसी प्रकार, मनुष्य वर्तमान जीवन जन्य किसी बाह्य कारण के बिना पूर्व जीवन के किसी मित्र को, प्रेम करने तथा उसे सहायता पहुँचाने के लिये आप ही आप प्रेरित होता है। अधिकांश मनुष्य अपने इस प्रेरणा प्रदत्त तथा समझ में न आने वाले बर्ताव तथा व्यवहार का कारण नहीं जानते; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि उनके बर्ताव तथा व्यवहार कारण शून्य होते हैं, बाह्य सतह पर समझ में न आनेवाली अनेक बातें, पूर्वजन्मों से चले आने वाले धार्मिक सम्बन्धों के प्रकाश में, समझ में आती हैं।

**आत्माओं की प्रयुत्तरक्षमता।**

**कर्म का नियम वह नियम है, जो** एक ही संसार में रहनेवाले, तथा आत्माभिव्यक्ति की खोज करनेवाले अनेक जीवात्माओं के पारस्परिक सम्बन्धों को निरन्तर परिवर्तित

करता रहता है। कर्म का नियम, अहम्–चित्तों की पारस्परिक प्रत्युत्तरक्षमता (Responsiveness) का **परिणाम है** जिस ताल पर दो आत्मायें अपने सम्बन्ध आरम्भ करती हैं, वह ताल अपने को तब तक स्थायी रखने का यत्न करता है, जब तक नये विवेक युक्त कर्म के द्वारा आत्मा निम्नतर ताल को उच्चतर ताल में परिवर्तित नहीं कर देती है।

**कर्म का नियम क्रिया एवम् प्रतिक्रिया का नियम है।**

नियमानुसार, संचित कर्म की अपनी निजी जड़ता (Inertia) होती है; कोई विशेष कारण के बिना, वह अपनी गति को परिवर्तित नहीं करता है। **कर्म के सृजन के पूर्व, व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता रहती है, कि वह अपना एक कर्म चुन ले; किन्तु कर्म एक ऐसे महत्वपूर्ण तत्व का रूप धारण कर लेता है, कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृत या संचित कर्मो के परिणामों को या तो भोगना पड़ता है, अथवा नवीन तथा उचित कर्मों के द्वारा उन कर्मों का निराकरण करना पड़ता है।**

कर्म की स्वतन्त्रता।

पार्थिव जीवन के सुख तथा दुख, सफलता तथा निष्फलता, उपलब्धियां तथा बाधाएं, मित्र तथा शत्रु सभी पूर्व जन्मों के कर्मों के द्वारा निश्चित होते हैं। **कार्मिक निर्णय को ही प्रायः भाग्य या क़िस्मत (Fate) के नाम से सम्बोधित किया जाता है।** भाग्य कोई बाहरी तथा अत्याचारी सिद्धान्त नहीं है। **भाग्य मनुष्य की स्वतः की ही कृति हैं, जो पिछले जन्म से उसका पीछा करती है।** जिस भाँति पूर्व कर्म से भाग्य निर्मित होता है, उसी प्रकार वर्तमान जीवन के कर्म से, यह संशोधित, परिवर्तित, तथा अन्यथा कृत भी हो सकता है।

क़िस्मत।

यदि पार्थिव जीवन में किये जाने वाले कर्म का गुणधर्म, अहम्–चित्त में संचित संस्कारों के द्वारा निर्दिष्ट होता है तो अहम्–चित्त में संचित संस्कार भी यथाक्रम पार्थिव जीवन में किये जाने वाले कर्म के गुणधर्म के द्वारा निश्चित होते हैं। अहम्–चित्त के संस्कार तथा कर्म का गुण धर्म परस्पराश्रित है। पृथ्वी पर किया गया कर्म, विशेष रूप से अहम्–चित्त के संस्कारों का सृजन तथा पुनः सृजन करता है; तथा उसे वह वेग प्रदान करता है, जो व्यक्ति के भावी भाग्य का निर्णय करता है। **पार्थिव जीवन के संग्राम क्षेत्र में ही, स्थूल शरीर के द्वारा, रचनात्मक (Creative) तथा फलोत्पादक कार्य करना सम्भव है।**

**रचनात्मक कर्म भौतिक शरीर में ही सम्भव है।**

कर्म के नियम के वास्तविक ज्ञान के द्वारा तथा उसके सदुपयोग के द्वारा मनुष्य विवेक युक्त तथा बुद्धिमता पूर्ण कार्य करके, स्वयम् अपने **भाग्य का विधाता** बन सकता है। मनुष्य आज जो कुछ बना है, वह अपने संचित कर्मों के ही द्वारा बना है, और वह अपने कर्मो के ही द्वारा अपने आपको अपने हृदय के आदर्श के अनुसार मोड़ तथा गढ़ सकता है। इस प्रकार वह जीवन तथा मृत्यु पर शासन करने वाले कार्मिक नियम के प्रमुख से अपने आपको मुक्त कर सकता है।

**भाग्यविधाता बनना।**

मोटे हिसाब में, कर्म दो प्रकार का है :— बाँधनेवाला कर्म; तथा आत्मानुभूति तथा मुक्ति में सहायक कर्म। अहम्—चित्त से उत्पन्न तथा पोषित होनेवाला बुरा कर्म भी बाँधता है, तथा अच्छा कर्म भी। **जब कर्म सही ज्ञान से किया जाता हैं; तो वह मुक्ति देने वाली शक्ति बन जाता है।** इस विषय का उपयुक्त ज्ञान, उन गुरुओं के द्वारा प्राप्त होता है। जो आत्मा के स्वभाव, उसके भाग्य तथा कार्मिक नियम द्वारा उत्पन्न उसकी विपत्तियों को ठीक—ठीक जानते हैं।

**बन्धविमोचक कर्म।**

महत्वपूर्ण कर्म का आरम्भ तब होता है, जब मनुष्य में अच्छे और बुरे के बीच, भेदभाव उत्पन्न हो जाता है। बाल्यकाल के प्रथम सात वर्षों में संस्कार अत्यन्त धुंधले होते हैं। इन धुंधले संस्कारों से प्राप्त होने वाली संसार सम्बन्धी चेतना में, सांसारिक भेदभाव के प्रति बहुत कम ग्रहणशीलता होती है; अतः, सात साल से छोटे बच्चों के कार्य, अहं—चित्त पर, कोई प्रबल तथा प्रभावोत्पादक संस्कार चिन्हित नहीं करते; और न उन संस्कारों का, उनके भविष्य—निर्माण में, कोई हाथ ही रहता है। **जब जीवात्मा में, उत्तरदायित्व का भाव विकसित हो जाता है। तभी उसके द्वारा, वह असली प्रभावोत्पादक कर्म होता है, जो अहंचित्त का तथा उसके भावी जीवन का दिशा निर्देश करता है।** उत्तरदायित्व का यह भाव, **अच्छे और बुरे के भेदभाव पर** अवलम्बित रहता है। बचपन के कुछ वर्षों के बीत जाने पर, अच्छे और बुरे का भेदभाव उत्पन्न होता है।

**अच्छे और बुरे के भेदभाव से कर्म का प्रारंभ होता है।**

मूल्यों के संसार में कार्य करने वाले कर्म का नियम, भौतिक संसार में कार्य करनेवाले **कार्य—कारण के नियम** (Law of Cause and Effect) **का ही प्रतिरूप** (Counterpart) है, यदि भौतिक संसार में, कार्य कारण नियम न रहे, तो अन्धेर मच जाय; और लोगों को यह ज्ञात न रहे कि किस वस्तु के पश्चात् कौन सी वस्तु आएगी। इस प्रकार, संसार में यदि कर्म का नियम न रहे, तो परिणामों की नितान्त अनिश्चितता

हो जाए और लोग यह न जान सकेंगे, कि उनके कर्म का अच्छा परिणाम निकलेगा या बुरा परिणाम। भौतिक घटनाओं के जगत् में **शक्ति की सुरक्षा** (Conservation of Energy) का नियम काम करता है, जिसके अनुसार कोई भी शक्ति शून्य को प्राप्त नहीं होती; तथा आध्यात्मिक संसार में; यह नियम काम करता है, **कि एक बार यदि कर्म किया जाता है, तो वह चुपचाप अन्तर्हित नहीं हो जाता, किन्तु उसका परिणाम अवश्य ही उत्पन्न होता है। कर्म तब तक अनवरत रूप से विद्यमान रहता है, जब तक उसका फल उत्पन्न हो जाय, अथवा जब तक, विरूद्ध कर्म के द्वारा, उसको अन्यथा न कर दिया जाय।** अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम उत्पन्न होते हैं; तथा बुरे कर्मों के बुरे परिणाम।

कार्य कारण के नियम से तुलना।

**आध्यात्मिक जगत् में कारण तथा परिणाम के बीच व्यवस्थित सम्बन्ध के द्वारा, संसार की नैतिक व्यवस्था कायम है।** यदि कर्म के नियम में, कोई शिथिलता, प्रतिकूलता अथवा अपवाद रहते, तथा मूल्यों के जगत् पर वह पूर्ण रूप से लागू नहीं होता तो, संसार में कोई नैतिक व्यवस्था नहीं रहती । यदि संसार में कोई नैतिक व्यवस्था न रहे, तो मनुष्य जीवन मूल्यसम्पादन के दृष्टिकोण से, सन्दिग्ध हो जाय। नैतिक व्यवस्था शून्य संसार में, मानवीय प्रयत्न, स्थायी रूप से, शंका पीड़ित तथा अनिश्चय युक्त होता। **यदि साधनो तथा साध्यों के बीच, कोई निश्चित सम्बन्ध न रहे, तो कर्म का नियम संसार की प्राप्ति के लिये, कोई गम्भीर उद्योग ही न करे।** कर्म के नियम की कठोरता यथार्थ कर्म करने की एक शर्त है। यदि कर्म के नियम की उपेक्षा, अवहेलना तथा उल्लंघन कर सकना सम्भव होता, तो मनुष्य के लिये, महत्वपूर्ण कर्म करना असम्भव हो जाता।

कर्म का नियम संसार की नैतिक व्यवस्था को स्थिर रखता है।

कर्म का नियम, प्रकृति के अन्य नियमों के अनुसार ही अनुल्लंघनीय है। **कर्म के नियम की कठोरता से, आत्मा, को यह अनुभव नहीं होता, कि कर्म का नियम किसी बाह्य तथा अन्ध शक्ति का अत्याचार है। आत्मा को यह मालूम होता है, कि कर्म का नियम विवेक सम्मत जीवन की व्यवस्था के लिये, आवश्यक है। कर्म का नियम सच्चे उत्तरदायित्व की शर्त है। कर्म के नियम का मतलब यह है, कि मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही वह काटता है।** मनुष्य जो कुछ भी अनुभव करता है, उसका सम्बन्ध उसके कर्म से रहता है।

कर्म तथा उत्तरदायित्व।

यदि मनुष्य ने किसी के साथ कोई बुरा व्यवहार किया है, तो वह उसकी सज़ा ज़रूर पायेगा, तथा **उसका बुरा कार्य लौट कर उसे ही कष्ट पहुँचायेगा।** और यदि उसने किसी के साथ अच्छा बर्ताव किया है, तो उसे उसका पुरस्कार अवश्य प्राप्त होगा; तथा **उसका अच्छा कार्य लौट कर उसे ही सुख पहुँचायेगा।** वह औरों के लिये जो करता है, अपने लिए भी वही करता है, यद्यपि इस बात की सच्चाई को समझने में उसे देर लग सकती है। कर्म का नियम न्याय की अभिव्यक्ति, अथवा द्वैत के संसार में एकता का प्रतिबिम्ब है।

**कर्म का नियम न्याय की अभिव्यक्ति है।**

# पुनर्जन्म तथा कर्म

**(भाग 7)**

**पुनर्जात व्यक्ति की भवितव्यता**

कार्मिक नियति के अनुसार, जीवात्मा जो अनेक जन्म धारण करती है, उसकी संख्या की कोई सीमा नहीं है। असंख्य जन्म लेकर, साधक असंख्य मनुष्यों से सम्बद्ध होता है; और उनसे पारस्परिक लेन–देन का व्यवहार करता है। अनेको मनुष्यों से, मानो उसे दिया हुआ ऋण वसूल करना होता है; तथा अनेको मनुष्यों से उसे लिया हुआ ऋण अदा करना पड़ता है। कर्म के नियम के अनुसार, **वह ऋण वसूल करने तथा ऋण अदा करने से बच नहीं सकता; क्योंकि ऋण का यह लेन–देन उसके कर्म का परिणाम होता है, तथा उसका कर्म उसकी इच्छाओं से प्रेरित होता है।** दिये हुए ऋण को वसूल करने तथा लिये हुए ऋण को चुकाने के लिये, उसे बार–बार जन्म लेना पड़ता है; और इस लेन–देन को चुकता करने में, अपने आपको वह असमर्थ पाता है।

कार्मिक लेन–देन।

एक मनुष्य जिन मनुष्यों से कार्मिक ऋणों का लेन–देन करता है, वे सबके सब उसके एक ही जन्म में, उपस्थित नहीं रहते, इस कारण, तथा अपनी परिस्थितियों से सीमाबद्ध होने के कारण, वह उन सबसे मिल सकने में, तथा उनसे अपने लेन–देन

चुकता करने में असमर्थ रहता है। अपने पूर्व जन्म के सम्बन्धियों से, जब वह अपना लेन–देन चुकता करने का यत्न करता है, तो इस प्रयत्न के ही द्वारा, वह उनसे नवीन अधिकार तथा प्रत्याधिकार की सृष्टि करता ही रहता है; और जिन नये मनुष्यों के सम्पर्क में वह आता है, उनसे भी नया लेन–देन करने के लिये, मजबूर होता है। इस भाँति, नाना आकार–प्रकार के लेन–देन में वह उलझ जाता है। **इस भाँति, अब अपने लेन–देन की संख्यातीत वृद्धि करता चला जाता है, तथा विषम कार्मिक बन्धनों में बँध जाता है।**

**ऋणों के लेन–देन से छुटकारा पाने में कठिनाई।**

गुरु की सहायता से कार्मिक बन्धनो से छूटने की सुविधा यदि न होती, तो कर्म–जन्य ऋणों के लेन–देन की क्रिया का कहीं अन्त ही नहीं होता। गुरु साधक को बन्धन–रहित कर्म करने की कला तो सिखाता ही है, किन्तु साथ ही वह कार्मिक बन्धनो से साधक की मुक्ति में भी सहायक होता है। **गुरु परमेश्वर से युक्त हो गया रहता है। सभी मनुष्य उसके समष्टि–गत सार्वलौकिक चेतना के अर्न्तगत रहते हैं। अतः वह समस्त जीवन के प्रतिनिधि की हैसियत से, अनेक जन्मों में, असंख्य मनुष्यों के साथ किये गये व्यवहार तथा सम्बन्ध से उत्पन्न समस्त कार्मिक ऋण बन्धनो से, मुक्त होने का साधन बन जाता है।** यदि मनुष्य का किसी से बद्ध होना आवश्यक ही हो, तो ईश्वर अथवा गुरु से उसका बद्ध होना, उसके लिये परम कल्याण प्रद है; क्योंकि यह बन्धन, अन्य तमाम कार्मिक बन्धनों से मुक्त होने में, सहायक होता है।

**कार्मिक ऋणों से मुक्त होने में, गुरु सहायक होता है।**

यदि पूर्वजन्मों के अच्छे कर्म के फल–स्वरूप, साधक को गुरु पाने का सौभाग्य प्राप्त हो, तो उसके लिये, सर्वोत्तम कर्तव्य यह है, कि वह गुरु को आत्मसमर्पण कर दे, तथा उसकी सेवा करे। आत्मसमर्पण करके, साधक अपने कर्म का बोझ गुरु पर डाल देता है; तथा गुरु को उसे उस बोझ से मुक्त करने के मार्ग तथा उपाय सोचना पड़ता है। गुरुसेवा के द्वारा, साधक को अपने कार्मिक बंधनों से मुक्त होने का अवसर प्राप्त होता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक ऐसा सम्बन्ध है, जो कई जन्मों तक साथ–साथ चलता है। यदि गुरु अपने शिष्य समूह का एक जन्म में पथ प्रदर्शन करता है, और इस प्रकार उनकी सहायता करता है, तो जब वह अपने लोक–हितार्थ

**गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कई जन्मों तक जारी रहता है।**

कार्य के लिये फिर जन्म लेता है, तब वह बहुधा अपने उसी शिष्य समूह को फिर अपने साथ लाता है, तथा साधना–पथ में उन्हें और आगे बढ़ाता है। जो शिष्य पिछले जन्म में उससे सम्बद्ध रहते हैं। वे अज्ञात भाव से, उसकी ओर प्रबल आकर्षण का अनुभव करते हैं, तथा उसकी ओर उसी प्रकार अनायास खिंचते हैं, जिस प्रकार चुम्बक की ओर लोहा खिंचता है। वे यह नहीं समझ पाते, कि वे क्यों उसकी ओर खिंच रहे हैं। किन्तु शिष्यों की इस न समझने योग्य भक्ति के पीछे, बहुधा एक लम्बा इतिहास छिपा रहता है; और शिष्य बहुधा अपनी साधना उस स्थान से पुनः आरम्भ करता है, जिस स्थान पर वह पूर्वजन्म में अपनी साधना छोड़ गया रहता है।

**गुरु के अनुग्रह को निमन्त्रित करना।**

जब शिष्य गुरु का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है, तथा उसका अनुग्रह अपने प्रति निमन्त्रित करता है, तो वह निष्कारण ही ऐसा नहीं करता। कभी–कभी शिष्य के कोई बाह्य प्रयत्न या बलिदान किये बिना ही, गुरु उसे आध्यात्मिकता प्रदान करता दिखाई देता है। किन्तु उसके ऐसा करने का भी कारण रहता है। जो शिष्य इस प्रकार, गुरु की कृपा का पात्र होता है, वह अपने पूर्व सम्बन्ध, बलिदान तथा साधना के द्वारा, गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने का अधिकार रच चुका रहता है। पूर्व जन्मों में, गुरु के प्रति शिष्य के द्वारा, अनुभूत तथा प्रदर्शित प्रेम या भक्ति, वर्तमान जन्म में गुरु और शिष्य के बीच के **गम्भीर सम्बन्ध के** लिये, उत्तरदायी होते है। परिणामतः **शिष्य में आध्यात्मिक आकाँक्षा का जागृत होना, गुरु से उसे प्राप्त होने वाली सहायता तथा अनुकम्पा का परिणाम होता है।** पूर्व जन्म कृत अपने निष्काम तथा आसक्तिरहित कर्म के द्वारा, शिष्य उसका पात्र होता है। शिष्य गुरु के अनुग्रह को अपने प्रति निमन्त्रित करता है, ठीक वैसे ही, जैसे पूर्व जन्मकृत अपने बन्धनकारक कर्म के द्वारा, वह अपने प्रति सुख दुःख तथा अच्छाई बुराई को निमन्त्रित करता और उनका शिकार होता है।

**आध्यात्मिक उन्नति के लिये, सक्रिय उद्योग की आवश्यकता।**

नियमानुसार, साधना पथ में प्रविष्ट साधक, क्रमशः तब तक उन्नति करता चला जाता है, जब तक वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं होता। किन्तु यह बात उन लोगों पर लागू नहीं होती, जो निश्चित रूप से साधना–पथ में प्रविष्ट नहीं होते, या जिनका पथप्रदर्शक गुरु नहीं होता। ऐसे लोग, अपने अव्यवस्थित तथा अस्त–व्यस्त प्रयत्नो के कारण, बन्धनकारक संस्कारों का समूह उत्पन्न करके, लक्ष्य से और भी दूर हो जाते हैं। अतएव, आध्यात्मिक उन्नति को स्वतः सिद्ध होने वाली उन्नति समझना भूल है, क्योंकि

आध्यात्मिक उन्नति तब तक नहीं होती, जब तक साधक उसके लिये सक्रिय उद्योग न करे।

शीघ्र ही, या बाद में, अनेक जन्मों में संचित अनुभवों का तर्क (The logic of experience) प्रत्येक मनुष्य को सर्वोच्च लक्ष्य की ओर अभिमुख होने के लिए बाध्य करता है; और उसे साधना पथ में प्रविष्ट होना पड़ता है। एक बार जब वह साधना पथ में प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह स्थिर गति से प्रायः उन्नति करता चला जाता है। पथ पर, ज्यों–ज्यों वह अग्रसर होता चला जाता है, त्यों–त्यों बहुधा उसे ऐसी गुप्त शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनकी सहायता से, वह न केवल सूक्ष्म तथा मानसिक अर्न्तजगत् का ज्ञानपूर्वक अनुभव कर सकता है, किन्तु वह उच्च भूमिकाओं पर प्राप्य शक्तियों का संचालन तथा शासन कर सकता है। प्रथम दो भूमिकाएं जानने योग्य नहीं है; अनेक ऐसे मनुष्य हैं, जो किसी न किसी जन्म में, इन भूमिकाओं पर थे, किन्तु **प्रथम दो भूमिकाओं को पार कर लेने पर भी, अवश्यतः निश्चित तथा स्थिर उन्नति होने लगती है, यह बात नहीं है।**

**अधःपतन का खतरा।**

प्रथम कुछ भूमिकाओं में पहुँचने के बाद, ईश्वर की ओर उन्नति होने के बदले, घोर अधःपतन होने की सम्भावना रहती है। उच्चतर भूमिकाओं में पहुँचे हुए उन साधकों के असाधारण उदाहरण भी पाये जाते हैं, जो अज्ञान–युक्त कर्म के द्वारा, इतने गहरे गर्त में गिर जाते हैं, कि वहाँ से उठकर, अपने प्राथमिक उन्नति बिन्दु तक पहुँचने में, उन्हें कई युग लग जाते हैं। जिस साधक का ऐसा अधःपतन होता है, वह योग भ्रष्ट कहलाता है। **कर्म का नियम ऐसा अपवादरहित, पक्षपात विहीन, तथा दया क्षमा शून्य है, कि योगियों को भी उसके कठोर शासन का शिकार होना पड़ता है।** जब साधक को सिद्ध गुरु के पथप्रदर्शन की सुविधा रहती है, तभी आध्यात्मिक यात्रा सुरक्षित, निष्कंटक तथा आपत्ति रहित होती है; और तभी अधःपतन या भ्रष्टता की सम्भावना नहीं रहती। गुरु, ऐसे अज्ञानयुक्त कर्म से, उसकी रक्षा करता है, जिसमें यदि गुरु न रहता तो वह फँस जाता।

**योग–भ्रष्ट**

अनेक जन्मों में साधना–पथ यात्रा करते रहने के पश्चात साधक अपने लक्ष्य स्थान में पहुँचता है। **ईश्वरानुभूति प्राप्त करने में सफल होने की शर्त यह है, कि साधक को शताब्दियों तक लगातार बलिदान, सेवा, आत्म शुद्धि तथा दृढ़ अनुसन्धान के लिये, कृत संकल्प तथा तैयार रहना चाहिये।** ईश्वरानुभूति

बारम्बार जन्म लेनेवाले व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य है; किन्तु एक ही जन्म के परिणामस्वरूप, उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती। कई जन्मों तक, लगातार प्रयत्न करते रहने के परिणामस्वरूप ही, किसी व्यक्ति को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है। अनेक जन्मों के अज्ञान–युक्त कर्म के द्वारा, जीवात्मा के बन्धनों की सृष्टि होती है; और ये बन्धन तभी छिन्न हो सकते हैं, जब अनेक जन्मों तक निरन्तर ज्ञान युक्त तथा बन्धनशून्य कर्म किया जाय।

**इच्छा पुनर्जन्मों का कारण है।**

पृथक सत्ता की पिपासा ही वह शक्ति है जो जीवात्मा को जन्म मरण के चक्र से बाँध कर रखती है। पृथक् सत्ता द्वैत जगत् के विषयों और भोगों की नाना इच्छाओं को उत्पन्न करती है। **इच्छाओं की तृप्ति ही के लिये, अहम्चित्त बारम्बार जन्म लेता है।** जब सब प्रकार की इच्छाओं का लोप हो जाता है, तब अहम् वृत्ति को उत्पन्न करने वाले तथा उसका पोषण करनेवाले संस्कारों का नाश होता है। संस्कारों, के नष्ट होते ही, अहंचित्त का भी विसर्जन हो जाता है। परिणामतः, नित्य, अनन्त, अद्वितीय, परम सत्य परमात्मा की अनुभूति प्राप्त होती है। **ईश्वरानुभूति अहंचित्त के अस्तित्व का ही अंत है।** जब तक अहंचित्त का किसी न किसी रूप में अस्तित्व रहता है, तब तक स्थूल शरीर धारण करने की अनिवार्य तथा अदम्य प्रेरणा बनी रहती है। **ज्योंही अहंचित्त की सम्पूर्णतः समाप्ति हो जाती है, त्यों ही आत्मानुभूति की प्राप्ति तथा जन्मों की समाप्ति हो जाती है।**

**जन्मों की भवितव्यता।**

बार–बार जन्म लेनेवाले व्यक्ति का जीवन अनेक घटनाओं तथा अवस्थाओं में से व्यतीत होता है। जीवन का पहिया, अविराम गति से, चक्कर लगाता चला जाता है, कभी वह व्यक्ति को ऊँचाई पर लाता है, तो कभी वह उसे उच्च पद से नीचे गिराता है। इस भाँति, मनुष्य को कभी ऊँचा उठाते और कभी नीचे गिराते हुए, वह उसके अनुभव की वृद्धि करता जाता है। जो आदर्श एक जीवन में अधूरा रह जाता है, वह दूसरे जीवन में, पूरा किया जाता है। एक जीवन में जो कार्य अधूरा पड़ा रह जाता है, वह दूसरे जीवन में पूरा किया जाता है। एक जन्म में, जो इच्छाएं अतृप्त रह जाती हैं, वे दूसरे जन्म में, तृप्त की जाती हैं। एक जन्म की ग़लतियों को दूसरे जन्म में सुधारा जाता है। मनुष्यों के बीच, एक जन्म में लेनदेन का जो हिसाब बनता है, दूसरे जन्म में लिये हुए ऋण को अदा किया जाता है; तथा दिये हुए ऋण को वसूल किया जाता है, या फिर लेन–देन का नया हिसाब

चालू किया जाता है। इस प्रकार, अंत में जब अनुभव परिपक्व हो जाता है, तो फिर आत्मा अहं–चित्त को छिन्न मूल करके, दिव्य जीवन की एकमात्र एकता में प्रविष्ट होता है। इस दिव्य जीवन में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् न तो लेने का बन्धन रह जाता है, और न देने का, क्योंकि आत्मा द्वैतभाव या पृथक सत्ता का परित्याग करके, द्वन्द्व से परे हो जाता है।

नाटक का सादृश्य।

जीवात्मा के अनवरत जीवन–नाटक के अनेक खेल होते हैं। जीवात्मा के पार्थिव अस्तित्व के दृष्टिकोण से, यह कहा जा सकता है, कि प्रत्येक खेल के समाप्त होने के पश्चात् ध्वनि का पात हो जाता है। किन्तु, उसके एक खेल को ही स्वयम् सम्पूर्ण समझने पर, उसका पूरा आशय नहीं समझा जा सकता। उस खेल को पूर्ववर्ती खेल तथा परवर्ती खेल से सम्बद्ध करने पर ही, नाटक का पूरा अर्थ और महत्व समझ में आ सकता है। एक खेल तो पूरे नाटक का एक भाग मात्र होता है, जिसका अर्थ सम्पूर्ण नाट्य विषय से गुंथित रहता है। एक खेल की समाप्ति विकास–शील नाट्य–विषय की समाप्ति नहीं है। संसार के रंगमंच से, नटगण नये प्रसंगों में, तथा नई हैसियत से, पुनः उपस्थित होने के लिए ही, आँखों से ओझल होते हैं।

लुका छिपी का खेल।

अभिनेता गण, अपने–अपने अभिनय में, ऐसे डूबे हुए रहते हैं, कि वे अपने एक अभिनय को ही समूचे जीवन नाटक का आदि और अन्त समझ बैठते हैं, और उन्हें अपने अनवरत जीवन–अभिनय (जो असंख्य जन्मों तक जारी रहता है) के अधिकांश भाग में, इस गुह्य तथा गोपनीय सत्य का ज्ञान नहीं रहता, कि नाटक का रचयिता अपनी कल्पना कृति में, स्वयम् नाना अभिनेताओं के रूप में प्रकट होकर, लुकाछिपी का खेल खेलता है, ताकि उसे पूर्ण ज्ञान पूर्वक अपनी रचनात्मक अनन्तता की अनुभूति प्राप्त हो। अनन्तता को सान्तता के भ्रम में इसलिये फँसना पड़ता है, कि उसे यह मालूम हो जाय, कि वह अनन्तता है। नाटक का रचयिता स्वयम् नाटक पात्र बनकर, पूरे नाट्य–विषय का अभिनय इसलिये करता है, कि वह यह जान जाय, कि सृष्टि के कल्पों के द्वारा जिस महान्तम जासूसी नाट्य–कथा की रचना की गयी है, उसका रचयिता वह स्वयम् है।